तद्भव



सपने हुए साकार

मिला मजबूत भविष्य का आधार

4.50 लाख युवाओं को सरकारी नौकरियां

सोच ईमानदार, काम दमदार

तद्भव

आधुनिक रचनाशीलता पर केंद्रित विशिष्ट संचयन

वर्ष-10, अंक-1
पूर्णांक-44
जनवरी-2022

संपादक
अखिलेश

आवरण
राजेंद्र नेगी

लेजरटाइप सेटिंग
मोहिनी शर्मा
दिल्ली

मुद्रण
ग्रैंड प्रिंटिंग प्रेस
गोमती नगर, लखनऊ

मूल्य
एक प्रति : एक सौ पचास रुपये
संस्थाओं के लिए : तीन सौ रुपये
वार्षिक सदस्यता : तीन सौ रुपये (डाक खर्च सहित)
संस्थाओं के लिए : पांच सौ रुपये (डाक खर्च सहित)
विदेश के लिए : सत्तर डालर
आजीवन सदस्यता : आठ हजार रुपये

सम्पर्क
18/201, इंदिरा नगर,
लखनऊ - 226016
उत्तर प्रदेश
दूरभाष : 0522-2345301
ई-मेल : akhilesh_tadbhav@yahoo.com

तद्भव इंटरनेट पर
www.tadbhav.in

समस्त कानूनी विवादों का न्यायक्षेत्र लखनऊ, उत्तर प्रदेश होगा।

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक अखिलेश कुमार द्वारा 18/201, इंदिरा नगर, लखनऊ, उ.प्र. से प्रकाशित और ग्रैंड प्रिंटिंग प्रेस, 337 विजयीपुर, विशेष खंड, गोमती नगर, लखनऊ से मुद्रित

अनुक्रम

संपादकीय

लोकतंत्र में हर चुनाव महत्त्वपूर्ण है लेकिन हमारे यहां वह खासा दिलचस्प भी होता है। नेताओं की हरकतें चुनावों को मनोरंजक बनाती हैं और मीडिया, विशेष रूप से इलेक्ट्रॉनिक मीडिया उसे उबाऊ बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ता है। क्योंकि उबाऊपन पर कहना और सुनना दोनों ही रुचिकर नहीं होता है इसलिए यहां हम अपने को मनोरंजन वाले पक्ष तक सीमित रखते हैं। हमारे ज्यादातर नेता चुनाओं में बहुआयामी मनोरंजन प्रस्तुत करते हैं किंतु फिलहाल अभी उनकी भाषा तक हम अपने को सीमित कर रहे हैं।

अभिव्यक्ति के लिए शब्दों के इस्तेमाल के साथ साथ कायिक भाषा का बहुधा प्रयोग देखने को मिलता है। जैसे कि एक समय में अटल बिहारी वाजपेयी बोलते हुए आंखें बंद कर लेते थे और मौन हो जाते थे फिर वह सर को झटका देकर यह अहसास कराते थे कि वह अभी अभी किसी गहन विचार में निमग्न हो गए थे और किसी प्रकार वापस आ सके हैं। वैसे प्रायः उनकी वक्तृता में गहन विचार नहीं रहते थे; वे अधिकतर हास्यरस को जन्म देते थे; पर्याप्त मनोरंजक। राहुल गांधी पहले भाषण करते हुए आस्तीन चढ़ाकर अपने को एक आक्रामक युवा नेता के रूप में अभिव्यक्त करते थे लेकिन विफलताओं ने उनकी उक्त शैली पर रोक लगा दी। विफलताओं ने और उससे ज्यादा दक्षिणपंथी राजनीति के सुनियोजित संगठित अभियान ने राहुल गांधी को तीखे तेवर वाले नेता की बजाय मनोरंजक नेता की छवि प्रदान कर दी। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी बोलते हुए विपक्षियों पर प्रहार करने के लिए अजीब तरीके से ताली बजाकर हथेली से कुछ इशारे करते हैं। उनकी बात ही निराली है; वह कभी चुटकी बजाकर अपने आशय संप्रेषित कर लेते हैं कभी खड़ताल बजाकर कभी ड्रम। निश्चय ही उनके श्रोताओं को इनसे संदेश मिल जाते हैं और उनका यथोचित मनोरंजन भी होता है। ध्यान दें, इस तरह की देहभाषा के पीछे शरीर का कोई अनैच्छिक अभ्यास या अपनी बात को ठीक से न कह पाने की वजह से भंगिमाओं का सहारा लेना जैसी दिक्कतें नहीं रही हैं बल्कि विशुद्ध स्वयं को एक खास ढंग से दिखाना ही इसके पीछे का प्रयोजन है। या वैसा ही है जैसे किसी नेता द्वारा दिन भर में कई कई बार कीमती डिजाइनर कपड़े बदल बदलकर पहनना या महंगे चश्मे, जूते वगैरह पहनकर अपने को दिखाना।

देखना, दिखाना, दिखना ये परस्पर मिलते जुलते शब्द हैं मगर वस्तुतः अपने में भिन्न भिन्न अर्थ प्रकट करते हैं, कभी कभी परस्पर विरुद्ध अर्थ भी। 'देखना' एक ऐसी

क्रिया है जिसका मानव सभ्यता में महान अवदान माना जाना चाहिए। देखना न केवल ज्ञान विज्ञान का प्रस्थानबिंदु है बल्कि वह कला साहित्य का सबसे बड़ा उत्प्रेरक भी है। साहित्य, कला, नाट्य, सिनेमा जैसे अनेक कलारूप 'देखने' के बगैर संभव कैसे हो सकते थे। देखने के बगैर हमारी रचनाओं में न यथार्थ रहता और कल्पना की उड़ान भी मुमकिन नहीं हो पाती क्योंकि कल्पना को उड़ने के लिए वास्तविकता का रनवे चाहिए होता है। देखने की अनुपस्थिति में विज्ञान की उच्चतर अवस्था को हासिल करना भी नामुमकिन था। यदि देखना न हो तो दुनिया से वाकफियत नहीं होगी और यदि दुनिया से वाकफियत नहीं होगी तो उसे बदला और बेहतर नहीं बनाया जा सकता है। इसीलिए महात्मा गांधी देश को औपनिवेशिक बंधन से आजाद कराने के अभियान में सबसे पहले देश को देखने के लिए यात्राओं पर निकले थे।

देखना ऐसा इंद्रियबोध है जो इंद्रियबोध के अन्य रूपों को सक्रिय करता है। देखने से हममें सुनने, छूने आदि की कामना पैदा होती है। हालांकि इसके उलट भी है कि सुनने और स्पर्श से देखने का भाव मन में उठता है।

देखना सिर्फ बाहर की तरफ नहीं रहता है। यानी हमेशा हम अपने से बाहर का संसार नहीं देखते हैं। हम भीतर की तरफ भी देखते हैं। हम अपने अंदर प्रवेश करते हैं अपने को देखने के लिए। यह बेहद महत्वपूर्ण है। कोई लगातार बाहर बाहर ही, अन्य को ही देखता रहेगा तो शापग्रस्त प्रेत जैसा लगेगा। मनुष्य होने की गरिमा हासिल करने के लिए जरूरी है अपने भीतर को देख सकना। अच्छे लेखक इसीलिए जब बाहर के संसार में किसी इंसान या वस्तु को देखते हैं तो उसके भीतर भी दाखिल होते हैं। वे अपने चरित्रों की आत्मा में उतर जाने के लिए ऐसा करते हैं जैसे वह चरित्र स्वयं लेखक ही है और अपनी ही आत्मा के अंतर्लोक में आ गया है। चरित्र ही नहीं एक बेहतरीन रचनाकार को पहाड़, नदी, रस्सी, नाव, जहाज वगैरह न जाने क्या क्या बनना पड़ता है। इतना ही नहीं, ये सब बनकर उसको अपना बाहर भीतर दोनों देखना है। जैसे वह एक पहाड़ या एक नदी हुआ तो उसे अपने रूप और रंग की एक एक बारीक से बारीक रेखा का बोध रखना होगा और इन दोनों के अवतार में, पहाड़ या नदी की हैसियत से अपने अंतरतम में निहित पीड़ा, हाहाकार, ममता, दयालुता, गुस्से, क्षमाशीलता से भी गुजरना पड़ेगा।

लेखक, कलाकार के संसार में देखना के एक इतर आयाम की मौजूदगी बहुत जरूरी है। वह है, जो नहीं दिखाई दे रहा है उसे भी देख सकना। हर दृश्य के पीछे उसका अदृश्य चेहरा भी रहता है। कई बार अदृश्य ही वास्तविक दृश्य होता है; उसी में उसकी हकीकत निवास करती है और जो दिख रहा है वह उसकी परछाईं हैं। अतः दृश्य के पार के प्रच्छन्न को देखना जरूरी हो उठता है। इस अदेखे को सृजन में चाक्षुष की तरह प्रस्तुत कर पाना किसी रचनाकार की सिद्धावस्था है। इसे रचनाकार कभी अपनी अंतर्दृष्टि से, कभी कल्पना से और कभी प्रज्ञा से संभव करता है। यही वजह है कि कई बार जब किसी दृश्य को साधारण आंखें बहुत सुंदर समझती हैं; उसे मनुष्यता के लिए जरूरी और उपयोगी मानती

हैं तब एक लेखक की निगाह उस सुंदरता में छिपी हुई कुरूपता को चिह्नित कर लेती है, उसे अस्वीकार कर देती है। इसी प्रकार जिस अत्यंत मामूली को हेय मानकर लोग उपेक्षित करते हुए आगे बढ़ जाते हैं लेखक वहां महान सौंदर्य का दर्शन करता है।

आज यह समस्या दरपेश है कि लेखकों की बिरादरी में देखना कम हो गया है। लोग अपने समाज, देश दुनिया के सुख दुःख से भरे चराचर जगत को, उसकी गति और उसकी लीला को देखने की जहमत जरा कम ही उठा रहे हैं। देखने से ज्यादा मशक्कत खुद के दिखने के लिए की जा रही है। आत्म साक्षात्कार अथवा आत्म दर्शन को अनुपयोगी मानकर, उसे धकेलकर आत्म प्रदर्शन की होड़ मची हुयी है। कौन कितना अच्छा लिख रहा है से ज्यादा जोर इस पर हो गया है कि कौन कितना अधिक दिख रहा है। फेसबुक पर, साहित्यिक महोत्सवों में, अखबारों पत्रिकाओं, वेबनॉर में लेखक और उसकी किताब की फोटो कितनी ज्यादा बार और कितने अधिक लोगों द्वारा देखी सराही जा रही है यही हमारे सांस्कृतिक जगत का सबसे प्रचंड सरोकार बनता जा रहा है। देखना तो नहीं परंतु देख लेने का कारनामा भी कभी कभार होता है किंतु तब आशय यथार्थ या सत्य देख लेने से न होकर धमकी देने से होता है। अर्थात किसी के द्वारा किसी को देख लेना है यानी उसे गर्त में गिरा देना अथवा मिट्टी में मिला देना है। इस देख लेने को सफल बनाने के लिए साम दाम दंड भेद येनकेन प्रकारेण जो भी करना पड़े, किया जा रहा है। जिसके सम्मुख देख लेने की चुनौती प्रस्तुत की जाती है वह आवश्यक नहीं कि कोई समाज का शत्रु, संस्कृति का विनाशक या मनुष्यविरोधी है, बल्कि वह इनका विलोम होगा तो भी देख लिया जायेगा क्योंकि वह हमारे 'दिखने' की राह में बाधक है। अड़ंगे लगाता है। या वह इतना बेहतर काम क्यों करता है कि मैं कमतर लग रहा हूं। वह ऐसी गुस्ताखी करता है तो निश्चय ही उसे देख लिया जायेगा। निपटा दिया जायेगा। साहित्य में ही नहीं, यह संक्रामक बीमारी चतुर्दिक व्याप्त हो चुकी है। दूर जाने की जरूरत नहीं, अपने देश में ही सत्ता द्वारा खुद को दिखाने और विरोधी को देख लेने की हवा प्रचंड वेग से बह रही है।

विडंबना यह है, दशा में सुधार की बजाय उसके अधिक तबाह होने की आशंकाएं जोर मार रही हैं। 'दिखने' से भी दो कदम आगे बढ़कर अब समाज 'दिखाने' के युग में आ चुका है। आत्म सम्मोहन का इस कदर तूफान पहले कभी न था। 'दिखा देना' भली चीज है यानी अपनी योग्यता और कर्मठता से स्वयं को साबित कर देना। अतः अपने को दिखा देना एक विचार है खुद के विस्तार की कोशिश का लेकिन 'दिखाना' आत्मछवि के लिए वह मुग्धता है जो सही गलत की चेतना को तबाह कर देती है। जैसे भी हो अपने को सबसे अधिक प्रसारित करना है; अपनी फोटो, अपनी डींग, अपनी तकनीक, अपनी चतुराइयों के जरिये छा जाना है। आमजन की क्या कहें जब हमारे देश की अगुवा शख्सियत ही अपनी आत्मछवि से अत्यंत मुग्ध हैं और अपने को लेकर बड़ी बड़ी हांकती है।

उपरोक्त प्रवृत्ति अर्थात अपने को दिखाने की संस्कृति मनुष्य के रूप में हमारे दिमाग और हमारी आत्मा पर क्या क्या असर छोड़ रही है, इससे मानव प्रजाति में क्या फर्क

आयेगा इस पर समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक, संस्कृति विचारक काम कर ही रहे होंगे; यहां मुख्तसर में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि दिखाना का अतिचार हमें अपने बाह्य कलेवर में इतना मुब्तिला कर देता है कि हमारे पास अपने भीतर झांकने का, अपने आत्म से संवाद करने, अपनी संवेदनाओं को महसूस करने और उन्हें व्याख्यायित करने का वक्त नहीं बचता। इतना ही नहीं, 'मैं' 'मैं' का जुनून 'मैं' से इतर विशाल दुनिया को देखने समझने में अवरोधक है जबकि दुनिया को देखकर उसे समझना एक इंसान एक नागरिक के रूप में बेहद आवश्यक है। क्योंकि जब तक उससे वाकिफ नहीं होंगे तब तक उसे बदलेंगे कैसे, बेहतर कैसे बनायेंगे। यह अनायास नहीं है कि विगत कुछ समय से दुनिया को बदलने बेहतर बनाने की मुहिम फीकी पड़ गयी है। व्यक्तिगत स्तर पर भी नुकसान है; 'दिखाना' की बेलगाम दौड़ वह अंधत्व प्रदान कर रही है जिसके अंधकार में हम मनुष्य और कुदरत द्वारा रची गयी तमाम सुंदरताओं का लुत्फ उठाने से वंचित हो जायेंगे।

बीते दिनों में हमने अपने कई लेखकों को खोया है। मन्नू भंडारी,असूरजपाल चौहान, सतीशराज पुष्करणा, उर्मिल कुमार थपलियाल, अली जावेद, कमला भसीन, भारत यायावर, सुरेंद्र स्निग्ध की स्मृति को तद्भव परिवार की सादर श्रद्धांजलि।

अखिलेश

बिसनाथ का बलरामपुर-VIII

विश्वनाथ त्रिपाठी

1953 की मई या जून में बीए का रिजल्ट निकला, बहुत ज्यादा सिनेमा देखने के कारण मेरे पर्चे खराब हुए थे। लेकिन मुझे यकीन था कि प्रथम श्रेणी जरूर आएगी। प्रथम श्रेणी न आने का अनुभव नहीं था। गांव से कानपुर गया था। सतीश से मिलने। सोचा था वहीं रिजल्ट आ जायेगा तब तक। रात को सतीश के डाक्टर चाचा के यहां गोविंद नगर पहुंचा। लोग सो गए थे। चाची ने सतीश को जगाया—सतीश, देख तेरा यार आया है। सवेरे मैंने कहा—कालेज जाऊंगा, नवाबगंज में टी. एन. शुक्ला के यहां भी। उनकी पत्नी को ट्यूशन पढ़ाता था। उसका 10वीं का रिजल्ट आया होगा। शाम को तुम माल पर मिल लेना, अगले दिन का प्रोग्राम बना लेंगे।

नवाबगंज बस से पहुंचा ही था कि अखबार वाले ने शोर मचाया बीए का रिजल्ट आ गया; धड़कन बढ़ी। रिजल्ट देखा। याद है रोल न. 915 था। फर्स्ट क्लास नहीं, सेकंड क्लास। दुनिया बदल गई। अस्पष्ट स्वर में निकला—आई एम नो मोर अ फर्स्ट डिवीजनर। अब मैं प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी नहीं हूं। आंसू टपके। आज मुझे ताज्जुब होता है कि मैं फौरन संभल कैसे गया और यह कि भविष्य का रास्ता भी तय कर लिया। जैसे कोई दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति क्षणांश में निर्णय लेता है वैसे ही अब मैं कालेज में किसी सहपाठी या अध्यापक को मुंह नहीं दिखा सकता था। अब मुझे कानपुर छोड़ देना है। सीधे बनारस जाना है। वहां पंडित रामसुरेश त्रिपाठी से मिलना है और काशी विश्वविद्यालय में हिंदी से एमए करना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का शिष्य होकर—यह सब कैसे होगा? इसके बारे में सोचा ही नहीं।

बीए में स्कालरशिप मिलती थी। पोस्ट ऑफिस नवाबगंज में 30 रुपए जमा थे। उसमें से 28 रुपए निकाल सकता था। निकलवाया और टी. एन. शुक्ला के घर पहुंचा। उन्होंने

रिजल्ट पूछा—मैंने बताया सेकेंड डिवीजन, उन्होंने कहा—भाई, यू हैव शेटर्ड माई हॉप्स, तुमने मेरी आशाएं चकनाचूर कर दीं। उनकी पत्नी पास हो गई थी। उल्लसित थी। कह रही थी—आगे भी पढ़ूंगी।

11 बज गए थे। सतीश से चार बजे मिलना था। फर्स्ट क्लास आया होता तो कालेज जाता, सहपाठियों से ईर्ष्या और प्रशंसा से मिलते। बधाइयां देते। गप्पसड़ाका होता। अब क्या करें!

ज्यादा नहीं सोचना था। माल पर कई सिनेमाघर थे। पैसा पास में था। मिनर्वा में पहुंचा। पिक्चर 12 बजे के शो में लगी थी। *आंसू*—हीरो शेख। हीरोइन कामिनी कौशल। खलनायक प्राण। मशहूर गाना—*ओ मेरे साजना*। पिक्चर देखी और अच्छी तरह याद है, मौज में देखी।

बाहर निकला, इधर उधर देखा। सतीश आ रहा था। कंधे पर झोला लटकाए, इतना उदास सुस्त, वह भी सेकंड क्लास आया था। वह इंटर में थर्ड आया था। सेकंड आना उसके लिए प्रसन्नता की बात थी। लेकिन मेरे रिजल्ट से वह आहत था। हम दोनों कुछ नहीं बोले। उसके घर गए। उसके अंकल ने भी अफसोस जाहिर किया मेरे रिजल्ट पर। अगली सुबह सतीश मुझे बनारस जाने के लिए ट्रेन पकड़ाने स्टेशन गया।

टिकट कटाया। हम दोनों गुमसुम प्लेटफार्म पर खड़े होकर ट्रेन आने का इंतजार करने लगे। ट्रेन आई तब रिजर्वेशन का कोई अनुभव ही नहीं था। एक डिब्बे में जगह मिली। वहीं बैठ गया। ट्रेन ने सीटी दी और मैं फूट फूटकर रोने लगा। अंचराधार हिचकी लेकर। सतीश भी रोने लगा और बोला—देख तिरपाठी! अगर तू रोना बंद नहीं करेगा तो मैं तुझसे कभी नहीं मिलूंगा। रोना बंद कर। हम जिंदगी भर के यार हैं, अब चुप हो जा।

मैं चुप हो गया। आंसू पोछ लिया। गाड़ी चल दी। सतीश उतर गया। कानपुर छूट गया। वहां मैं जून 1949 से 1953 जून तक यानी 18 साल की वय से 22 साल की वय तक रहा—पढ़ाकू साधनहीन किशोर के नए जीवनानुभव। कानपुर में आर. एस. एस. की शाखा में जाना छूटा। पढ़ाई के दौरान शेक्सपीयर, रूसो, राहुल के जीवन और व्यक्तित्व से परिचय हुआ—ऐसे अध्यापक मिले, जिनकी आत्मीयता मिली। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेता डांगे का ऐसा भाषण सुना जिसका प्रभाव आज तक हम पर है। कम्युनिस्ट लिटरेचर पढ़ना शुरू किया। सतीश से एकमन एकप्राण याराना हुआ। घनघोर सिनेमाबाजी हुई। नरगिस, राजकपूर, दिलीप कुमार, चंद्रमोहन, मधुबाला, अशोक कुमार, प्राण देवमूर्तियां बन गईं।

कानपुर छूटते हुए यह सब मुझे याद आ रहा था। और कानपुर से बनारस की वह ट्रेन यात्रा ऐसी थी मानो मैं अंतरिक्ष में यात्रा कर रहा हूं। जेब में 25 रुपए थे। संस्कृत अध्यापक पं. रामसुरेश त्रिपाठी का अता पता था कि वे विश्वविद्यालय के पास लंका क्षेत्र के आत्रेय भवन में रहते हैं और यह इरादा था कि कानपुर नहीं लौटना है और एमए हिंदी करना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का दर्शन करना है। स्टेशन से रिक्शे पर लंका पहुंचा। विश्वविद्यालय गेट के पास बाजार में स्टूडेंट्स फ्रेंड की किताबों की दुकान दिखाई पड़ी। संयोग से इतनी जोर की बारिश आई कि दुकान के सामने वाली जगह में रुका रहा। बारिश रुकने पर आत्रेय भवन ढूंढ़ने में दिक्कत नहीं हुई। वह विशाल हॉस्टलनुमा बिल्डिंग विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र विभाग के अध्यक्ष प्रो. भीखमलाल आत्रेय की थी। दोमंजिला। कमरे थे जिनमें हॉस्टल में जगह न पाने वाले छात्र किराए पर रहते थे। पं रामसुरेश त्रिपाठी मेन बिल्डिंग से सटे एक स्वतंत्र छोटे से मकान में रहते थे। वह मकान भी आत्रेय जी का ही था। त्रिपाठी जी किराये पर रहते थे, अपनी वृद्धा मां के साथ। अविवाहित थे।

त्रिपाठी जी वत्सल आत्मीयता से मिले। बोले—तुम्हारी प्रथम श्रेणी नहीं आई। कोई बात नहीं, तुम चलो डा. वासुदेव शरण अग्रवाल के पास। तुम प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृत में एमए करो।

परम आदरणीय गुरुवर पं. रामसुरेश त्रिपाठी का आत्मीयता से मिलकर मुझे उत्साहित करना मेरे भावी जीवन का सहारा और निर्णायक था, जब मुझे आश्रय और निर्देश की जरूरत थी तब उन्होंने मुझे राह दिखाई। मैं भारतीय इतिहास की पढ़ाई नहीं कर सका और डा. अग्रवाल ने भी मुझे आचार्य द्विवेदी जी पास जाकर हिंदी में एमए करने की राय दी। त्रिपाठी जी मुझे द्विवेदी जी के पास ले गए। उन्होंने ही मेरे बारे में द्विवेदी जी से बात की होगी। उन्होंने पंडित जी से मेरी स्थिति के बारे में बताया होगा; लेकिन यह सब कभी न त्रिपाठी जी ने मुझसे कहा और न द्विवेदी जी ने।

एमए में प्रवेश पाने के 2-3 महीने बाद की बात है। एक दिन मैं विभाग के नोटिस बोर्ड को देख रहा था! कुछ पढ़ रहा हूंगा। पीछे से किसी ने पूछा—विश्वनाथ क्या देख रहे हो! मैंने पीछे मुड़कर देखा तो साक्षात् आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी थे। बोले—मेरे घर चलोगे! मैं क्या कहता! एक वाक्य में मैंने उत्तर दिया—यह तो आपकी अतिरिक्त कृपा है। मुझे यकीन नहीं हो रहा था।

पंडित जी के घर में डीडीटी छिड़का जा रहा था! माताजी ने खरबूजा काटकर खाने को दिया। बाद में हलुआ भी खिलाया! पंडित जी से मैंने कहा—*बाणभट्ट की आत्मकथा* पढ़ना चाहता हूं! पंडित जी ने बड़ी लड़की इंदुमती से कहा—एक बाणभट्ट निकाल लाओ! प्रति मुझे मिल गई! पंडित जी ने हस्ताक्षर की हुई प्रति मुझे दी! उन्होंने पूछा—रहते कहां हो? कहीं ट्यूशन कर लो! मैंने कहा—मुझे कोई नही जानता! कहां किससे कहूं! उन्होंने थोड़ी देर बाद चुप रहकर कहा—मेरे बच्चों को पढ़ा दिया करो। 7 बजे शाम को आ जाया करो! एक घंटा पढ़ाओ। फिर कहा—नहीं, छ: बजे ही आ जाया करो। हंसने लगे, छोटा बच्चा जल्दी सो जाता है।

जीवन में सफलता और सिद्धि का वैसा अनुभव न इससे पहले कभी हुआ था न बाद में! सीधे नामवरजी के यहां गया उन्हें यह खबर देने! *बाणभट्ट की आत्मकथा* पर हस्ताक्षर उन्हें दिखाया और परम पुलकित होकर आत्रेय भवन की कोठरी में सो गया।

पं. रामसुरेश त्रिपाठी ने चिट्ठी लिखकर मेरे बारे में द्विवेदी जी को बता दिया होगा। मेरे ऊपर कृपा करने की, मेरी सहायता करने की प्रार्थना की होगी। लगता है उन्होंने मेरी जाति उन्हें नहीं बताई क्योंकि पंडित जी बहुत दिनों तक मुझे कायस्थ समझते रहे! शायद इसलिए भी, पूछने पर मैं अपना नाम बताता विश्वनाथ। त्रिपाठी नहीं जोड़ता।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बारे में सुन रखा था। उनकी विद्वता के बारे में। लेकिन कल्पना नहीं की थी कि कोई व्यक्ति इतना परदुखकातर, करुणामय और सहनशील हो सकता है। कोई मुद्रा आकर्षण या छद्म मुद्रा नहीं। वे हमारी यानी अभावग्रस्त शिष्यों, मित्रों आदि की सिर्फ पढ़ाई लिखाई की नहीं, खाने पीने की भी चिंता करते थे। विरोधी से विरोधी की भी निंदा नहीं करते थे। आलोचना की बात अलग है। विरोधी को बेइमान या अपना शत्रु नहीं समझते थे। उसकी स्थिति में अपने को डालकर उसकी बात समझने की कोशिश करते थे। उनके संपर्क में मैं लगभग 26 वर्ष तक रहा। मैंने उन्हें कभी किसी का तिरस्कार, उपेक्षा करते नहीं पाया। क्रुद्ध होने पर वे खीझते थे मानो दुखी हो रहे हों। उनकी आंखों में मैंने वासना, लोभ की लहर कभी नहीं देखी। उनका साहित्य सुखद, शामक था। मुझे लगता है कि मध्यकालीन

भक्तों, साधकों का व्यवहार कैसा था—यह द्विवेदी जी को देखकर जाना जा सकता था।

वे अजातशत्रु थे, लेकिन उनके विरोधियों की कमी नहीं थी। विरोध के वास्तविक कारण थे। विभाग में पहले से कार्यरत अध्यापक डॉ. जगन्नाथ शर्मा और पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की अनदेखी करके द्विवेदी जी को शांति निकेतन से लाकर काशी विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग का अध्यक्ष बनाया गया था। डॉ. शर्मा और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस पद के सर्वथा योग्य थे। गुरुवर मिश्र जी की विद्वता और अध्यापक की ख्याति थी।

लेकिन इनमें से कोई *कबीर, हिंदी साहित्य की भूमिका* या *बाणभट्ट की आत्मकथा* का लेखक नहीं था। अंतत: पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी काशी विश्वविद्यालय के विद्यार्थी भी रह चुके थे।

कानुपर में मैंने बीए तक राजनीतिशास्त्र, संस्कृत साहित्य और हिंदी साहित्य की शिक्षा पाई थी—रूसो, हाव्स, लाक का नाम सुना था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, निराला, प्रसाद, पंत, मैथिलीशरण गुप्त का साहित्यिक परिचय प्राप्त किया था। फर्राटेदार अंग्रेजी की महिमा से प्रभावित हुआ था। किंतु, बनारस विश्वविद्यालय का रंग अलग था।

काशी विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष की कुर्सी को हिंदी साहित्य में विक्रमादित्य का सिंहासन माना जाता था। साल 2020 में उसकी शताब्दी मनाई गई थी। बाबू श्याम सुंदरदास उसके संस्थापक अध्यक्ष थे। बीए पास थे। प्रतिभाशाली व्यवस्थापक विद्वान और प्रबंधक थे। उन्होंने अंग्रेजी विभाग की तरह हिंदी का भी पाठ्यक्रम तैयार किया। यह कोई आसान काम नहीं था। वही ढांचा आज तक कमोबेश मान्य है। लेकिन यह विक्रमादित्य का सिंहासन बना था आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कारण। उन्होंने हिंदी शब्द सागर, हिंदी का शब्दकोश तैयार करने में प्रमुख भूमिका अदा की। हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा, जायसी, तुलसीदास, सूरदास भक्तों को महान कवियों के रूप में अवतरित किया। विश्वप्रसिद्ध भौतिकवादी ग्रंथ *रिडिल ऑफ यूनिवर्स* का *विश्व प्रपंच* के नाम से अनुवाद किया। उसकी विस्तृत भूमिका लिखी। गुण दोष कथन की परंपरा से निकालकर हिंदी साहित्य में विशुद्ध आलोचना का मार्ग बनाया, उसे प्रशस्त किया।

आचार्य केशव प्रसाद मिश्र विद्वान विशेषत: भाषाविद् थे। उन्हें हिंदी का अद्वितीय अध्यापक कहा जाता है। हिंदी विभाग के आरंभिक चार अध्यक्ष बाबू श्यामसुंदर दास बीए, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य केशवप्रसाद मिश्र और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी के विद्यार्थी नहीं थे, एमए नहीं थे। मूलत: उन्हें हिंदी की विश्वविद्यालयी शिक्षा नहीं मिली थी।

1940 ईसवी में पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक *हिंदी साहित्य की भूमिका* छपी और 1943 में *कबीर*। इन पुस्तकों ने हिंदी साहित्य के इतिहास का नया पाठ प्रस्तुत किया।

आज विचार करने पर मालूम होता है कि *हिंदी साहित्य का इतिहास* मानो *हिंदी साहित्य की भूमिका* का इंतजार कर रहा था। 'भूमिका' 'इतिहास' का पूरक मालूम पड़ती है। वह इतिहास में निर्गुण सहित्य की 'निर्गुण धारा' का संशोधित पाठ करके उसे पूर्वाधिक प्रामाणिक बनाती है। कल्पना करें यदि द्विवेदी जी का *कबीर* न लिखा गया होता तो हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन और आलोचना के बारे में आज हमारी स्थिति क्या होती!

द्विवेदी जी ने 'भूमिका' और *कबीर* ही नहीं लिखी। *बाणभट्ट की आत्मकथा, चारु चंद्र लेख, पुनर्नवा* और *अनामदास का पोथा* भी लिखा। अन्य अप्रतिम निबंध लिखे। विश्व विद्यालय में हिंदी विभाग का ऐसा सर्जक—समकालीन आधुनिक सर्जक—साहित्यकारों में ऐसा लोकप्रिय आचार्य दूसरा नहीं हुआ। द्विवेदी जी दिनकर, अज्ञेय, नवीन, पंत, भवानीप्रसाद मिश्र,

सुमन, जानकीवल्लभ शास्त्री आदि के आत्मीय थे। उनके काशी छोड़ने के बाद विक्रमादित्य का सिंहासन डिगने लगा।

काशी विश्वविद्यालय का विशाल परिसर चारों ओर से ऊंची करीब 7 फिट प्राचीर से घिरा है। परिसर कई मीलों में है। बाहरी संपर्क रखने के लिए कई स्थानों पर गेट हैं। मुख्य यानी प्रवेशद्वार भव्य है। अव वहां महात्मा मालवीय की ऊंची खड़ी मूर्ति स्थापित कर दी गई है। विभिन्न विभागों के भवन एक ही पंक्ति में साथ साथ निर्मित हैं। छात्रावासों के विशाल भवन भी उसी तरह एक पंक्ति में सिलसिलेवार स्थित हैं और अध्यापकों के निवास भी। विश्वविद्यालय के भवनों का रंग हल्का गौरिक गुलाबी है। ध्यान से देखें, सायंकाल और प्रात: उनकी आभा अलौकिक हो उठती है। परिसर इतना हरा भरा है कि मानो भारत की ग्रामीण जलवायु और निर्मल शोभा वहां विराजमान है। विश्वविद्यालय काशी नगरी के वातावरण से बिल्कुल भिन्न है। नगर के शोर शराबे का विश्वविद्यालय पर कोई प्रभाव नहीं है। बनारस का अपना रंग है। बोलचाल खानपान, व्यवहार बरताव, कोलाहल, शब्द गंध स्पर्श, संस्कृति, दूध दही, विजया भांग, पान तंबाकू, ठंडाई मलाई, पान मसाला, धोती कुर्ता, तहमत लुंगी उत्तरीय शाल दुपट्टे आदि। सुबह बनारस गंगा तट की। जबकि विश्वविद्यालय अखिल भारतीय अंतर्राष्ट्रीय है। पुरबिया दबाव, ब्राह्मण, खत्री, भूमिहार, ठाकुर आदि के खेमे चुनाव या राजनीतिक आंदोलनों में कभी कभार ही दिखलाई पड़ते थे। मैं 1953 की बात कर रहा हूं।

काशी विश्वविद्यालय के मूल नामकरण में हिंदू शब्द नहीं है—यह बात डॉ. राममनोहर लोहिया ने नरकाबगंज में होने वाली नियमित गोष्ठियों में से एक में कही थी। फिर भी देश की धार्मिक हिंदू जनता में काशी विश्वविद्यालय का हिंदू महत्व मौजूद है। जैसे अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में मुस्लिम भाव—जामिया में भी, किंतु अपेक्षाकृत कम—काशी विद्यापीठ में यह धार्मिक आयाम नहीं है।

हिंदी भाषा और साहित्य के शिक्षण के स्तर पर विक्रमजीत सिंह सनातन धर्म कालेज और काशी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में महान अंतर था। आदरणीय गुरुवर पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में आकाश पृथ्वी का नहीं, आकाश पाताल का अंतर था। अंतरं महदंतरम। आते ही मुझे अनेक अपरिचित शब्द सुनाई पड़े। शोधायक, महनीय, पूर्वाग्रह, उपबृंहण परिनिष्ठित। भारतीय काव्यशास्त्र की अवधारणात्मक सैद्धांतिक शब्दावली से मेरा परिचय न के बराबर था। यहां क्लास में ऐसे विद्यार्थियों की अच्छी संख्या थी, जो संस्कृत में आचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण कर चुके थे। यही नहीं, कई संस्कृत के योग्य अध्यापक भी थे। विश्वविद्यालय के ही राममूर्ति त्रिपाठी जी उन्हीं में से एक थे। अध्यापकों के भाषण में शास्त्रीय पदावली का इतना व्यवहार होता कि मेरे पल्ले बहुत कम पड़ता। लेकिन मैं उन शब्दों को समझने की भरसक कोशिश करता। हिंदी शब्दावली ही नहीं, अंग्रेजी भाषा और साहित्य की जानकारी भी यहां के अध्यापकों और विद्यार्थियों की स्तरीय थी। काशी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के वातावरण की खास बात यह थी कि अंग्रेजी विभाग को लेकर इसमें कोई हीन भावना नहीं थी। यहां के हिंदी विभाग के वातावरण में श्रेष्ठता का भाव था। विशेषत: आलोचना को लेकर और उसका आधार था आचार्य रामचंद्र शुक्ल का साहित्यिक व्यक्तित्व।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी यश के शिखर पर थे। *हिंदी साहित्य की भूमिका, कबीर, बाणभट्ट की आत्मकथा* की प्रसिद्धि का वैभव उनके पास था ही, उनके निबंधों को लोकप्रियता प्राप्त हो रही थी। उनके अजातशत्रु व्यवहार की मोहकता का प्रभाव भी व्यापक था। विद्वान कितना सहज हो सकता है उनका व्यक्तित्व इसका प्रतिमान समझा जाता। जहां होते, शिष्यों,

प्रशंसकों की भीड़भाड़ होती। भाषण देते तो श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते और उसी में उनका दिगंत प्रसारित अट्टहास गूंजता। नामवर सिंह, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, केदारनाथ सिंह, राममूर्ति त्रिपाठी, रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, नरसिंहाचारी, हिरण्यमय, वी. वी. कारंत आदि उनकी शिष्य मंडली में थे। डॉ. राजेंद्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेंद्र देव, कमलापति त्रिपाठी, पंत, दिनकर, महादेवी वर्मा, आचार्य क्षिति मोहन सेन उनको जानते मानते थे। काशी विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष के रूप में जब वे आए तो केवल 43 वर्ष के थे। बनारसीदास चतुर्वेदी ने उनकी सिफारिश की थी। उन्होंने न प्रार्थनापत्र दिया था। न उनका इंटरव्यू हुआ था। वे सादर नियोजित किए गए थे। इसके पहले हिंदी विभाग का कोई अध्यापक प्रोफेसर नहीं हुआ था। लेकिन विभाग वह था, जिसके अध्यक्ष डॉ. श्यामसुंदर दास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और पंडित केशव प्रसाद मिश्र रह चुके थे। पं. केशव प्रसाद मिश्र प्रसाद के अभिन्न मित्र थे। *कामायनी* सबसे पहले उन्होंने प्रसाद के मुख से सुनी थी। अध्यापक कैसे थे? डॉ. नामवर सिंह कहते थे—केशव जी जैसा कोई अध्यापक हो सकता है? मैं इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। जिसको भी केशव जी ने पढ़ाया, सब यही कहते थे। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अध्यापन की परम ख्याति थी और डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा विद्वान, अक्खड़ तो थे ही, स्वाधीनता आंदोलन में जेल गए थे। जेल में पं. कामतापति त्रिपाठी के साथ थे।

हिंदी संसार में सबसे अच्छी मूर्ति आचार्य रामचंद्र शुक्ल की थी। हिंदी साहित्य का इतिहास, गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, जायसी पर लिखकर हिंदी आलोचना, विशुद्ध हिंदी आलोचना के निर्माता थे वे।

द्विवेदी जी के आने से जो लोग असंतुष्ट थे, वे उनके सामने या विरोध में आचार्य शुक्ल को खड़ा कर देते। द्विवेदी जी काशी विश्वविद्यालय के ही छात्र थे। बलिया के थे। लेकिन उनके लेखन, चिंतन, जीवनयापन पर शांति निकेतन का प्रभाव था। यह शांति निकेतन का ही प्रभाव था कि वे *हिंदी साहित्य की भूमिका, कबीर* और *बाणभट्ट की आत्मकथा* लिख सके थे। उनके निबंधों की व्याप्ति, सहज, विद्वता और उसका सौंदर्यबोध हिंदी की बनारसी परंपरा का नहीं था। वे बनारसी नहीं बलिया और शांति निकेतनी थे। उनकी संतानें हिंदी से ज्यादा सहज बांग्ला बोलती थीं। माता जी (द्विवेदी की की पत्नी) की खड़ी बोली में भोजपुरी बांग्ला का मिश्रण था। भोजन, खानपान, पोशाक में भी।

रवींद्रनाथ के चिंतन और सौंदर्यबोध में जो अखिल भारतीय व्याप्ति, संकीर्णता से परहेज था उसका द्विवेदी जी पर गहरा प्रभाव था। वे विरोधी को शत्रु नहीं मान सकते थे। विरोधी भी आत्मीय हो सकता है। द्विवेदी जी लिखते समय वाक्य में 'ही' का प्रयोग नहीं करते। उनकी शैली में सबको समेट लेने का चमत्कारिक अवकाश है। उनकी निजता महत्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि वह छिपी रहती है सामने नहीं आती। आलोचना में अपने लेखन का महत्व नहीं करते। निबंधों में उनका 'मैं' हरिशंकर परसाई के मैं की तरह ही विशिष्ट व्यक्ति नहीं, एक पात्र है जो कहीं कोई भी हो सकता है। हिंदी वाला समझे, कहे जाने वाले लोगों से वे भिन्न थे। वे हिंदी का विरोध करने वाले अन्य भारतीय भाषा वालों को भी अपना समझते, पराया या अन्य नहीं। हिंदी को वे भारतीय भाषाओं के संदर्भ में ही देखने के अभ्यस्त और समर्थक थे।

कुछ लोग द्विवेदी जी को समझौतापरस्त भी मानते थे। यह भी कि वे हिंदी के समर्थन में दृढ़ रुख नहीं अपनाते और हिंदी विरोधियों के सामने झुक जाते हैं। द्विवेदी जी हिंदीवादी होने के साथ साथ भारतीय भाषावादी थे। उनका मानना था कि हिंदी का और अन्य भारतीय

भाषाओं का हित समान है। हिंदी को अन्य भारतीय भाषाओं की स्पर्धा या विरोध में खड़ा करना आत्मघाती है।

भारतीय संस्कृति और भारत देश या भारतीयता से प्रेम करने का मतलब इस देश की विविधता से आत्मीयता है। वे कहते थे कि हम अपने देश की जमीन को प्रेम करना जान गए हैं; तभी कश्मीर की सुरक्षा में पूरा देश जुट जाता है। पूरी फौज लड़ने लगती है किंतु भारतीय भाषाओं या भारतीयता के प्रति आत्मीयता का भाव रखते तो भारत की किसी भी भाषा का विरोध न करते बल्कि उसके एक एक शब्द को खतरे में पड़ा देख सब एक होकर उसकी रक्षा करने की चिंता करते। यह विविधता अखंड है। देश का एक हिस्सा परदेस में सर्वथा किसी न किसी रूप में व्याप्त है और व्यवहार में सजीव है।

द्विवेदी जी योद्धा नहीं थे। किसी से व्यक्तिगत बात पर ज्यादा देर तक विवाद नहीं करते थे। चुप रह जाते थे। उनकी बात कोई न समझ पाए या कुतर्क करे, बुरा व्यवहार करे तो खीझ उठते थे या उदास, दुखी चुप हो जाते थे।

नए साहित्यकार प्राय: पुराने साहित्यकारों, विश्वविद्यालयीय आचार्य की उपेक्षा करते हैं, किंतु हिंदी की नई पीढ़ी के साहित्यकार उनका सम्मान करते थे, उनसे प्रेरणा भी ग्रहण करते थे। विभाग के सभी अध्यापक विशेषत: डॉ. जगन्नाथ शर्मा, पंडित पदमनारायण, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और विजयशंकर मल्ल शिष्यों पर कृपाभाव रखते थे। शर्मा जी मुझे बहुत मानते थे। उन्होंने मेरी सहायता भी की—हाजिरी कम हो गई थी। उन्होंने ठीक कर दी। और मैं उनका सान्निध्य, शिष्यत्व पाकर धन्य हो उठा। नई कविता नई कहानी पढ़ने का सलीका मिला। पंडित ओंकारनाथ ठाकुर की क्लास में बैठा। आचार्य नरेंद्र देव को नजदीक से देखा। अनेक दक्षिण भारतीय विद्यार्थियों से मित्रता हुई। काशी के पंडितों का पांडित्य देखा। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल की साधना का साक्षी बना। एक बार आनंदमयी जी के भी दर्शन किये। केदारनाथ सिंह के साथ बैठकर कविताएं पढ़ने का शौक पैदा हुआ। वे तब तक प्रसिद्ध कवि हो गए थे। नामवर जी की प्रतिभा, उनका पठन प्रेम, नई पुस्तकों को ढूंढकर पढ़ने की उनकी लगन देखी। हमारे लिए सबसे अच्छी बात यह कि वे जो पढ़ते उसकी चर्चा हमसे भी करते। यानी हमें इस योग्य समझते। पता नहीं कितनी किताबों रचनाओं कवियों साहित्यकारों के नाम का और उनका परिचय उनके साहचर्य से प्राप्त हुआ। विष्णुचंद शर्मा और विद्यासागर नौटियाल का साथ मिला।

बनारस का वातावरण सर्जक था। साहित्य में रुचि, पढ़ने लिखने की लहर संक्रामक थी। गुर्टू हॉस्टल में शिव प्रसाद सिंह, केदारनाथ सिंह, रवींद्र भ्रमर, रवींद्रनाथ श्रीवास्तव (मैं भी) रहा करते थे। कई बार वहां त्रिलोचन, शमशेर के साथ घंटों बैठकी हुई है। अमरकांत, शेखर जोशी, दुष्यंत कुमार आते थे। अक्षोभ्येवर प्रताप, सिद्धनाथ आदि भी। कम्युनिस्ट पार्टी समाजवादी पार्टी के छात्र नेताओं का तो अड्डा ही था वह। वहां रहते हुए उर्दू कविता का शौक पैदा हुआ केदारनाथ सिंह के साथ। फिराक गोरखपुरी की कविताओं की हिंदी भाषा में संकलित किताब *इंद्रधनुष* पढ़ी, नजीर बनारसी का सत्संग प्राप्त करने उनके घर जाने लगा। बनारस में बुनकर मुसलमानों का एक खास तरह का रहन सहन है। (अब्दुल बिस्मिल्लाह ने *झीनी झीनी बीनी चदरिया* में उनका वर्णन किया है) वे कट्टर नहीं होते। तहमद पहनते हैं और टोपी लगाते हैं।

काशी शहर में मेरा आना जाना कम था। उस नगर का कोलाहल तो अच्छा लगता था किंतु वहां प्रसिद्ध साहित्यकारों के बारे में, उनके दबंगपन, मुंहफटपन और अनादरी वृत्तियों की

शोहरत थी। पंडित सुधाकर पांडेय, रुद्र काशिकेय ने कब किसका कैसा अपमान किया, क्या राजनीति की, इसके अनेक किस्से थे। वहां आदर करते समय कहा जाने वाला मुहावरा था, 'पान पनिही'। यानी पान खिलाना और पनिही (जूता)। विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध प्रोफेसर भी इस विषय में कम नहीं थे। खड़े खड़े किसी का अपमान कर देना, यह बनारसी पंडित का स्वभाव माना जाता था। वहां शंकराचार्य और तुलसीदास का जैसा अपमान हुआ था उसकी परंपरा बरकरार थी। अंतरवर्ती ग्रंथि यह थी कि बनारस में बड़ों बड़ों की कलई उतार दी जाती थी।

इच्छा और अनुकूल होने पर सम्मान भी किया जाता था। पर उसकी चर्चा कम होती थी।

बनारस मुझे सबसे अधिक याद आता है—संस्कृत श्लोकों के शुद्ध उच्चारण की ध्वनि मंजुलता के लिए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा संस्कृत श्लोकों का उच्चारण, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. जगन्नाथ शर्मा, नवयुवक अध्यापक डॉ. नामवर सिंह का उच्चारण उनकी ध्वनि अनुगूंजें अविस्मरणीय हैं। प्राकृत अपभ्रंश की कविताओं का शुद्ध पाठ और कहीं सुनाई नहीं दिया। वहां कविता की व्याख्या शब्दों के अर्थ जोड़ जोड़कर की जाती थी। एक एक शब्द की विविध अर्थ छायाओं पर बात करना वहां के विद्वानों विद्यार्थियों का स्वभाव था। आशा है अभी भी होगा।

बनारस में खाने पीने की चीजों का स्वाद लाजवाब है। मेरे अनुभव में बनारस मिठाई (छेना) के लिए सर्वश्रेष्ठ नगर है। वहां दो और प्रकार की उत्तम मिठाइयां मिलती हैं। ठठेरी बाजार श्री राम भंडार में जैसी मिठाइयां मिलती हैं वैसी कही नहीं। कचौड़ी गली में घुसते ही जो स्वाद गंध मिलती है वह कहीं और नहीं मिलती। कहते हैं कि अब अन्य भी कई अच्छी दुकानें खुल गई हैं। लंका में अप्पा काफी हाउस था। कॉफी का स्वाद सबसे पहले वहीं लिया था। अच्छा नहीं लगा था, कड़ुवा और फीका लगा था। लेकिन धीरे धीरे अभ्यस्त हो गया था। वहीं मसाला डोसा, इडली, बड़ा के स्वाद का अनुभव मिला था। तब सामान्य मसाला डोसा चार आने का था और शुद्ध देशी घी वाला छः आने का। वैसा स्वाद अन्यत्र नहीं। वह रेस्तरां कुछ दिनों बाद वहां से हटकर बनारस लाज की बिल्डिंग में चला गया। बहुत दिनों के बाद यानी दिल्ली में आने पर काशी गया था तो ढूंढते ढूंढते उस रेस्त्रां में गया। अप्पा साहब नहीं रह गए थे लेकिन लड़के ने फौरन पहचान लिया। इस बार बनारस गया वेदप्रकाश के साथ तो बनारस लाज नहीं जा सका। लोगों ने बताया कि भेलुपुरा में केरल कॉफी होम में मसाला डोसा बहुत अच्छा मिलता है, वहीं गया लेकिन अप्पा कॉफी हाउस की याद सताती रही।

तब चौक में कन्हैया चित्र मंदिर के पास मधुर जलपानगृह खुला था जिसमें समोसा और आलूचाप भी शुद्ध देशी घी में मिलता था। लेकिन दशाश्वमेध में खाने पीने की सबसे मशहूर दुकान और शायद व्यस्त भी थी—जलजोग। यह बनारसी मिठाई की दुकान थी जहां की एक मिठाई का नाम था—एटम बम—स्वाद में वह एटम बम का ही काम करती थी।

पेय में विजया की ठंडाई और खाने में गोला काशी की अपनी चीज है। हमारे समय में बनारस में मदिरा का रिवाज अपेक्षाकृत कम था।

विजया तो काशी विश्वनाथ का प्रसाद है। उसका तिरस्कार शंकर की नगरी में करने का साहस किसी को नहीं है। देवकीनंदन खत्री ने *चंद्रकांता* उपन्यास भंग की तरंग में लिखा था। और तो और आचार्य रामचंद्र शुक्ल विजया का सेवन करने के शौकीन थे। उन्होंने आलोचना तरंग में लिखी। कहते हैं कि हृदय आकार में बढ़ गया था। एनलार्ज हो गया था। डॉक्टरों ने विजया सेवन न करने को कहा तो आचार्य श्री बोले—चोला छूट जाए लेकिन गोला नहीं छूटेगा। डॉ. नामवर सिंह की षष्टिपूर्ति का समारोह मनाया गया तो शाम को नौका गोष्ठी में

विजया गोला और ठंडाई दोनों रूपों में प्रस्तुत थी। यदुक्तम—

खाने को भंग नहाने को गंग चढ़ै को तुरंग ओढ़ै को दुसाला

और अगली पंक्ति में—

पान पुरान सुहागिन सुंदर गोद खिलावत सुंदर बाला।

लानत है, अगर बनारस का जिक्र आये और पान की चर्चा न हो—

दुकान पर लिखा था—

आइये आइये किधर ध्यान है
पान लबों की शान है
बनारसी पान की यही दुकान है।

बनारस में पान को मुखभूषण भी कहते हैं। दशाश्वमेध के पास ऐसी दुकानें मिल जाएंगी जिन पर सुभाषचंद्र बोस, कमलापति त्रिपाठी या लाल बहादुर शास्त्री पान खाते हुए (दुकान पर खड़े फोटो में) दिखलाई पड़ जाएंगे। पान जिस ढंग से लगाया जाता है, पत्ते पर जिस ढंग से पेश किया जाता है, तंबाकू अलग चूना अलग और सुपारी भी अलग, वह वहां का अपना ढंग है। मगही पानों का राजा है। ककेर का अपना रंग है। सामान्यत: जगन्नाथी ही चलता है। बंगाली या महोबा कम या उतना स्वागत योग्य नहीं है। बनारस में पान खाया नहीं जाता है। चबाया नहीं जाता, दबाया या घुलाया जाता है। सिंगल या जोड़ा नहीं, चार चार का बीड़ा होता है। मुंह में बीड़ा दाब लिया और उसे दबाए या घुलाये रखते हैं। पान मुंह में रखे हुए, मुंह ऊपर करके बोलते रहने का बनारस के लोगों को अभ्यास है। बोल रहे हैं, वार्तालाप हो रहा है, मजाल है कि एक बूंद भी इधर उधर गिरे।

ठेठ बनारसी जन शौचक्रिया को 'निपटान' कहते हैं। दैनिक जीवन व्यवहार में इसका बड़ा ध्यान रखते हैं। आदर्श तो है कि नाव में बैठकर उस पार रामनगर जाइये और अमनिया स्वच्छ निपटान करके लौटिए। कहते हैं कि तुलसीदास निपटान के लिए नाव से रामनगर जाते थे। अंगोछा पहनकर जनेऊ कान में लपेटकर निपटान स्नान करके बहाल हो जाइए। निपटान में बाधा पड़े तो बनारसी जन का मूड बिगड़ जाता है। अच्छा वातावरण मिले तो कहेंगे दिव्य निपटान हुआ है। एक्सचेंज का अनुवाद किया गया निपटान—दिल्ली में खुला निपटान भवन। कहते हैं कि एक बनारसी राजधानी के इस विकास पर मुग्ध होकर निपट आया। उसे पकड़ा गया तो चकित विस्मित हुआ।

निपटान भवन में निपटान पर रोक!

बनारस का सामान्य जन अंगोछा कंधे पर रख ले या तहमद की तरह बांध ले तो अपने को त्रैलोक्य का स्वामी समझता है। कहते हैं कि बनारसी आदमी और अंग्रेजी अमेरिकी मेम को अर्धनग्न कभी नहीं कह सकते।

और इस सबके साथ बनारस के वातावरण में एक लाजवाब आत्मीयता, सहजता मस्ती और रंग है। बेपरवाह अक्खड़पन और अधिक सहृदयता है। संक्रामक सृजनशीलता है। तुलसीदास प्रसाद प्रेमचंद आचार्य शुक्ल आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उस्ताद बिस्मिल्लाह खां, रविशंकर, ओंकार नाथ ठाकुर, अनोखे, कंठे, शामता प्रसाद, गोदई महाराज, सितारादेवी की कला समृद्धि है। मोहक हृदयबेधक लोकगीत और उनकी धुनें हैं—

सबकी नैया जाला रामा देसवा विदेसवा।
हो नागर नैया जाला काला पनिया हो रामा।। (बहती गंगा से)

हम्मै लोगवां करेला बदनाम हो रजउ तोहरे बदे।

असीम राग रंग और महाकालेश्वर विश्वनाथ की छाया जरा मरण से मुक्ति है, प्राण प्रिय है। काशी में मृत्यु भी उल्लास है। होली उल्लास और श्रृंगार का त्योहार है। काशी में प्रसिद्ध फाग है—

खेलैं दिगंबर होली मसाने में
खेलैं दिगंबर होली।

अनुमान कीजिये कैसा रंग बंधता होगा जब उस्ताद बिस्मिल्लाह खां की शहनाई धुन बजती होगी—

मिर्जापुर भइला गुलजार, कचौड़ी गली सून कइला बलमू

बालम कचौड़ी गली से मिर्जापुर चले गए हैं तो कचौड़ी गली सूनी हो गई है और मिर्जापुर गुलजार।

नजीर बनारसी ठेठ स्थानीय रंग के शायर थे। पोशाक बोलचाल और आत्मीयता बांटने में सिद्धहस्त। संयोग ही था कि मिजाज में वे नजीर अकबराबादी से काफी मिलते जुलते थे। नजीर बनारसी ने एक बार मुझसे कहा भी था कि वे नजीर अकबराबादी के रिश्ते में आते हैं।

नजीर बनारसी की जुबान सीधी सादी लगभग बनारसी उर्दू है—

नजीर आये थे पीने आबे जमजम
लिए थे हाथ में गंगाजली भी

वे हकीम भी थे। परचून के साथ दवाओं की दुकान भी थी। एक बार मैं उनके घर गया। शाम हो गई। फिर वे हमें चौक के पास एक बार में ले गए। हमने पी। रात में मैं उन्हीं के घर रह गया। रात को रोटी दाल खजूर खाया। असली मसूर की दाल। ऐसी दाल जिसके बारे में मुहावरा है—यह मुंह और मसूर की दाल। सवेरे सादी चपाती के साथ कलेजी का नाश्ता। ऐसा सुस्वादु नाश्ता कभी कभी तकदीर से नसीब होता है। बनारस में निरामिष भोजन ही नहीं, सामिष बंगाली और दक्षिण भारतीय भोजन व्यंजन बहुत स्वादिष्ट मिलता है। शाक सब्जियों पर गंगा की स्वच्छता और स्वाद का जादू है।

नजीर साहब का यह शेर मेरे कानों में गूंजता रहता है —

जमीं वालों ने तेरी कद्र जब कम की मेरे बापू
जमीं से ले गए तुझको उठाकर आसमा वाले।

मुझे एमए करने में तीन साल लग गए। 1954 की एमए की प्रथम वर्ष की परीक्षा मैंने छोड़ दी। एमए 1956 में उत्तीर्ण हुआ। प्रथम श्रेणी आई। बीए के परीक्षाफल का विषाद दूर हुआ। छात्रवृत्ति मिली 100 रुपये महीने की। और शोधकार्य शुरू हुआ। 1956 में ही मेरा विवाह हो गया। विवाह की कथा फिर कभी कहूंगा।

काशी विश्वविद्यालय में उपद्रव मच गया। वहां की व्यवस्था भयंकर तौर पर विवादग्रस्त हो गई। कुछ अध्यापक ऐसे थे जो वाइस चांसलर को टिकने नहीं देते थे। यहां तक कि आचार्य नरेंद्र देव तक का अभद्र विरोध किया गया। सीपी रामासामी अय्यर जैसे विख्यात कुशल व्यवस्थापक को वाइस चांसलर बनाया गया। लेकिन कोई लाभ नहीं। अंत में श्री वेणी शंकर झा के समय में विश्वविद्यालय की जांच कमेटी गठित की गई। प्रो. मुदालियर की अध्यक्षता में कमेटी ने विश्वविद्यालय में कुछ अध्यापकों की आलोचना की। विद्यार्थियों ने कमेटी के प्रस्तावों का, उसकी रिपोर्ट का घोर विरोध किया। आंदोलन को दबाने के लिए छात्रों पर लाठीचार्ज किया गया। आंदोलन में मैं भी शामिल था। मैंने भी लाठी खाई। जेल का

अनुभव मुझे पहले ही था। तीन लाठियां पड़ीं। लेकिन मलहम दवा दारू से ठीक हो गया। जिन अध्यापकों पर आरोप लगाया गया था उनमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी थे। उन्हें शांति निकेतन से निमंत्रित करके बुलाया गया था। प्रोफेसर अध्यक्ष बना दिया गया था। बाकायदा इंटरव्यू कमेटी बनाकर निर्णायक समिति के सामने नहीं बुलाया गया था। उन्हें काम करते 10 वर्ष बीत गए थे। व्यवस्था की अवैधानिकता का मामला था। अंततः 1960 में उनका निष्कासन हुआ। उसी वर्ष कुछ ही महीने बाद उन्हें पंजाब विश्वविद्यालय में प्रोफेसर अध्यक्ष पद के लिए निमंत्रित कर लिया गया।

1958 वर्ष में 15 अक्टूबर को मैं गवर्नमेंट कॉलेज नैनीताल में अस्थायी अध्यापक नियुक्त हो गया। बनारस छोड़ने के पहले ही द्विवेदीजी ने मेरी आजीविका की व्यवस्था कर दी थी।

पंडित जी के विभाग से हटाए जाने के कुछ समय पूर्व ही नामवर जी की नौकरी छूट गई थी। सागर विश्वविद्यालय में अध्यापक के रूप में नियुक्ति हो गई थी। नियुक्ति अस्थाई थी। पंडित नंद दुलारे वाजपेयी उनसे प्रसन्न नहीं थे। वहां से उनकी छुट्टी कर दी गई। उस समय तक यानी छुट्टी होने के समय तक द्विवेदी जी काशी विश्वविद्यालय में थे। नामवर जी ने सोचा पंडित जी से मिलकर उन्हें समाचार से अवगत कराएं। मन में कुछ आशा थी कि पंडित जी कुछ न कुछ कर देंगे। बीच में इलाहाबाद रुककर मार्कण्डेयजी से मिलकर बनारस पहुंचने की सोची। स्टेशन पर ही सूचना मिल गई कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की काशी विश्वविद्यालय से छुट्टी हो गई है।

बचे केदारनाथ सिंह तो नौकरी की टोह में कहीं चले गए थे। गोरखपुर या पडरौना। उनकी पत्नी कैंसरग्रस्त थीं।

बिसनाथ को नैनीताल में नौकरी मिल गई थी। बनारस उनके लिए नीरस हो चुका था।

अगले अंक में जारी...

लक्ष्मीकांत वर्मा : नई कविता संबंधी बहसों के 'लांच पैड'

राजेंद्र कुमार

हिंदी के प्रतिष्ठित कवि, आलोचक, कथाकार और अपने समय में नई कविता आंदोलन तथा साहित्यिक सक्रियताओं के केंद्रीय व्यक्तित्व लक्ष्मीकांत वर्मा का शताब्दी वर्ष शुरू हो रहा है। इस अवसर पर उनके अवदान पर वरिष्ठ आलोचक कवि राजेंद्र कुमार का यह लेख विशेष रूप से 'तद्भव' के पाठकों के लिए।

पूछते हैं अपने से ही लक्ष्मीकांत
क्या तिरोहित होना आकार की पूर्व पीठिका है?
या किसी निराकार की अंतिम यात्रा...

ये पंक्तियां लक्ष्मीकांत वर्मा के अंतिम काव्य संकलन रूबरू *: लक्ष्मीकांत* (उनके निधन के लगभग दो वर्ष बाद, 2004 में प्रकाशित) की 18वीं कविता की अंतिम पंक्तियां हैं। इन पंक्तियों में लक्ष्मीकांत जो प्रश्न अपने जीवन के अंतिम पड़ाव पर खुद अपने से पूछ रहे थे, उनका कोई संतोषप्रद उत्तर उन्हें मिला या नहीं, यह बता सकने वाला अब कोई नहीं है, सिवा उनकी रचनाओं के।

एक समय था जब इलाहाबाद कितना लक्ष्मीकांतमय था! पर अब लक्ष्मीकांत वर्मा किसी चर्चा में नहीं दिखते। उनके कितने सगे संबंधी थे—विजयदेव नारायण साही, जगदीश गुप्त, नरेश मेहता, विपिन अग्रवाल, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश, बालकृष्ण

राव, केशवचंद्र वर्मा आदि। *परिमल* उनसे सुवासित था। *नई कविता* के वे अपने तरह के 'अतुकांत' प्रतिमान थे। *विवेचना* के विवेच्य भी थे और विवेचक भी। *नये पत्ते, निकष* और *क ख ग* जैसी पत्रिकाओं के प्रमुख आयोजकों में से एक। कविता के साथ 'नई' जैसे विशेषण का उत्साह से स्वागत किया, तो उसके बासी होते जाने को लक्षित करके 'ताजी कविता' के एकमात्र प्रस्तावक भी बने। 'ताजी कविता : कुछ जोड़ कुछ बाकी' (दृष्टव्य *क ख ग* जुलाई,1965) के हिसाब किताब में प्रवृत्त। और जल्दी ही उससे निवृत्त भी।

उनको अपनी सर्जना को मुख्य भूमि कविता में मिली। लेकिन उनका कवि जब तब गद्य में भी अपना आवास तलाशता रहा। इस तलाश के प्रमाण विशेष रूप से उनके आलोचनात्मक लेखन और उनके उपन्यासों में मिलते हैं। पत्र पत्रिकाओं में स्तंभकार के रूप में साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रसंगों पर लिखी गई उनकी टिप्पणियां सामयिक समस्याओं के प्रति उनकी संवेदनशीलता और जागरूकता का पता देती थीं।

उनकी सर्जनात्मक प्रवृत्ति का एक आयाम रूपंकर कलाओं में भी व्यक्त होता रहा। एक चित्रकार के रूप में उन्होंने रंगों रेखाओं को भी अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। नाटक भी लिखे और किये भी। नाट्य तत्वों के सहारे अपनी कविताओं को संवेदनादीप्त करने की अपनी सधी हुई कला का परिचय वे *नई कविता* में छपे लंबे काव्यांशों ('परतों की आवाज' और 'एक एक्स्ट्रा') के जरिये शुरू में ही करा चुके थे।

(1)

फिर सोचता हूं,
जो भी किया, अच्छा किया।
ऐतिहासिकता को भोगा;
इतिहास का भोग नहीं बना।

लक्ष्मीकांत वर्मा में जो बात सबसे ज्यादा प्रभावित करती थी, वो यह कि वे अपने व्यक्तित्व में ऐसा कुछ भी अतिरिक्त नहीं लदने देते थे, जो अलग से दूसरों को प्रभावित करने के लिए हो। वे जितनी सहजता से अपने लेखन की दुनिया में रहते थे, उतनी ही सहजता से उस बाहर की दुनिया में भी, जिसमें उन्हें जीना पड़ता था और जिसमें उन्हें कइयों का अगाध प्यार मिलता था और कइयों से उपेक्षा भी। उन्होंने लेखन में कभी किसी से ईर्ष्या नहीं की, न किसी जैसा होने की कामना की। न किसी एक लेखन को अपना आदर्श माना, न किसी एक विधा को।

उनके कई कविमित्र—साही, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती 'सप्तक' के कवियों के रूप में अज्ञेय द्वारा चुने गए। लेकिन लक्ष्मीकांत वर्मा को इस बात का मलाल शायद ही रहा हो कि उन्हें किसी *सप्तक* में स्थान क्यों नहीं मिला। वे उनमें से नहीं थे, जो अपनी असाधारणता का आख्यान रचकर धन्य होते हैं। *नई कविता* में छपी उनकी कविता 'एक एक्स्ट्रा' (कुछ घोषणाएं : कुछ स्थितियां) में पहली घोषणा यही थी—*'मेरे चेहरे को औरों से अलग मत बनाओ।'* लक्ष्मीकांत वर्मा उनमें से थे, जो अपनी सामान्यता से हम सबको अपना बना लेते थे। लोकतांत्रिक इतने कि मतभिन्नता का हम सबको अधिकार देते थे। वे यह भी जानते थे कि बौद्धिकता भी कब कितनी कष्टकर चीज बन जाती है। उन्होंने अपनी एक कविता में यह सलाह यों ही थोड़े ही दी थी कि *'आइए, दांत निकाल दूं / यह अक्ल का दांत अक्सर बड़ी तकलीफ देता है!'*

मैं अपने गृहनगर कानपुर से जब इलाहाबाद आया तो यह शहर ज्यादातर लेखकों और बुद्धिजीवियों के लिए साइकिल का शहर था। लक्ष्मीकांत जी को भी मैंने साइकिल पर ही चलते देखा। तब भी, जब बाद में कई तो स्कूटर वाले हो गए। कुछ कार वाले भी। अक्सर लक्ष्मीकांत जी के साथ दो अन्य साइकिल सवार और होते, सत्यप्रकाश मिश्र और सुरेशचंद्र मिश्र। तीनों की मंजिल एक—सिविल लाइंस का कॉफी हाउस। एक समानता और थी—लक्ष्मीकांत जी और सुरेशचंद्र मिश्र हमेशा सफेद धोती कुर्ते में होते। सत्यप्रकाश मिश्र भी ज्यादातर कुर्ता ही पहनते, मगर पाजामे के ऊपर।

मुझे साइकिल चलाना आता न था। प्राय: पैदल ही चलता। एक दिन लक्ष्मीकांत जी ने टोक दिया, "पैदल चलते हो। एक साइकिल तुम भी क्यों नहीं ले लेते?"

मैंने अपनी मजबूरी बताई, "साइकिल चलाना आता नहीं, इसलिए पैदल ही।" बीच में सत्यप्रकाश ने फौरन लपक लिया, "पैर से पैदल हो, बुद्धि से तो नहीं! सीख लो।"

लक्ष्मीकांत वर्मा मुस्कराए। फिर थोड़ी गंभीरता दिखाते हुए दिखे। बोले—"नहीं, असल बात ये है कि राजेंद्र कुमार पैर से गांधीवादी हैं, सिर से मार्क्सवादी।"

लक्ष्मीकांत जी के साहित्यिक और राजनीतिक चिंतन का एक संधिबिंदु था, जहां उनकी चेतना में गांधी और लोहिया, दोनों की उपस्थिति रही।

धार्मिक आस्था के मामले में लक्ष्मीकांत वर्मा आस्तिक थे गांधी की तरह। लोहिया की तरह नास्तिक तो वे कभी नहीं हुए, लेकिन धर्म के सांस्कृतिक पक्षों की भौतिक व्याख्याओं में लोहिया की रुचि के वे कायल थे। लोहिया भी लक्ष्मीकांत जी का बहुत सम्मान करते थे। लोहिया द्वारा प्रवर्तित 'रामायण मेले' के आयोजनों में लक्ष्मीकांत जी का सक्रिय सहयोग रहता था।

इलाहाबाद के सिविल लाइंस का कॉफी हाउस प्राय: जिन लेखकों और बुद्धिजीवियों से गुलजार रहता था, उनमें लक्ष्मीकांत जी के होने का अपना रंग था, अपना अंदाज। कॉफी ठंडी हो रही हो तो हो जाए, मगर बहस की गर्मी कम न हो। मलयज ने अपनी डायरी के एक पन्ने पर कॉफी हाउस में लक्ष्मीकांत जी के होने का चित्र यों टांका है—"लक्ष्मीकांत का पसीना लोगों की प्लेटों और प्यालियों में टपक रहा है और लोग उसे गर्म बहस के साथ सिप कर रहे हैं। बिल्कुल पसीने की मशीन हैं लक्ष्मीकांत।"

हम जैसे कुछ मित्र लक्ष्मीकांत जी से सहमत न होते, तो भी वे अपनी आत्मीयता से हमें वंचित कभी नहीं करते। उनसे मिली आत्मीयता उनके ऊबड़खाबड़ जीवन का एकदम प्रतिलोम प्रतीत होती। अज्ञेय के यहां कविता में जिस 'आलोक छुआ अपनापन' का बिंब आता है, उसे अज्ञेय खुद अपने यथार्थ जीवन में किसको कितना दे पाए, कहना मुश्किल है। क्योंकि अज्ञेय का आभिजात्य अक्सर आड़े आ जाता रहा। पर इस दृष्टि से लक्ष्मीकांत जी अज्ञेय से भिन्न रहे। हम जैसों को लक्ष्मीकांत जी से 'आलोक छुआ अपनापन' सहजतया मिलता रहा।

मैं और सत्यप्रकाश उन्हें भाईसाहब कहते थे। ऐसे भाईसाहब—जो हम दोनों से उम्र में ही बड़े नहीं, कद में भी काफी लंबे थे। और काठी ऐसी कि उस पर फालतू या 'सरप्लस' कुछ भी नहीं। यह 'सरप्लसलेसनेस'—यह अनतिरिक्तता उनके जीवन में भी रही। अपने स्वभाव से वे संत भी थे और सूफी भी। एक साथ। सूफियों की तरह प्रेममय, संतों की तरह बेलाग और फक्कड़। 'नई कविता' के दौर में स्वयं उनका ही गढ़ा एक पदबंध चलता था—'शरारतपूर्ण सह संयोजन'। लेकिन लक्ष्मीकांत जी के व्यक्तित्व में यह जो संतों के से बेलागपन और सूफियों की सी प्रेममयता का संयोजन था, यह शरारतन न था। फितरतन था, यानी स्वाभाविक।

(2)

स्वाभाविक यह भी था कि *नई कविता* के दौर में लक्ष्मीकांत वर्मा शुरू से ही अपने को सिर्फ कविकर्म तक सीमित करके नहीं रह गए। 'नई कविता' की स्वरूपगत प्रवृत्तियों के शास्त्रीय निरूपण की जिम्मेदारी वहन करने में भी सबसे पहले वही आगे आए। यों, लेखादि के रूप में हिंदी पत्र पत्रिकाओं में पहले भी यत्र तत्र कुछ न कुछ छपता रहा। इलाहाबाद से ही कई पत्रिकाएं निकलीं—*नई कविता, नये पत्ते, निकष* आदि। इनमें नई कविता की सैद्धांतिकी को लेकर चर्चा परिचर्चा का आयोजन समय समय पर होता रहा। *परिमल* और *विवेचना* की गोष्ठियां भी कई बहसों को गति दे ही रही थीं। इन सबमें भी लक्ष्मीकांत वर्मा की सक्रिय भागीदारी होती थी। लेकिन बाकायदा उनकी पुस्तक प्रकाशित हुई 1957 में *नई कविता के प्रतिमान*। इस पुस्तक के कई अंश—*राष्ट्रवाणी* (सं. वसंतदेव) के कुछ अंकों में लेख के रूप में क्रमशः छपकर पहले ही चर्चित हो चुके थे। *राष्ट्रवाणी* में ही उन पर कई पत्र प्रतिक्रियाएं भी छपी थीं, जिनको पढ़कर लक्ष्मीकांत वर्मा ने अपना स्पष्टीकरण इन शब्दों में दिया था—*"कुछ पत्रों में मेरी भाषा के चक्करदार और घुमावदार होने की टिप्पणियां छपीं... किंतु मैं बार बार इस निष्कर्ष पर पहुंचता रहा हूं कि दोष भाषा का उतना नहीं है, जितना उन विचारों का है जिनके साथ मैं जीता जागता रहता आया हूं।"* यह स्पष्टीकरण दरअसल लक्ष्मीकांत वर्मा के कविरूप पर भी लागू होता है। बल्कि इसीलिए उन्हें *नई कविता* के शास्त्रीय विवेचक की भूमिका में भी उतरना पड़ा ताकि उनकी कविता की भाषा और उसमें आए विचारों के 'घुमावदार' और 'चक्करदार' होने का औचित्य स्थापन भी होता चले।

राष्ट्रवाणी में क्रमबद्ध छपे लेख जब पुस्तकाकार प्रकाशित हुए तो 'नई कविता' के शास्त्रीय विवेचन का वह पहला व्यवस्थित प्रयास माना गया। पहले प्रयास के रूप में बेशक उसकी कुछ सीमाएं भी होनी ही थीं लेकिन उसका ऐतिहासिक महत्व असंदिग्ध है। इस पुस्तक का प्रकाशन 'नई कविता' के बहाने कविता संबंधी व्यापक चर्चा का एक ऐसा प्रस्थान बिंदु साबित हुआ, जहां से बीसवीं सदी उत्तरार्ध के सामाजिक और साहित्यिक परिवेश एवं उसके भीतर के आलोड़नों और उद्वेलनों की पहचान के प्रयत्न शुरू हुए। साथ ही पूर्ववर्ती काव्यांदोलनों (छायावाद और छायावादोत्तर) की प्रवृत्तियों से अपने समय की कविता में आए अंतरों को रेखांकित करने की तमीज अर्जित करने के रास्ते खुले। इन रास्तों पर प्रश्न सिर्फ वर्तमान रचनाशीलता के मूल्यांकन का ही नहीं, विगत की सर्जनात्मक निष्पत्तियों के पुनर्मूल्यांकन का भी उठा।

बीसवीं सदी आधी बीत चुकी थी—छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद से गुजरते हुए। मनुष्य के लिए अब तक की अपनी परिभाषाओं के भीतर अपने को खोजने की संभावनाएं निःशेष हो चुकी थीं। जो शेष थीं भी, उनके अपने अर्थ तेजी से बदल रहे थे। प्रेम और घृणा, करुणा और क्रोध, युद्ध और शांति, लघु और महा जैसे शब्द भी इतने इकहरे अर्थ वाले अब नहीं रह गए थे कि उन्हें मानव जीवन में एक दूसरे से हरदम मुंह मोड़े ही देखा जाता रहे। कोई एक निश्चित भाव स्थिति किसी भी व्यक्ति का सर्वथा भरोसेमंद ठिकाना नहीं हो पा रही थी। तो क्या मान लिया जाता कि उस दौर के मनुष्य के लिए भटकना ही उसकी नियति थी? लक्ष्मीकांत वर्मा इस प्रश्न से जूझे, तो उन्हें यह उत्तर मिला :

रास्ता है वही
जो भटके को साहस दे

भटकावा है वही
जो जीवन में
संगति दे
भटकावा है जिज्ञासा
मौत उसे मत समझो।
थके हुए चरणों में
शक्ति अभी बहुत है।

जाहिर है, 'नई कविता' के कवियों पर 'भटकाव' का जो आरोप लग रहा था, उस आरोप को निरस्त करने का साहस जुटाने के क्रम में 'नई कविता के प्रतिमान' जुटाने की जिज्ञासा जागी। इस जिज्ञासा को स्वयं अपने आप में किसी प्रतिमान से कम न माना जाए, यह आग्रह रहा लक्ष्मीकांत वर्मा का। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—"*नया भावबोध सिद्ध सत्य जैसी वस्तु नहीं मानता। उसकी प्रकृति है, प्रत्येक सत्य को विवेक से देखना, उसके परिप्रेक्ष्य को प्रयोग के माध्यम से निष्कर्ष तक पहुंचाना। इस प्रक्रिया में थोड़ा भटकाव संभव हो सकता है, थोड़ी बहुत बहकाव की संभावना हो सकती है, किंतु यह प्रक्रिया ठहराव की मौत से कहीं अधिक जीवंत और प्रेरणावान् है।*" (नई कविता के प्रतिमान, पृ. 67)

'भटकाव' को नये भावबोध के संदर्भ में इस तरह पहचानने के आग्रह के साथ लक्ष्मीकांत वर्मा की उपरिउद्धृत कविता में रखी गई शर्त ('*भटकावा है वहीं / जो जीवन में / संगति दे*') का ध्यान अगर न रहे तो उन असहमतियों का होना स्वाभाविक था, जो आगे चलकर नामवर सिंह और रामविलास शर्मा के यहां देखी गईं। लेकिन इन असहमतियों से भी लक्ष्मीकांत वर्मा से काव्य चिंतन का अर्जित आघूर्ण (मोमेंटम) इस तरह फलीभूत हुआ कि कविता के साथ 'नई' विशेषण जोड़ने के औचित्य की परख के साथ यह सवाल भी केंद्र में आ गया कि जिसे 'नई कविता' कहा जा रहा है, वह सबकी सब कविता है भी? या महज काव्याभास है? रामस्वरूप चतुर्वेदी ने *नई कविता* पत्रिका में छपे अपने एक लेख ('कविता तथा गद्य कविता') में लिखा—"*नई कविता के रूपगठन को लेकर आज कई जटिल समस्याएं उठ खड़ी हुई हैं। इनमें से प्रमुख यह है कि कविता तथा गद्य की सीमारेखाएं कहां हैं?*" इस समस्या को स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने *नई कविता* पत्रिका के अंक-1 में छपी लक्ष्मीकांत वर्मा की कविता की इन पंक्तियों का उल्लेख किया—

मैं आज भी जिंदा हूं
उस हस्ताक्षर की भांति
जो मजाक मजाक में यों ही किसी वटवृक्ष के नीचे
पिकनिक, तफरीह में लिख दिया गया था...

लक्षित किया गया कि 'यदि उपर्युक्त पंक्तियों को बिना तोड़े हुए सीधे ही लिख दिया जाए तो यह कविता गद्य का रूप धारण कर लेगी।' स्पष्ट हुआ कि 'उद्धृत कविता का वाक्य विन्यास (Syntex) एकदम गद्य का है और उसमें लय का अभाव है।' प्रश्न तब यह उठा कि इस प्रकार की रचनाओं को कविता क्यों माना जाए? इसका फौरी उत्तर रामस्वरूप चतुर्वेदी को यह सूझा—'वस्तु कविता की होगी, अर्थात् वह भावावेगमय होगी, परंतु उसका विधान गद्य का होगा।' जाहिर है, यह उत्तर पीछे मुड़कर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध 'कविता क्या है' को ही किंचित् उलट पलट लेने से मिला है। 'भावावेगमयता' पर तो शुक्ल जी की छाया

है ही, एक और चीज थोड़ी देर में झिलमिलाई चतुर्वेदी जी की चेतना में (जब उन्होंने *नई कविताएं—एक साक्ष्य* पुस्तक में 'अतुकांत कविताएं' शीर्षक से लक्ष्मीकांत वर्मा के कवि कर्म का नया आकलन पेश किया)। वह चीज थी 'बिंब'। 'हस्ताक्षर' का बिंब उन्हें नई कविता के विशिष्ट व्यक्तित्व को रूपायित करने वाला लगा। जबकि लक्ष्मीकांत वर्मा 'ताजी कविता' का प्रस्ताव करते हुए बिंब की निरर्थकता की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे थे : 'बिंबों की निरर्थकता ही अब हमें नंगे शब्दों की ओर ले जा रही है।' यह 'नंगे शब्दों' वाली थ्योरी सच पूछिये तो अपने समय के 'प्रस्तुत' को बिंब के नाम पर किसी 'अप्रस्तुत' से ढांपने के विरुद्ध लक्ष्मीकांत वर्मा के यहां 'नई कविता के प्रतिमान' के अंतर्गत 'भावबोध के नये स्तर' वाले विवेचन में पहले ही आ चुकी थी; जब उन्होंने यह पूछने की आवश्यकता समझी थी, 'क्या कटुता, अवसाद, निराशा वगैरह कवि के प्रेरणास्रोत नहीं हो सकते?'

बहरहाल, ये प्रश्न उठाकर लक्ष्मीकांत वर्मा ने कुछ इस तरह आगे ठेल दिए कि उनसे सहमति हो या असहमति, बदलाव काव्यानुभव के संयोजन में भी आया और आलोचना दृष्टि के समायोजन में भी। मसलन, यहीं से वह राह खुली जिस पर रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसा आलोचक, जो अज्ञेय के भाषिक आभिजात्य की 'गैर रोमांटिक संभावनाओं' पर मुग्ध रहता आया था, अब वाया लक्ष्मीकांत वह भी उस आभिजात्य से अज्ञेय को थोड़ा उबरता देखकर संतुष्ट होने का मौका पाने लगा। उसने स्वीकार किया कि अज्ञेय की उत्तरकालीन रचनाओं में संस्कृत और अंग्रेजी से प्रेरित भाषा के आभिजात्य से जो विमुखता है, उसके पीछे किसी हद तक जिन कवियों का नैतिक समर्थन समझा जा सकता है, उनमें से एक लक्ष्मीकांत वर्मा भी हैं। (हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 237)। इसी प्रकार नामवर सिंह भी वाया लक्ष्मीकांत वर्मा सातवें दशक की कविता के गद्य सुलभ जीवंत वाक्य विन्यास की पुनप्रतिष्ठा की विवेचना करते हुए *धरती* और *दिगंत* के कवि त्रिलोचन तक पहुंचे। (कविता के नये प्रतिमान, पृ. 127)।

लक्ष्मीकांत वर्मा को इस बात का भी श्रेय है कि वे 'नई कविता' के विकास को एक सुसंगत इतिहासक्रम में रखकर देखने का परिप्रेक्ष्य निर्धारित करने में प्रवृत्त होते हैं। छायावाद से नई कविता तक आने में काव्य प्रवृत्तियों और मानवीय संवेदनाओं के बदलावों को वे इस तरह रेखांकित करना आवश्यक समझते हैं कि मानव जीवन के बदलते यथार्थ के दबाव भी चिह्नित होते जाएं और साथ ही मनुष्य के 'मनुष्य होने' की पहचान को लेकर हमारी जिज्ञासाओं को यथार्थ आधार भी मिलते जाएं। ये दोनों प्रक्रियाएं एक दूसरे की सापेक्षता में साथ साथ चलती हैं। *नई कविता के नये प्रतिमान* और *नये प्रतिमान : पुराने निकष* इन दोनों पुस्तकों में लक्ष्मीकांत वर्मा के विश्लेषण का मूल ढांचा यही रहता है। विश्लेषणों के जो मूल्यगत उपादान पाए जाते हैं, उनके आधार पर अपने समय की रचनाशीलता की परख करने के प्रयत्नों में यह भी संभव होता है कि पूर्ववर्ती काव्यांदोलनों (छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद) की प्रवृत्तियों का परिसीमन भी होता जाता है। और विकसित होती है वर्तमान को देखने की ऐसी दृष्टि, जो पीछे मुड़कर भी देख सके ताकि मूल्यांकन के साथ साथ पुनर्मूल्यांकन का दायित्व भी यथासंदर्भ निभता रहे।

लक्ष्मीकांत जी की दृष्टि में महत्वपूर्ण है यह पर्यवेक्षण— *"इतिहास के प्रत्येक सांस्कृतिक सौंदर्य और यथार्थ के संदर्भ को मानव विशिष्टता बदलती है। ऐसा इसलिए कि यथार्थ के विकसित सत्य को और गतिशील समग्रता को परंपरागत विचारधारा वहन नहीं कर पाती, मूल्यों के महत्व नष्ट होने लगते हैं, संक्रमण की स्थिति होती है, संस्कार और प्रगति दोनों*

एक दूसरे के विरोध में प्रस्तुत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में मानवीय स्तर पर परिवर्तन होते हैं। यथार्थ के नूतन पक्ष को स्वीकार करके मानव विशिष्टता अपने को स्थापित करती है।" (नई कविता के प्रतिमान, पृ. 133)। इस मानव विशिष्टता वाले प्रत्यय को ही लक्ष्मीकांत वर्मा अपने समय के मनुष्य के संदर्भ में 'लघुमानव' वाले अपने अभिधान में विकसित होते देखते हैं।

कविता के हर युग का मानव विशिष्ट मानव होता है। लेकिन उसके विशिष्ट होने के स्वरूप और आधार हर युग में एक से नहीं होते। कविता की सार्थकता इस तथ्य में होती है कि वह अपने स्वयं के युग के स्वाभाविक मनुष्य की विशिष्टता को अपने में व्यंजित होने दे। छायाद और प्रगतिवाद से लक्ष्मीकांत वर्मा को शिकायत यह है कि इन आंदोलनों के कवि तब असफल होते दिखते हैं, जब वे अपने समय के स्वाभाविक या सहज मानव की विशिष्टता पहचानने के बजाय उस पर स्वकल्पित विशिष्टताओं को आरोपित करने लग जाते हैं।

लक्ष्मीकांत वर्मा अपने समय के सहज मनुष्य की विशिष्टता की पहचान के लिए ऐसे सौंदर्यबोध की आवश्यकता बताते हैं, जो मनुष्य की दुर्बलताओं को भी उतना ही यथार्थ मानता है, जितना उसकी शक्ति को। अपनी समस्त कमियों और सीमाओं से आंखें मूंदे बिना, और उनके बावजूद अपने अस्तित्वबोध से विशिष्टीकृत मानव को ही उन्होंने लघुमानव की संज्ञा दी। लिखा—*"आज का यथार्थ यह है कि आज का मनुष्य चाहे कितना भी लघु हो, बौना हो, किंतु समझता है कि उसकी नियति इसमें नहीं है कि वह बड़ा बनने के अभिनय में केवल ऐसी प्रतिमा बन जाए जिसका अपना कुछ हो ही नहीं।"* (नई कविता के प्रतिमान, पृ. 167)।

'लघु होना' न तो मनुष्य का स्वत्वहीन होना है, न ही गतिहीन होना। लघुता के बोध में व्यक्ति के आत्मविश्वास और उसकी जागरूकता के तत्त्व बने रहें तो लघुता भी एक मानव मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती है। लक्ष्मीकांत वर्मा अपनी एक कविता में भी इसी मूल्यबोध को अस्तित्वबोध से यों जोड़ते हैं—*'मैं हूं / मैं एक छोटा किंतु जागरूक अस्तित्व।'*

'छोटा' और 'जागरूक' के बीच 'किंतु' विरोधवाची न रह जाए, योगवाची बन जाए—इस रूप में 'लघुमानव' नई कविता संबंधी बहस में काव्य का ऐसा प्रतिमानात्मक पद बन गया, जिसकी कौंध आगे की आलोचना में बनी रही। आकस्मिक नहीं है कि विजयदेव नारायण साही ने भी यह स्वीकार करने में संकोच नहीं किया कि 'लघुमानव की मृत्यु हो भी गई हो तो भी उसकी शवपरीक्षा एक दृष्टि से उपयोगी होगी।' साही ने हिंदी कविता पर जो विचारोत्तेजक बहस की, आखिर वह भी 'लघुमानव के बहाने' ही की जा सकी। और यह 'शवपरीक्षा' का क्रम भी कुछ ऐसा चला कि आगे नामवर सिंह, रामविलास शर्मा और मलयज तक किसी न किसी संदर्भ में चलता रहा। कहा जा सकता है, लक्ष्मीकांत वर्मा के आलोचनात्मक लेखन से कई ऐसे सूत्र निकले जो आगे की कविता संबंधी बहसों के 'लांच पैड' बन गए।

नामवर सिंह ने लक्ष्मीकांत वर्मा की पुस्तक *नई कविता के प्रतिमान* को नई कविता के शास्त्र निर्माण का पहला प्रयास माना। भले ही उसके साथ एक विशेषण लगा दिया—'दुर्भाग्यपूर्ण प्रयास'। लेकिन यह 'दुर्भाग्यपूर्ण प्रयास' नामवर सिंह का सौभाग्य बनकर किस तरह *कविता के नये प्रतिमान* में फलीभूत हुआ, यह अलग से बताने की जरूरत नहीं है।

(3)

मेरा अपराध यह है—
मैंने बिना सिर उठाए

और किसी चौखट से टकराए
अपना सिर बचा लिया है
ताकि वक्त जरूरत काम आए।

यह आत्मस्वीकृति एक तरह से लक्ष्मीकांत वर्मा के खुद अपने कवि व्यक्तित्व से किए गए साक्षात्कार की निष्पत्ति है। यह सिर्फ अपने परिवेश के दिए गए अनुभवों की प्रतिक्रिया नहीं है। प्रतिक्रिया अमूमन तात्कालिकताजन्य होती है। प्रतिक्रिया में या तो तात्कालिक स्थितियों के प्रति क्षोभ व्यक्त होता है, या खुद की निरीहता से उपजी आत्मदया की अनुभूति झलक उठती है। यों तो, आधुनिक जीवन में क्षोभ से कौन बचा है? कौन बचा है जिसने कभी न कभी निरीहता न अनुभव की हो? फिर भी, कवि में अगर अपनी सृजनशीलता को जिलाये रखने की थोड़ी भी आकुलता बची रहे तो वह अपनी रचना को सिर्फ क्षोभ और आत्मदया के हवाले करके कभी नहीं रह जाना चाहेगा। लक्ष्मीकांत वर्मा के यहां 'मेरा अपराध' कहकर जिस अनुभव की पहचान कराई जा रही है, वह वस्तुत: आज के मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन की विसंगति की देन है। विसंगति यह कि एक ओर 'सिर उठाने पर चौखट से टकराने' का भय है, दूसरी ओर इस बात का मोह भी है कि कोई यह न मान ले कि आत्मसम्मान को ही दांव पर लगा दिया गया, सिर की परवाह ही नहीं की गई। असुरक्षाबोध की यह दुतरफा हांक है। इधर से भी, उधर से भी। 'सिर बचाने' का मामला आत्मसम्मान का मामला भी है और अवसर को भांपते हुए लिये गए निर्णय के पीछे की व्यवहार बुद्धि का मामला भी। मध्यवर्गीय व्यक्ति अपने अस्तित्व को जिस तनाव में पाता है, वह इस द्वंद्व से उपजा है—आशंका (सिर उठाया तो चौखट से कहीं टकरा न जाए) बनाम आश्वस्ति (सिर उठाया न सही, सिर बचा तो लिया)। 'सिर बचा तो लिया', इसके पीछे भी किसी बड़ी उपलब्धि का एहसास नहीं है। है तो बस थोड़ा सा एहसास, अपने विवेकवान होने का। यानी अपनी इतनी सी समझदारी का—'वक्त बेक्त काम आ सकें इस लायक कुछ तो बचा लिया।'

लक्ष्मीकांत वर्मा की इस कविता में व्यक्ति को जिस अपराध का बोध है, वह कोई ऐसा अपराध नहीं है कि उसे किसी बाहरी अदालत के कटघरे में खड़ा करके सजा सुनाई जानी है। उसका बाह्य तो उसके प्रति उदासीन ही है, इस बात का उसे पता है। जिरह तो दरअसल उसके अंदर चल रही है। इस जिरह को ही वह चाहे तो अपने लिये सजा मान ले, चाहे तो अपने बरी होने का आधार।

धुएं की लकीरें (1956) और *अतुकांत* (1968) नाम से आए संग्रहों की कविताओं में लक्ष्मीकांत वर्मा का कवि इसी तरह के आत्मद्वंद्वों से गुजरते मिलता है। *अतुकांत* की भूमिका में आता है—"*...जहां मैं बिल्कुल अकेला रह जाता हूं, वहां किसी को दोषी नहीं ठहराता क्योंकि अंततोगत्वा सब छूट जाते हैं। लेकिन कवि का व्यक्तित्व और स्थितियों का गहनतम दबाव, यही दो शेष बचते हैं।*"इस तथ्य को सत्यापित करती हैं लक्ष्मीकांत वर्मा के *अतुकांत* में संकलित एक कविता की ये पंक्तियां :

और टूटने की पीड़ा
सृजन की पीड़ा
संदर्भों से अलग
अकेलेपन की पीड़ा
संवेदना है
हमारे वृत्तों के अर्थ की।

यह जो 'अकेलेपन की पीड़ा की संवेदना' है, इसके प्रति हमारी आलोचनात्मक समझ का तकाजा यह भी हो सकता है कि इसे प्रश्नांकित किया जाए। इसको 'संदर्भों से अलग' रखने के पीछे की मनोग्रंथि क्या है? जिस दौर में लक्ष्मीकांत वर्मा इस तरह अपनी संवेदना को 'अकेलेपन की पीड़ा' से जोड़े रखे थे, रघुवीर सहाय के दो दो संग्रह आ चुके थे—*सीढ़ियों पर धूप में* (1960) और *आत्महत्या के विरुद्ध* (1967)। इन संग्रहों के कवि को भी, ऐसा नहीं है कि अकेलेपन की पीड़ा कभी घेरती ही न हो। पर रघुवीर सहाय का कवि अपने अकेलेपन की पीड़ा वाले जीवन के समानांतर अपेक्षाकृत एक भरापूरा जीवन भी अपनी स्मृति में सहेजना भूलता नहीं—

मेरा एक जीवन है
उसमें मेरे प्रिय हैं, मेरे हितैषी हैं, मेरे गुरुजन हैं
उसमें मेरा कोई अन्यतम भी है
पर मेरा एक और जीवन है
जिसमें मैं अकेला हूं

रघुवीर सहाय अपनी कविता में इन दोनों जीवनों को मिलाकर अपने अभीप्सित 'सारा का सारा जीवन' लेने के संकल्प को पूरे आत्मविश्वास से साधते मिलते हैं। लक्ष्मीकांत जी के यहां ऐसे आत्मविश्वास की कमी उन्हें कुछ और अकेला बना जाती है।

अपने से थोड़ा बाहर निकलते हैं लक्ष्मीकांत वर्मा *तीसरा पक्ष* (1975) में। इस संग्रह के नाम से ही कवि के सरोकारों की सूचना मिल जाती है। गांधी पहले ही से उनकी चेतना में रहते आए थे। आजादी के बाद लोहिया का आकर्षण भी प्रबल होता गया। लोहिया से नजदीकी का सुयोग *परिमल* के सदस्यों में सबसे ज्यादा विजयदेव नारायण साही और लक्ष्मीकांत वर्मा को मिला। साही की तरह सक्रिय राजनीति में तो लक्ष्मीकांत वर्मा लोहिया के साथी नहीं बने लेकिन सांस्कृतिक रूप में लोहिया के कार्यक्रमों को पूरा सहयोग दिया। उस दौर के साहित्यिक परिवेश के राजनीतिक सामाजिक संदर्भों की आहटें वैसे तो लक्ष्मीकांत वर्मा की कविता में पहले भी सुनने को मिलती रही थीं, लेकिन *तीसरा पक्ष* में इस तरह की कविताएं विशेष हैं। इन कविताओं में द्वार खुलते हैं उस जीवन की तरफ जहां गरीबी है, असमानता है, उत्पीड़न है, शोषण है। 'नई कविता' ब्रांड 'लघुमानव' यहां अपनी वैयक्तिकता की सीमाओं से मानो दो चार हो रहा होता है। विचारधारात्मक स्तर पर दो धाराओं के बीच के शीतयुद्ध की अनुगूंजें भी *तीसरा पक्ष* की कुछ कविताओं में सुनने को मिलती रहती हैं।

लक्ष्मीकांत वर्मा का कवि स्वभाव किसी तरह की स्थिरचित्तता का नहीं रहा। उनका जीवन भी इसकी इजाजत नहीं देता था। कविता को भी वे किसी स्थिरता की शरणदात्री नहीं मानते थे। कविता उन्हें मिली 'एक अनुभूति से दूसरी अनुभूति तक की यात्रा' के रूप में। हां, उनकी आस्तिकता उन्हें आध्यात्मिक आस्था से जीवन में भी जोड़े रही और कविता में भी। आध्यात्मिक आस्था का सूत्र अपनी निरंतरता से उनकी स्थिरचित्तता का आभास कराने पर मानो आखिर तक आमादा रहा। *कंचनमृग* (1981) और *दीप देहरी द्वार* (1997) की कविताएं इस बात की गवाही देती हैं। *कंचनमृग* की भूमिका में लक्ष्मीकांत जी प्रगतिशीलों और जनवादियों द्वारा बहुप्रयुक्त पद 'प्रतिबद्धता' पर व्यंग्यात्मक लहजे में सवाल उठाते हैं। साथ ही, यह घोषित करने में आत्मगौरव का अनुभव करते हैं—*"मैं उनमें से नहीं हूं जो कविता में पार्थिवता को उस सीमा तक ले जाते हैं, जहां उसकी आध्यात्मिकता नष्ट हो जाती है।"* गनीमत बस यही है कि 'आध्यात्मिकता नष्ट न होने देने के पक्षधर' लक्ष्मीकांत वर्मा

आध्यात्मिकता में जाकर धूनी नहीं रमा लेते। वहां से लौटते रहने में ही कवि के 'शब्दवान्' बने रहने की संभावना पर विश्वास बनाए रखते हैं।

लय के लिए चाहिए
महाशून्य
जहां से लौटकर वह बने शब्दवान्!

'लय' की एक और परिभाषा वे *दीप देहरी द्वार* में इस तरह भी करते हैं—

लय तो वह निरंतरता है
जिसमें
राग एक क्षणिक हस्तक्षेप से
सब कुछ बदल देता है!

आश्चर्य होता है, क्या यह वही लक्ष्मीकांत वर्मा हैं, जिन्होंने सन् 1966 में 'विवेचना' की गोष्ठी में *आंगन के पार द्वार* (अज्ञेय) की तल्ख समीक्षा करते हुए अज्ञेय के शब्दयोग के अंतर्गत 'शून्य', 'महाशून्य' वगैरह को उनके रहस्यवादी आभिजात्य का परिचायक बताया था, उदात्त की मुद्रा का आभास मात्र। कहा था— *"...महाशून्य केवल 'महा' लगा देने से उस उदात्त का बोध नहीं कराता जो कि अभीष्ट है और इस प्रकार वह केवल मुद्राभास बनकर रह जाता है।"*

'लय' के नाम से जिस 'निरंतरता' में लक्ष्मीकांत वर्मा 'राग के क्षणिक हस्तक्षेप' से सब कुछ बदल दिए जाने की उम्मीद करते हैं, उसका एक और रूप *कंचनमृग* में संकलित 'नया वांग्मय' में यों जन्म लेता है—

एक संपूर्ण व्याकरण
वाक्य विन्यास के पीछे दौड़ रहा है
शायद एक भाषा जन्म ले रही है
क्या एक नया वांग्मय
ऐसे ही जन्मता है?

विडंबना यह है कि इस तरह 'नया वांग्मय' तो क्या जनमता, शब्द और वाक्य अपना सहज लक्ष्मीकांताना तेवर ही खो बैठने लगे। और विसंगति यह कि इस 'खोने' में ही कुछ (रहस्यमय सा) पाने की तुष्टि भी कवि पा बैठा। दृष्टव्य 'जिजीविषा' शीर्षक कविता—

शब्द आज मंत्र होते जा रहे हैं
अर्थ जिजीविषा
वाक्य को खो जाने दो
मंत्रचालित जिजीविषा ही
जीवन के लिए काफी है।

लगता है, लक्ष्मीकांत वर्मा नरेश मेहता होने का भ्रम पाल बैठे हैं। मंत्रपूत ही नहीं, 'वानस्पतिक लय' से भी अभिभूत। 'गायत्री' उन्हें यों दिखती है—

गायत्री को मैंने देखा है
श्वेतवस्त्रा सुजला सुफला
तुम किस गोमुख की यात्रा में लीन हो
वहीं कहीं वह मौन खड़ी
तुम्हारे कानों में कुछ कह जाती है

तुम केवल अनुभव करते हो
कह नहीं पाते।

'पुनर्जन्म' शीर्षक एक कविता में वे 'वनस्पतय: शांति:' को यों स्वरित पाते हैं—

वनस्पति ही जब लय में घुल
स्वरित होती है
नोक पर आग सुलग जाती है
किसलय ही लय हो जाता है।

इस तरह की कविताएं पढ़ते हुए लगता है, लक्ष्मीकांत वर्मा अपने कविमित्र नरेश मेहता के थोड़ा समीप खिसककर अपने को आजमाना चाह रहे हों कि देखें, क्या होता है? अंतत: कविता ही यह भेद खोल देती है कि लक्ष्मीकांत वर्मा जिस औपनिषदिक पदविन्यास को अपना एक नया रचनात्मक हस्तक्षेप मानकर चलना चाह रहे थे, वस्तुत: उसे मात्र एक पदक्षेत्र होकर रह जाना था। औपनिषदिकता की विन्यस्ति नरेश मेहता जैसे कवि के यहां ही फबती है, लक्ष्मीकांत वर्मा के यहां नहीं। नरेश मेहता के यहां औपनिषदिकता की वृत्ति के पीछे कवि की यह प्रतीति है—'समरस व्यक्तित्व से ही समरस रचना संभव है।' लक्ष्मीकांत वर्मा के कवि व्यक्तित्व के लिए वैसी समरसता गूलर का फूल है। इसलिए औपनिषदिकता के मंत्रिष्ठ का उपयोग वे करते हैं, तो अपनी कविताओं में कोई खास रंग ला नहीं पाते। और ऐसा हुआ तो बुरा न हुआ। अन्यथा, टसके प्रति मोह जागता तो उन्हें अपने कवि व्यक्तित्व के उस खास रंग से हाथ धो बैठना पड़ता, जो उनकी कविता में मनुष्य की सामान्य जिंदगी की मटमैली आभा को उभारने में सहायक बना रहा। और निभती रही यह प्रतिज्ञा—*"जीवन की जैविकता उसका धर्म है और उस जैविकता की भौतिकता, भौतिकता के बंधन ऐसे सत्य हैं, जिनके बीच से ही कविता को गुजरना होगा।"* (कंचनमृग की भूमिका)।

लक्ष्मीकांत वर्मा अपनी कविता में जीवन से गहरी संपृक्ति का प्रमाण देते हैं। जीवन में शिकायतें हैं तो भी जीवन से पलायन भाव कहीं नहीं है। मिथकों में भी जाते हैं तो अपनी हाड़ मांस की भौतिकता और कालिकता के साथ। उनकी लीलामयता पर न्योछावर नहीं होते। उनको जीवनमय बनाने की सर्जनात्मक जुगत से अपने अनुभव संसार में ले आते हैं।

जब भी जन्म लेते हो
लीलामय हो जाते हो
एक जन्म ऐसा भी लो
जिसमें जियो तो सांस सांस जियो
चलो तो कदम कदम चलो।

इस पुकार के साथ मिथकों से मुखातिब होते हैं। अपनी दार्शनिक जिज्ञासाओं से वे, मनुष्य की खुद की पहुंच से बहुत ऊपर आवास बनाए बैठे मिथकीय चरित्रों में भी मनुष्य का सहचर बनने की ललक जगा देते हैं। मसलन 'एटलस' शीर्षक छोटी सी एक कविता है—

इतनी सारी शक्ति लेकर क्या करोगे?
निर्जीव हो जाओगे
इसलिए शक्ति की संभावना जियो
वही जीवन है।

प्रारंभ से ही लक्ष्मीकांत वर्मा का कवि मध्यवर्गीय भारतीय गृहस्थ जीवन की सीमाओं और विवशताओं को उनके पूरे पसारे में स्वर देता रहा। लेकिन इस स्वर की अपेक्षाकृत कुछ

लंबी कविताएं उन्होंने *अतुकांत* के दौर में भी लिखी थीं। जैसे, एक कविता की याद करें, शीर्षक है—'ठंडा स्टोव, चाय का टिन और खाली बोतल'। घर परिवार में एक गिरिस्तिन के चित्र की सजीवता को रेखांकित करते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस कविता के एक अंश का मर्म यों महसूस किया है—*"भारतीय काव्य में भावों की नायिका बार बार चित्रित हुई है, यहां शायद पहली बार अभावों की नायिका चित्रित होती है जो पत्नी भी है, प्रेमिका भी, और एक स्तर पर भारतीय नारीत्व का रूप है।"*

अपनी उत्तरचर्या में लक्ष्मीकांत वर्मा यत्र तत्र भले ही अपनी कविता को आध्यात्मिक आस्था की कुछ खुराक देते देखे जाते हैं, लेकिन जैसे ही उनको अपनी ही कही हुई यह बात याद आती है कि 'संघर्ष की भाषा से मैं मुक्त नहीं हो पाता और और न ही उस पार्थिकता से मुक्त हो पाता हूं जिसमें जीवन के सारे संघर्ष वस्तुओं से जुड़कर अभिव्यक्ति पाते हैं, वे फिर वास्तविक जमीन पर आ जाते हैं। उत्तीर्णता और अवतीर्णता के इस द्वंद्व को *कंचनमृग* में संकलित कुछ लंबी कविताओं ('अठारवां मैं', 'शोकसभा' और 'आपातकालिक' आदि) में देखा जा सकता है। ये कविताएं केवल घर परिवार के भीतरी भावों अभावों से ही नहीं, बल्कि बाहर के उस पूरे परिवेश से—जिसमें नैतिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं से हमारा समाज लथपथ है—हमारा सामना कराती हैं। इन कविताओं में कुछ ऐसी खिड़कियां खुलती देखी जा सकती हैं, जहां से हम चाहें तो मुक्तिबोध की तरफ भी झांक सकते हैं। बीच बीच में मिथकीय चित्ति (Psyche) यहां भी जोर मारती है, कहीं कहीं रोमानी नियतिवाद भी घेरता है लेकिन जीवन के सच को किस तरह से और किस अनुभव कोण पर संमजित होने देना है—इसका होश कवि को रहता है। उदाहरण के लिए 'दो आंखें' कविता के अंतिम बंद—

यह सुख, यह दुख दो आंखें हैं
जिनके बिना जिंदगी तल्ख नजर आती है
जीवन में जिनके सुख ही सुख हैं वे अंधे हैं
और जिनके जीवन में दुख ही दुख हैं, वे बुद्धिमान हैं
क्योंकि सुख हमेशा धृतराष्ट्र पैदा करता है
और दुख को हमेशा एक कृष्ण मिलता है

मैंने जीवन में कृष्ण को खो खोकर पाया है
और अपने अंधे सुख को भी
उन्हीं को समर्पित कर दिया है।

मध्यवर्गीय जीवन का यह आत्मबोध है, जिससे 'दो आंखें' दीपित हैं। यहां न यह घोषणा है कि *दु:ख सबको मांजता है,* न यह दयनीय वृत्ति कि *'दु:खों के दागों को तमगों सा पहना।'*

किसी भी यात्रा में मोड़ तो अनेक आते ही रहते हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा की रचनायात्रा में भी आए। पर अंतत: एक ऐसा मोड़ आया, जहां पहुंचना कोई 'पहुंचना' नहीं था। शायद उसे 'लौटना' ही कहा जाए। लेकिन 'लौटना' भी वहीं पहुंचना कहां हो पाता है, जहां से जाने अनजाने हम चले होते हैं! लक्ष्मीकांत वर्मा अब रूबरू होने लगते हैं खुद से। इस क्रम में लिखी गई कविताओं का संग्रह *रूबरू : लक्ष्मीकांत* नाम से उनके न रहने के बाद सन् 2004 में आया।

रूबरू : लक्ष्मीकांत एक प्रकार से आत्मालाप है, अकेले पड़ गए कवि का 'स्व' से साक्षात्कार। 'जीवन क्या जिया' का प्रत्यवलोकन (*'जिससे बार बार टकराते हैं लक्ष्मीकांत / वह कोई और नहीं / वह उनका खुद का 'स्वयं' हैं।'* और अपने वर्तमान के लिए प्रार्थना।

इस आस से अपने आपको बहला रहे हैं कि *'ढलती आवाज / जब प्रार्थना में बदलती है / तो बीज हंसता है, पृथ्वी प्रसवा होती है / प्रकृति मां होती है।'* राशि राशि प्रश्न और जिज्ञासाएं हैं उनके सामने। और उनके पास खुद को देखने का जो आईना बचा है, उसका हाल यह है—*'आईने में इतनी पारदर्शिता है / कि सब कुछ खो गया है / बीच का पर्दा फ्रेम से छोटा है / इसलिए आईना भी खो गया है / और इस बेपर्दगी में / सब कुछ धुल गया है।'*

(4)

लक्ष्मीकांत वर्मा की प्रकाशित कृतियों में तीन उपन्यासों की भी चर्चा होती है—*खाली कुर्सी की आत्मा, एक कटी हुई जिंदगी : एक कटा हुआ कागज* और *मुंशी रायजादा*। लेकिन उनका उपन्यासकार रूप न तो किसी विशेष संवेदना के लिए, न ही अपने किसी शैल्पिक वैशिष्ट्य के लिए उस तरह बहस का केंद्र बन सका, जिस तरह उनके कविरूप और आलोचक रूप को 'नई कविता' संबंधी बहसों के केंद्र में आने का अवसर मिला। लक्ष्मीकांत वर्मा अपने उपन्यासों में भी कुछ वैसी ही आजमाइशें करते हैं, जो कविता में तो नई संवेदना के लिए रास्ता बनाने वाली साबित हो रही थीं, लेकिन उपन्यास में या तो वे अटकाव पैदा करने वाली साबित होती हैं या फिर बिखराव। अंतर्वस्तु संघटित रूप लेने से पहले ही बिखर बिखर जाती है। इससे उपन्यास की पठनीयता पर आंच आती है। जैसे उपन्यास उपन्यास न हो, चटका हुआ आईना हो। कोई अक्स अपनी आवयविक पूर्णता में नहीं उभर पाता। जो भी अक्स उभरते हैं, उनको जोड़ जोड़कर देखने की अतिरिक्त मशक्कत करनी पड़ती है।

खाली कुर्सी की आत्मा आधुनिक सभ्यता की महत्वाकांक्षाओं में फंसी मध्यवर्गीय जिंदगी का आख्यान है। व्यंग्य और विद्रूप से करुणा का मेल इसकी मूल संवेदना को संभालने में थोड़ा सक्षम तो है, लेकिन भावधारा के समुचित आवेग के लिए इतना भर पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। उम्मीद की जा सकती थी कि अगर लक्ष्मीकांत वर्मा से कोई अगला उपन्यास संभव हुआ, तो उनके रचनात्मक नैपुण्य का ज्यादा सशक्त प्रमाण दे सकेगा। पर ऐसा हुआ नहीं। *एक कटी हुई जिंदगी : एक कटा हुआ कागज* औपन्यासिक संभावना का कोई अगला पड़ाव न साबित हो सका। बल्कि 'विवेचना' गोष्ठी में जब इस पर चर्चा हुई तो गंगा प्रसाद विमल ने कहा, *"अंत तक जो अनुभव कथा में संचरित होता है, वह केवल संदर्भ की विविधता में बंधा हुआ एकरस और पुराना अनुभव है... कहा जाए तो 'पाजिटिव रोमांटिक' संस्कार का अनुभव है। उसमें न तो 'खोने के भाव' का नकार (निगेशन) है और न उस वातावरण के प्रति ऊब या अनिच्छा का अस्वीकार है, जिसमें रोमांटिक तरीके से व्यवहार करता हुआ नायक बीमार भी है और छोटी छोटी बातों के लिए परेशान भी है...वर्तमान में अस्तित्ववान उस अल्पसंख्यक की पीड़ा का भी प्रतीकीकरण इस उपन्यास में नहीं है, जो किसी उपन्यास को संदर्भ से जुड़ा हुआ रखकर भी केवल फोटोग्राफिक या पत्रकारी रिपोर्टिंग होने से बचा देता है।"*

मुंशी रायजादा अपने वृहद् परिवेश और एक सुदीर्घ वंशावली के सथ अपने पूर्वजों के क्रम में लेखक द्वारा खुद की तलाश का एक महत्वाकांक्षी उपक्रम है। मुक्तिबोध ने अपनी कविता 'अंधेरे में' एक 'अनलिखे उपन्यास' का स्वप्न देखा था—

कोई वह आदमी और है
गेरे किसी भीतरी धागे का आखिरी छोर वह,
अनलिखे मेरे उपन्यास का

केंद्रीय संवेदन...।

लक्ष्मीकांत वर्मा की स्मृति में उनके 'किसी भीतरी धागे का आखिरी छोर' कोई और आदमी नहीं है, खुद लक्ष्मीकांत हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा की पूरी कोशिश है कि उनके स्मृतिचित्र अनलिखे उपन्यास का स्वप्न बनकर न रह जाएं। इसलिए वे अपने स्मृतिचित्रों पर औपन्यासिक शिल्प का मानो एक बड़ा जाल डालते हैं। जिसके तानेबाने कहीं एक लंबे कालखंड के इतिहास के हैं, कहीं किंवदंतियों के हैं और कहीं कल्पना के हैं। लेखक शुरू में ही अपने पाठकों से यहां निवेदन कर देना जरूरी समझता है—*"मेरा संकल्प कथानक के गठन और अनुभूतियों के विभिन्न स्तरों की गहनता के प्रामाणिक रूप चित्रित करना है, न कि कथा की प्रामाणिकता और इतिहास पुरुषों की 'ममीज' को जगाकर खड़ा करना।"* (मुंशी रायजादा, पृ. 20)

कविता में *रूबरू : लक्ष्मीकांत* और कथा विधा में *मुंशी रायजादा* उपन्यास तक लक्ष्मीकांत का आना, मन:स्थिति की दृष्टि से लेखक की दो समानांतर यात्राओं जैसा है, जिनका गंतव्य एक ही है। दोनों ('रूबरू' की कविताएं और 'मुंशी रायजादा' के कथावृत्त) लक्ष्मीकांत वर्मा की रचनायात्रा के अंतिम पड़ाव हैं।

रूबरू : लक्ष्मीकांत की एक कविता में इतिहास को एक छाया की तरह 'मुंशी रायजादा' के लेखक ने यों देखा था—

स्मृतियों के बंधे जल में
सोनारगढ़ का जलचित्र घुलता है

और इस कविता में वह कजरीबाई भी है, जिसे *मुंशी रायजादा* में कुछ यथार्थ से, कुछ किंवदंतियों से उभारा गया है—

जब भी चर्चा होती है सोनारगढ़ की
लक्ष्मीकांत की आंखों के सामने
शेषमहल की सीढ़ियों से चढ़ती या उतरती
एक छाया दिखती है।

यह छाया अनायास फिल्म *महल* के कई दृश्यों को हमारी स्मृति में ले आती है। जिस तरह *महल* में मधुबाला के रूप में एक ऐसे रहस्यमय सौंदर्य की छाया अभिभूत करने वाली थी—ऐसे सौंदर्य की छाया, जिसे पाकर भी नहीं पाया जा सकता था और जो खो जाने पर भी दिल में गहरे उतर जाने वाले राग की तरह गूंजती रहती है—कविता में लक्ष्मीकांत वर्मा ने ऐसी ही छाया कजरीबाई में देखी—

लेकिन कजरीबाई तुम्हारी छवि?
तुम कौन हो कजरीबाई?
क्या सोनारगढ़ की आत्मा में
पिरोई लक्ष्मीकांत की अवसाद भरी यात्रा?

मुंशी रायजादा उपन्यास में भी ऐसी कई खोजें हैं। इन खोजों में हमें रमाए रखने की क्षमता है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि कविता से इतर अन्य विधाओं में लक्ष्मीकांत जी ने जो भी लिखा, वह उनके रचनात्मक उत्साह का पता देता है लेकिन उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा अपनी सतेजता का पूर्ण प्रतिफलन जिस तरह कविता में करती है, उसके बल पर कई कविता आंदोलन के कवियों में उनकी उपस्थिति अविस्मरणीय रहेगी।

मैं नमाज क्यों पढ़ता हूं?

हिलाल अहमद

"आप नमाज क्यों पढ़ते है?"

सवाल बेहद मासूम है, सच्चा है और दिलचस्प बात तो ये है कि अभी तक सीधे तौर पर पूछा तक नहीं गया है!

लेकिन मैंने लोगों की चुभती हुई निगाहों में इस सवाल को महसूस किया है, एक शक की तरह। खासकर, अपने उन दोस्तों की नजरों में जो बेहद ईमानदार हैं; और जिन पर मुझे भरोसा है कि उन्हें मुझ पर भरोसा है।

मेरा मजहब और मजहबियत से जुड़े सवालों पर लिखना पढ़ना, मेरा अंग्रेजीपन का विरोधी होना, आम जीवन में हलाल गोश्त खाना, सिगरेट और शराब से परहेज करना, मेरी पत्नी का मुसलमान होना और मेरे बच्चों के उपनाम 'अहमद' होना, मेरी जो छवि बनाते हैं वह नमाज और रोजे से युक्त सच्चे पक्के मुसलमान की है। इस छवि पर शक करना बेमानी है। मुसलमान, मुसलमान होते हैं और अगर वो पढ़ लिखकर भी अपनी निजी जिंदगी में इस्लाम के उसूलों के मुताबिक जिंदगी बसर करना चाहें, तो इसमें क्या बुराई है! वैसे भी हिंदुस्तानी सेकुलर विमर्श का दायरा इतना बड़ा है कि सेकुलर होने के लिए मजहब छोड़ने की कोई जरूरत है ही नहीं। एक सच्चा पक्का मुसलमान बेहद आसानी से सेकुलर हो सकता है। तब शक किस बात का?[1]

जिन शक भरी निगाहों का जिक्र यहां मैं कर रहा हूं, उनका ताल्लुक मेरे सेकुलर होने या न होने से नहीं है। ये निगाहें जानना चाहती हैं कि सच्चा पक्का मुसलमान वाली मेरी छवि मेरे उन दावों के साथ फिट कैसे बैठती है जिन्हें हमारे यहां की प्रचलित राजनीतिक शब्दावली

में उदारवादी, प्रगतिशील और कम्युनिस्ट तक कहा जाता है। अपने छात्र जीवन में वामपंथी और गांधी प्रेरित समाजवादी आंदोलनों में मेरी सक्रियता, मेरा हिंदीनिष्ठ होना, मेरा इस्लामिक कट्टरवाद और मुल्लावाद का खुला विरोध करना और मेरा कुरान और हदीस को भी बौद्धिक आलोचना के दायरे में लाने का वैचारिक आह्वान किसी भी तरह से सच्चे पक्के मुसलमान वाली छवि के साथ नहीं जुड़ते।

तब ये सवाल लाजिमी है कि कोई हिंदी कवि मुक्तिबोध की तरह सीधे पूछे, "पार्टनर तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?"

पर अफसोस! ये सवाल मेरे जानने वालों के मन में न जाने कितनी बार आया जिसे मैंने न जाने कितनी बार महसूस किया—पर किसी ने भी मेरी असली पॉलिटिक्स जानने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। मुझे भी लगा कि मैं कोई नेता या रहनुमा तो हूं नहीं जिसका मिशन मुसलमानों और इस्लाम को प्रगतिशील बनाना हो। तब कोई मुझसे क्यों पूछे कि मैं कौन हूं? और मेरे अमल और आमाल का सच्चा मतलब क्या है? वैसे भी चचा गालिब फरमा गए है :

गालिबे खस्ता के बगैर कौन से काम बंद हैं
रोइए जार जार क्या, कीजिए हाय हाय क्यों?

इस लेख का मकसद कोई आत्मकथा टाइप चीज लिखना नहीं है। और न ही मैं यह साबित करना चाहता हूं कि मैं कोई आदर्श पुरुष हूं। इसके बरक्स मेरा उद्देश्य उन वैचारिक मूल्यों को समझने समझाने का है, जो एक सतत प्रक्रिया के रूप में मुझे बदलते चले गए और शायद आज भी बदल रहे हैं। इन मूल्यों का उद्गम कहां और कैसे हुआ, ये कहना तो मुश्किल है; हां इतना जरूर है कि विश्वास और आस्था के सवालों से जूझते हुए मैं जब भी परेशान हुआ इन मूल्यों ने मुझे जिंदगी जीने का नया रास्ता दिया; मेरे उन सवालों का जवाब देने में मेरी मदद की जिनको न तो इस्लाम का तथाकथित आध्यात्मिक विमर्श कोई अहमियत देता है और न ही मार्क्सवाद का अड़ियल भौतिकवाद। यही कारण है कि मैं इस लेख को कहानी के रूप में लिख रहा हूं—एक ऐसी कहानी जिसको सिर्फ मैंने जिया है और जिसका मुख्य किरदार भी मैं खुद ही हूं।[2]

उत्तर भारत के कुछ इलाकों में सार्वजनिक नमाज का हालिया विरोध इस लेख को लिखने का तात्कालिक मकसद है। पिछले कुछ महीनों में जो कुछ भी गुरुग्राम (हरियाणा) में हुआ है उसने मुझे अंदर से विचलित किया है।[3] इस विवाद ने मेरे तीन बुनियादी वैचारिक आदर्शों को चुनौती दी है : सर्वशक्तिमान अल्लाह/ईश्वर के अस्तित्व में मेरा विश्वास; सर्वधर्म समभाव के गांधीवादी सिद्धांत में मेरी आस्था[4] और समतामूलक समाज का सपना जिसकी प्रेरणा मुझे पैगंबर मोहमद, जीसस क्राइस्ट, मार्क्स और गांधी के विचारों से मिलती रही है। इस लेख के जरिये मैं इन वैचारिक आदर्शों के अंतर्संबंध और आंतरिक गतिशीलता को व्याख्यायित करना चाहता हूं।

यहां इस बात को साफ कर देना जरूरी है कि मेरा उद्देश्य महज खामखयाली करना नहीं है।[5] लेख का एक सशक्त जमीनी आधार है, जो हमें धर्म और धार्मिकता से जुड़े मुलभूत सवालों पर सोचने के लिए मजबूर करता है। सीएसडीएस एनईएस सर्वेक्षण—2019[6] और भारत में धर्म और धार्मिकता पर हाल ही में किए गए कुछ अन्य अध्ययन, विशेषकर अमेरिकन रिसर्च संस्था पीयू का भारत सर्वे इस बात की पुष्टि करते हैं कि अधिकांश भारतीय हिंदू अभी भी इस्लाम को एक भारतीय धर्म मानकर उसका सम्मान करते हैं।[7] सर्वमान्य मत है कि एक हिंदू, अच्छा हिंदू और एक मुसलमान अच्छा मुसलमान तब ही माना जा सकता है जब कि

वह भारत में मौजूद सभी धर्मों के प्रति सम्मान का भाव रखता हो।[8] ये तथ्य हमें प्रेरित करते हैं कि हम भारतीय समाज की समकालीन धार्मिकता और दिनोंदिन सांप्रदायिक होते राजनीतिक विमर्श के बीच की दूरी को थोड़ा ठहरकर और व्यवस्थित होकर समझने की कोशिश करें। यह लेख इस दिशा में एक व्यक्तिगत कोशिश मात्र है।

II

जिस परिवार में मेरी परवरिश हुई (मैं गोद लिया बच्चा था!) वह धर्म के मामले में न तो सेकुलर था न ही कट्टर। एक अजब उदासीनता थी। ऐसा नहीं था कि दुआ, नमाज, रोजा, नियाज जैसे अमल होते ही न हों। लेकिन मुझ पर ऐसी कोई बंदिश नहीं थी कि मुझे हर रोज पांच बार मस्जिद जाकर नमाज अदा करनी हो; या फिर अन्य मुस्लिम बच्चों की तरह स्कूल से आने के बाद मदरसे जाकर कुरान पढ़ना हो। यहां तक कि जुम्मे की हफ्तावारी नमाज पढ़ना या न पढ़ना मेरी अपनी मर्जी पर निर्भर था। मुझसे दूसरे किस्म की उम्मीदें ज्यादा थीं। मेरे अभिभावक, विशेषकर मेरी अम्मा, मेरे अच्छे भविष्य की कल्पना करते थे। उनकी नजर में दुनियावी कामयाबी ज्यादा जरूरी थी। वे जानते थे कि पढ़ा लिखा नौकरीपेशा होना मजहबी मुसलमान होने से ज्यादा जरूरी है। वे विभाजन के बाद की दिल्ली के बदलते परिवेश से भी परिचित थे और चाहते थे कि मैं दकियानूसी मुसलमान वाली छवि से बच सकूं। यही वजह थी कि मेरा दाखिला उर्दू मीडियम स्कूल के बजाय हिंदी माध्यम विद्यालय में करवाया गया। मेरी अम्मा को लगता था अगर मैं हिंदी सीख गया तो मेरे लिए रोजगार के ज्यादा अवसर होंगे।

मैं भाग्यशाली था कि मुझे एक बेहतरीन शुरुआत मिली। मेरा प्राथमिक स्कूल उस इलाके के सबसे अच्छे सरकारी स्कूलों में से एक था। यहां अनुशासन भी था और आदर्शवादिता भी। मेरे पहले अध्यापक एक गांधीवादी आर्यसमाजी थे। उनका नाम इंद्रप्रकाश शर्मा था, लेकिन उन्हें हम मास्टरजी कहते थे। उन्होंने हमें पहली से पांचवीं कक्षा तक पढ़ाया। मास्टरजी हमें सारे विषय पढ़ाया करते लेकिन उनका जोर इस बात पर रहता कि हम विज्ञान और गणित विषय को आत्मसात कर लें। हर दिन कक्षा की शुरुआत गणित से होती। लेकिन कक्षा का अंतिम घंटा कहानी का होता। मास्टरजी हमें देशभक्ति और नैतिकता की कहानियां सुनाते और हमें एक अच्छा इंसान और सच्चा देशभक्त बनने के लिए प्रेरित करते। इन कहानियों में बुद्ध, महावीर, राम, कृष्ण, मुहम्मद, नानक और ईसा सामान्य पात्रों के रूप में आते। मास्टरजी हमें बताते कि ये सभी एक ही बात कहते हैं इसलिए हिंदू और मुसलमान या ऊंची जाति और नीची जाति का अंतर करना बेहद गलत है। इस तरह के झगड़ों में समय बर्बाद करने से बेहतर है कि हम विज्ञान के नजरिए से सोचें और अपनी जाति और धर्म से ऊपर उठकर एक भारतीय बनें। इन कहानियों का असर मेरे ऊपर बेहद गहरा हुआ। बहुत छोटी उम्र से ही मुझे लगने लगा की मजहब बेहद फिजूल की चीज है। मैं पढ़ने में अच्छा था और हर साल अपनी कक्षा में प्रथम आता था। इसीलिए मास्टरजी का भी प्रिय था। वे मुझे और अच्छा करने के लिए प्रोत्साहित करते और मैं उनकी हर शिक्षा का अनुसरण करने की कोशिश करता।

स्कूल में अच्छा प्रदर्शन करने के कारण (विशेषकर हिंदी माध्यम स्कूल में!) मेरी एक विशेष छवि बन गई। एक गोद लिए बच्चे के रूप में मैं पहले से ही अपने मोहल्ले में मशहूर था। मोहल्ले वाले, रिश्तेदार और यहां तक कि मेरे अपने सगे माता पिता मुझे खास नजर से देखते थे। हिंदी वाले स्कूल में पढ़ने और हिंदू दोस्त होने के कारण ये माना जाने लगा कि

मेरी तरबियत खराब हो रही है। लेकिन मेरी शैक्षणिक सफलता सबके मुंह बंद कर देती। मुझमें भी थोड़ा घमंड सा आता चला गया। मैं नमाज रोजा करने वाले मुसलमानों को पिछड़ा और जाहिल समझने लगा।

मेरे जीवन में एक अजब बदलाव उस समय आया जब मैं नवीं क्लास में था। उस दिन हमारे कक्षा अध्यापक छुट्टी पर थे और उनकी जगह एक अन्य अध्यापक, जिनका नाम नफीस उल हसन था, क्लास ले रहे थे। दिन जुम्मे का था और सारे मुसलमान बच्चे नमाज पढ़ने की वजह से आधी छुट्टी लेकर घर जा रहे थे। लेकिन मैं नहीं गया। नफीस साहब ने मुझे बुलाकर मेरा नाम पूछा। जब उन्हें ये पता चला कि मैं मुसलमान हूं तो उन्होंने मेरे नमाज के लिए न जाने की वजह जाननी चाही। मैं क्लास का मॉनिटर था, क्रिकेट टीम का कप्तान था, और अपने अध्यापकों का मुंहचढ़ा था। मेरे अंदर अकड़ थी और मैं काफी मुहंफट भी था। मैंने उसी अकड़ के साथ जवाब दिया, "मैं नास्तिक हूं?"

अगर कोई और अध्यापक होता तो मुझ जैसे मुहंजोर छात्र को एक तमाचा रसीद करके मेरी औकात बता सकता था लेकिन नफीस साहब ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने मुझसे एक और सवाल किया, "नास्तिक का क्या मतलब होता है?" मैंने सीधा सा जवाब दिया, "जो धर्म को नहीं मानता।" उन्होंने फिर एक और सवाल पूछा, "तुम्हारा धर्म क्या है?" मैंने कहा, "इस्लाम।" इस जवाब के बाद वे रुके और बोले, "इसका मतलब तुम इस्लाम को नहीं मानते।" मैंने स्वीकृति में गर्दन हिला दी।

उन्होंने कहना शुरू किया, "तुम इस्लाम के बारे में ऐसा क्या जानते हो जिसके चलते तुमने इसे मानना छोड़ दिया?" मैं चुप हो गया और सोच में पड़ गया। मैं इस्लाम क्या किसी भी धर्म के बारे में कुछ भी नहीं जानता था और न ही मैंने कभी इस तरह से धर्म के सवाल को देखा था। नफीस साहब ने कहा, "किसी भी बात को मानने या न मानने का फैसला करने से पहले यह जरूरी है कि हम पहले उस विषय को जानें और फिर कोई ठोस राय कायम करें।" उन्होंने मुझसे कहा कि वे मुझे पढ़ने के लिए कुछ किताबें देंगे ताकि मैं इस्लाम के बारे में जान सकूं और नमाज पढ़ने या न पढ़ने के बारे निश्चित तर्क बनाऊं।

मेरी उम्र उस वक्त 15 साल थी। इस उम्र में घटित घटनाएं आम तौर पर जीवन का रुख बदल देती हैं। मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। नफीस साहब की दी हुए किताबों ने मुझे इस्लाम की पहली समझ दी और मेरी दिलचस्पी धर्म के सवालों में बढ़ने लगी। मैंने पहली बार महसूस किया कि किसी भी तरह के ज्ञान को सीखने के लिए नरमी का होना लाजिमी है। घमंड और अकड़पन ज्ञान के सबसे बड़े दुश्मन हैं।

इन किताबों का असर तो हुआ पर मैंने नमाज पढ़ना शरू नहीं किया। इस दौरान एक और दिलचस्प घटना घटी। मेरे एक दोस्त ने मुझे तबलीगी जमात के गश्त में अपने साथ चलने के लिए कहा। मैं खाली था, सोचा चलो यहां भी चलकर देखते हैं।

III

उस दिन मेरी मुलाकात दो बेहद दिलचस्प व्यक्तियों से हुई। हमारे इलाके में सड़क पर चप्पल बेचने वाले भाई अलीमुद्दीन, जिन्हें लोग आमिर साहब कहा करते थे, और दूसरे थे अतहर, मेरे खालाजाद भाई, उम्र में मुझसे 3 साल छोटे (जिन्हें अब अंजुमन मिन्हाज रसूल के संस्थापक मौलाना अतहर हुसैन देहलवी के नाम से जाना जाता है)। गश्त के बाद हमने

नमाज अता की और उसके बाद अतहर और आमिर साहब का बयान हुआ।

इस मजलिस में मुझे मोटे तौर पर तीन बातें समझ में आईं। पहला इस्लाम के तमाम उसूल सिर्फ और सिर्फ मुसलमानों के बारे में नहीं हैं। बल्कि पैगंबर मोहम्मद और कुरान का पैगाम पूरी इंसानियत के लिए है। अल्लाह की नजर में सब बराबर हैं और इंसान और इंसान में कोई फर्क नहीं होता। दूसरा, इस्लाम में दावत का मतलब मुसलमानों को अच्छा मुसलमान बनाने से है। किसी और मजहब के आदमी को या औरत को मुसलमान बनाकर उसका धर्म परिवर्तन कराना तबलीग का काम नहीं है। तीसरा अगर हम किसी को इस्लाम की दावत दे रहे हैं तो यह हमारा अपने आप के लिए फर्ज है न कि किसी दूसरे पर एहसान जताना।[7]

इन तीन बातों ने मेरे ऊपर गहरा असर डाला। अब तक जो कुछ मैं सिर्फ नफीस साहब द्वारा दी गई किताबों में पढ़ रहा था, वह मेरे सामने चरितार्थ होता दिख रहा था। दावत की इस परिभाषा ने कहीं न कहीं मुझे यह अहसास करा दिया कि दावत का अर्थ अपने आप को बदलने से है न कि किसी दूसरे को। यह परिभाषा किसी भी तरह से मुझे अपने हिंदू दोस्तों से बात करने और उनके साथ रोजमर्रा की जिंदगी जीने से नहीं रोक रही थी। इसके बरक्स मैं ये महसूस कर रहा था कि मैं अब धीरे धीरे आस्थावान होता जा रहा हूं। लेकिन ये आस्था क्या थी और इसका चरित्र क्या था ये मैं तब तक नहीं जानता था।

उन दिनों भी जब मैं अपने आप को दूसरों से अलग दिखाने के लिए अपने को नास्तिक कहता था, मेरे अंदर एक डर था। डर ये था कि कहीं अगर मैं गलत हुआ तो मेरे साथ कुछ बुरा जरूर होगा। शायद यही वजह थी कि जब भी मैं अपना परीक्षापत्र लिखता तो चुपके से उस पर कहीं न कहीं 786 अंकित कर देता ताकि कोई चमत्कारी मदद हो जाए और मेरे नंबर अच्छे आएं। लेकिन यह सिर्फ मेरे अपने लिए था। मैंने अपनी बाहर की छवि एक मॉडर्न मुसलमान की बना रखी थी जिसके लिए ऐसी बेतुकी बातें सिर्फ अंधविश्वास ही हो सकती थीं।

लेकिन अब स्थिति बदल रही थी। मुझे ऐसा लग रहा था कि एक ऐसी ताकत, जिसे मुसलमान अल्लाह कहते हैं और हिंदू भगवान, कहीं न कहीं मौजूद है और हमें उस पर भरोसा करना चाहिए। इस बदलती सोच ने मुझे एक नया रास्ता दिया; और मैं धीरे धीरे अपने आप को मुसलमान कहने और मानने लगा। नफीस साहब द्वारा दी गई किताबों के अध्ययन के बाद मैंने विधिवत नमाज सीखना और कुरआन को कुरआन के मायनों के साथ समझना शुरू किया। मस्जिद में मौजूद इस्लाम के इतिहास से संबंधित हदीस साहित्य की ओर मैं आकर्षित होने लगा और मैंने धीरे धीरे वह भी पढ़ डाला। मेरा विश्वास मजबूत होता गया और कहीं मैं यह मानने लगा कि कुरान में दुनिया के हर सवाल का जवाब है और इस्लाम दुनिया को सीखने समझने का सबसे सही रास्ता है।

ये दौर मेरी जिंदगी का एक निर्णायक मोड़ था। मैंने दसवीं क्लास की परीक्षा दे दी थी। मैं अब पांच वक्त की नमाज पढ़ने लगा था और मुझे उम्मीद थी कि मैं एक वैज्ञानिक बनूंगा—एक ऐसा वैज्ञानिक जो पूरी तौर पर सच्चा पक्का मुसलमान भी होगा। लेकिन हुआ इसके उल्टा। सरकारी स्कूलों में वैसे ही विज्ञान पढ़ाई बहुत अच्छी नहीं होती उस पर भी मैं क्रिकेट पर ज्यादा और विज्ञान पर कम ध्यान देने लगा था। नतीजा ये हुआ कि मेरे विज्ञान में कब नंबर आए और पहली बार मुझे लगा कि मैं पढ़ाई में पिछड़ रहा हूं।

सरकारी स्कूल दसवीं तक था इसलिए आगे की दो क्लासें किसी और स्कूल से करनी थीं। मैंने डीएवी स्कूल, दरियागंज के कला विभाग में प्रवेश लिया। मेरा विज्ञान का सपना टूट चूका था और मैं भविष्य को लेकर बेहद परेशान था। ये अपने आप में मेरी पहली शिकस्त

थी। मेरा भरोसा अपने आप पर से कम हो रहा था। डीएवी स्कूल अब तक के मेरे सभी पुराने स्कूलों से अलग था। तकरीबन सभी अध्यापक आर्यसमाजी थे। और कहीं न कहीं पर हिंदू और मुसलमान के फर्क हमें बार बार याद दिलाते रहते थे। मेरे लिए यह पहला अनुभव था जब मुझे एक मुसलमान के तौर पर स्कूल में संबोधित किया गया। मैं ये तो नहीं कहूंगा कि मेरे अध्यापक सांप्रदायिक थे और मुसलमान बच्चों के साथ भेदभाव करते थे। हां ये जरूर था कि वे मध्यकालीन भारत में मुस्लिम शासकों द्वारा किए गए अत्याचारों की कहानी सुनाकर वर्तमान हिंदू समाज की खराब स्थिति और दयनीयता के लिए मुसलमानों को जिम्मेदार ठहराते थे। उनके लिए यही अंतिम सत्य था। मसला सिर्फ हिंदू मुसलमान का नहीं था। मेरी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। मेरा गोद लिया परिवार अब कर्जे की चपेट में था और मेरे लिए लाजमी था कि मैं अपनी पढ़ाई का खर्चा उठाऊं और साथ ही साथ घर के रोजमर्रा के खर्चे में भी हिस्सेदार बनूं। मैं ट्यूशन पढ़ाता था और यही मेरा आमदनी का जरिया था। स्कूल में विज्ञान न मिलने के कारण मैं हताश था और अभी तक यह तय नहीं कर पाया था कि भविष्य में मैं क्या करूंगा।

ये स्थिति कुछ महीने रही। मन में आया कि ये मौका हताश होने का नहीं बल्कि अपने आपको साबित करने का है। ये वो दौर था जब टीवी पर रामायण और महाभारत जैसे धारावाहिक शुरू हो चुके थे और राम जन्मभूमि बाबरी मस्जिद का मुद्दा अपने चरमोत्कर्ष पर था। डीएवी स्कूल में सबसे अच्छी बात जो मुझे लगी थी वह थी निज भाषा प्रेम। मैं हिंदी में अच्छा था और यही कारण था कि मुझे संस्कृत विषय लेना अंग्रेजी लेने से कहीं बेहतर लगा। सच तो यह है कि मैंने 10वीं क्लास के बाद कभी भी अंग्रेजी को विषय के रूप में नहीं पढ़ा। डीएवी के वातावरण में हिंदी प्रेम और अंग्रेजी के मानसिक प्रभुत्व का विरोध मेरे अंदर अपने आप आते चले गए।

अब तक जो असमंजस नमाज पढ़ने या न पढ़ने से संबंधित था अब उसका दायरा बढ़ता चला जा रहा था। अब मसला सामाजिक पहचान का था और अपने आप को साबित करने का भी। स्कूल और ट्यूशन के बाद जब हम कुछ दोस्त शाम को मिलते, साथ नमाज पढ़ते और मस्जिद में बयान सुनकर देश दुनिया के अलग अलग विषयों पर बातचीत करते तब दिन भर की तमाम थकान खत्म हो जाती। यही वो दौर था जब मैं और मेरे कुछ मुस्लिम दोस्तों ने जामा मस्जिद में नमाज पढ़ना शुरू किया। जामा मस्जिद का जिक्र इसलिए जरूरी है क्योंकि बाबरी मस्जिद प्रकरण में जामा मस्जिद के तथाकथित शाही इमाम अब्दुल्लाह बुखारी ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और वे एक सशक्त मुस्लिम नेता के रूप में उभर चुके थे।[10] हम हर जुम्मे को उनका भाषण सुनते और यह समझने की कोशिश करते कि बाबरी मस्जिद और मुसलमानों का अंतरसंबंध क्या है। हम मित्रों में मुस्लिम सियासत को लेकर में तीखी बहस होती। मुझे इमाम बुखारी की बातें बेहद भड़काऊ और एकतरफा लगतीं। मैं यह पाता कि जो इस्लाम हम तबलीगी जमात में सीखते हैं वह इमाम बुखारी के भाषणों में कतई नजर नहीं आता। इमाम बुखारी के भाषण सुनकर मैं अपने हिंदू दोस्तों के सामने एक शर्मिंदगी महसूस करता। मुझे लगता जैसे मैं उनसे कोई गद्दारी कर रहा हूं। इमाम बुखारी की इस आलोचना ने कहीं न कहीं मेरे मन में यह स्थापित कर दिया कि कुरान और हदीस में मौजूद इस्लाम और मुस्लिम सियासत दो अलग चीजें हैं।

इसके साथ ही साथ मैं एक अन्य विरोधाभासी प्रवृत्ति को भी महसूस कर रहा था। चाहे वो स्कूल हो यह कोई अन्य सार्वजनिक स्थल, मुसलमान होना या मुसलमान दिखना अपने

आप में पिछड़ेपन जैसा माना जाता था। ऐसे में अपनी मुस्लिम पहचान को पूरे आत्मविश्वास के साथ पेश करना एक चुनौती था। मेरी समझ में आ चुका था कि बुखारी जैसे सांप्रदायिक नेताओं की रुचि न तो मुस्लिम पहचान को सकारात्मक अर्थों में स्थापित करने में है और न ही ये नेता इस्लाम का मानवतावादी स्वरूप प्रचारित करना चाहते हैं। लेकिन इनका विकल्प क्या हो, यह समझ नहीं आता था।

लगभग इसी समय दो बेहद दिलचस्प घटनाएं घटीं। मेरी मेहनत रंग लाई और ग्यारहवीं कक्षा में मैंने एक बार फिर प्रथम स्थान प्राप्त किया। मेरा प्रदर्शन हिंदी, संस्कृत और राजनीतिशास्त्र में बेहतरीन रहा। मैं दोबारा अपने अध्यापकों का प्रिय छात्र बन गया और उन्होंने मेरी मिसाल एक आदर्श मुस्लिम हिंदीभाषी भारतीय के रूप में देनी शुरू कर दी। मेरा आत्मविश्वास लौट आया। मैं अब अपना पूरा समय 12वीं कक्षा की तैयारी में देने लगा।

दूसरी घटना लगभग इसी समय हुई। मेरी गली में रहने वाले और मुझसे दो तीन साल बड़े मित्र ने अजब फरमाइश की। उसने कहा कि वह एक उर्दू माध्यम का छात्र है और उसके लिए हिंदी में बीए की परीक्षा देना मुश्किल हो रहा है। ऐसे में वह चाहता था कि मैं उसकी जगह राजनीतिशास्त्र विषय की परीक्षा दूं। मैं बेहद डर गया; मैंने कहा ये तो गैरकानूनी है। वैसे भी मैं तो स्कूल का छात्र हूं, कॉलेज की परीक्षा कैसे दे सकता हूं। मेरे दोस्त ने कहा कि बीए का पाठ्यक्रम लगभग स्कूल वाला ही है इसलिए मुझे कोई दिक्कत नहीं होगी। उसका दूसरा तर्क व्यावहारिक था। उसने कहा कि उसका कॉलेज शाम का है जहां कोई किसी को नहीं जानता। इसलिए अगर मैं उसकी परीक्षा दे दूंगा तो उसका काम भी हो जाएगा और मुझे भी कुछ नया पढ़ने को मिल जाएगा। न चाहते हुए भी मैं इस परीक्षा के लिए तैयार हो गया। लेकिन मेरी शर्त यह थी कि वह मुझे पढ़ने के लिए किताबें वगैरह देगा ताकि मैं उसके विषय को पूरी तरह समझ सकूं।

दिलचस्प बात यह है कि तब तक मैं मार्क्सवाद या कम्युनिस्ट आंदोलन जैसी किसी भी चीज के बारे में पूरी तरह से अनभिज्ञ था। हमारी गली में एक व्यक्ति रहा करते थे जिनके बारे में ये मशहूर था कि वे कम्युनिस्ट हैं और ये लोग मजहब को नहीं मानते। मुझे याद है कि जब मैं अपने आप को गर्व से नास्तिक बुलाता था तब कुछ लोग कहते थे कि तुम कम्युनिस्ट तो नहीं हो गए हो। लेकिन इसका मतलब मैं तब तक नहीं समझता था।

बहरहाल मेरे मित्र ने मुझे कुछ किताबें मुहैया कराईं। इनमें से एक किताब राजनीतिक सिद्धांत की थी। इस किताब का सबसे दिलचस्प अध्याय मार्क्सवाद था। मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धांत और कम्युनिस्ट क्रांति की रूपरेखा से मेरा पहला परिचय इसी किताब के माध्यम से हुआ। मैंने पूरी किताब एक ही दिन में खत्म कर डाली। मेरी दिलचस्पी मार्क्स के अन्य सिद्धांतों को जानने में बढ़ने लगी। तभी मेरी मुलाकात अपने एक और सीनियर से हुई। इस सीनियर का नाम जितेंद्र था और वह बड़े गर्व से अपने आप को वामपंथी कहता था। जब मैंने उससे मार्क्सवाद के विषय में एक दो सवाल पूछे तो वह बेहद खुश हुआ और मुझे दिल्ली गेट पर मौजूद सीपीआई के छात्र संगठन एआईएसएफ के दफ्तर ले गया। यहां मैं कुछ और दोस्तों से मिला और सबसे मजेदार बात ये हुई कि मुझे ढेर सारी किताबें पढ़ने को मिलीं।

पांच वक्त नमाज पढ़ना, रोजे रखना, गश्त करना, जमात में जाना, हिंदी और संस्कृत में रुचि लेना पहले से ही कुछ लोगों के लिए विरोधाभासपूर्ण थे; और अब मेरे मार्क्सवादी रुझान ने इन विरोधाभासों को थोड़ा बढ़ा दिया। लेकिन मेरे लिए यह सब कुछ बेहद सामान्य

था। और मैं अपने आप में बेहद संतुष्ट और सहज महसूस कर रहा था। लेकिन आत्मसंतुष्टि का ये दौर बहुत दिन तक नहीं चला।

IV

एक रोज फजर की नमाज के बाद जब हम बयान के लिए बैठे तो कुछ अजीब सा घटित हुआ। यहां इस बात का उल्लेख करना जरूरी है कि जमात का बयान और उसके काम करने का तरीका बेहद शिथिल और जड़तापूर्ण है। एक ही तरह की बातें करना, एक ही तरह की हदीसों को एक दूसरे को सुनाकर सवाब की उम्मीद करना और जमात में जाने के फजाइल यह कहकर बताना कि इसके बदले में जन्नत में नियामतें मिलेंगी, जमातवालों के हर बयान में सुनने को मिलती थीं। उस रोज भी कुछ ऐसा ही हुआ। एक जमातवाला बयान कर रहा था कि अल्लाह हमें देख रहा है और उसके हुक्म के बिना कोई काम नहीं होता। यह बात मेरे लिए कोई नई नहीं थी। लेकिन न जाने क्यों उस दिन इस वक्तव्य ने मेरे मन में एक संदेह उत्पन्न कर दिया। मैं सोचने लगा कि क्या वास्तव में अल्लाह वैसा ही है जैसा कि जमात वाले बताते हैं या अल्लाह है ही नहीं। ये सवाल अपने आप में बेहद कष्ट देने वाला था। उस वक्त तक मैं अपने आप को सच्चा पक्का मुसलमान मानने लगा था और मेरे लिए अल्लाह की जात पर शक करना अपनी आस्था पर शक करने के बराबर था।

लेकिन ये सवाल मुझे बेहद परेशान कर रहा था। मैंने इधर उधर पढ़ने समझने की बहुत कोशिश की लेकिन मुझे कोई संतुष्टिजनक जवाब नहीं मिला। तब मैंने अपने खालाजात भाई अतहर से बात की। अतहर मुझे अपने उस्ताद के पास लेकर गए और उनसे मेरे सवाल का जवाब देने के लिए कहा। उनके उस्ताद एक मौलवी थे, लिहाजा मेरे सवाल का जवाब देने से पहले उन्होंने मुझसे एक और सवाल किया। उन्होंने पूछा, "क्या तुम कम्युनिस्टों के बीच उठते बैठते हो?" मैंने हां में जवाब दे दिया। यहां इस बात का उल्लेख करना जरूरी है कि मेरे कम्युनिस्ट दोस्तों ने कभी भी मेरे नमाज पढ़ने या मुसलमान होने पर सवाल नहीं उठाया था और न ही वे इस बात से चिंतित थे कि मैं कैसा कम्युनिस्ट हूं। जब मौलवी साहब ने सवाल पूछा तो मैंने उन्हें यह बात बताई कि अल्लाह के अस्तित्व के विषय में पैदा हुआ ये संदेह नितांत निजी है और इसका मेरे कम्युनिस्ट दोस्तों से कोई संबंध नहीं है।

न जाने क्यों मुझे लगा कि मौलवी साहब मेरे जवाब से संतुष्ट न होने के बावजूद मुझसे बात करने में रुचि रखते हैं। उन्होंने बात की भी। उन्होंने कहा कि जैसे खुशबू, दर्द, खुशी, और गम सिर्फ महसूस किए जाते हैं, देखे नहीं जा सकते, उसी तरह अल्लाह भी सिर्फ एक एहसास है। इसलिए अल्लाह के होने या न होने की बहस में वक्त बर्बाद करने की बजाय हमें ये सोचना चाहिए कि अल्लाह का एहसास हमें कैसे हासिल होता है? मैं काफी हद तक इस जवाब से संतुष्ट था लेकिन फिर भी अल्लाह की जो तस्वीर जमात वाले पेश करते थे, ये जवाब उस तस्वीर से मेल नहीं खाता था। मसलन अगर अल्लाह एहसास है तो उसे गुस्सा क्यों आता है? और अगर हर काम अल्लाह की मर्जी से होता है तब दुनिया में इतनी असमानताएं और ऊंच नीच क्यों है? क्या वजह है कि जुल्म करने वाला जुल्म किये जाता है और मजलूम सिर्फ दुआ और अल्लाह के विश्वास में फंसे रहते हैं?

ये ऐसे सवाल थे जिन्हें मैं किसी से नहीं पूछ सकता था। तब मुझे एक बार फिर नफीस साहब की याद आई। मैं उनके पास गया और मैंने अपनी शंकाएं उनके सामने पेश कीं। नफीस

साहब ने मेरी बात को पूरे ध्यान से सुना और मुझसे वही सवाल पूछा जो मौलवी साहब पूछ चुके थे, यानी क्या मेरा उठना बैठना कम्युनिस्टों के बीच है? मैंने हां में सिर हिला दिया, लेकिन यह भी कहा कि मुझे ये समझ नहीं आता कि मेरे इन सवालों का मार्क्सवाद से क्या संबंध है? नफीस साहब ने कहा कि मार्क्स मजहब को अफीम कहता है और यही वजह है कम्युनिस्ट मजहब के विरोधी होते हैं। मैंने इस बात का जवाब नहीं दिया, क्योंकि तब तक मैं मार्क्स के धर्म संबंधी विचारों के बारे में कुछ भी नहीं जानता था। मैं जो कुछ भी थोड़ा बहुत मार्क्सवाद के बारे में जानता था वे वर्ग संघर्ष और एक बेहतर समाज की परिकल्पना से संबंध रखने वाली बातें थीं। बहरहाल मैं चुप हो गया। नफीस साहब ने तब एक बेहद सटीक तर्क दिया। उन्होंने कहा अल्लाह ने दुनिया को बनाया है लेकिन इसके बावजूद उसने इंसान को एक ऐसी सिफत दी है जो किसी और मख्लूक में नहीं है। इस सिफत का नाम है खुदी यानी अपने फैसले अपने आप करना। इस तरह इंसान के तमाम फैसले सिर्फ अल्लाह की रजा पर निर्भर नहीं करते बल्कि वह काफी हद तक स्वायत्त होता है। इस स्वायत्तता को नियंत्रित करने के लिए अल्लाह ने हर युग और काल में अपना पैगाम विभिन्न पैगंबरों के द्वारा दुनिया में भेजा। इसलिए दुनिया में होने वाली बुराइयों के लिए इंसान खुद जिम्मेदार हैं और उनको उन बुराइयों को दूर करने के लिए ही हमें अल्लाह के उसूलों को पहचानना और उन पर अमल करना जरूरी है। नफीस साहब की ये दलील मुझे समझ आई और मैं एक नई सोच में पड़ गया। मेरे मन में एक नया सवाल आया—अगर इंसान स्वायत्त है और अल्लाह ने हर युग और काल में अपना पैगाम अपने पैगंबरों के द्वारा इस दुनिया में भेजा है, तब हम कुरान को अंतिम धर्मग्रंथ और मोहम्मद साहब को अंतिम पैगंबर क्यों मानें? ऐसा क्या हुआ जिसके कारण अल्लाह ने दुनिया में पैगंबर न भेजने का सिलसिला रोक दिया? मैंने ये सवाल नफीस साहब से जानबूझकर नहीं किया। मैं उनको दुखी नहीं करना चाहता था। इस बातचीत के बाद जब मैं उठने लगा तब नफीस साहब ने कहा, "मियां कॉलेज में जब दाखिला लो तो वहां कम्युनिस्ट अध्यापकों से बचकर रहना।" मैंने कुछ नहीं कहा और घर चला आया।

बेहद अच्छे अंकों से बारहवीं कक्षा पास की। हिंदी, संस्कृत, इकोनॉमिक्स और पॉलिटिकल साइंस विषयों में मैंने डिस्टिंक्शन हासिल की। मेरे लिए यह एक उपलब्धि थी और अब मैं अपनी भविष्य की तैयारी में पूरी तरह से लग जाना चाहता था। यहां इस बात का उल्लेख करना जरूरी है कि इस दौर में मैंने कभी भी नमाज नहीं छोड़ी थी। एक अजीब सा डर मेरे मन में हमेशा रहा कि मैं जो कुछ सोच रहा हूं वह सही है या नहीं। जब भी मेरे मन में ऐसे संशय आते तब मैं अपने आप को समझाता कि अगर कोई सवाल दिमाग में चल रहा हो तब तो उसका जवाब ढूंढना जरूरी है, न कि उस सवाल को मन में रखकर परेशान होना। यही वजह थी कि मैं नमाज भी पढ़ता रहा और इसके साथ साथ नमाज पढ़ने के अमल पर शक भी करता रहा।

लगातार इस दुविधापूर्ण स्थिति में रहने के कारण मेरे सोचने का एक नया तरीका विकसित होने लगा। अब मैं किसी भी विषयवस्तु को केवल एक आधार पर मानने को तैयार न था। मुझे हर एक चीज में कोई न कोई सवाल या कोई न कोई पेचीदगी नजर आने लगी। इस बीच मैंने कैंपस के एक कॉलेज में पॉलिटिकल साइंस में दाखिला ले लिया। एक दो रोज ही कॉलेज गया होगा तभी इस बात का अहसास हो गया की मुझ जैसे गरीब और हिंदी माध्यम के छात्र का कैंपस के अंग्रेजीदां माहौल में जिंदा रह पाना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन है। इसी बात को मद्देनजर रखते हुए मैंने जाकिर हुसैन कॉलेज में दाखिला लिया।

V

मेरी किस्मत अच्छी थी कि मैंने बीए जाकिर हुसैन कालिज से किया था। कॉलेज के पहले कुछ महीने नएपन को आत्मसात करने में निकल गए। मेरी रुचि मार्क्सवाद में थी और विभाग के ज्यादातर अध्यापक मार्क्सवादी माने जाते थे। लेकिन फिर भी किसी से बात करने का साहस नहीं हुआ। वजह थी हिंदी मीडियम होना। लगभग सभी अध्यापक अंग्रेजी में पढ़ते थे, अंग्रेजी में पढ़ाते थे, अंग्रेजी में बोलते थे, और सिर्फ अंग्रेजी में बोला हुआ ही समझते थे। मार्क्सवाद की बातें होतीं पर समझ में बहुत कम आता।

लेकिन अर्धवार्षिक परीक्षा ने सब कुछ बदल दिया। इस परीक्षा में मैंने सबसे अधिक अंक हासिल किये—यहां तक कि अंग्रेजी सेक्शन के छात्रों से भी ज्यादा। विभाग के युवा अध्यापक दीपक वर्मा ने मुझे प्रोत्साहित किया। वे राजनितिक सिद्धांत पढ़ाते थे और हिंदी मीडियम की क्लास लेते थे। इस तरह उनसे बातचीत शुरू थी। हालांकि तब तक भी मैं अपने धर्म संबधित सवाल अपने तक ही रखता था।

जिंदगी और मेरी वैचारिक सोच में सबसे बड़ा बदलाव तब आया जब मैं इस कालेज के एक अन्य युवा और ऊर्जावान अध्यापक मणींद्र नाथ ठाकुर से मिला। सही मायनों में उन्होंने मेरी जिंदगी बदल दी। उन्होंने मेरे बेहद कच्चे और अधूरे से विचारों को सम्मान दिया था; न जाने कितनी बार मेरी आर्थिक मदद की थी। ठाकुर सर ने इस बात का भरोसा मेरे मन में भर दिया था कि मैं पढ़ने पढ़ाने और अध्यापन को अपना भावी करियर बना सकता हूं। सही मायने में मार्क्सवाद के बौद्धिक पक्ष से मेरा पहला विधिवत परिचय भी ठाकुर सर ने ही करवाया था। मैं मार्क्स से प्रभावित था और समाज की शक्ति संरचनाओं के विषय में अपनी एक समझ बनाने की प्रक्रिया में था। दूसरी ओर मेरी रुचि धर्म के दार्शनिक आधारों में सशक्त हो रही थी, विशेषकर इस्लाम के आंदोलनकारी चरित्र मे।

ठाकुर सर ने मुझे इन सवालों को और कुरेदने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने मुझे एक नई दृष्टि दी। उन्होंने बताया कि मार्क्स के सैद्धांतिक फ्रेमवर्क के माध्यम से इस्लाम के आंदोलनकारी इतिहास की एक व्याख्या संभव है। इसलिए इस्लाम और मार्क्सवाद को जिस तरह मैं देख या समझ रहा हूं वह विरोधाभासपूर्ण नहीं है। उनका तर्क था कि सभी धर्म अपने शुरुआती काल में जन आंदोलन होते हैं और अपने समाज की मौजूदा शक्ति संरचना को चुनौती देते हैं। समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग पहले तो इन धर्म के रूप में प्रकट आंदोलनों को कुचलने का काम करते है; लेकिन जब उन्हें लगता है कि इस आक्रोश को पूरी तरह खत्म करना संभव नहीं है तब वे उस धर्म को अपनाना शुरू कर देते हैं। इस तरह वे धर्म पर अपना कब्जा जमा लेते हैं, और धीरे धीरे उसका आंदोलनकारी स्वरूप स्वयं क्षीण होता चला जाता है। एक समय के बाद धर्म पूरी तरह से कर्मकांड और सामुदायिक विचारधारा में बदल जाता है। ठाकुर सर के अनुसार मार्क्स धर्म के इस रूप को अफीम कहता है, जिसका इस्तेमाल प्रभुत्वशाली वर्ग समाज में अपना दबदबा बनाने के लिए करता है। लेकिन इसके साथ ही साथ, मार्क्स धर्म के मुक्तिवादी आह्वान को नजरंदाज नहीं करता। ठाकुर सर ने इस तर्क को समझाने के लिए मार्क्स की पुस्तक *A Contribution to the Critique of Hegel's Philosophy of Right* का एक हिस्सा मुझे पढ़ाया।

ठाकुर सर के साथ चल रही इस वैचारिक जद्दोजहद ने मेरी नमाज को भी नए रचनात्मक मायने दिए। उन्होंने मुझे गांधी के लेखन और काम को सावधानी से पढ़ने और

समझने के लिए कहा। उनका तर्क था कि गांधी भारत के जमीनी मनोविज्ञान को समझते थे। इसलिए वे धर्म को राजनीति से अलग करने की बजाय राजनीति को धर्मसंगत और न्यायवादी बनाने के पक्षधर थे। मुझे ये बातें अब समझ में आने लगी थी। अब नमाज पढ़ना और गांधी मार्क्स के आर्थिक सामाजिक न्याय के नजरिए से दुनिया को देखना एक ही बात लगने लगी।

उसी दौर में दिल्ली विश्वविद्यालय के शायद सबसे लोकप्रिय मार्क्सवादी अध्यापक प्रोफेसर रंधीर सिंह से मिलने का मौका मिला। वे उस समय तक रिटायर्ड हो चुके थे। पर उनकी लोकप्रियता बरकरार थी। रंधीर सिंह को एक लिविंग लीजेंड का रुतबा हासिल था। उनके क्लास में दिए लेक्चर, उनका पढ़ने पढ़ाने का तरीका, उनका दुनिया बदलने का ख्वाब, उनका यकीन कि एक बेहतर समाज बनाना जरूरी भी है और मुमकिन भी, तब तक एक विमर्श में बदल चुके थे।

उनसे जब पहली बार मिला तो बेहद प्रभावित हुआ। वे मुझे बेहद खुले दिमाग के व्यक्ति लगे। वे ठाकुर सर के अध्यापक रह चुके थे इसलिए मेरे लिए उनसे मिलना और उनसे बात करना अब मुमकिन था। रंधीर सिंह से मिलने का सिलसिला आगे कई साल जारी रहा। हर मुलाकात में नया सीखने को मिला और मेरे व्यग्तिगत सवाल धीरे धीरे मेरे शोधप्रश्न बनने लगे।

रंधीर सिंह ये जानते थे कि मेरी दिलचस्पी भारत के विशेष संदर्भ में इस्लाम को एक राजनीतिक आंदोलन के रूप में विश्लेषित करने में है। इस विषय के प्रति वे बहुत उत्साहित थे। हमारी एक बातचीत में उन्होंने मुझे बताया कि उनकी नजर में पूर्व आधुनिक युग में मजहब दरअसल आंदोलन ही होते थे। क्योंकि उस वक्त राजनीति की आधुनिक सेकुलर शब्दावली उपलब्ध नहीं थी इसलिए आंदोलनों को भी मजहबी जबान के जरिये अपनी बात कहनी होती थी। उनका यकीन था कि हिंदुस्तानी मजहबों की मार्क्सवादी व्याख्या संभव भी है और वांछनीय भी। इस तथ्य से उनका परिचय अपनी जवानी के दिनों में हुआ था जब वे कम्युनिस्ट आंदोलन का हिस्सा बने थे और उन्होंने पंजाब के गांव में राजनीतिक काम शुरू किया था।

ठाकुर सर ही की तरह रंधीर सिंह को मैंने गांधी के प्रति आकर्षित पाया। एक बार उन्होंने हमसे ये पूछा था कि हिंदुस्तानी अवाम से सबसे ज्यादा प्यार करने वाला राजनीतिक व्यक्ति कौन था? हमारे लिए ये सवाल अजीब था। राजनीति के आज के मुहावरे में प्यार नाम की कोई चीज नहीं होती। फिर रंधीर सिंह तो मार्क्सिस्ट थे! हमें चुप देखकर वे खुद बोले, "गांधी।" रंधीर सिंह ने बताया कि उन्होंने गांधी के मूल दस्तावेज उस वक्त पढ़े थे जब गांधी वांग्मय का काम चल रहा था। उनके पास गांधी पर ढेरों नोट्स थे, जो उन्होंने कभी प्रकाशित नहीं किये।

इसी उधेड़बुन में मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय के एमए राजनीतिशास्त्र विभाग में दाखिला लिया। तब तक इस्लाम की आंदोलननिष्ठ समझ, भारतीय राजनीति की मार्क्सवादी व्याख्या और वैकल्पिक गांधीवादी राजनीति दुनिया देखने/समझने के औजार बन चुके थे। यूं तो मेरी इस समझ को विरोधाभासी कहने वालों की कमी नहीं थी; लेकिन मैं खुशकिस्मत था कि मुझे यहां भी बेहतरीन अध्यापक और सहपाठी मिले।[11] मेरा नमाज पढ़ना अब सिर्फ एक रूहानी या मजहबी काम नहीं था—इसकी अपनी एक दार्शनिकता विकसित हो चुकी थी। इन सब चर्चाओं को जीने वाला मैं अकेला नहीं था। मेरी मित्र, साथी और आज मेरी पत्नी, नाजिमा इस सफर में मेरे साथ थीं। हम कॉलेज में मिले थे और छात्र राजनीति में भी साथ साथ थे। मैं अपनी हर शंका, सवाल, विश्वास, अविश्वास उनसे बांटता और ये सिलसिला आज भी

जारी है। वे सुनतीं, राय देतीं, आलोचना करतीं। इस प्रक्रिया में मैंने उनसे बहुत कुछ सीखा और आज भी सीख रहा हूं।

इस बौद्धिक विमर्श के दो पड़ाव और थे। पहला, लंदन जाकर सुदीप्त कविराज के निर्देशन में सोआस (यूनिवर्सिटी ऑफ लंदन) से पीएच.डी. करना और दूसरा, सीएसडीएस से अपने करियर की शुरुआत करना।

कविराज ने मेरे सवालों को नए सिरे से देखने की नजर दी। मुझे याद है कि एक बातचीत के दौरान कविराज ने शब्द, पद और अवधारणा के बीच का अंतर समझाया था। उनके अनुसार सामान्य तौर पर हम यह मानते हैं कि अवधारणा वह जरिया है जिसके माध्यम से हम किसी भी घटना, वस्तु या व्यक्ति विशेष के विचार की परिकल्पना करते हैं। लेकिन जब भी किसी पद/शब्द को अवधारणा में बदलकर देखा जाता है तो उसकी परिकल्पना भी बदल जाती है। तब ये देखना रुचिकर होता है कि यह नई परिकल्पना हमें कितनी विविध दिशाओं में ले जा रही है। मैंने इस कमेंट को एक मूलमंत्र के रूप में लिया। इस तर्क की रोशनी में मैंने सही अर्थों में इस्लाम और मार्क्सवाद के बदलते स्वरूप को समझा है।

सीएसडीएस ने मुझे एक ऐसा माहौल दिया जहां हर शोधार्थी को संपूर्ण बौद्धिक स्वायत्तता थी। इसका श्रेय निसंदेह सीएसडीएस की वर्तमान फैकल्टी और राजीव भार्गव, पीटर डेसुजा, आशीष नंदी, धीरूभाई शेठ, योगेंद्र यादव और शैल मायाराम जैसे दिग्गजों को दिया जाना चाहिए। इस बौद्धिक आजादी ने मुझे अपने तर्कों को पूरे आत्मविश्वास से स्थापित करने के लिए प्रेरित किया।

VI

इस लंबे आत्मकथ्य को लिखने का उद्देश्य उन तीन मान्यताओं को एतिहासिक संदर्भ देना है जिनका जिक्र मैंने इस लेख के शुरू में किया था : सर्वशक्तिमान अल्लाह/ईश्वर के अस्तित्व में मेरा आध्यात्मिक विश्वास; सर्वधर्म समभाव के गांधीवादी सिध्दांत में मेरी आस्था और समतामूलक समाज के निर्माण के प्रति प्रतिबद्धता।

यहां यह बात साफ कर देना चाहता हूं कि मेरे लिए इस्लाम किसी संस्कृति का नाम नहीं है और न ही मेरी दिलचस्पी अपने आप को सांस्कृतिक/उदार मुसलमान कहलवाने में है। मेरे लिए मुस्लिम परिवार में पैदा होना न तो कोई दुर्घटना है न ही कोई चमत्कार। मेरा मुसलमान होना दरअसल एक सामान्य परिघटना है जिसने मेरे वैचारिक और दार्शनिक संदर्भ को तय करने में एक अहम भूमिका निभाई है। इसीलिए इस्लाम को समझना, जानना, उसके इतिहास को तलाशना, उसकी अच्छाइयों को सराहना और उसकी कमियों को बुरा कहना मेरे ऊपर फर्ज हैं। इस विषय में गांधी एक पते की बात कहते हैं। वे लिखते हैं : *मैं यह मानता हूं कि उस दुनिया में न तो हिंदू हैं, न ईसाई और न ही मुसलमान। वे सभी अपने धर्म के अनुसार नहीं बल्कि अपने कर्म के आधार पर जाने जायेंगे। लेकिन इस दुनिया में हमेशा धर्म का लेबल रहेगा। इसलिए मैं अपने पूर्वजों के इस लेबल को तब तक बनाए रखना पसंद करता हूं जब तक कि यह मेरे बौद्धिक विकास को शिथिल नहीं करता है और मुझे उस सब को आत्मसात करने से नहीं रोकता जो अच्छा है और सही है।*[12]

गांधी के शब्दों में कहूं तो इस्लाम मेरा लेबल है और मैं इसकी निर्धारित परिधि में तब तक रहना पसंद करूंगा जब तक यह मुझे ज्ञान के मार्ग से विमुख नहीं करता। लेकिन यदि

इस्लाम का अर्थ सिर्फ और सिर्फ कुरान और हदीस तक सीमित कर दिया जाए और यह कहा जाने लगे कि इसके बाहर कुछ भी नहीं है, तब इस्लाम को छोड़कर आगे बढ़ना मेरे नजदीक कोई गुनाह नहीं है।

अब सवाल यह कि मेरे लिए आखिर ज्ञान का क्या मतलब है? तबलीगी जमात के अपने दौर में मैंने एक बात सीखी थी। हर मुसलमान पर इतना इल्म (ज्ञान) सीखना लाजिमी है जिससे वह हराम और हलाल का फर्क कर सके। मैं इस सीख को व्यापक अर्थों में लेता हूं। और इसी पैमाने के आधार पर अल्लाह के अस्तित्व को स्वीकारता हूं। कुरान में अल्लाह खुद अपने आप को एक ज्ञानरूपी प्रकाश कहता है : *अल्लाह आकाशों और धरती का प्रकाश है। उसके प्रकाश की मिसाल ऐसी है जैसे एक ताक है, जिसमें एक चिराग है—वह चिराग एक फानूस में है। वह फानूस ऐसा है मानो चमकता हुआ कोई तारा है। —वह चिराग जैतून के एक बरकतवाले वृक्ष के तेल से जलाया जाता है, जो न पूर्वी है न पश्चिमी। उसका तेल आप ही आप भड़का पड़ता है, यद्यपि आग उसे न भी छुए। प्रकाश पर प्रकाश! —अल्लाह जिसे चाहता है अपने प्रकाश के प्राप्त होने का मार्ग दिखा देता है। अल्लाह लोगों के लिए मिसालें प्रस्तुत करता है। अल्लाह तो हर चीज जानता है।*[13]

इस आयत से यह बात साफ है अल्लाह दरअसल ज्ञान है, जो अनंत है, असीम है और जिसको मूर्त रूप में नहीं देखा जा सकता। लेकिन इस अनंत असीम ज्ञान का विचार हमें मजबूर करता है कि हम उन आधारों और मिसालों को तलाश करें जिन्हें हम समझते हैं, जानते हैं, या फिर जिनसे हम परिचित हैं। इस आयत में ऐसी ही एक कोशिश दिखाई देती है।

यहां एक बार फिर गांधी प्रासंगिक हो जाते है। गांधी का मशहूर कथन है—*सत्य ही ईश्वर है।* गांधी इस कथन की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि हमें ईश्वर ही सत्य है और सत्य ही ईश्वर है के बीच का फर्क समझना चाहिए। उनके अनुसार ईश्वर ही सत्य है का अर्थ सीमित है क्योंकि इसमें यह भाव निहित है जैसे सत्य के जरिये ईश्वर को साबित किया जा रहा हो। लेकिन सत्य की अवधारणा उस अनंत असीमित विषयवस्तु की ओर इशारा करती है जिसे धार्मिक लोग ईश्वर कहते हैं और गैर धार्मिक लोग ज्ञान/विज्ञान।[14] मैं गांधी के सत्य की इस अवधारणा से पूरी तरह सहमत हूं। लेकिन मैं इस प्रस्तावना को थोड़ा अलग तरह से समझता हूं। मेरे लिए अल्लाह एक ऐसा सत्य है जिसे मैं ज्ञान कहकर संबोधित करता हूं। यह एक ऐसा ज्ञान है, जिसको खोजे जाने की प्रक्रिया अनंत है और हमेशा जारी रहती है।

सवाल उठता है कि ज्ञान की इस अनंत खोज का उद्देश्य क्या है? एक आम आदमी या आम औरत के लिए ज्ञान की खोज का क्या मतलब है? मेरे ऐसे अनेक मित्र और परिचित हैं जो पढ़ने के लिए पढ़ते हैं। उनके लिए पढ़ना लिखना एक लत है। मैंने अक्सर देखा है कि वे अपनी पढ़ने लिखने की इस लतनुमा आदत को बौद्धिकता का नाम देकर सही ठहराते हैं। मेरे लिए ज्ञान की खोज का अर्थ किसी लत के जैसा नहीं है। मुझे लगता है ज्ञान की खोज का संबंध सामाजिक सवालों से होता है। ज्ञान तब तक लत नहीं बनता जब तक उस पर सामाजिक रूप से प्रासंगिक रहने की जिम्मेदारी न हो। इस तरह ज्ञान का अर्थ सामाजिक सवालों को समझने का एक जरिया भी है और समाज को बेहतर बनाने का एक औजार भी। मेरे लिए अल्लाह की अवधारणा कुछ इसी तरह की है।

अल्लाह के मेरे इस ज्ञान केंदित विचार के दो पक्षों को समझना जरूरी है। पहला, अल्लाह सार्वभौमिक सत्य है इसलिए उसे मानवीय गुणों और कृत्यों के दृष्टिकोण से परिभाषित करना गलत है। अल्लाह खुश या नाराज नहीं होता क्योंकि वह इंसान नहीं है। इसके बरक्स

अल्लाह की रजा या अल्लाह की मर्जी से आशय किसी भी वस्तुस्थिति का नैतिक आकलन माना जा सकता है।

इस बात को मैं एक उदहारण से स्पष्ट करना चाहता हूं। आम जीवन में अक्सर यह देखा गया है कि शरीफ, ईमानदार, और गरीब व्यक्ति का जीवन सुखमय नहीं होता। ऐसे लोग जीवन भर संघर्ष करते रहते हैं और संघर्ष करते करते मर भी जाते हैं। जबकि दूसरी ओर अमीर और बेईमान व्यक्तियों को जीवन में सफलता मिलती जाती है और वे मरने के बाद भी अदब से याद किये जाते हैं। क्या यह अल्लाह की मर्जी है?

गांधी के सामने भी एक बार एक ऐसा ही सवाल आया था।[15] बात 1934 के बिहार भूकंप के समय की है। गांधी ने इस घटना को ईश्वर का अभिशाप कहा था। गांधी के अनुसार छुआछूत की मानसिकता और जातिवादी शोषण जैसे अपराधों के चलते ही ईश्वर ने हमें भूकंप जैसी भयानक सजा दी है। रवींद्रनाथ टैगोर गांधी की इस राय से सहमत नहीं थे। उन्होंने एक सार्वजानिक पत्र लिखकर गांधी की आलोचना की। टैगोर का तर्क था गांधी भूकंप को ईश्वरीय त्रासदी कहकर अंधविश्वास और अविवेक को बढ़ावा दे रहे हैं। गांधी ने इस पत्र का जवाब एक लंबा लेख लिखकर दिया। लेख का शीर्षक था : अंधविश्वास बनाम विश्वास (Superstition vs. Faith)।

गांधी लिखते हैं : *हम न तो परमेश्वर के सभी नियमों को जानते हैं और न ही उनकी कार्यशैली। बड़े से बड़े वैज्ञानिक या महानतम अध्यात्मवादी का ज्ञान भी धूल के कण की तरह है...परमेश्वर...असीम है...मैं सचमुच विश्वास करता हूं कि एक पत्ती उसकी इच्छा के बिना नहीं हिलती...मैं जो भी सांस लेता हूं वह उसकी इच्छा पर निर्भर करता है...मेरे लिए ईश्वर ही कानून है...जो हमें आपदाओं के रूप में प्रकट होता है, वह केवल इसलिए है क्योंकि हम ईश्वरीय सार्वभौमिक कानूनों को पर्याप्त रूप से नहीं जानते हैं...मेरे लिए लौकिक घटना और मानव व्यवहार के बीच का संबंध मेरे विश्वास से संबधित है जो मुझे मेरे भगवान के नजदीक लेकर जाता है और मुझे उसका सामना करने की ताकत देता है।*[16]

गांधी के तर्क के दो भाग है। पहला, ईश्वर के विचार का अनंत होना और दूसरा समाज की स्थापित नैतिकता। यहां गांधी सब कुछ ईश्वर की मर्जी पर नहीं छोड़ रहे। बल्कि वे समाज की संरचना और उसकी बुराइयों की ओर इशारा करके इस सबको बदलने का आह्वान भी करते नजर आ रहे हैं। उनकी नजर में समाज को समतामूलक बनाना ही सबसे बड़ी इबादत है। गांधी के तर्क की नजर से देखें तो कमजोर का कमजोर होना और ताकतवर का ताकतवर होना कोई दैवीय परिघटना नहीं हैं। इसलिए किसी समाज में ईमानदार लोगों का गरीब और बेबस होना और बेईमान लोगों का ताकतवर और प्रभुत्वशाली होना इंसानी लालच और ज्ञान की नैतिकता के ह्रास का परिचयाक है। इसलिए अल्लाह की मर्जी का अर्थ है समाज की यथास्थिति को पहचानना और उसे बदलने का प्रयास करना।

दिलचस्प बात यह कि समाज बदलने के इस आह्वान को मुहम्मद साहब से जुड़ी हदीसों और कुरान की आयातों में देखा जा सकता है। मुहम्मद साहब का आखिरी कुत्बा इस विषय में बेहद उल्लेखनीय है। वे कहते हैं : *लोगो, अल्लाह फरमाता है कि, इन्सानो, हमने तुम सबको एक ही पुरुष व स्त्री से पैदा किया है और तुम्हें गिरोहों और कबीलों में बांट दिया गया कि तुम अलग अलग पहचाने जा सको...किसी अरबी को किसी गैर अरबी पर, किसी गैर अरबी को किसी अरबी पर कोई प्रतिष्ठा हासिल नहीं है। न काला गोरे से उत्तम है न गोरा काले से...सारे मनुष्य आदम की संतान हैं और आदम मिट्टी से बनाए गए। अब प्रतिष्ठा*

एवं उत्तमता के सारे दावे, खून एवं माल की सारी मांगें और शत्रुता के सारे बदले मेरे पांव तले रौंदे जा चुके हैं...लोगो, मेरी बात समझ लो, मैंने तुम्हें अल्लाह का संदेश पहुंचा दिया। मैं तुम्हारे बीच दो ऐसी चीजें छोड़ जाता हूं कि तुम इन पर चलोगे तो कभी नहीं भटकोगे, यदि उस पर कायम रहे, और वह है अल्लाह की किताब (कुरआन) और उसके... पैगंबर की जिंदगी और अमल (सुन्नत)।[17]

इस वक्तव्य से जाहिर है कि असमानताएं मानवीय कृत्य हैं और उनको दूर करके समाज को समतामूलक बनाना ही इस्लाम का मूल है।

अल्लाह के ज्ञान केंदित विचार का दूसरा पक्ष आदर्शवादिता या अच्छे समाज का सपने देखने की ताकत से जुड़ता है। यहां मैं इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मेरा मकसद इस्लाम को नए सिरे से परिभाषित करना नहीं है; न ही मैं सभी धर्मों में एकता और विश्वास जैसी किसी आध्यात्मिक खोज में हूं। मेरा इस्लाम की परिधि में होना कोई इज्तेहाद जैसी चीज भी नहीं है।[18] मेरी अल्लाह की ज्ञान केंदित समझ दरअसल उस प्रतीकात्मक सत्य की ओर इशारा करना भर है जिसके जरिये एक आदर्श मानवीय समाज की बेहद बुनियादी स्वप्निल परिकल्पना गढ़ी जा सके और जिससे प्रेरणा हासिल कर हम अपने समाज की विषमताओं को पहचानने और खत्म करने के लिए उत्साहित हो सकें। पैगंबर मुहम्मद का जन्नत का विचार, मार्क्स का साम्यवाद, और गांधी का रामराज्य स्वराज कुछ कुछ ऐसे ही सपने हैं जिनके जरिये आदर्श समाज के विचार को हमारे सामने रखा जाता रहा है।[19]

मुझे लगता है कि आदर्श समाज के इन सपनों के पीछे जो सिद्धांत अपनाया जाता है, उसे जानना जरूरी है। आम तौर पर हम इन परिकल्पनाओं का मूल्यांकन व्यावहारिकता की कसौटी के आधार पर करते हैं, जो कि सही नहीं है। जन्नत का विचार हो या साम्यवाद, सिर्फ एक कल्पना है। इस कल्पना को सामने रखने का मकसद सैद्धांतिक रूप से समाज के वर्तमान ढांचे और प्रक्रियाओं को एक आलोचनात्मक परिदृश्य देना भर होता है। मार्क्स स्वयं यह मनाता है कि साम्यवाद कोई ऐसी मूर्त चीज नहीं है जिसकी स्थापना की जा सके, बल्कि यह तो ऐसा एक आदर्श है जिसको हासिल करने के लिए वास्तविकता को खुद को बदलना होगा। ('Communism is...not a state of affairs which is to be established, an ideal to which reality [will] have to adjust itself.')

अब मैं उसी सवाल पर लौटता हूं जिस सवाल से मैंने इस लेख को शरू किया था—मैं नमाज क्यों पढ़ता हूं? अल्लाह की मेरी संशोधित अवधारणा सामाजिक अमल (social action) की बुनियाद पर टिकी है। लेकिन इसका एक व्यक्तिगत आधार भी है। मैं यह मानता हूं कि जो कुछ भी मैं अपनी निजी जिंदगी में सोचता या करता हूं उसका आत्मालोचन बेहद जरूरी है। मेरे लिए नमाज आत्ममंथन का एक माध्यम है जिसको अदा करके मैं दिन में पांच बार ज्ञान रूपी अल्लाह के समक्ष पेश होता हूं। नमाज मुझे अपनी जिम्मेदारी याद दिलाती है, मुझे मेरी कमियों से परिचित कराती है, मुझे प्रेरित करती है कि मैं बेहतर समाज के सपने को सच करने के लिए जो कुछ भी संभव है वह कर सकूं। गांधी इस विषय में भी मेरे प्रेरणास्त्रोत बनते हैं। अपने एक साक्षात्कार में प्रार्थना का अर्थ स्पष्ट करते हुए गांधी कहते हैं :

मेरे लिए प्रार्थना का अर्थ है अपने अंदर दिव्यता पैदा करना। मेरे पास बौद्धिक विश्वास हो सकता है, लेकिन जीवित स्पर्श नहीं। इसलिए जब मैं स्वराज या भारत के लिए स्वतंत्रता की प्रार्थना करता हूं या उस स्वराज को हासिल करने के लिए पर्याप्त शक्ति की कामना करता हूं तो मैं जानता हूं कि इस प्रार्थना के उत्तर में मुझे वह शक्ति जरूर प्राप्त होगी। (The

meaning of prayer is that I want to evoke that divinity within me। Now I may have that intellectual conviction, but not a living touch, and so when I pray for Swaraj or Independence for India I pray or wish for adequate power to gain that Swaraj or to make the largest contribution I can towards winning it, and I maintain that I can get that power in answer to prayer.)[20]

मैं गांधी नहीं हूं, लेकिन मुझे भी लगता है मेरी नमाज, जोकि मेरा नितांत निजी अमल है, मुझे दिव्यता का सा अनुभव कराती है, ऐसा अनुभव जिसके बारे में गालिब कहते हैं :

आते हैं गैब से ये मजामीं खयाल में
'गालिब' सरीर ए खामा नवा ए सरोश है[21]

टिप्पणियां और संदर्भ

1. हालांकि ये बात हिंदू सेक्युलर पर लागू नहीं होती। उसके लिए सेक्युलर होने के लिए अधार्मिक होना लाजिमी है!
2. लेख को इस शैली में लिखना मेरे लिए इतना सहज नहीं था। लेकिन जब मेरे परम आदरणीय योगेंद्र यादव ने मुझसे कहा कि अपने अनुभव लिखना और अपना गुणगान करना दो अलग बातें हैं, तब मेरी यह दुविधा खत्म हुई। योगेंद्र जी ने अपने एक लेख में मेरे विश्वासों की व्याख्या करके मेरा काम और आसान कर दिया। देखें Yogendra Yadav, Umar Khalid's arrest shuts a democratic option for a generation of Indian Muslims। ThePrint। https://theprint।in/opinion/umar khalids arrest shuts a democratic option for a generation of indian muslims/504080/। इस बीच मेरे गुरु सुदीप्त कविराज ने अपना एक अप्रकाशित लेख पढ़ने के लिए दिया। लेख का शीर्षक था In search of Paradise। मैंने लेख पढ़ा और हमारे बीच इस विषय में लंबी बातचीत हुई। कविराज ने भी मेरे विश्वासों और मान्यताओं को आत्मकथ्य के रूप में लिखने के लिए कहा।
3. इस तर्क के विस्तार के लिए देखे। Hilal Ahmed, Namaz isn't an Anti Hindu Act। Time for every Indian to defend Islam। ThePrint। https://theprint।in/opinion/namaz isnt an anti hindu act time for every indian to defend islam/758407/
4. (https://www।youtube।com/watch?v=VAqWj Q0k_o&ab_channel=PrasarBharatiArchives)
5. एक शोधार्थी की धार्मिक जातीय पहचान और उसके शोध विषय के संबध की चर्चा के लिए मेरा यह लेख प्रासंगिक है : Hilal Ahmed, 2020। Researching India's Muslims: Identities, Methods, Politics। HAU: Journal of Ethnographic Theory. 10 (3) : 776–785।
6. Hilal Ahmed, The Contemporary Moment of Indian Democracy।(https://www.csds.in/uploads/custom_files/1604640763_DigiPaper%2003%20Hilal.pdf)
7. https://www.pewforum.org/2021/06/29/religion in india tolerance and segregation/)
8. विस्तार के लिए देखें Hilal Ahmed BJP's version of Hindutva is rising but there is one aspect where it failed to convince Hindus (https://theprint।in/opinion/bjp version of hindutva is rising but there is one aspect where it failed to convince hindus/686906/)।
9. 'दावत' के इस अर्थ को समझने के लिए तबलीगी जमात के प्रसिद्ध छ: सिद्धांतों को समझना चाहिए : • कलमा (आस्था को स्वीकार करना) • सलात (पांच बार नमाज) • इल्म ओ जिक्र (ज्ञान और ईश्वर का स्मरण) • इकराम ए मुसलमान (हर मुसलमान का सम्मान) • इखलास ए नियत (इरादे की

ईमानदारी) • ताफ्रिग्ह ए वक्त (खाली समय)। पहले तीन सिद्धांत इस्लाम के सार्वभौम स्वीकृत सिद्धांतों पर केंद्रित हैं। हर किसी को कलमा में यकीन होना चाहिए, हर किसी को दिन में पांच बार नमाज पढ़ना चाहिए और हर किसी को कुरान (या इस विषय पर कोई अन्य धार्मिक ग्रंथ) का पाठ करना चाहिए। लेकिन अंतिम तीन सिद्धांत काफी अलग हैं। इकराम ए मुसलमान का सिद्धांत मुसलमानों (और विशेष रूप से जो लोग जमात के काम में शामिल हैं) को इस्लाम की सभी प्रथाओं के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए आमंत्रित करता है और उन कार्यों से बचने को कहता है जिनसे धार्मिक वाद विवाद और टकराव हो सकते हैं। इखलास इ नीयत का सिद्धांत जमात की गतिविधियों में भाग लेने के उद्देश्य को लेकर है। यदि नीयत ईमानदार है, तो अल्लाह इंसान के उद्देश्य पूर्ण करने के लिए अपनी मदद भेजता है। अंतिम सिद्धांत ताफ्रिग्ह ए वक्त (समय बिताते हुए), उद्देश्य की शुद्धता का ही एक विस्तार है, जो हमें बताता है कि शब्दों और इरादों को कैसे लागू किया जाए। इस तर्क के विस्तार के लिए देखे : Hilal Ahmed, Discourse(s) of Dawa in postcolonial India. Weismann। Itzchak and Malik, Jamal (eds।) Culture of Dawa: Islamic Preaching in the Modern World। 2020। University of Utah Press: Salt Lake City, pp. 31-46।

10. इस तर्क के विस्तार के लिए देखें Hilal Ahmed, Muslim Political Discourse in Postcolonial India: Monuments, Memory and Contestation:। Routledge (Delhi/London, 2014)
11. मनोरंजन मोहंती, एस के चौबे, मधुलिका बेनर्जी, निवेदिता मेनन, सतीश झा, धर्मेंद्र कुमार, मनीषा प्रियम, जी एन त्रिवेदी, उज्ज्वल कुमार सिंह, अनुपमा रॉय, रियाज अहमद आदि ने मुझे धर्म और धार्मिकता के विषय में और सोचने, समझने, लिखने पढ़ने के लिए प्रेरित किया। एमए के दौरन ही आदित्य निगम (जो उस समय सीपीएम से निकल चुके थे लेकिन तब तक एक्टिविस्ट थे।) और अभय कुमार दुबे (वे तब जनसत्ता में थे) से भी परिचय हुआ। दोनों घोषित मार्क्सवादी थे। लेकिन इसके बावजूद मैंने इन दोनों ही को वैचारिक तौर पर खुला और नए सवालों के लिए संवेदनशील पाया। इसी दौर में मैं प्रगतिशील छात्र संगठन (पीएसयू) नामक छात्र संगठन से जुड़ा। इस समूह के खुलेपन ने मुझे धर्म के व्यापक मुक्तिगामी अर्थों को समझने का मौका दिया। दो अन्य व्यक्तियों का उल्लेख यहां जरूरी है : योगेंद्र यादव और शाहिद सिद्दीकी। योगेंद्र जी से मेरा परिचय सीएसडीएस के सर्वे के दौरान हो चुका था। वे हम जैसे हिंदी मीडियम वालों के लिए प्रेरणास्रोत थे। वे जब भी मिलते अच्छा और नया काम करने के लिए प्रेरित करते। शाहिद साहब मेरे पहले संपादक थे। मैंने बीए के तीसरे साल से ही पत्रकारिता शुरू कर दी थी। शाहिद साहब ने ही मुझे अपने अखबार नई *जमीन* में नौकरी दी थी। वे इस्लाम और मार्क्सवाद के रिश्ते में रुचि रखते थे और मुझे इस विषय में रिसर्च करने के लिए कहते।
12. यंग इंडिया 2-91926, P. 308
13. सुर अल नूर, आयत 35।
14. Young India 31 12 '31, PP। 427 28
15. मैं सुदीप्त कविराज का शुक्रगुजार हूं जिन्होंने मुझे गांधी टैगोर बहस को नजदीक से पढ़ने के लिए प्रेरित किया। इस विषय में कविराज का जल्द ही प्रकशित होने वाला लेख In search of Paradise बेहद उल्लेखनीय है।
16. Sabyasachi Bhattcharya (ed.) The Mahatma and The Poet Letters and Debates between Gandhi and Tagore 1915-1941। New Delhi: National Book Trust, 1997। प. 158-160।
17. सही अल बुखारी, हदीस न. 1623
18. मक्का फतह के बाद जब यमन भी मुसलमानों के नियंत्रण में आ गया तब माज विन जबल को यह जिम्मेदारी सौंपी गई कि वे यमन जाकर इस्लाम की शिक्षा दें। मुहम्मद साहब ने माज से तीन सवाल पूछे। पहला, 'जब कोई मसला आएगा तब तुम उसका फैसला किस आधार पर करोगे?' माज ने जवाब दिया, 'अल्लाह की किताब (यानी कुरान) देखकर।' इस पर मुहम्मद साहब ने सवाल उठाया, 'अगर तुम्हें कुरान में उस मसले का जिक्र न मिले तब क्या करोगे?' माज ने जवाब दिया, 'मैं तब आपकी जिंदगी और आपके द्वारा किये गए कृत्यों और फैसलों (नबी की सुन्नतें) पर विचार करके मसलों का हल निकालने की कोशिश करूंगा।' मुहम्मद साहब ने तीसरा सवाल किया, 'और अगर मेरी जिंदगी में

भी इस मसले का कोई हल न मिले तब क्या करोगे? तब माज ने जवाब दिया, 'मैं चिंतन और विमर्श करूंगा और मसले का निदान अपने विवेक से करने की कोशिश करूंगा।' माज का जवाब सुनकर मुहम्मद साहब ने अपनी पूर्ण सहमति दी। इस प्रसंग ने इस्लाम में नए विचार को जन्म दिया, जिसे आगे जाकर 'इज्तेहाद' कहा गया। यही हदीस इस्लामी कानून या शरीअत का स्त्रोत्र भी है। शरीयत के चार स्त्रोत्र हैं : कुरान, सुन्नत, इज्मा और कयास। किसी नई समस्या के लिए कुरान या सुन्नतों में कोई नियम न होने पर जिस प्रक्रिया को अपनाया जाता है उसे इज्मा कहते हैं। शब्द 'कयास' का अर्थ है गहराई का मापन। किसी नई समस्या समाधान के लिए जब कुरान अथवा सुन्नत के मूल अध्यन के आधार पर कोई नया प्रतिमान बनाया जाता है उसे कयास कहते है।

19. यह तर्क सुदीप्त कविराज के लेख In search of Paradise से लिया गया है जिसमें कविराज ने जन्नत के विचार की विस्तार से चर्चा की है।
20. हरिजन, 19 अगस्त 1939।
21. इस शेर का सामान्य अर्थ यह है कि जब मैं लिखने बैठता हूं तब न जाने कहां से विषय और शब्द दिमाग में आने लगते हैं। ऐसा लगता है जैसे मेरे कलम के लिखे जाने वाले लफ्ज किसी फरिश्ते की आवाज की तरह हैं।

आदिवासी और परंपरागत भूमि व्यवस्था

(छोटानागपुर और मुंडाओं के विशेष संदर्भ में)

राहुल सिंह

युवा आलोचक राहुल सिंह इन दिनों डॉ. राम दयाल मुंडा जनजातीय कल्याण शोध संस्थान, रांची की एक शोध परियोजना पर काम कर रहे हैं। इस प्रक्रिया में उपलब्ध सामग्री, विश्लेषण और परिणामों पर आधारित यह लेखक 'तद्भव' के पाठकों के लिए प्रस्तुत है।

चीजें सामने हों और उसे देख न पाएं तो इसे आम तौर पर दृष्टिदोष के तौर पर देखा जाता है लेकिन विचारों की दुनिया में इसके लिए एक ज्यादा शानदार शब्द है 'कंडिशनिंग'। यह 'अनुकूलन' एक सतत प्रक्रिया का परिणाम है, इसके प्रभावों से मुक्त होना भी एक सतत प्रक्रिया है। विचारों की दुनिया में जब कोई चीज एक बार घर कर जाती है तो उस सोच के दायरे को तोड़ने में अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है, संसाधनों को नए सिरे से जुटाना होता है। सुखद बात इतनी है कि समाज विज्ञान ने बीते दशकों में चिंतन की नई धाराओं का विकास किया है, जिसने इतिहास, समाज, साहित्य को नई दृष्टि प्रदान की है। 'सबाल्टर्न हिस्ट्री' या 'मार्जिनल राइटिंग' उसी नई दृष्टि की कई धाराओं में से एक धारा है। यद्यपि प्रादेशिक जागरणों और प्रादेशिक अस्मिताओं के नाम पर इतिहास लेखन भी विगत सौ साल से मौजूद है। लेकिन 'सबाल्टर्न स्टडी' ने जो दृष्टि उपलब्ध कराई, उसने अपने परिवेश को नई दृष्टि से देखने को उद्यत किया। हिंदी साहित्य में 'सबाल्टर्न' के नाम पर दलित और स्त्रियों की ओर निगाह पहलेपहल जरूर गई, पर आदिवासी थोड़ा पीछे रह गए। अब वे भी इस फासले को पाटते

हुए अपने इतिहास और दर्शन के साथ उपस्थित हैं। अपने साथ हुए अन्यायों के दस्तावेजों के साथ उपस्थित हैं कि उनका भी पक्ष सुना जाए और उपलब्ध इतिहास में जरूरी संशोधनों पर पुनर्विचार किया जाए। उनके दस्तावेज शताब्दियों से मौजूद हैं, बस प्रचलित समझदारी के संज्ञान में शामिल नहीं हैं। अस्मितामूलक आंदोलनों से उपजी चेतना ने उन्हें अपने इतिहास को देखने और व्याख्यायित करने की सलाहियत दी है, जो अब से पहले उन्हें हासिल नहीं थी। उनके दावों को परखने की बात तो दूर, उनका कोई दावा भी है, इसका संज्ञान तक लंबे समय तक नहीं लिया गया था। उनकी अनदेखी से हुआ इतना है कि हम अपने इतिहास के कुछ पन्नों से ही पूरे तरीके से अनभिज्ञ हैं। यह काम इतना वृहद् और चुनौतीपूर्ण है कि संसाधनों और सांस्थानिक सहयोग के बगैर इस दिशा में काम कर पाना काफी कठिन है। इस दिशा में इसे एक छोटी कोशिश के बतौर देखा जा सकता है, जिसके केंद्र में झारखंड के छोटानागपुर का भूभाग है। छोटानागपुर के मुंडाओं के जरिये इतिहास के कुछ पन्नों को फिर से उलटने की कोशिश इस लेख में है।

स्वतंत्र भारत एक अर्थ में मध्यकालीन और औपनिवेशिक दौर की विरासतों को अपनी संरचना में धारण किये हुए दिखता है। प्राचीन भारत के संदर्भ में बहुत सी बातें अब भी दावे के साथ नहीं की जाती हैं। प्राचीन भारत की तुलना में मध्यकालीन भारत के संदर्भ में साक्ष्य बेहतर रूप में उपलब्ध हैं। और मध्यकालीन भारत की तुलना में औपनिवेशिक भारत दस्तावेजों और साक्ष्यों के धरातल पर ज्यादा प्रामाणिकता को धारण किये हुए है। अतः छोटानागपुर के पठारी भूभाग पर की जाने वाली बात के प्रस्थानबिंदु के बतौर यहां मध्यकाल को लिया जा रहा है। मध्यकाल के अंतर्गत भी मुगल काल को विशेष तौर पर क्योंकि दूसरे इस्लामी आक्रांताओं ने झारखंड के इन सघन और दुर्गम वनक्षेत्रों तक घुसने की कोई खास जहमत नहीं उठाई थी। उनके इक्केदुक्के सैन्य अभियानों में इस क्षेत्र से गुजरने भर का जिक्र मिलता है।

छोटानागपुर को मुंडाओं के प्रदेश के तौर पर ख्याति प्राप्त है। शरत चंद्र रॉय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक का शीर्षक ही रखा था *मुंडाज एंड देयर कंट्री*। ऐसा कहने का आधार मुंडाओं के द्वारा इसे 'सोना लिकुम देश' मानना भी रहा है। मुंडाओं के बारे में एस. सी. रॉय अपनी किताब में लिखते हैं—*"एक जरूरी आरंभिक व्यवसाय, शिकार करना, मुंडाओं के बीच हमेशा से ही एक मनपसंद क्रीड़ा बना रहा जान पड़ता है। उनका मदिरा प्रेम, मुंडाओं की एक लगभग जन्मजात प्रवृति जैसी लगती है...दिन भर की मेहनत के बाद, मुंडा देर रात तक पीने, नाचने और गाने से बेहतर कोई काम नहीं जानता था।"*[1] यह एक किस्म का निरापद जीवन था। इनका जीवन अवकाश, आनंद, श्रम और सुकून के इर्दगिर्द अर्थ पाता रहा है। एक किस्म की संपूर्णता और स्वायत्तता उन्होंने अर्जित की। बाहरी दुनिया की कोई जरूरत उनके लिए नहीं रह गई थी। बाहरी दुनिया एक खतरे के बतौर मौजूद भी नहीं थी। सो प्रतिरक्षा के लिए किला आदि का निर्माण भी इस क्षेत्र में कम ही देखने को मिलता है। उनका अपना एक स्वायत्त और आत्मनिर्भर संसार रहा है। लेकिन इतिहास इसे बहुत प्रशंसनीय गुण के तौर पर नहीं देखता है। और ऐसा नहीं कि इतिहास की यह दृष्टि आज विकसित हुई है। कार्ल मार्क्स ने एक जगह लिखा भी है कि जहां प्रकृति जी खोलकर अपना ऐश्वर्य लुटाती है, वैसे प्रदेशों में बसने वाले मानव समुदाय में नया कुछ करने, जीविकोपार्जन की कोई नई विधि अपनाने की प्रेरणा नहीं आती। वे क्रमशः एक गतिरुद्ध समाज में तब्दील हो जाते हैं। इसी पृष्ठभूमि में टॉयनबी ने 'चैलेंज एंड रेस्पांस' (चुनौती और प्रत्युत्तर) का सिद्धांत पेश किया। मानव समाजों का विकास उन्हीं जगहों पर हुआ, जहां प्रकृति कुछ चुनौती पेश करती थी और उसी चुनौती

का मुकाबला कर मानव समुदायों ने नए मुकाम हासिल किये।[2] अरब, स्पेन या पुर्तगाल के साम्राज्यवादी अभियानों और विश्वशक्ति बनकर उनके उभरने के मूल में इस बात की सत्यता को देखा जा सकता है कि कैसे प्राकृतिक और भौतिक चुनौतियों से पार पाकर वे इस स्थिति को प्राप्त करते हैं। प्राकृतिक संसाधनों से संपन्न झारखंड राज्य न तो किसी अन्य देश की सीमा से लगता था और न ही समुद्र के आसपास भौगोलिक तौर पर स्थित था। इसलिए मध्यकाल या आधुनिक काल में हुए विदेशी आक्रमणों का सीधे सीधे न तो इस क्षेत्र और न ही इस क्षेत्र के जनजातीय समूहों को कभी सामना करना पड़ा। यहां तक पहुंचने के लिए कई राज्यों को पार करना पड़ता था इसलिए यह क्षेत्र लंबे समय तक निरापद रहा। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि यह अनेक राजकुमारों और शासकों के लिए संकट की घड़ी में शरणभूमि रहा है। इस शरणस्थली का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण रोहतासगढ़ का किला है। *"यही वो प्रख्यात किला था जिसने युवराज खुर्रम (बाद में, बादशाह शाहजहां) के परिवार को एक महफूज पनाह मुहैय्या कराया था, जब उसने अपने पिता जहांगीर के खिलाफ बगावत कर दी थी; यही वो शरणस्थान था जिसने घेर्रिया के विख्यात युद्ध के बाद, गद्दी से हटाये गए बंगाल के नवाब मीर कासिम को आश्रय दिया था।"*[3] पलामू का इलाका अवश्य ओड़िशा का निकटवर्ती होने के कारण मुगलकाल में देक्कन अभियान की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो गया था। और शायद इस कारण वह मुगल सल्तनत की निगाह में भी आ गया था। लेकिन इस ओर केंद्रीय सत्ता का ध्यान कभी बहुत नहीं रहा। मुगलों से पहले खिलजियों के एक अभियान का जिक्र मिलता है। खिलजियों के उस अभियान से भी कुछ विद्वान उरांवों (झारखंड की एक और प्रमुख जनजाति, जो द्रविड़ मूल की मानी जाती है) के इस क्षेत्र में आगमन को जोड़कर देखते हैं। सामरिक दृष्टि से निरापद होने ने कारण इसने जनजातियों को और भी ज्यादा आत्मकेंद्रित होने में मदद की। बल्कि यह कहना उपयुक्त होगा कि देश के बाकी हिस्सों में आ रहे बदलावों से भी यहां के लोग लंबे समय तक अनजान रहे। जाहिर है समय के हिसाब से यह प्रशंसनीय गुण तो कतई नहीं था और ऐसी गलतियों की कीमत अदा करनी होती है। कहना न होगा कि भारी कीमत अदा की गई।

ऐसी स्थितियों में ही यहां जनजातियां अपने ढंग से रहती आई थीं। लगभग डेढ़ हजार वर्षों तक कोई 'अन्य' उनके समक्ष कायदन चुनौती के रूप में उपस्थित नहीं हुआ था। इसलिए ऐसी किसी चुनौती के आने पर उससे निबटने का इनके पास कोई अनुभव नहीं था। परिणामत: अनुभव अर्जित करते करते बड़ा नुकसान हो गया, जिसकी क्षतिपूर्ति न तो तब संभव थी और न अब संभव है।

अठारहवीं शती से जनजातीय आक्रोश की जो घटनाएं दर्ज होनी आरंभ होती हैं, उनकी शुरुआत सौ दो सौ साल पहले हो चुकी थी। जनजातीय जमीन की लूट का जो छिटपुट सिलसिला सत्रहवीं शती से दिखना आरंभ होता है वह अठारहवीं शती में अपना पांव पसारना आरंभ करता है। फिर भी सवाल यह है कि आखिर इसकी पृष्ठभूमि निर्मित कैसे होती है? इसे जानना जरूरी है!

इतिहास के पन्नों को उलटकर देखें तो यह बात निर्विवाद रूप से देखी जा सकती है कि मध्यकाल में अलग अलग प्रायद्वीपों में विदेशी आक्रमणकारियों की नई नई टुकड़ियां न सिर्फ पहुंचती हैं बल्कि वहां के परंपरागत शासकों और आबादियों के लिए बड़ी और अलग अलग किस्म की चुनौती खड़ी करती हैं। इसका भयावह प्रभाव वहां की परंपरागत राजनीतिक सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था पर दिखता है। भारत के संदर्भ में और विशेषकर झारखंड के

संदर्भ में हम विचार करें तो पाते हैं कि यह दौर मुगल काल का ठहरता है और मुगलकाल तक झारखंड एक तरीके से मुगल राज्यसत्ता के प्रभाव से अप्रभावित तो जरूर बना रहता है, लेकिन पलामू इसकी चपेट में आ जाता है और बाद में छोटानागपुर का इलाका भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह जाता है। संख्या में तो ये घटनाएं बहुत कम हैं लेकिन वे एक दो घटनाएं ही झारखंड के संदर्भ में ऐतिहासिक तौर पर इतनी दूरगामी प्रभाव वाली साबित होती हैं कि अब जब उसका विश्लेषण करते हैं, तो यकीन कर पाना मुश्किल होता है कि इस छोटी और नामालूम सी लगनेवाली घटना ने इस क्षेत्र के भविष्य को इस कदर प्रभावित किया है। मुगल काल के दौरान जिन कुछेक घटनाओं का उल्लेख मिलता है उसमें सर्वप्रथम 1510 ई. के आसपास शेरशाह के एक अभियान का जिक्र मिलता है। *"'स्याम चंद्र' नाम के एक हाथी पर कब्जे को सुनिश्चित करने के लिए शेरशाह छोटानागपुर के राजा के विरुद्ध एक सैन्य अभियान भेजता है।"*[4] लेकिन इस अभियान का कोई दूरगामी प्रभाव इतिहास में दर्ज नहीं है। अकबर के शासनकाल में इस बात का जिक्र मिलता है कुकराह या खुकराह या खुखरा (छोटानागपुर को तब इसी नाम से जाना जाता था) के राजा का ओहदा घटाकर महज एक सहयोगी का कर दिया जाता है लेकिन असल प्रभावकारी घटना घटती है, जहांगीर के शासनकाल में; जब जहांगीर (छोटा) नागपुर पर आक्रमण करने के लिए इब्राहिम खान को भेजता है। इब्राहिम खान तत्कालीन राजा दुर्जन साल को बंदी बनाकर अपने साथ ले जाता है। यह घटना 1616 ई. में घटती है। ग्वालियर के किले में उसे कैद किये जाने का विवरण मिलता है। हीरा की असलियत परख सकने की काबिलियत के कारण दुर्जन साल को 1628 ई. में रिहा कर दिया जाता है; बल्कि साह अथवा शाही की पदवी दी जाती है, ऐसी सूचना मिलती है। और दुर्जन साल के अनुरोध पर उसके साथ बंदी अन्य राजाओं को भी रिहा किया जाता है। यह रिहाई यूं ही नहीं हो गई थी। इतिहास में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि दुर्जन साल को प्रतिवर्ष 6000[5] रुपया नजराना मुगलिया सल्तनत को देना मुकर्रर हुआ था। 1632 ई. में शाहजहां (छोटा) नागपुर सहित पलामू को 1,36,000 रुपये के सालाना किराए पर जागीर के तौर पर पटना के सूबेदार को दे देता है। इन घटनाओं को याद करने का आशय यह है कि मुगल सल्तनत को दी जानेवाली मालगुजारी की वसूली की एक पद्धति इस क्षेत्र में विकसित होती है। दूसरा इसी से जुड़ा एक अजीब वाकया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर बिल्कुल भी महत्व का नहीं जान पड़ता है लेकिन उसने इस क्षेत्र की पूरी 'डेमोग्राफी' को बदलने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। वह कुछ इस प्रकार घटित हुआ कि जहांगीर की कैद से आजाद होने के बाद जब दुर्जन साल वापस छोटानागपुर लौटा तो किसी अवसर पर उसके साथ ग्वालियर किले में बंद अन्य राजा भी बाद में मिलने आए। और उन राजाओं को यह देखकर भारी निराशा हुई कि छोटानागपुर का राजा एक आम आदमी की तरह मामूली घर में रहता है। तब उन्होंने ही कारीगर से लेकर निर्माण में लगनेवाले तमाम सामग्री संसाधन उपलब्ध कराए कि राजा के पास अपना महल होना चाहिए। डोइसागढ़ में इसी क्रम में पांचमंजिला नवरतनगढ़ का निर्माण हुआ। लेकिन यह निर्माण दुर्जन साल के शासन काल में नहीं हुआ बल्कि बाद में हुआ। *"तीन पुराने अभिलेखों, दो जगरनाथ मंदिर पर और तीसरा कपिलनाथजी के मंदिर पर से हमें ज्ञात होता है कि दोइसा में वास्तुशिल्पीय कार्यकलाप कम से कम 1710 से 1711 ई. तक जारी रहा था। ऐसा दुर्जन साल के परपोतों महाराजा राम साही देओ और कुअंर हरीनाथ साही देओ के समय में हुआ था जब कई मंदिरों का निर्माण कराया गया था।"*[6] उसके बाद एक राजा के जीवन में जिस किस्म की सुख सुविधाएं होनी

चाहिए उन सब ऐशोआराम की चीजें जुटाने के क्रम में गैर आदिवासी आबादी की आमद इस क्षेत्र में धीरे धीरे होने लगी। मतलब गैर आदिवासी आबादी के इस क्षेत्र में आगमन की दृष्टि से यह यह एक महत्वूर्ण बिंदु ठहरता है।

इस संदर्भ में एक बात ध्यान देने की है कि यद्यपि छोटानागपुर का राजा जैसा ओहदा मौजूद तो था, लेकिन छोटानागपुर के इस राजा की अपनी भूमि पर कोई दखल सरीखा वास्तविक अधिकार नहीं था। यह अलंकारिक किस्म का एक ओहदा था। मतलब राजा के पास वैसे वास्तविक अधिकार नहीं थे, जिसका बोध राजा जैसे शब्द से हमें होता है। लेकिन वह बेहद सम्मानित पद था जिसके प्रति सम्मान के चलते छोटानागपुर के अलग अलग गांव के मुंडा मानकी आदि स्वेच्छा से नजराना आदि पहुंचाया करते थे। यह रकम से इतर फसल और उपज के तौर पर भी दिया जाता था। जो कमी रह जाती थी, उसकी पूर्ति राजा के प्रति व्यक्त किये जाने वाले सम्मान और श्रम द्वारा कर दिया जाता था। मुफ्त में किये जाने वाले इस श्रम को 'बैठ बेगार' कहा जाता था। वर्ष में कुछ दिन इस नि:शुल्क या स्वैच्छिक श्रम के लिए निर्धारित थे। यह पंद्रहवीं शती के आसपास की स्थिति पर बात की जा रही है। सोलहवीं शती में इस इलाके से मुगल दरबार में नजराना या एक बंधी हुई रकम पहुंचाने के बाबत जानकारी मिलती है। सत्रहवीं शती में तो बाकायदा देश की केंद्रीय राज्यसत्ता द्वारा मालगुजारी बांध दिये जाने का जिक्र मिलता है। इसलिए अब परंपरागत सम्मान और नजराना वाली पद्धति से काम नहीं चल सकता था। परगना, मौजा, जागीरदार, ठेकेदार आदि फारसी के शब्द हैं, जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि जमीन की पैमाइश आदि का एक आधार मुगल काल में मौजूद था। हालांकि उसका विस्तार कितना था, यह ठीक ठीक ज्ञात नहीं है।

अंग्रेजों के आगमन के साथ राजस्व उगाही वाली प्रक्रिया में तेजी आई और जमीन का व्यवस्थित दस्तावेजीकरण (प्रॉपर डाक्यूमेंटेशन) आरंभ हुआ। छोटानागपुर के राजा के पास रुपये पैसे की तुलना में जमीन इफरात में थी। अत: उसने जमीन के मार्फत ही लगान उगाही का रास्ता तलाशा। लेकिन बात वही थी कि जमीन पर जमीनी तौर पर तो अलग अलग जनजातियां मौजूद थीं। उनकी उन जमीनों से बेदखली या मालगुजारी वसूली के बगैर राजा का राजस्व बढ़ नहीं सकता था। इस प्रकार जमीन की लूट का एक अंतहीन सिलसिला आरंभ हुआ, इसका एक आधार तो पहले से मौजूद था। पहले से मौजूद इस आधार को समझने के लिए फिर एक बार उस अतीत का अवगाहन करना होगा, जब छोटानागपुर में मुंडाओं का शासन था। वहीं मुंडाओं की वंश परंपरा में नागवंशियों का प्रवेश होता है। यद्यपि मुंडाओं की विरासत में नागवंशियों के प्रवेश की कथा को स्वीकार करने में कई अड़चनें हैं किंतु यह इसी रूप में मिलती हैं और इसे इतिहास के बतौर प्रस्तावित किया जाता है। इसके बावजूद कई सवाल हैं, जो अपनी जगह कायम हैं। मुंडाओं की परंपरा में नागवंश का प्रवेश एक अद्‌भुत घटना है, जिसमें मिथकीय कथा (जनमेजय का नागयज्ञ) से निकला हुआ एक नाग जनजातीय इतिहास में प्रवेश करता है और उनके पूरे इतिहास और विरासत को बिना एक बूंद खून गंवाये हस्तगत कर लेता है। मिथक के इतिहास में इस कदर घुसपैठ का दूसरा उदाहरण मालूम नहीं अन्यत्र भी कहीं मिलता है अथवा नहीं? मुंडाओं के मानकी (प्रमुख) मदरा मुंडा के दौर में यह कहानी घटित होती है। जहां मदरा मुंडा अपने पुत्र के ऊपर अपने दत्तक या पालित पुत्र फनी मुकुट राय को तरजीह देते हुए उसे अपना उत्तराधिकारी चुनते हैं। नागवंशियों के इतिहास में इस घटना की गणना के पश्चात् इसका समय 64 ई. के आसपास का निर्धारित किया जाता है।[7] इस दृष्टि से देखें तो ईस्वी की शुरुआत से ही इस क्षेत्र में

नागवंशियों (गैर आदिवासी) की उपस्थिति को वैधता मिल जाती है। इतना ही नहीं इससे कई बातें एक साथ प्रस्तावित और प्रमाणित मान ली जाती हैं। जैसे—इस तरह एक राजा का इस क्षेत्र में उदय होता है। साथ ही जनजातीय क्षेत्र में हिंदू धर्म परंपरा को मानने वाली एक वंश परंपरा का विकास होता है। यह जो जनजातीय विरासत में अनायास गैर जनजातीय उपस्थिति है, वह अपने साथ अलग अलग किस्म की गैर जनजातीय 'प्रैक्टिस' के लिए भी जमीन तैयार करने का काम करती है। नागवंशियों के दावा (क्लेम) को भी दो हजार साल की वैधता हासिल हो जाती है। एस. सी. राय ने इस तथ्य को अपनी किताब में इस रूप में दर्ज किया है—"*इस तरह क्षेत्र में एक राजा का उदय हुआ था और 'नागबंसी' सरदार प्रदेश की आबादी का चुना हुआ मुखिया बना था।...ऐसा प्रतीत होगा कि शुरुआत में आरंभिक बाशिंदों अथवा खुंटकट्टीदारों, जो इस तरह से राजा के आधिपत्य के आगे नतमस्तक हो गए थे, को उसके समक्ष सिर्फ सम्मानदायक उपस्थिति दर्ज करानी होती थी। कर्नल डॉल्टन कहते हैं, 'वे राज्य के रक्षक योद्धा पंक्ति बनाते थे।' वही विशेषज्ञ आगे कहते हैं, 'शेष भाग (गांव में बसे हुए बाहरी लोग) भोजन और वस्त्र जुटाते थे।' श्री वेबस्टर लिखते हैं, 'हिंदू जागीरदार के प्रदेश में अपना ठौर जमाने से पहले किसी जमींदार के नहीं रहने के कारण, कोई लगान संभव नहीं हो सकता था।'*"[8] इस दिशा में यद्यपि नजराना, भेंट, मालगुजारी वगैरह की एक प्रथा बहुत सख्त तरीके से तो नहीं पर सम्मान व्यक्त करने के स्तर पर बाद के दिनों में देखने को मिलती है। लेकिन मुस्लिम शासन काल में इस दिशा में एक स्थायी मालगुजारी जैसी चीज उभरती दिखती है। जिसमें सत्रहवीं अठारहवी शती में काफी तेजी आती है। अठारहवीं शती में खासकर क्योंकि 1765 में बंगाल के साथ यह हिस्सा भी ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन हो जाता है। अंग्रेजों के हाथ जाने के साथ ही इतने कारक आ जुटते हैं कि आदिवासियों के पास एकजुट होकर प्रतिरक्षात्मक आंदोलन आरंभ करने के अलावा कोई विकल्प नहीं रह जाता है।

कई बार हम जिन चीजों को गौरवान्वित कर रहे होते हैं, उसके निहितार्थों को ठीक ठीक हमें देखना भी आना चाहिए। मसलन जल, जंगल, जमीन, जंतु के इर्दगिर्द आदिवासियों का जीवन इस कदर केंद्रित रहा है कि बाहरी दुनिया में पसरे वस्तुओं के अपार संसार के बगैर आदिवासियों का जीवन खूब आनंद से चलता आया था, ऐसा सोचने में हम असमर्थ जान पड़ते हैं। इस कारण बाहरी दुनिया की गतिविधियों और 'सर्वाइवल' की चालाकियों से वे परिचित नहीं थे। अब भी उनकी दुनिया में बोली या जबान की कीमत थी। एक मौखिक परंपरा थी, जिसको प्रमाणित करना ऐन मौके पर हमेशा चुनौतीपूर्ण साबित होने वाला था। सभ्यतागत विकास मौखिक परंपरा से काफी आगे निकल चुका था। हम आगे देखेंगे कि लिपि और तथाकथित मुख्य भाषा की समझदारी के अभाव में उन्हें कितनी यातना सहनी पड़ी?

अठारहवीं शती के उत्तारार्द्ध में जितने भी संभावित कारक हो सकते हैं, वह सब झारखंड की जनजातियों की सहजता को खंडित करने के लिए पर्याप्त मात्रा में मौजूद थे। विद्रोह और एकजुटता के अलावा उनके पास कोई दूसरा विकल्प नहीं रह गया था। इसलिए यह कालखंड जनजातीय विद्रोह और जनजातीय एकजुटता का साक्षी है। इतिहास ने मानो स्वयं ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दी थीं कि अब कोई विकल्प नहीं रह गया था। संकट के क्षण में व्यक्ति मदद के लिए चारों ओर देखता है। चूंकि यह संकट बड़ा था तो उसने अपने घर परिवार गांव समाज सब जगह एकजुटता की आवाज लगाई। धर्म और जाति में एक किस्म की आदिम योजक शक्ति रही है अत: ऐसे सभ्यतागत संकट के क्षण में यह बेमिसाल एकजुटता

देखने को मिली। इस एकजुटता के मूल में जातिगत अथवा नस्लगत चेतना के अलावा एक धार्मिक चेतना भी मौजूद थी।

धर्म का सामाजिक सांस्कृतिक पक्ष रहा है तो एक राजनीतिक पक्ष भी रहा है। झारखंड की जनजातियों में धर्म का सामाजिक सांस्कृतिक पक्ष ही प्रधानतया मौजूद रहता आया था। उसे व्यवस्थित तरीके से बांधने की कोशिशें कम हुईं थीं। यह काम भी ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन के बाद ही व्यवस्थित तरीके से आरंभ हो सका। पर जनजातीय तौर तरीकों, रीति रिवाजों और भूमिसंबंधी अधिकारों को समझते समझते भी काफी देर हो चुकी थी। मुख्यधारा में धर्म की जो संकल्पना मौजूद है, उससे इतर रूप में वह जनजातीय समाज में मौजूद रही हैं। झारखंड की ज्यादातर जनजातियों के यहां जो धार्मिक चेतना है, उसके मूल में या केंद्र में प्रकृति रही है। उसकी प्रमुख वजह यह है कि ज्यादातर जनजातियां आखेटक, संग्राहक और खेतिहर रही हैं, जिसके कारण प्रकृति ही उनके जीवन के केंद्र में है। प्रकृति से ही उनका जीवन है। प्रकृति से साहचर्य का एक अद्‌भुत संबंध यहां अब भी देखने को मिलता है। प्रकृति से उन्होंने उतना ही लिया जितने की आवश्यकता थी। अधिक का लोभ कभी नहीं किया। 'सस्टेनेबल डेवलपमेंट' की जो अवधारणा इन दिनों पूरे संसार में लोकप्रिय हो रही है, आदिवासियों के यहां वह एक जीवनबोध मूल्यबोध और जीवन दर्शन के स्तर पर आदिम काल से मौजूद है। इसलिए आदिवासी खुद को प्रकृति का ही अंग मानते हैं, न कि प्रकृति को खुद का विस्तार या स्पर्धी। प्रकृति से आशय केवल जल, जंगल, जमीन नहीं बल्कि जंतु और पहाड़ आदि से भी है। प्रकृति उनके 'टोटेम' से लेकर जीवन दर्शन और प्रत्येक धार्मिक संस्कार में मौजूद है। सूर्य को वे 'सिंगबोंगा', पहाड़ को 'बुरुबोंगा', जलाशयों को 'इकिरबोंगा', जंगल को 'देसिलबोंगा' कहकर पूजते हैं। पुरखों और प्रेतात्माओं को पूजने की परंपरा है। (यह भी एक बड़ी वजह है कि आदिवासी हिंदू धर्म कोड से अलग सरना धर्म कोड की मांग कर रहे हैं।) इस रूप में प्रकृति की उपस्थिति गैर आदिवासियों में देखने को नहीं मिलती है। जल, जंगल, जमीन से आदिवासियों की संबद्धता से हम परिचित हैं। इसलिए अपेक्षाकृत एक अन्य तथ्य की ओर ध्यान दिलाता हूं—*"मुंडा लोग जहां कहीं भी जाकर बसते हैं, वे मरंग बुरु बोंगा (ऊंचे पर्वत के देवता) को स्थापित करने के लिए किसी ऊंचे पर्वत अथवा पड़ोस की पहाड़ी को चुनते हैं।"*[१]

हम देखने की कोशिश करते हैं कि अठारहवीं शती में ठीक ठीक ऐसा क्या घटित हुआ जिससे अपने में सीमित रहने वाला यह समुदाय इस कदर आक्रोशित और आंदोलित हो गया कि ईस्ट इंडिया कंपनी और बाद में अंग्रेजी राज को इस दिशा में कई कानून बनाने पड़ गए? इसके लिए हमें इस बदलाव के पूर्व की स्थिति के बारे में भी थोड़ा जान लेना होगा।

बाहरी दुनिया के संपर्क में आने के पूर्व यहां की जनजातियों के पास स्वशासन की अपनी पद्धति थी। स्वशासन की इस पद्धति से बाहरी दुनिया ठीक से परिचित नहीं थी। (परिचित तो आज भी नहीं है। लेकिन कोई जानना समझना चाहे तो उस संदर्भ में साहित्य अब उपलब्ध है। ईस्ट इंडिया कंपनी के आने तक ऐसी कोई व्यवस्थित लिखित सामग्री उपलब्ध नहीं थी। इस बात का श्रेय भी यूरोपीय विद्वानों और प्रशासनिक अधिकारियों को ही जाता है कि उन्होंने इसे अंततः जानने समझने की कोशिश की और इसका दस्तावेजीकरण किया।) ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन के पूर्व मोटे तौर पर यदि छोटानागपुर के संदर्भ में बात करें तो यहां स्वशासन की जो पद्धति थी, वह कुछ इस प्रकार थी : भारत के अलग अलग हिस्सों से भगाये जाने के बाद या पलायन के बाद एक लंबी दूरी और लंबा कालखंड बिताकर इन जनजातियों ने

इस सघन और अपेक्षाकृत दुर्गम वनक्षेत्र में आकर शरण ली। जब इन 'जनजातियों' पदबंध का इस्तेमाल कर रहा हूं तो मेरा आशय मूल रूप से तीन जनजातियों से है। इनमें से पहली असुर जनजाति है, जिनके मुंडाओं से पहले यहां उपस्थित होने के प्रमाण मिलते हैं। मुंडाओं ने उनको यहां से और भीतर या पीछे ढकेलने का काम किया। मुंडाओं के बाद उरांवों का जिक्र आता है। लेकिन अब उरांव भी मुंडाओं की भांति ही अपनी मौजूदगी का दावा इस भूभाग पर करते हैं। यद्यपि मुंडाओं की तुलना में उनका इतिहास थोड़ा धुंधला है। खैर, ध्यान देने की बात यह है कि मैदानी भागों की तुलना में उर्वरता की दृष्टि से इस पठारी भूभाग की जमीन कमतर ठहरती थी। लेकिन मुंडाओं ने अपने श्रम से छोटानागपुर के जंगलों को साफ करके अपने लिए रहने लायक जमीन पैदा की। मुंडाओं में यह चलन था कि जिसने उस जमीन को साफ किया, उसका मालिकाना हक उस जमीन पर होता था। बढ़ते परिवार के साथ वह गांव आबाद होता चला जाता था। ऐसे गांवों को खूंटकट्टी गांव कहा जाता था और इस तरह के गांव में एक परिवार के वंशजों का कब्जा रहता था, वे सभी खूंटकट्टीदार कहलाते थे। एक परिवार के लोग एक 'कीली' के माने जाते थे। इस तरह उस गांव का एक प्रधान होता था, जिसे सरदार कहा जाता था। इस सरदार के मातहत ही ग्राम संगठन की व्यवस्था होती थी। ऐसे दस बारह गांव को मिलाकर एक 'पट्टी' बनती थी। उसका प्रमुख 'मानकी' कहलाता था। मानकी शासक नहीं अगुआ होता था। उरांव जनजाति में 'मानकी मुंडा' व्यवस्था के स्थान पर 'पड़हा राजा' की व्यवस्था होती थी। पूरा समाज उसकी बात सुनता था। यह परंपरागत स्वशासन की अपने किस्म की एक संघीय व्यवस्था थी, जो बाहरी दुनिया के लिए अनजानी चीज थी। ग्रामसभाओं की यह छोटी छोटी स्वायत्त इकाइयां अपने ढंग से स्वशासन की एक पद्धति ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन के बहुत पहले विकसित कर चुकी थीं। अभी भी आदिवासी बहुल गांवों में ग्रामसभा की अनुमति के बगैर विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों के दोहन का कोई काम नहीं किया जा सकता है। यह अलग दुर्भाग्य है कि अब उन्हें ही वनोपज के उपयोग में परेशानी उठानी पड़ रही है।

यद्यपि इस परंपरागत संघीय व्यवस्था में सेंधमारी की जमीन नागवंशियों के जनजातीय परंपरा को हस्तगत करने के साथ ही बहुत पहले आरंभ हो चुकी थी। लेकिन वह एक तरीके से प्रसुप्तावस्था में थी और सत्रहवीं शती में अचानक से न सिर्फ जाग्रत हो गई थी बल्कि आक्रामक तरीके से गतिमान हो गई। वह दिनोंदिन इस कदर प्रभावी और हावी होती चली गई कि जनजातीय विद्रोहों की एक श्रृंखला आरंभ हो गई। जाहिर सी बात है विद्रोहों के लिए एकजुटता बुनियादी चीज होती है, इस एकजुटता के मूल में धार्मिक और सामुदायिक एकता को सहजता से लक्षित किया जा सकता है।

जनजातीय विद्रोहों की श्रृंखला को समझने के लिए झारखंड में आदिवासियों के भूमि संबंधी अधिकारों की संक्षिप्त जानकारी आवश्यक है। 'सोसोबोंगा' नाम से जनजातीय इतिहास में जो सृष्टिकथा मिलती है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि झारखंड में मुंडाओं के पूर्व असुरों की उपस्थिति थी। मुंडाओं ने उन्हें यहां से और भीतर या पीछे ढकेलने का काम किया। *"हर परिवार ने अक्षत जंगलों में अपने हिस्से की खुद सफाई की थी, जो हातू के नाम से जाना गया था और बाद में खूंटकट्टी हातू या आरंभिक बाशिंदों के परिवार का गांव कहलाया।"*[10] तब न तो जमीन की कोई कीमत थी और न ही किल्लत। आज भी झारखंड में बड़ी संख्या में गांवों के नाम मुंडारी परंपरा में मिलते हैं, जो इस बात का परिचायक है कि इन गांवों की स्थापना मुंडाओं ने की थी। बल्कि उरांवबहुल गांवों के नाम भी मुंडारी परंपरा में मिलते हैं,

यह भी इस बात का परिचायक है कि वहां कभी मुंडाओं की अच्छी आबादी रहा करती थी। बल्कि यही कारण है कि उरांव बहुल गांवों में अभी भी पहान (पुजारी) कोई मुंडा ही होता है। इसके मूल में वजह यह बताई जाती है कि खूंटकट्टी गांव की चौहद्दी में ग्राम देवताओं को मुंडा स्थापित किया करते थे। इन्हें आत्माओं के तौर पर भी देखा जाता है। उरांवों का मानना है कि इन गांवों को मुंडाओं ने बसाया था तो उन पुरखों कुलपिता ग्रामदेवता अदृश्य प्रेतात्माओं आदि को पूजने का अधिकार भी उनका है और वे ही इसके सर्वथा योग्य हैं।[11] ऐसा माना जाता है कि उन ग्राम देवताओं की नाराजगी अनिष्टकारी होती है। मुंडाओं का यह जो 'खूंटकट्टी हातू' हुआ करता था, संतति के बढ़ने पर, उनका विवाह होने पर वे उसी हातू में अपने लिए नया घर बना लिया करते थे। *"इस तरह आरंभिक गांव का परिवार एक ही किली या वंश से संबद्ध अनेक अलग परिवारों में बंटकर फैल जाता था। गांव के संस्थापक की मृत्यु होने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र परिवार की विभिन्न शाखाओं का प्रधान कुलपिता बन जाता था।...ऐसा लगता है समय बीतने के साथ, गांव के परिवार से असंबद्ध पुरुषों को गांव में दाखिल कराया गया था। विवाह से बने रिश्तेदार दूसरे किलियों या वंशों के पुरुष, उदाहरण के लिए कोई दामाद, कभी कभी गांव में आते थे और वहीं बस जाया करते थे। पुन: एक आदिम खेतिहर कबीले जैसा कि मुंडा लोग कथित रूप से प्रतीत होते थे—जब उन लोगों ने खुद को छोटानागपुर में स्थापित किया था—को अपने हलों की धार बनाने और मरम्मत करने के लिए लोहारों, पशुओं की देखभाल करने के लिए चरवाहों और उनके कपड़े बुनने के लिए बुनकरों की सेवाओं की जरूरत थी।...इन्हें पारिश्रमिक में गांव में भूमिखंड दिये गए थे। ये बाहरी लोग (एटाहातुरेंको) कालांतर के 'परजाहोड़ोको' थे। और वे 'हातू होड़ोको' से पूरी तरह से भिन्न थे, जोकि आरंभिक ग्राम परिवार के वंशज खूंटकट्टीदार लोग थे।...इन बाहरियों को ग्रामभूमि पर किसी तरह का हक प्राप्त नहीं था अपितु वे सिर्फ वैसे विशेष भूमि खंडों की फसलों का उपभोग कर सकते थे जो उनके भरण पोषण के लिए खूंटकट्टीदारों द्वारा उन्हें आबंटित किये गए थे।"*[12] इन्हीं आरंभिक खूंटकट्टी गांवों से अन्य वैसे ही स्वरूप वाले गांवों का विस्तार हुआ। गांवों के समूह से एक पट्टी का विकास हुआ। उस पट्टी का प्रमुख मानकी कहलाया। चूंकि यह गांव मुंडाओं के होते थे और उनके प्रमुख को मानकी कहते थे, इसलिए यह व्यवस्था 'मुंडा मानकी' व्यवस्था कहलाई। जैसा कि हम जानते हैं कि जब यह 'खूंटकट्टी हातू' आबाद हो रहे थे, तो बाहरी दुनिया का यहां बहुत दखल नहीं था। इसलिए मुंडा इसे अपना देश ही मानते थे। इन मुंडाओं के देश में पहले 'अवांछनीय घुसपैठिये कुरुख लोग थे, जिन्हें हम उरांवों के रूप में बेहतर जानते हैं।'[13] उरांव भी झारखंड की एक जनजाति है। जैसे मुंडाओं के यहां ग्राम स्वशासन की 'मुंडा मानकी' व्यवस्था थी, उरांवों के यहां 'पड़हा राजा' की व्यवस्था थी। असुरों और मुंडाओं के मध्य हुए आपसी संघर्षों की सूचना तो मिलती है, लेकिन तथ्य बहुत व्यवस्थित तरीके से नहीं मिलते कि वस्तुत: यह कब कब, कहां और किन कारणों से हुआ? बस इनके एक क्षेत्र में होने, वहां से पीछे या आगे बढ़ने की जानकारी भर मिल पाती है। उसके लिए भी उन गांवों के नाम, वहां की आबादी, उनकी स्मृति, उनके रिवाज आदि के आधार पर ऐसे नतीजे निकाले जाते हैं। जैसे शरत चंद्र रॉय की ऐतिहासिक किताब से ही यह दो उद्धरण देखिए—*"तेजी से संतान पैदा करनेवाले उरांव लोगों में, जो मुंडाओं के बीच में रहने के लिए आए थे, इतनी घनी और तीव्र वंशवृद्धि हुई थी कि मुंडाओं ने नई भूमि और नए चरागाहों की तलाश करना वांछनीय समझा था।"*[14] अब दूसरा देखिए—*" परंपरागत कथा आगे चलकर बतलाती है कि कैसे, जब बलिष्ठ कद*

काठी वाले मुंडा लोग प्रदेश में पहुंचे, तो टिर्की और असुर लोग बुरी तरह भयभीत हो उठे थे, क्योंकि विजयी भाव से ऐसा दावा किया जाता है कि उस समय की मुंडा स्त्रियां दस सेर वजन तक के चमकीले जेवरात पहना करती थीं और पुरुष उतने ही मन वजन का बोझ ढो सकते थे। मुंडा लोग आज भी एक दोहा सुनाते हैं जो बयान करता है कि कैसे तिर्की लोग झुंड के झुंड में भाग खड़े हुए थे जब उन लोगों ने नागपुर मुंडाओं को उनके घूप में चमकते अनेक गहनों के साथ अपने निकट आते देखा था।

तिरिकि तिकि तिकि चि, नागुरि जालाव जिलिब।" [15]

इनसे दो बातें तो निश्चित तौर पर निकलती हैं कि झारखंड के अलग अलग क्षेत्रों में आबाद होने के क्रम में आदिवासियों के मध्य आपसी संघर्ष हुए थे और जो जहां सामर्थ्यवान साबित हुआ था, उसने वहां दूसरी आबादी को ढकेलने का काम किया था। यह हर जगह एक ढंग से घटित नहीं हुआ था। हाल के वर्षों में जनजातीय चेतना का जो विकास हुआ है, उसका असर इस रूप में भी देखने को मिल रहा है कि प्रत्येक आदिवासी समुदाय अपने इतिहास और मिथकों का संयोजित कर रहा है, लिख रहा है। लेकिन उसमें अपने समुदाय को गौरवान्वित करने की एक ऐसी प्रवृत्ति घर कर गई है कि सब अपनी ऐतिहासिकता को साझे और अलग अलग ढंग से 'क्लेम' कर रहे हैं। इससे किसी नतीजे पर पहुंचना खासा मुश्किल हो गया है। क्योंकि वाचिकता या मौखिक परंपरा वाले इन समुदायों के पास अपनी कही गई बात के पक्ष में दस्तावेजी प्रमाण का अभाव देखने को मिलता है। दूसरी बड़ी समस्या किसी घटनाक्रम के काल निर्धारण की आती है। आदिवासी समुदायों के मध्य भी खुद को इस क्षेत्र का प्राचीनतम या आरंभिक बाशिंदा बताने की होड़ सी मची है। इसलिए मुंडा हों, उरांव हों या संताल हों सब अपने अपने इतिहास को सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक बताने में लगे हैं। लेकिन जैसा कि अपने सीमित अध्ययन से समझ पाया हूं, इस भौगोलिक क्षेत्र में मुंडाओं से पहले असुरों की उपस्थिति थी, फिर मुंडा आए और उसके बाद उरांव। ऐसा प्रतीत होता है कि आदिवासियों या जनतातियों के लिए समूहवाचक संज्ञा के बतौर 'कोल' शब्द का इस्तेमाल किया जाता था। उनकी विभिन्नता या विशिष्टता की पहचान ठीक ठीक न कर पाने के कारण मानों सबको 'कोल' के अंतर्गत परिगणित कर लिया गया। बल्कि जनजातियों के लिए प्रयुक्त 'कोल' संबोधन में एक किस्म का अपमानजनक भाव मौजूद है। मुंडा, उरांव की बात करते करते 'कोल' का संदर्भ लाने की वजह यह है कि इनके प्रसंग में अनायास ही यह शब्द समानार्थी के बतौर विद्वान इस्तेमाल करने लगते हैं। जैसे इस उद्धरण को देखिए—*"मानभूम परगनों में अनेक जगहों और पहाड़ों के विशिष्ट मुंडारी नाम, उनके पूर्व मुंडा कब्जे के बाबत शक की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ते हैं। स्थानीय परंपरा के अनुसार, कुर्मियों ने मानभूम जिले के इन पश्चिमी भागों से कोलों को खदेड़ भगाया था।"* [16] इन उद्धरणों का उद्देश्य यह था कि इस बात को रेखांकित किया जा सके कि यद्यपि झारखंड में जनजातीय आबादी को आरंभिक निवासी मानने से इंकार नहीं किया जा सकता है लेकिन पूरे झारखंड में इनके फैलने और बसने की कहानियां एक सी नहीं हैं। लेकिन सोलहवीं शती तक झारखंड के लगभग हिस्सों में यह व्यवस्थित हो चुके थे। सोलहवीं शती के बाद इन पर फिर से बाहरी दुनिया या गैर आदिवासी सभ्यता का प्रवेश और हमला होता है। इस बाहरी आक्रमण को समझने और लड़ने के तौर तरीके को समझने में ही दो शताब्दी गुजर जाती है। आमतौर पर भारतीय प्रायद्वीप के मनुष्यों की यह विशेषता रही है कि वे किसी भी परिस्थिति में खुद को समंजित करके जीवन का निर्वाह करना चाहते हैं, तब तक, जब तक कि उनके

जीवन और सर्वस्व के लुट जाने का भय न उपस्थित हो जाए। सत्रहवीं शताब्दी से इस दिशा में जनजातीय आबादी के लिए उस खतरे की पदचाप सुनाई देने लगती है। उन्नीसवीं शताब्दी के आते आते उससे मुंह चुराना मुश्किल हो जाता है। एक आदिम संसार जो जंगलों और पहाड़ों की ओट में सदियों से छिपा था, मानो सारे 'कोलंबस' उस 'सोना लुकुम देश' का पता पा जाते हैं। अमेरिकी धरती पर तो एक ही कोलंबस ने पांव धरा था, यहां तो भांति भांति के कोलंबस आ पहुंचे थे।

उन्नीसवीं शताब्दी में अलग अलग स्तरों और जगहों पर जो टकराव देखने को मिलता है, उसकी पृष्ठभूमि दुर्जन साल के 1628 ई. में ग्वालियर किले से छूटकर आने के बाद ही आरंभ हो जाती है। यद्यपि फिर यहां झारखंड के इतिहास की एक गुमशुदा कड़ी मौजूद है जिससे ठीक ठीक इस समस्या का अंकन की बजाय हमें अनुमान करना होता है। वह कड़ी है नागवंशी शासकों का भूमि विषयक अधिकार कि कैसे जनजातीय प्राधिकार वाली भूमि में वह आधिकारिक हस्तक्षेप करने की स्थिति में आ जाते हैं? नागवंशियों का जमीन विषयक प्राधिकार या व्यवस्था कैसे विकसित होती है? इस 'मैकेनिज्म' के बारे में चीजें स्पष्ट नहीं हैं लेकिन टुकड़ों में जो जानकारियां मिलती हैं, उससे जो तस्वीर उभरती है, उससे कई बातें साफ होती हैं। जैसे इस किस्म की जानकारियां मिलती हैं कि इन नागवंशी राजाओं ने धीरे धीरे कुछ गांवों की जमीनों को अपनी मिल्कियत बना ली। यह राजा की निजी भू संपत्ति ही 'खास भंडार' के तौर पर पहचानी गई। *"राजा ने जिस भूमि को अपने रिश्तेदारों और ठाकुरों और लाल को दिया, वह भूमि 'खोरपोश' कहलाई। 'खोरपोश' का अर्थ होता है भरण पोषण। लेकिन जैसे जैसे राजा अधिकाधिक महत्वाकांक्षी होता चला गया और बिहार और मध्यवर्ती प्रदेशों से आए हिंदू साहसी योद्धाओं से बने राज दरबार से खुद को चारों ओर से घेरना शुरू किया, इन दरबारियों और अमलाहों को उनकी सेवाओं के लिए गांवों के अनुदानों (जागीरों) से पुरस्कृत किया जाने लगा था। राजा और उनके संबंधियों से अलग ये बाहरी दुस्साहसी गांवों के ऊपर वैसे मामूली अधिकारों के साथ संतुष्ट होकर नहीं बैठ सकते थे...ये बाहरी जागीरदार धीरे धीरे अपने जागीरों के अंतर्गत आनेवाले गांवों और जमीनों पर अपने वास्तविक अधिकारों का दावा करने और उन्हें हासिल करने का प्रयास करने लगे थे। राजा और उनके खोरपोशदार कथित रूप से ऐसे प्रयासों को कमोबेश अपना समर्थन देते हुए प्रतीत होंगे। स्वाभाविक रूप से आरंभिक बाशिंदों ने लड़ाई का रास्ता चुना था। परिणामस्वरूप राजा और उनके जागीरदारों ने आदिम खेतिहर भूस्वामियों को आतंकित करके अधीनता कबूल करवाने के लिए अधिक संख्या में लड़ाकू बाहरी योद्धाओं की मदद मंगा ली थी। इन नए आए जंगी दुस्साहसियों क्षत्रियों, बड़ाइकों, रौतियों आदि को भी उसी तरह गांवों की जागीरों के अनुदान से पुरस्कृत किया गया था और जागीरदारों ने जब कभी जरूरत पड़ने पर जंगी सहायता देने का वादा किया था।"*[17] उन्नीसवीं शताब्दी जमीन के मामले में निर्णायक क्यों हो जाती है, इसके लिए इस विवरण को भी देखना जरूरी है—*"उन्नीसवीं शती की पहली तिमाही में, दुस्साहसियों का एक अलग वर्ग प्रदेश में दिखाई पड़ा था। ये उत्तर भारतीय कारोबारी थे मुसलमान, सिख और दूसरे हिंदू—जो अपने तरह तरह के (मुख्तलिफ) माल असबाब के साथ प्रदेश में इकट्ठा हो गए थे और उन्हें नागबंशी राजा और उनके बड़े जागीरदारों और खोरपोशदारों को ऊंचे दामों पर बेच डाला था। तब भी बाद में कुछेक राजाओं और जागीरदारों की बढ़ती हुई विलासपूर्ण आदतों और आम अपव्ययिता ने उन्हें साहुओं, सूदखोरों और दूसरों से उसी प्रकार के अन्य ऋणों का बोझ अपने ऊपर लेने के लिए मजबूर किया था। अपने*

ऋणदाताओं को नकदी में चुकाने में असमर्थ राजा और उनके जागीरदारों और खोरपोशदारों ने समय समय पर आदिम भूस्वामियों के सर के ऊपर इन विभिन्न वर्गों के ऋणदाताओं को स्थायी (दोआमी) अथवा अस्थायी (मियादी) इजारों (ठेकों), नियत किराए (मदारी) पर निरंतर ठेकों और भोगाधिकार वाले ठेकों (जरपेशगी और भुगुत) का अनुदान दिया था। कभी कभार खुद नासमझ मुंडारी खुंटकट्टीदारों को साहुओं के द्वारा अपर्याप्त मुआवजा के लिए अपने गांवों को उन्हें हस्तांतरित करने के लिए ठग लिया गया था। अपने सौदे का अधिकतम लाभ लेने के लिए दृढ़संकल्पबद्ध इन विभिन्न वर्गों के जागीरदारों, पट्टेधारियों और खरीदारों ने मुंडाओं और उरावों के मौलिक ग्रामीण प्रणाली को ध्वस्त करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। और रांची जिले के गांवों में विभिन्न वर्गों के मौजूदा जमीनी पट्टे प्रदेश के विभिन्न हिस्सों में इस प्रयास से हासिल की गई सफलता के विविध स्तरों को चिह्नित करते हैं।"[18] लेकिन इस और ऐसे उदाहरणों से पूरे झारखंड के बारे में एक सरलीकृत और सामान्यीकृत समझदारी नहीं बनाई जा सकती है। अलग अलग आदिवासी बहुल क्षेत्रों में जमीन को गैर आदिवासियों द्वारा हस्तगत किये जाने के अलग अलग तौर तरीके देखने को मिलते हैं। मतलब यह कि छोटानागपुर के प्रकरण से कोल्हान या पंच परगना या संताल या मानभूम आदि क्षेत्रों की भूमि विषयक जटिलताओं को नहीं समझा जा सकता है। वैसे बाहरी घुसपैठ का चरित्र कमोबेश ऐसा ही रहा है, जैसा कि ऊपर वर्णित है लेकिन इसी सिलसिले में तमाड़ और खूंटी क्षेत्र के अध्ययन कुछ अलग तथ्यों को सामने रखते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं कि मुंडाओं द्वारा बसाये गए गांवों को हम 'मुंडारी खूंटकट्टी गांव' के रूप में जानते हैं। बाद में ऐसे गांवों को दो रूपों में हम पाते हैं—एक 'अक्षत मुंडारी खूंटकट्टी गांव' और दूसरा 'विखंडित मुंडारी खूंटकट्टी गांव'। 'अक्षत मुंडारी खूंटकट्टी गांव' का स्वत्वाधिकार मुंडारी ग्राम व्यवस्था के पास होता था। इस गांव की जमीन पर उसके खूंटकट्टीदारों का सामूहिक अधिकार होता था। उनके प्रधान मुंडा, मानकी या पहान के पास संपत्ति का कोई विशेष उच्चतर अधिकार नहीं होता था। इसे इस बात से समझा जा सकता है—*"अक्षत खूंटकट्टी गांव के प्रत्येक खूंटकट्टीदार के पास गांव की परिसीमा के अंतर्गत किसी भी बंजर जमीन को जोत में लाने अथवा गांव के जंगलों से वैसे किसी जंगल उत्पाद या लकड़ी, जिसकी उसे जरूरत है, को हासिल करने का अधिकार है।"*[19] अंग्रेजी राज में खूंटी, तमाड़, बूंडू आदि में ऐसे अक्षत खूंटकट्टी गांवों की उपस्थिति दर्ज है। इन्हीं अक्षत खूंटकट्टी गांवों के विखंडन से विखंडित खूंटकट्टी गांव अस्तित्व में आए। इन विखंडित गांवों को तमाड़ के अंतर्गत देखा जा सकता है। इन्हें विखंडित खूंटकट्टी गांव इसलिए कहा गया कि यहां *"राजा कुछ एकड़ जमीन को अपने हिस्से (राज अंग) के तौर पर लेने में सफल हो गया है और ऐसी जमीन को 'राजहस' का नाम दिया था। उस समय से वह जमीन पर चाहे तो जोतकर कब्जा बनाए रखा है या फिर ऐसी जमीन पर अपने जोतदारों को बसा करके। जब तमाड़ का 'राजा' अथवा टिकैत ऐसे गांवों को किराए पर देने लगा था, ये 'राजहस' जमीनों को मध्यवर्ती पट्टेदारी से बाहर रखा जाने लगा था और ऐसी जमीनों पर राजा के द्वारा बसाए गए प्रजाओं ने सीधे 'राजा' को ही लगान देना शुरू कर दिया था। इस संबंध में तमाड़ में राजहस जमीनों का इतिहास असली नागपुर के गांवों से कुछ हद तक भिन्न प्रतीत होता है।"*[20] लेकिन थोड़ा आगे चलकर तमाड़ परगना में ही मध्यवर्ती जमींदारों के एक नए वर्ग को हम उगते हुए देखते हैं, जिसे आरंभ में संभवत: 'मांझी' कहा जाता था। राजहस की जिन जमीनों को शुरुआती दौर में राजा ने मध्यवर्ती पट्टेदारी से बाहर रखा था बाद के दिनों में उसी मध्यवर्ती पट्टे पर नए जमींदार वर्ग का उदय हुआ। *"मध्यवर्ती*

जमींदार महज उसके पट्टादाता के रूप में हर एक व्यक्तिगत खूंटकट्टीदार से सीधे चंदा वसूलने लगे थे—जिसे गांव को पट्टे पर देने के पहले राजा खुद किया करता था। यह मध्यवर्ती जमींदार अथवा 'मांझी' भी शीघ्र ही गांव की जमीनों पर अपनी ललचाई नजरें गड़ाने लगे थे और जल्दी ही इन जमीनों में से कुछ को अपने लिए हासिल कर लिया था, जिन पर संभवत: शुरू शुरू में कुछ 'एटाहातुरेंको' अथवा परजाओं का कब्जा था, जो उन्हें एक या उससे अधिक खूंटकट्टीदारों के अंतर्गत अधिकार में रखते थे। ये जमीनें 'मांझीहस' अथवा 'माजी हस' कहलाई थीं और गांव के पट्टेदार की विशेषाधिकार वाली जमीनें बन गई थीं।"[21] इस प्रकार देखें तो जब खूंटकट्टी गांव की भूमि व्यवस्था को छिन्नभिन्न कर दिया तो जो पुश्तैनी जमीन के टुकड़े आरंभिक ग्रामीण वंशजों के पास रह गए, उन्हें 'भुईंहरी जमीन' का नाम दिया गया। 'अक्षत मुंडारी खूंटकट्टी जमीनों' को विखंडित बाहरियों ने तो किया ही पर कहीं कहीं मुंडाओं ने भी उसे विखंडित करने में भूमिका अदा की। जैसे तमाड़ से इतर यदि खूंटी क्षेत्र की बात करें तो ऐसे मामले भी देखने में आए, जहां खूंटकट्टी जमीनों के सामुदायिक या सामूहिक अधिकार का हनन खुद मुंडा या किसी बाहरी जमींदार ने किया। यह कुछ ऐसे घटित हुआ कि *"चाहे तो वरिष्ठ जमींदार या मुंडा अथवा कोई जरपेशगीदार (गिरवीदार) अथवा उसके कोई नीलामदार ने पहले खुद परजाओं (एटा होड़ोको) से चंदा वसूलना शुरू किया था, उसके बाद खूंटकट्टीदारों के द्वारा दिए जाने वाले लगानों को बढ़ाने का काम किया था और अंत में अधिकांश खूंटकट्टीदारों को मामूली रैयतों के दर्जे तक घटा दिया गया था। पाहन का पद अपरिहार्य था और इसलिए उसके खूंटकट्टी दर्जे के साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की जा सकती थी। मुंडा के नजदीकी संबंधियों को बाबुओं अर्थात् खोरपोशदारों के दर्जे तक घटा दिया गया था। बाकी की बिरादरी धीरे धीरे गिरकर रैयतों के दर्जे तक पहुंच गई थी। अंतत: मुंडा ने गांव के जंगलों और बंजर जमीनों पर अपना कब्जा जमा लिया था। खूंटकट्टी समाज पूरे गांव के इलाके पर अपने सामूहिक मालिकाना हक को खो चुका था। प्रत्येक खूंटकट्टीदार के पास मात्र उसी पुरानी जमीन के ऊपर उसका मालिकाना हक कायम रहता था, जिसे वह जोतता था। ये जमीनें अब उसकी निजी मुडारी खूंटकट्टी जोतदारी का गठन करती थीं, जिसके लिए उसे अपना निश्चित चंदा (अभी का भूमिकर) सीधे अपने नए जमींदार को देना था।"*[22] इस तरह देखें तो जनजातीय या आदिवासियों की सामुदायिक भूमि व्यवस्था का स्वत्वाधिकार सौ दो सौ साल में तितर बितर हो चुका था। जो बचा रह गया था, उसे भी हस्तगत करने की तैयारी थी। इसे गंवाने के बाद फिर से उन्हें नए इलाकों की ओर प्रयाण करना पड़ता। पर इस बार आदिवासियों ने पीछे हटने या पलायन करने की बजाय टिककर लड़ने का फैसला किया। यहीं से विद्रोहों की जो परंपरा प्रारंभ होती है, वह तब तक थमने का नाम नहीं लेती है, जब तक अपने लक्ष्य को हासिल नहीं कर लेती है। जो बात गौर करने की है, वह यह कि जमीन की लूट के साथ विद्रोहों का यह सिलसिला ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन में आरंभ होता है जो आगे अंग्रेजी राज (ब्रिटिश काल) में भी जारी रहता है। इसलिए जनजातीय संदर्भों में औपनिवेशिक काल की भूमिका को गौर से देखे जाने की जरूरत है। क्योंकि सवाल तो यह है कि क्या कारण रहे कि औपनिवेशिक काल में जनजातीय विद्रोह थमने का नाम नहीं लेते हैं? ऐसा प्रतीत होता है कि भू राजस्व उगाही के क्रम में आदिवासियों की जमीन पर सबसे व्यवस्थित हमला अंग्रेजी राज में ही होता है। अन्यथा क्या कारण रहे कि अंग्रेजों के आने से पहले इस ओर विद्रोहों की ऐसी श्रृंखला देखने को नहीं मिलती है।

जनजातीय संदर्भों में किसी भी विद्रोह पर बहुत वर्गीकृत तरीके से बात नहीं की जा

सकती है। एक एक विद्रोह के मूल में इतनी किस्म की चीजें आपस में घुलीमिली हैं कि कई बार उन्हें ठीक ठीक अलगाना कठिन हो जाता है। अपने चरित्र में वे बहुस्तरीय हैं और कई बार सतह में जो चीजें दिख रही होती हैं, वैसी होती नहीं हैं। उनके संदर्भसूत्र कई अलग अलग क्षेत्रों में फैले होते हैं। मसलन इनके सामाजिक धार्मिक आंदोलनों की ही बात करें तो उसे समझने के लिए जनजातियों के भूमि विषयक अधिकारों को समझे बिना शायद ही कोई बात हो सकती है। यह एक अनिवार्य संदर्भ की तरह है। लेकिन इससे इतर भी अनेक वजहें हैं। उन सब कारणों ने मिलकर जनजातीय विद्रोहों बल्कि सुधारात्मक आंदोलनों के लिए प्रेरक का काम किया। इसे दरकिनार कर झारखंड के जनजातीय संदर्भों के किसी पहलू को समझ पाना लगभग असंभव है।

अंग्रेजों के आने के पूर्व झारखंड की अलग अलग जनजातियों में स्वशासन की अपनी पद्धतियां विकसित हो चुकी थीं। भूमि विषयक उनके परंपरागत अधिकार थे, जिस पर नागवंशी राजाओं के द्वारा दिये जाने वाले ठेके, पट्टों के कारण एक असंतोष की भावना बैठी थी और शायद फैल भी रही थी। ऐसे मामलों में हम पाते हैं कि जनजातीय समूह एकजुट होकर जाकर ठेकेदारों, पट्टेदारों को खदेड़ देते थे। जमींदारों के खिलाफ भी एकजुट होकर अपने जमीन की रक्षा कर ले जाते थे। असल बखेड़ा अंग्रेजों के आगमन के बाद आरंभ होता है। अंग्रेजों को मालगुजारी चाहिए थी। इसके लिए उनके पास बंगाल का अनुभव था। लेकिन बंगाल और झारखंड के जनजातीय बहुल इलाकों में मामला एक सा नहीं था। इसे समझने की सलाहियत भी तत्काल अंग्रेजों के पास नहीं थी। न तो वे जनजातीय भाषाओं के जानकार थे, न जनजातीय समूहों को अंग्रेजी आती थी। बल्कि दुर्भाग्यपूर्ण बात यह थी कि जनजातीय समूहों के यहां भूमि विषयक अधिकारों के लिखित दस्तावेज भी नहीं थे क्योंकि उनके पास कोई लिपि नहीं थी। सब कुछ उनकी मौखिक परंपरा में दर्ज था। चाहे ईस्ट इंडिया कंपनी हो या अंग्रेजी राज के अधिकारी, जब वे झारखंड के जनजातीय बहुल क्षेत्रों में आए, तो अपने साथ बाहरी दुनिया के प्रशासनिक अनुभवों को लेकर आए। और उन अनुभवों के आधार पर ही उन्होंने शासन चलाने की कोशिश की। जैसे जमीन के मामले में अंग्रेजों की नीति इस सोच पर आधारित थी कि जमीन का कोई न कोई मालिक अवश्य होता है। जमीन सामुदायिक संपत्ति हो सकती है, यह उनकी सोच में ही शामिल नहीं था। *"लार्ड कार्नवालिस के भूमि विषयक नीतियों के निर्धारण के मूल में यही समझ कार्य कर रही थी कि अगर जमीन है तो उसका मालिकाना हक होगा। और यह मालिकाना हक किसी इलाके में उसके राजा का होना चाहिए। इस निष्कर्ष पर ईस्ट इंडिया कंपनी भारत की जाति आधारित हिंदू सामुदायिक व्यवस्था के प्रचलित परंपरागत व्यवस्था के अपने अनुभवों के आधार पर पहुंची थी। कंपनी ने देखा था कि गैर जुताई वाली जमीनों के भी मालिक हुआ करते थे, और जिन जमीनों की जुताई हुआ करती थी, उन जमीनों का मालिक भी जोतदार के बजाए कोई और हुआ करता था। जनजातीय संदर्भों में उन्होंने आदिवासियों को उन जोतदारों की तरह बरता जिनके पास मानो मालिकाना हक नहीं था। बिना स्थानीयता का खयाल किये या उसके इतिहास को जाने, पूरे क्षेत्र में बंदोबस्ती के नए प्रावधानों को लागू कर दिया गया।"*[23] यह दुर्भाग्य ही था कि ऐन अंग्रेजों के आगमन के पूर्व जागीरदारों, ठेकेदारों, जमींदारों, महाजनों, साहूकारों के द्वारा आदिवासियों की जमीन पर दखल की प्रक्रिया आरंभ हो गई थी। अंग्रेजों ने जब बिना जाने बूझे राजस्व की उगाही के क्रम में यहां भूमि बंदोबस्ती के कायदे कानून लागू किये तो आदिवासियों की अपने परंपरागत जमीन से बेदखली की एक ऐसी प्रक्रिया आरंभ हो गई, जिसे कानूनां

वैधता अंग्रेजों ने प्रदान कर दी थी। अब पुलिस के बूते रसूख वाली गैर जनजातीय आबादी आदिवासियों की जमीन पर अपना दखल कायम करने लगी। इनमें प्रमुखता उस हिंदू आबादी की रही जो अंग्रेजों के आने के पूर्व धीरे धीरे इन जनजातीय समूहों के इर्दगिर्द किसी न किसी रूप में आबाद हो रही थी। जनजातीय समूहों के लिए वे बहुत स्वागतयोग्य आगंतुक नहीं थे। इन बाहरियों के प्रति जनजातीय समूहों की राय अच्छी नहीं थी क्योंकि वे उनकी निगाह में घुसपैठिये थे। इनकी बढ़ती उपस्थिति उनके रोजमर्रा के जीवन में नित नई मुसीबतें पैदा कर रही थी। महाजन, साहूकार, जागीरदार, ठेकेदार, जमींदार और रैय्यत के तौर पर उपस्थित आबादी उनकी जमीन पर ही पांव पसार रही थी। अंग्रेजों के यहां आने के बाद कानूनी तौर पर दखल की गई उन जमीनों को कानून के जरिये वैधता प्रधान करने की प्रक्रिया आरंभ हुई। यह प्रक्रिया यहां के भूमि विषयक परंपरागत अधिकारों को समझे बगैर आरंभ की गई थी। जनजातीय समूहों को उन्हीं की जमीन से बेदखल करने की एक कानूनी प्रक्रिया को ईस्ट इंडिया कंपनी ने जाने बूझे बगैर अमली जामा पहना दिया था। इसके परिणाम का अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि *"1856 में जागीरदारों की संख्या करीब 600 थी। इनमें से कुछ के पास किसी एक गांव में जमीन थी तो कुछ 150 गांवों में जमीन हड़पे हुए थे।"*[24] 1857 के विद्रोह के बाद जब ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन खत्म हुआ और क्वीन विक्टोरिया का शासन आरंभ हुआ तब भी हालात में अगले दस बीस साल में कोई खास तब्दीली देखने को नहीं मिली। इसे एक दूसरे तथ्य से हम समझ सकते हैं। *"1874 ई. तक हालात इस कदर बदल चुके थे कि पुराने मुंडा और उरांव सरदारों का प्रभाव मटियामेट हो चुका था। उनके स्थान पर अब एकाएक प्रभावशाली हो जाने वालों में गैर आदिवासी किसान थे, जिन पर बड़े जमींदारों का वरदहस्त था और साथ ही ऐसे अन्य लोग, जो धार्मिक या भरण पोषण के अनुदानों के रूप में मिली बड़ी बड़ी जमीनों के मालिक बन गए थे। अब कुछ गांव तो ऐसे थे, जहां आदिवासी लोग जमीन पर अपना स्वामित्व बिल्कुल ही छोड़ देने को मजबूर और पूरी तरह फटेहाल बना दिए गए थे। जो लोग पहले थोड़ी या ज्यादा जमीन के मालिक थे, वही अब खेत मजूर बने घूम रहे थे।"*[25] जमीनों की कानूनी बंदोबस्ती ने जनजातीय समूहों के लिए 'अलार्मिंग' स्थितियां पैदा कर दी थीं। यह सब घटित कैसे हुआ? और इसके नतीजे क्या हुए? उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को थोड़ा समझकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं।

हम देख चुके हैं कैसे मुंडारी खूंटकट्टी गांव पहले विखंडित हुए फिर खूंटकट्टीदारों की भुईंहरी जमीनें बनकर रह गए। ईस्ट इंडिया कंपनी और अंग्रेजी राज दोनों ने जनजातियों के जमीन विषयक विशेषाधिकार को समझे बगैर जो शासन किया, उसमें न्यायालयों का रवैया जाने अनजाने ही जनजाति विरोधी साबित हुआ। अदालत और पुलिस, इनके विशेषाधिकारों और अदालती भाषा की अज्ञानता, मौखिक परंपरा के कारण लिखित दस्तावेजों के अभाव ने जनजातियों की अवस्था बहुत दयनीय कर दी। उस वक्त के विवरण यदि आप पढ़ें तो आपको मार्केस के 'जादुई यथार्थवाद' वाले वे ब्यौरे याद आएंगे, जहां मूल बाशिंदों को यह यकीन दिलाना पड़ता है कि यह जो घर, खेत खलिहान दिख रहा है, कभी मेरा हुआ करता था। सवाल उठता है यह सब संभव कैसे हो पाता था? मध्यवर्ती पट्टों से जो जमींदारी विकसित हुई थी, उसका प्रमुख काम 'भुईंहरी जमीनों' को 'मझियस जमीन' में परिणत करने का हो गया था। इसके लिए वे साम, दाम, दंड, भेद आदि सबका इस्तेमाल किया करते थे। राजा से हासिल पट्टों के बूते वे खुद को न्यायालयों में जमींदार के माफिक पेश किया करते थे और आदिवासियों को अपना रैय्यत बताया करते थे। *"मानकियों और मुंडाओं के खिलाफ उन*

लोगों द्वारा दायर किए गए दीवानी या फौजदारी मुकदमों में उनके दस्तावेजी सबूत मुंडाओं के मौखिक बयानों या अलिखित परंपराओं की तुलना में कारगर हो जाते थे। उन न्यायालयों का यह हाल था कि मुंडारी खूंटकट्टी काश्त के बारे में बिल्कुल अबोध रहने के कारण वहां के न्यायाधीशगण मुंडा भूमिप्रणाली और जमींदारी प्रथा के बीच का अंतर न समझ पाते थे। इसके साथ जुल्म की बात यह थी कि 1863 तक लागू वह कानून, जिसके अधीन जमींदारों को पुलिस के जैसे अधिकार प्राप्त थे, भूमि छिन्न, निर्दोष आदिवासियों पर कहर बरपा रहा था।"[26] *"यूरोपियन जजों और अफसरों की तटस्थता के विरुद्ध किसी भी रूप में उंगली नहीं उठाई जा सकती थी, पर मुंडाओं और उरांवों से संबंधित मुकदमों की उचित सुनवाई में उनकी अक्षमता यह थी कि वे इस प्रांत के अधिकांश लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषा मुंडारी या उरांव नहीं समझ पाते थे।"*[27] वकील या दुभाषिया उनकी इस अज्ञानता का लाभ उठाकर अपने पक्ष में निर्णय करा लेते थे। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में छोटानागपुर ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के अधीन आया था। अदालत और पुलिस की मौजूदगी इससे पहले कभी उनके क्षेत्र में नहीं रही थी। इसलिए वे इन्हें ही अंग्रेजी राज का प्रतिनिधि समझते आए थे। इन प्रतिनिधियों ने जनजातियों के पक्ष में ऐसी कोई भूमिका नहीं निभाई थी कि उनके बारे में वे अच्छी राय रखते। इस कारण एक बात यह हुई कि ब्रिटिश राज या अंग्रेजी राज के प्रति जनजातीय समूहों में भरोसा नहीं रह गया। ईस्ट इंडिया कंपनी का जब आगमन हुआ तो खूंटकट्टी गांवों का प्रधान होने के नाते अंग्रेजों ने मुंडा मानकी को ही हर बात में तरजीह दी। जबकि मुंडा मानकी शासक नहीं अपने समाज का अगुआ भर था। लेकिन बाहरी दुनिया की अगुआ विषयक जो समझदारी थी, उसमें अगुआ का मतलब केवल नेतृत्वकर्ता भर नहीं होता था बल्कि उसमें एक मालिकपना भी अनुस्यूत होता था। इस लिहाज से मुंडा मानकी अपने गांव और अंग्रेजों के बीच 'मध्यस्थ' ही नहीं बल्कि 'मालिक' बनकर उभरा। इससे हुआ यह कि *"लगान की रसीदें मुंडाओं के नाम काटी जाने लगीं। मुंडा तो पाहन की ओर से सड़क उपकर (रोड सेस) का विवरण भरने लगे। चूंकि मुंडाओं को नए काम सौंपे गए और क्षेत्र के बाहर से आए लोगों की निगाह में उन्होंने नया अधिकार ग्रहण किया, इसलिए पाहनों के मुकाबले मुंडाओं ने अपनी स्थिति मजबूत बना ली और पाहन विस्तृति के गर्भ में खोए गांव के एक पुरोहित मात्र बनकर रह गए।"*[28] जबकि वास्तविकता यह थी कि मुंडाओं के संग पहान भी उसी पायदान पर खड़ा था। अपनी अनदेखी से पहान नाराज हो गए। एक ही वंश की मूल शाखाओं से ताल्लुक रखने के बावजूद दोनों के बीच ठन गई थी। आम तौर पर होता यह था कि एक ही परिवार का बड़ा लड़का मुंडा हो जाता था और उससे छोटा पहान हो जाता था। परंपरागत समाज में दोनों समान रूप से सम्मान के हकदार थे पर अंग्रेजों के आगमन के बाद मुंडाओं की पूछ बढ़ती गई और पहान पीछे छूटते चले गए। *"बात यहां तक बढ़ी कि उन दोनों के लिए तीसरे पक्ष (जागीरदार जमींदार ठेकेदार) को जो भी भुगतान देने थे, वे उसे देने से इंकार कर देते थे। सबसे बड़ा जमींदार इस कारण उन पर बकाए के लिए मुकदमा चलाता था और मुकदमे में हार जाने पर उनके गांव बेच दिए जाते थे। इसके अलावा यह भी हुआ कि मुंडा जो पहले अपने समाज में बराबर लोगों के बीच प्रथम स्थान रखता था, अब बाहर से इस क्षेत्र में आए जमींदारों की भांति अपना वैसा अधिकार दिखाने लगा जो उसकी वास्तविक स्थिति को देखते हुए बहुत ज्यादा था। कुछ मामलों में ऐसा हुआ कि जमींदारों ने उन्हें जमीन देकर अपने पक्ष में करना चाहा और उनके तथा उनके जात भाइयों के बीच फूट डालने की कोशिश की। इसके फलस्वरूप समूचे मुंडा समाज को खतरनाक*

परिणाम भुगतने पड़े। क्षत विक्षत मुंडारी खूंटकट्टी गांव इस प्रक्रिया के साक्षी हैं।"[29] यह पूरा ब्यौरा तीन कारणों से दिया गया है एक तो यह कि 'जिस क्षेत्र मे बिरसा आंदोलन आंरभ हुआ, वह ऐक्यबद्ध मुंडारी खूंटकट्टी प्रणाली का अभेद्य गढ़ था और अभी भी है।'[30] और दूसरा यह कि 'जब पुरानी भूमि व्यवस्था तमाड़, सोनपुर या भुईंहरी क्षेत्र में समाप्त हो गई, इन्हीं क्षेत्रों में 1859 से 1880 तक सरदारों का आंदोलन चला था।'[31] और तीसरा यह कि 'मुंडा लोग अभी भी अपने अधिकारों और विशेष अधिकारों का उपभोग कर रहे थे। वे जिस क्षेत्र में थे, वह पहाड़ी था, वहां आबादी विरल थी और खेती के लायक कोई खास जमीन भी न थी। यही कारण था कि बिरसा आंदोलन का आरंभ में धार्मिक स्वरूप था।'[32] मुंडारी भूमि व्यवस्था का विघटन ही असल में बिरसा आंदोलन के मूल में है। यह विघटन घटित कैसे हुआ? इस पूरी प्रक्रिया से परिचित कराने में ही यह सिलसिला थोड़ा विस्तृत हो गया। तो बिरसा आंदोलन को समझने का प्रस्थानबिंदु यह मुंडारी भूमि व्यवस्था का विघटन ही है। इसी जमीन पर आगे चलकर पूरा बिरसाईत आंदोलन विकसित होता है। बल्कि प्रतिरक्षात्मक आंदोलनों की जो एक श्रृंखला पूरे झारखंड में अनवरत रूप से मिलती है, उसके मूल में भूमि संबंध ही हैं। यद्यपि मुंडारी भूमि व्यवस्था का विघटन ऊपरी तौर पर देखने से एक आर्थिक परिघटना जान पड़ती है लेकिन जैसा कि मैंने कहा कि जनजातीय आंदोलन और विद्रोहों में एक साथ इतने सूत्र गुंथे हुए होते हैं कि उसे एकसूत्रीय तरीके से नहीं समझा जा सकता है।

संदर्भ सूची

1. एस. सी. रॉय, आदिम मुंडा और उनका प्रदेश, (हिंदी अनुवाद राज सहाय) आदिबासी वेलफेयर सोसाइटी, जमशेदपुर, 2018, वही, पृ 65 **2.** प्रसन्न कुमार चौधरी, अतिक्रमण की अंतर्यात्रा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 49 50 **3.** एस. सी. रॉय, वही, पृ 57 **4.** एस. सी. रॉय, वही, देखें परिशिष्ट IV पृ. XLVIII XLIX **5.** हिलेरी स्टैंडिंग, मुंडा रीलिजन एंड सोशल स्ट्रक्चर, पृ. 42 **6.** एस. सी. रॉय, वही, पृ 85 **7.** एस. सी. रॉय, वही, देखें (पृ 74-77) **8.** एस. सी. रॉय, वही, पृ. 77 **9.** एस. सी. रॉय, वही, पृ 24 **10.** एस. सी. रॉय, वही, पृ 62 **11.** एस. सी. रॉय, वही, पृ 73 **12.** एस. सी. रॉय, वही, पृ 63 **13.** एस. सी. रॉय, वही, पृ 66 **14.** एस. सी. रॉय, वही, पृ 71 **15.** एस. सी. रॉय, वही, पृ 79 **16.** एस. सी. रॉय, वही, पृ 81 **17.** एस. सी. रॉय, वही, देखें, परिशिष्ट 3 **18.** एस. सी. रॉय, वही, देखें, परिशिष्ट 3 **19.** एस. सी. रॉय, वही, परिशिष्ट 3, पृ. 34 **20.** एस. सी. रॉय, वही, परिशिष्ट 3, पृ. 34 **21.** एस. सी. रॉय, वही, परिशिष्ट 3, पृ. 36 **22.** एस. सी. रॉय, वही, परिशिष्ट 3, पृ. 35 **23.** Edward A. Violett, Faith based development : the social development persepective in catholic social teaching, University of London, 2003, p. no. 187 **24.** कुमार सुरेश सिंह, बिरसा मुंडा और उनका आंदोलन, वाणी प्रकाशन, 2004, पृ. 24 **25.** कुमार सुरेश सिंह, वही, पृ. 24 **26.** कुमार सुरेश सिंह, वही, पृ. 25 **27.** कुमार सुरेश सिंह, वही, पृ. 28 **28.** कुमार सुरेश सिंह, वही, पृ. 29 **29.** कुमार सुरेश सिंह, वही, पृ. 29 **30.** कुमार सुरेश सिंह, वही, पृ. 30 **31.** कुमार सुरेश सिंह, वही, पृ. 30 **32.** कुमार सुरेश सिंह, वही, पृ. 30

शरीफ लोगों का घर

सारा राय

रात का खाना खाने में हमें देर हो जाती है। पौने ग्यारह बज रहे थे। खाना शुरू ही किया था कि किसी ने जोर से पुकारा। इतनी जोर से कि टी.वी. के फुल वाल्यूम होने के बावजूद हमें आवाज सुनाई दे गई। फिर जीने वाला दरवाजा भड़ाक से खुला और वत्सला वहां खड़ी थी।

वत्सला ने कहा, "टी.वी. बंद करो और जल्दी से नीचे आओ। कोई फाटक इतनी जोर से पीटे जा रहा है कि लगता है तोड़ ही डालेगा।"

वत्सला मेरी पुरानी दोस्त है। हम स्कूल में साथ पढ़ते थे। बरसों से हम एक दूसरे को जानते हैं। यही नहीं, हम अब एक ही जगह रहते भी हैं। इलाहाबाद के जिस घर में हम रहते हैं वह बड़ा सा बंगला है। वह कभी पूरा एक में था, मगर अब उसके कमरों के सेट अलग अलग बनाकर किराए पर उठे हुए हैं। वत्सला अपनी बेटी के साथ बंगले के आगे की तरफ, नीचे के एक यूनिट में रहती है, सुदीप और मैं पीछे, ऊपर वाले यूनिट में। इनके अलावा दो यूनिट और हैं, मगर उनमें फिलहाल कोई नहीं रह रहा है।

यह घर बड़ा है, बंगले के चारों तरफ दूर तक फैला हुआ हाता है। घर के एक तरफ कुछ होता है तो दूसरी तरफ सुनाई नहीं देता। इसलिए फाटक पीटे जाने की आवाज न तो सुदीप ने सुनी थी, न मैंने। जितना बड़ा घर है, उसके हिसाब से इसमें किराएदार कम हैं। इसके कई यूनिट खाली पड़े हुए हैं। दोनों माली शाम को अपने घर चले जाते हैं। चौकीदार है नहीं। आगे के ज्यादातर कमरे बंगले के मालिक ने अपने लिए बंद कर रखे हैं। दरवाजे भी बंद रहते हैं। कभी कभी रात के सन्नाटे में लगता है—कहीं दरवाजा बजा, कोई आया। मगर नहीं, कोई नहीं आता। बस हमीं चार जन इस बड़े से घर में रहते हैं, दो ऊपर, दो नीचे।

"एक आदमी है कि कई हैं?" मैंने पूछा।

"पता नहीं।" उसने मेरी तरफ देखा। ऐसे खतरे के वक्त पर यह फालतू की छानबीन।

"जल्दी करो।" उसने फिर कहा।

जो फाटक पीटा जा रहा था वह घर के बंद हिस्से का फाटक है। उस पर हमेशा ताला लगा रहता है। मालिक चाबी किसी को नहीं दे गए हैं। वहां से आना जाना महीनों से बंद है। इस पुरानी सी इमारत के खंबे मोटे मोटे और गोल हैं। उनकी सफेदी पर कालिख छा गई है, फिर भी वह रात में सफेद झलकते हैं। खंबों के ऊपरी हिस्सों को मधुमालती की पुरानी बेल जकड़े हुए है।

घर के सामने बड़ा सा अपार्टमेंट ब्लाक हाल में बन गया है। हम, यानी वत्सला और मैं जब शाम को टहलने निकलते हैं तो इनमें से कई फ्लैट्स की बैल्कनी पर केसरिया झंडे लहराते दिखते हैं और लोग चलते फिरते रहते हैं, कभी शंख फूंकते हैं, कभी घंटी बजाते हैं, कभी ताली, या फिर थाली पीटते हैं। जब से ये फ्लैट्स बने हैं मोहल्ले में शोरशराबा रहने लगा है। शोरशराबे की हमें आदत नहीं है और हम कुढ़ते रहते हैं। हम शरीफ लोग हैं। रहने के लिए हमें बगैर किसी तरह की अड़चन वाली ढेर सारी जगह चाहिए।

हमारे घर के बंद हिस्से के फाटक के बगल में चंदन ने पान की गुमटी खोल ली है। पान तो बेचता ही है, गुटका और शायद मुनक्का भी बेचता है। हम जानते हैं कि उसने बिना किसी की इजाजत लिए दुकान खोली है, वह 'प्रापर चैनेल' से यहां नहीं आया है। यह बात हमें अखरती है। हम नियम कानून मानने वाले नागरिक हैं। उस फाटक से कोई आता जाता नहीं है तो फाटक के बगल में बनी पुलिया पर चंदन की दुकान के ग्राहक बैठे हुए दिखाई देते हैं। उनका 'अड्डा' जैसा कुछ यहां बन गया है। चंदन के धंधे में तेजी आ जाती है। उसके हाथ भी तेजी से चलते हैं। लगता है उसके दो नहीं चार हाथ हैं। आंख झपकते में वह बीड़ा बनाता है, फिर उंगलियां कत्थे से सने चिथड़े में पोंछता है, वहीं बैठे बैठे लकड़ी से राजश्री का पाऊच सामने लटक रही राजश्री की माला में से अलग करता है। उसके सफल धंधे के चलते उसके बच्चे पनप रहे हैं। इस धंधे पर पल रहे बच्चे मुझे कुछ नाजायज से लगते हैं। रात के इस पहर वहां अमूमन सन्नाटा रहता है। चंदन गुमटी पर ताला लगाकर घर चला जाता है।

फाटक मेन रोड पर पड़ता है मगर मेन रोड भी पतली सी सड़क ही है। अकसर अंधेरा रहता है। जब से फाटक के सामने फ्लैट्स बन गए हैं, थोड़ी रोशनी वहां से आने लगी है। यह रोशनी दीवार के किनारे किनारे लगे ऊंचे पेड़ों की परछाइयां लंबी कर देती है। कभी कभी मुझे लगता है पेड़ों की परछाईं में कोई छिपा बैठा न हो। हर पत्ते के सरसराने में मुझे किसी की आहट मिलती है। फाटक तक पहुंचने के लिए खासी लंबी दूरी तय करनी पड़ती है।

खाना बीच में ही छोड़कर हम उतरे। जल्दी जल्दी सीढ़ियां उतरकर वहां पहुंचने में मेरी सांस तेज तेज चलने लगी। रात अंधेरी थी। और भी अंधेरी इसलिए लग रही थी क्योंकि वत्सला की बेटी लतिका ने बाहर की सारी बत्तियां बुता दी थीं।

"इस तरह से जह हमें देख नहीं पाएगा।" उसने कहा। लड़की होशियार है। बत्ती जलाकर देखने का ख्याल मुझे आता है, मगर भूल जाती हूं कि मैं देख रही हूं तो दिख भी रही हूं। लतिका बहुत डरी हुई लग रही थी। मगर फाटक इतना ऊंचा था कि बाहर से अंदर झांकने पर कुछ भी दिखाई नहीं दे सकता था।

जो भी बाहर था वह सचमुच फाटक बहुत जोर से पीट रहा था। जैसे कि उसकी जिंदगी का अकेला मकसद अंदर घुस आना हो। फाटक को ज्यादा कस के ढकेलता था तो उसके

दोनों पट थोड़े अलग हो जाते और लगता कि बस अब खुल जाएंगे। जब ऐसा होता तो हम तीनों के मुंह से हल्की सी चीख निकल जाती। सुदीप बहादुर बना हुआ था। या कम से कम दिखाना चाहता था कि वह नहीं डर रहा है। वह फाटक की तरफ बढ़ा तो लतिका ने जोर से कहा—"नहीं अंकल! वहां मत जाइए!"

अजनबी के फाटक पीटने के जोश में थोड़ी कमी आ गई थी। थक गया होगा। फाटक पर लगी हरी प्लास्टिक शीट के पीछे धुंधले धुंधले से आकार डोलते हुए लग रहे थे। उनको देखकर वहम होता था कि वहां एक नहीं कई लोग हैं।

सुदीप ने ड्राइव के किनारे किनारे बनी थोड़ी ऊंची सी रविश पर खड़े होकर बाहर देखा।

"ओह!" कहकर वह फिर नीचे उतर आया।

"क्या दिखा?" वत्सला ने पूछा। फाटक की तरफ देखकर उसने ऊंची आवाज में कहा—"कौन है बाहर? बोलता क्यों नहीं? चल भाग यहां से! हट!"

बाहर से धीमी सी आवाज आई, लगा जैसे कोई अपने आप से बड़बड़ा रहा हो—"तू कौन बोल रही है?"

उसकी आवाज सुनकर लतिका बड़ी जोर से चौंकी, जैसे कोई गोली दाग दी गई हो। वह अपनी मां का मुंह देखने लगी।

"मम्मा, उसने आपको 'तू' कहा।"

"पीये हुए है।" सुदीप बोला।

"पीए हुए तो है ही, मगर खासा बदतमीज भी है।" मैंने कहा।

पियक्कड़ को देखने के लिए मैंने भी रविश पर खड़े होकर सिर उचकाया। अब तक वह जमीन पर लुढ़क चुका था। कोहनी घुटने पर टेके, एक हाथ से माथा पकड़े वह बैठा था जैसे कि मुसीबतों का पहाड़ उस पर टूट गया हो। दुनिया की झंझटों को लेकर सोच में डूबा आधुनिक युग का कोई दार्शनिक। वह लाल और काले चारखाने वाली कमीज पहने था। उसकी मोटर साइकिल सड़क के किनारे उलटी पड़ी थी।

मैंने भी कहा—"हां, पीके धुत्त मालूम देता है। यह लोग इतना क्यों पी लेते हैं कि अपने ऊपर कंट्रोल नहीं रह जाता? देखो, उससे खड़ा नहीं हुआ जा रहा है।"

"तुम इन लोगों को जानती नहीं, शोभना। यह बहुत चालाक होते हैं, हमारे घरों में घुस आएंगे। आकर अंदर रहने लगेंगे।"

उसने अपना वाक्य पूरा नहीं किया।

"मम्मा, वह अंदर आ जाएगा तो क्या होगा?" लतिका ने फुसफुसाया। उसकी आंखें फ्लैट्स से आती रोशनी में फैली हुई लग रही थीं, उनकी पुतलियां गायब और सफेदी ज्यादा दिख रही थी। चांद नहीं निकला था।

"मैं जा रही हूं 100 डायल करने। याद रखो, कभी भी सिचुएशन बिगड़ने लगे तो बस 100 डायल कर दो। वे फौरन आ जाते हैं।" वत्सला बोली।

"यह सब इस मनहूस चंदन की दुकान की वजह से है। यहां गुंडागर्दी यही करवाता है। नशेड़ी गंजेड़ी सब इसकी दुकान पर जमा रहते हैं। जब तक पुलिस का डंडा नहीं खा लेते ये मानेंगे नहीं।" मुझे भी गुस्सा आ रहा था।

सुदीप ने माहौल हल्का करने के लिए कहा—"हममें से कौन है जो कभी पीके टुन्न नहीं हुआ? थोड़ी ज्यादा तो कभी न कभी हो ही जाती है। और पान की दुकान तो अभी बंद है। पुलिस आके फिजूल में बेचारे को पीट देगी।"

बस। इसीलिए सुदीप से मेरी नहीं पटती। उसकी इस तरह की बातों से मैं चिढ़ती हूं। एक बार जब मैंने अपनी मेड गुड्डी को दिनदहाड़े चीनी और दाल चोरी करते हुए पकड़ा तो वह मुझ पर ही बरस पड़ा। कहने लगा वह गरीब औरत है, हमसे नहीं चुराएगी तो और किससे चुराएगी? अजब ऊलजलूल बातें होती हैं सुदीप की।

वत्सला और मैं दोनों उस पर हावी हो गए।

"बेचारे को? तुम उसको डिफेंड मत करो। तुम जैसों ने ही तो इन्हें शह दी हुई है। अपने नक्सली विचार अपने पास ही रखा करो।"

उसके मुंह से निकली हर बात मुझे 'नक्सली' लगती है।

"मैं यह दुकान यहां से हटवा के रहूंगी। डी.आई.जी. लेविल तक इस मामले को ले जाऊंगी।" वत्सला ने कहा।

तो उसकी पहुंच डी.आई.जी. लेविल तक है। इस बात ने मुझ पर अपना प्रभाव डाला।

कई बार कोशिश करने के बाद 100 पर किसी ने उठाया। वत्सला ने फोन को स्पीकर पर कर दिया था। सब कुछ साफ सुनाई दे रहा था। वह घबराहट में आगे पीछे टहल रही थी।

"मैंने कितनी बार आपको फोन किया। आप लोग उठाते ही नहीं हैं। फौरन यहां पहुंचिए।"

"मम्मा, कहिए कि इमर्जेंसी है!" लतिका ने जोर से फुसफुसाया।

"इमर्जेंसी है।" उसने कहा—"यह शरीफ लोगों का घर है। एक नशेड़ी अंदर घुसने की कोशिश कर रहा है। नार्कोटिक्स ब्यूरो को इत्तिला कर दीजिए।"

"अब पता चलेगा उसे जो शरीफ लोगों के घर पर आके बेहूदगी कर रहा था।" वत्सला ने फोन पर हाथ ढककर मुझसे कहा।

"मैडम, घंटे भर में हम वहां पहुंचते हैं। पता बताइए। और अपना फोन नंबर दीजिए।"

वत्सला रिसीवर पर हाथ ढके हुए ही मेरी तरफ मुड़ी—"फोन नंबर मांग रहा है। दे दूं? कोई लफड़ा तो नहीं हो जाएगा?"

"यह पुलिस वाले तो सबसे ज्यादा हरामी होते हैं, मगर नंबर नहीं दोगी तो वह कैसे कॉन्टैक्ट करेंगे?" सुदीप ने कहा।

उसने फोन फिर कान से लगा लिया—"घंटे भर में तो वह अंदर घुस ही आएगा। मैंने कहा न कि इमर्जेंसी है? आप लोग कहां से आ रहे हैं जो इतनी देर लगेगी?"

"मैडम, हम आपके लिए तो लखनऊ से भी आ जाएंगे।"

मुझे स्पीकर पर सारी बात साफ सुनाई दे रही थी। वत्सला ने फोन जरा देर के लिए मुंह से हटा लिया और हम दोनों थोड़ा खिलखिलाए—"कह रहा है आपके लिए लखनऊ से भी आ जाएंगे!"

इस बात पर हम फिर हंसे। एकदम से हम हल्का महसूस करने लगे थे।

"अच्छा जल्दी पहुंचिये, जल्दी। नहीं तो मैं डी. आई. जी. लेविल पर आपकी शिकायत करूंगी।"

हम बेचैनी में बाहर ही खड़े रहे। मच्छर काट रहे थे। रात तरह तरह के कीड़े मकोड़ों से भर गई थी। सुदीप ने उचक के गेट के बाहर झांका।

"अभी तक वैसे ही बैठा है।" उसने कहा।

"यहां गश्त लगवानी पड़ेगी। आज तो एक ही आया है, किसी रात अपने संगी साथियों को लेकर आ गया तो हम क्या करेंगे?"

सचमुच। इतने बदमाश एक साथ अंदर घुस आए तो हम क्या कर लेंगे?

"जब तक इसे यहां से हटाया नहीं जाता मैं सो नहीं पाऊंगी। इन लोगों को दबाना पड़ेगा नहीं तो ये हर तरफ फैल जाएंगे!" लतिका बदहवास लग रही थी।

"अरे यह तो 'वन आफ' है, बार बार थोड़ी आएगा।" सुदीप बोला।

"एक बार ही सही, ऐसी बेहूदा हरकत क्यों कर रहा था? आखिर उसके दिमाग में क्या था? लगता है उसे यहां आने की आदत है। पहले भी आ चुका होगा। क्या मालूम देर रात में दीवार फांदकर अंदर आ जाता हो?"

तभी वर्दी पहने हुए दो पुलिस वाले मोटर साइकिल पर धड़धड़ाते हुए मौके पर पहुंचे। नशे में सड़क पर लुढ़के हुए आदमी के बिल्कुल पास आकर वह मोटर साइकिल से उतरे। उनमें से एक ने अपने बूट से उसे ढकेला—"चल उठ! नाटक करता है? क्यों आया था यहां?"

वह कुछ नहीं बोला। उसका सिर गर्दन पर झूल रहा था; वह किसी और दुनिया में था।

अब उसके होश ठिकाने आ जाएंगे। इन असमाजिक तत्त्वों के साथ यूं ही सख्ती से पेश आना चाहिए।

आखिरी बार जब हमने फाटक के बाहर उचककर देखा तो पुलिस वालों ने उसे अपनी मोटर साइकिल पर बिठा लिया था। अब भी सिर झुकाए, वह लटका हुआ सा बैठा था। लगता था किसी भी मिनट वह फिसलकर नीचे आ जाएगा।

सुबह उठी तो रात का हादसा दिमाग से निकला नहीं था। नीचे जाकर देखा तो सब कुछ सामान्य था, लगा ही नहीं कि रात को यहां कुछ हुआ है। पियक्कड़ की मोटर साइकिल भी गायब थी। पता नहीं पुलिस वाले ले गए या कोई और। फाटक के ऊपर से झांका तो पान की गुमटी बंद थी। वहां कोई नहीं दिखा। वह बेंच और तख्त वहां नहीं थे जो गुमटी के आगे रखे रहते थे। वह एक एक करके गुमटी का सामान हटाएंगे। जो कल आए थे उनमें से एक ने वादा किया था कि गुमटी आज हट जाएगी। पहियों पर है, उसे ले जाना आसान होगा। खुद ब खुद चली जाएगी।

वत्सला कहीं नहीं दिखी। लतिका अभी सो रही होगी। खंबे के सामने से गुजर रही थी, तो देखा कि उसके पाए पर से पलस्तर उखड़ रहा है। अंदर से पतली पतली ईंटें दिख रही थीं जिनके बीच से मधुमालती की एक मोटी सी जड़ झांक रही थी। यह जड़ पता नहीं कितने गहरे गई होगी। यह तो घर के ढांचे को ही हिला देगी। थोड़ी देर में माली आता होगा। वह आ जाए तो उससे कहूंगी कि फौरन खोदकर देखे कि जड़ कितनी अंदर तक गई है।

क्या वह उसे निकाल सकता है?

पानी पर लिखा बेवतन लोगों का अफसाना

मधु कांकरिया

उतरती धूप में छत पर कुर्सी डालकर बैठी हुई थी। कौओं की कांव कांव और कोयलों की कुहू कुहू के मद्धिम मद्धिम स्वरों के बीच पास के ही पोखर में पड़ते आसमान के एक गुलाबी हिस्से की परछाई को निहार रही थी कि वॉकर के सहारे रेंगती, सिहरती पत्ती सदृश नमूदार हुई पीले चेहरे वाली वह समीना और मीठी नजरों से मुझे देखते हुए कहने लगी, "अस्सलाम अलैकुम!"

"अस्सलाम अलैकुम!" थोड़ी हड़बड़ाहट में निकल गया मेरे मुंह से, जबकि मैं अच्छी तरह से जानती थी कि अस्सलाम अलैकुम के जवाब में वालेकुम अस्सलाम कहा जाता है।

वे मुस्कराईं, उदासी का अक्स भी उभरा, ओढ़नी से सर को अच्छी तरह से ढांपते हुए उन्होंने कहा, "जैसे ही महमूद भाईजान से पता चला कि आप कोलकाता से आई हैं, या अल्लाह! मैं तो मरी जा रही थी आपसे मिलने के लिए। अपने मुल्क के लोगों को देखकर एक अद्भुत सुकून जो मिलता है।"

"बैठ जाइए।" सहारा देकर बैठाया उन्हें, "तो क्या आप भी कोलकाता से हैं? मैंने तो समझा कि आप बांग्लादेशी हैं?"

वे अब खामोश थीं सिर्फ उनकी निगाहें ही बोल रही थीं। मैंने फिर कुरेदा उनको, "तो क्या आप बांग्लादेशी नहीं हैं?"

वे रोने गाने लगीं, यातना का एक महाकाव्य उनकी आंखों के भीतर से झांकने लगा था, "बांग्लादेश मेरे भीतर बसा हुआ है आपा पर मैं बांग्लादेश के भीतर नहीं हूं। काश आपकी

तरह हमारा भी कोई घर द्वार होता, अपना कहने को कोई देश होता..." बोलते बोलते वे फिर सुबकने लगीं।

या इलाही माजरा क्या है!

"क्या मतलब?" मैंने पुचकारते हुए पूछा। पेड़ से गिरती पत्तियों से फिर गिरे कुछ शब्द उनके ओंठों से, "मतलब यही आपा कि हमारे तो होने को ही अनहोना कर दिया गया है। हम कहीं के भी नहीं हैं। न बांग्लादेशी, न हिंदुस्तानी। सच कहूं तो मुल्क तो नसीब वाले लोगों का होता है। हम लोगों का क्या मुल्क? एक बार जड़ से क्या निकले कि खदेड़े जा रहे हैं हर कहीं से। हम तो बिना जड़ों के पेड़ बना दिए गए हैं आपा!" वह अब अपने को पूरा उधेड़ने के मूड में आ गई थीं। शायद अधपके अन्न की तरह बहुत कुछ खदबदा रहा था उनके भीतर। पर अधिक कुरेदने की जरूरत नहीं पड़ी, हल्के धक्के से ही भीतर जमा अनकहा बांध टूटी नदी सा बहने लगा था, "आप तो अफसाने लिखती हैं आपा। आपने औरतों के ऐसे ढेरों अफसाने लिखे होंगे, शौहर की सताई औरत, भाइयों की सताई औरत, सास ननंद की सताई औरत, पर क्या बेवतन लोगों की छाती में जलनेवाली आग का अफसाना लिखा जा सकता है? क्या शरीर से आत्मा के छिटके जाने का दर्द लिखा जा सकता है?"

"क्या मतलब?" वह सचमुच मुझे थोड़ी रहस्यमयी लगीं। थोड़ा नीचे खिसक आए चश्मे को ठीक करते हुए कहा उन्होंने, "मेरे अब्बू का जन्म बिहार के सिवान गांव के मियां टोले में हुआ था। सब कुछ ठीक चल रहा था। अब्बू की कपड़ों की दुकान थी। हमारी दुकान के बने जरदोजी के काम के बने घाघरा और कामदार जूते पूरे बिहार में जाते थे। अब्बू बड़े चाव से उनमें सलमा सितारे जड़वाते थे। कई बार अम्मी से कहते भी थे—तू भी पहन ये घाघरा, अल्लाह कसम नूरजहां लगेगी। लेकिन अम्मी गरारों पर ही फिदा रहती। अब्बू का बड़ा नाम था, सिवान की शायद ही कोई दुल्हन हो जिसने बिना अब्बू के घाघरे के सात फेरे लिया हो। हमें तो हिंदू धर्म से रोमांस था। मोर मुकुट में सजे धजे कृष्ण, बांसुरी बजा बजा रास रचाते कन्हैया, लाल जीभ से खून टपकाती काली जी। हमारे मजहब में बुतपरस्ती गुनाह है लेकिन फिर भी हम रेशम और गोटे से कृष्ण कन्हैया के लिए गद्दे और बिस्तर वाला झूला तैयार करते और जन्माष्टमी के दिन गद्दे पर अधलेटे कृष्ण को देख गदगद होते रहते थे। अपने हिंदू ग्राहकों को देख रौशन ख्याल अब्बू मजा लेते हुए कहते थे, 'क्या बात है आपके भगवानों को देखो जब तब आते जाते रहते हैं और एक हमारे अल्लाह मियां है जाने किन गुफाओं कंदराओं में छिपे रहते हैं।' हमारे मुस्लिम भाई कई बार अब्बू पर तंज कसते तो जानती हैं अब्बू क्या कहते, अब्बू कहते—ये मेरे हमवतन हैं, हम निवाला हैं, हम सब एक ही माटी, पानी और हवा के हिस्सेदार हैं, उनकी सदियों पुरानी संस्कृति और फलसफा में साझीदार होने से क्या हमारा ईमान डोल जाएगा? क्या वह इतना कमजोर है? हमारा खुदा इतना तंगदिल नहीं कि नाराज हो जाएगा।

"हमेशा घोड़े पर सवार रहने वाले अब्बू ने भी जब सुना कि पाकिस्तान बनेगा तो बेशक बुरा लगा उन्हें लेकिन कोई खास फिक्र नहीं हुई। हिंदुस्तान में जब लोग कहने लगे कि मुसलमान यहां के नहीं है, उन्हें जाना होगा, तब भी मेरे अब्बू ने कह दिया था कि वे कहीं नहीं जाएंगे। जिद और जिंदादिली दोनों थी उनमें। अम्मी रोती कि हम यहां महफूज नहीं तो अम्मा को मीठी डांट पिला देते, 'अल्लाह ने किलो भर आंसू दिए, काश छटांक भर बुद्धि भी डाल दी होती।' लेकिन तभी खबर आई कि रावलपिंडी धू धू कर जल रहा है और 'अल्लाह हो अकबर के नारे लगाते मुसलामानों ने हिंदुओं और सिखों के घर जला दिए।'

और उधर पंजाब भी नफरत की आग में उबल रहा था। तब कयामत की एक रात हमारे यहां भी नफरतों का बम फटा और हमारे जर्रे उड़ गए। बुद्ध की इस धरती पर 'हर हर महादेव' करते बलबाइयों का धर्म उनके भीतर कुलांचे मारने लगा। आधी रात बेकाबू सांड़ की तरह बलबाइयों की उन्मत्त भीड़ आई और मजहबी जोश में उन्होंने हमारी दुकान जला दी, छत पर खड़े अब्बू अपनी दुकान को आंखों में आंसू और दिल में आग लिये जलते देखते रहे। उस एक रात ने ही अब्बू को घर से बेघर और इंसान से मुसलमान बना डाला था।

चंद दिनों बाद ही बंटवारे के बाद आनेवाली हिंसा से घबड़ाकर जिसे जैसा मौका मिला, कोई ट्रेन से तो कोई रोड से तो कोई नौका से निकल भागा। मेरे अब्बू भी समझ गए थे कि अब दाना पानी उठ गया यहां से। भीतर से हम क्या हैं, किसी को नहीं दिखेगा, पर बाहर से हम इतने मुसलमान तो दिखते ही थे कि हमारा मारा जाना लाजिमी था। बस सीवान से पूर्वी पाकिस्तान हम दो जुड़वां बहनों और अम्मी के साथ अब्बू यहीं ढाका आकर बस गए। मैं उस समय दो साल की थी। मन को मना लिया कि अब यही अपना मुल्क है।" उनकी कहानी लंबी खिंच रही थी, मैंने टोकते हुए पूछा, "माना, अब यह पूर्वी पाकिस्तान, बांग्लादेश बन गया, पर इससे आप मुस्लिमों को क्या फर्क पड़ा, आपका अल्लाह तो अब भी वही है। हिंदू तो अब आपका कुछ बिगाड़ नहीं सकते थे।"

गर्म रेत पर पड़ी मछली सी वह तड़पीं, आवाज अनायास ही चाकू की तरह तेज हो गई, दुपट्टा थोड़ा खिसक गया था, उसे ठीक करते हुए कहा, "अरे कैरम की गोटी की तरह छिटक गए हम सभी और आप कहती हैं क्या फर्क पड़ा? बांग्लादेश जब बना तो हम पर वापस वही सब गुजरी जो 47 के दौरान बिहार में गुजरी थी। नफरत के जो बीज 47 में बोए गए थे उसकी बंपर फसल अब लहरा रही थी, पाकिस्तान से फिर एक पाकिस्तान निकला पर इस बार उसका नाम था बांग्लादेश। कहानी वही थी बस किरदार इस बार अपने ही मजहब के थे। उस समय जलते दिल से यही निकला था कि काश दुनिया से मजहब मिट जाए तो हमारी दुर्गति न हो! पर इस बार क्या कहेंगे? कहां जाएंगे हम?"

"क्या मतलब?"

"मतलब अब हमें तिलक, त्रिशूल और मंदिर वाले हिंदुओं से नहीं, अपने ही मजहब के बांग्लादेशी मुस्लिमों से खतरा था।"

"क्या कह रही हो? मुस्लिम को मुस्लिम से खतरा?"

"जी मैडम फिर भीगी उनकी पलकों की झालर—"राजनीति के ये उलझे रेशे मेरी समझ से परे हैं, मेरा जन्म चाहे सीवान में हुआ हो लेकिन मैंने बांग्लादेश को शिद्दत से चाहा। इसी के पानी में मछली की तरह घुलमिल गए थे हम। जिंदगी ने यहीं मुझे खोला और संभाला था। यहीं रहकर मैंने हायर सेकेंडरी की परीक्षा पास की। गंगा और पद्मा नदी के नाम मैंने अपनी पहली कविता यहीं लिखी, फिर मेरे साथ ऐसा क्यों हुआ कि उजाड़ दिया गया हमारा आशियाना। आज हमें अपने परिवार के साथ जेनेवा कैंप में रहना पड़ रहा है, अब हमको यहां का बाशिंदा नहीं समझा जाता है, हमारे पास न पासपोर्ट है, न हम सरकारी नौकरी कर सकते हैं। हमसे यहां की नागरिकता छीन ली गई है इसलिए मैं चाहकर भी अपनी जुड़वां बहन इशरत से नहीं मिल पाई, हमारे बीच के सारे पुल टूट गए। ठिकाने वही हैं पर जिंदगी ने अपने ठिकाने बदल लिए हैं। पानी से पानी क्या अलग हो सकता है? लेकिन हो गया। चालीस साल गुजर गए उसे देखे हुए...वो सर्दी की धूप सी सुहानी इशरत..." बोलते बोलते वह फिर सिसक पड़ीं। पीड़ा का समुद्र उनकी आंखों में लहराया। जाने कितनी नदियों का

पानी बह रहा था उनके भीतर। कब किस नदी का पानी ऊफान पर आ जाए और कब कौन नदी उतार पर आ जाए, खुद उन्हें भी कहां पता था। उनका तो कलेजा कट रहा था कभी भारत की गंगा याद कर तो कभी ढाका की पद्मा नदी को याद कर।

मैंने नहीं रोका...बहने दिया उन आंसुओं को। एक गहरे निश्वास के बाद फिर फुदकने लगे शब्द अवरुद्ध कंठ से, "बचपन के तेईस साल तक परछाई की तरह मेरे साथ रही वह। चांद और सूरज हमारी पलकों पर एक साथ उगते और डूबते होते थे। वह हॉर्मोनियम बजाती और मैं रवींद्र गीत गाती थी। वह रोटी बेलती और मैं सेकती थी। वह कपड़े धोती और मैं फैलाती थी। फिर अब्बू ने हमारी शादी करवाई। मेरी शादी ढाका में हुई। दादी चाहती थी कि एक रिश्ता कोलकाता में हो जाए तो कोलकाता में भी आना जाना लगा रहेगा। इशरत का रिश्ता कोलकाता में हुआ। शादी यहीं मोहम्मदपुर में ही हुई। कैसे भूल सकती हूं, वह 16 दिसंबर 1970 का चमकता दिन था। ढाका पूरे नूर पर था। धूमधाम से शादी हुई और फिर इब्राहिम जीजू वापस कोलकाता चले गए। लेकिन हम लोगों का प्रेम देख जीजू ने यहीं बसने का मन बना लिया था, वैसे भी जीजू के परिवार में सिर्फ उनकी एक आपा ही बची थी, उनके अम्मी अब्बू का इंतकाल हो गया था। तो जीजू अपनी आपा के लिए ढाकाई साड़ी, भांजा के लिए ढाकाई मलमल का कुरता लेकर कोलकाता चले गए, हमसे बोले—इशरत को वहां का विक्टोरिया गार्डन भी दिखा दूंगा और आप सबके लिए चित्तरंजन का रसगुल्ला भी लेता आऊंगा और इंशाअल्लाह अच्छा पैसा मिल गया तो इसी बार सब बेच बाचकर यहीं मोहम्मदपुर में बस जाऊंगा। आखिर परिवार का सहारा बहुत माने रखता है। इशरत ने भी यह सोचकर कि वापस तो यहीं आना है, अपनी शादी में मिला कुछ भी सामान साथ नहीं ले गई सिवाय कुछ सुंदर ड्रेस के। जीजू को धानी रंग बहुत पसंद था, इशरत ने इशारे से अम्मी के सामने बताया भी था, पर मैं ठहरी गोबर गणेश सो उसके लिए बक्से से अपनी पसंद की हल्के गुलाबी रंग की जामदानी साड़ी निकालकर ले आई। उसने पहन तो ली पर जाते जाते बिट्टो रानी आंखें तरेरना न भूलीं..." कहते कहते पहली बार वह हंसीं। लेकिन हंसी का आखिरी हिस्सा फिर मायूसी में बदल गया, आंखों में पीड़ा लहराने लगी, "बस वही आखिरी झलक थी उसकी। सोलह भरी सोना जो उसे अब्बू ने दिया था, उसे भी दंगाइयों ने लूट लिया। हिंसा और लालच उनके दिमाग में घोसला बना चुके थे।"

"हिंसा तो समझ आती है पर लालच?"

"हां आपा! लालच नहीं होता तो हम बिहारी मुसलामानों की संपत्ति पर क्यों हाथ साफ करते वो। हमारा सोना और हमारे घर पर कब्जा क्यों करते वो? सिर्फ एक कमरे को हमारे लिए छोड़कर हमारे सारे मकान और सामान पर भी कब्जा कर लिया।"

कुछ बेचैन पल!

मैंने उनके सर पर हाथ धर दिया तो मेरा हाथ थाम कहने लगीं—"मेरा काम कर देंगी न!"

"कर दूंगी पर मुझे यकीन नहीं हो रहा कि हनीमून मनाने कोलकाता गई इशरत फिर वापस लौटी ही नहीं? इतने सालों बाद भी?"

देखते देखते वह फिर शांत झील से गर्म इस्त्री में तब्दील हो गईं, चेहरे पर कांटे उग आए, "यही तो सारा रोना है आपा, उधर उसको विदा किया इधर मोहम्मदपुर और मीरपुर में मारकाट मच गई। मेरी मामी अपनी एक बच्ची के साथ मोहम्मदपुर में रहती थी। मामू सब्जी लेने बाजार गए थे। पीछे से बंगाली मुसलमानों ने घर को घेर लिया। कच्चा मकान था। मामी देखने में सुंदर थी, पहले उस हरामी ने मामी के साथ मुंह काला किया, फिर मामी के पेट

में छूरा भोंक दिया। हरामियों ने मामू की पांच साल की बेटी को भी नहीं बख्शा। उस पर भी छूरा चला दिया। भागे भागे मामू वापस लौटे तो बेटी की सांस चल रही थी। मामू के पूछने पर कि कैसे हुआ यह सब, उसने मुंह से अटकते स्वर में सिर्फ एक नाम लिया 'राशिद चाचू' और गर्दन लटका दी। वह कमीना राशिद और कोई नहीं मामू का ही किराएदार था। वर्षों साथ साथ पतंगें उड़ाईं पर बांग्लादेश बनते ही हम हम नहीं रहे। पड़ोसी पड़ोसी नहीं रहा। मर गया था उसकी आंख का पानी। वह अब गंड़ासे में बदल चुका था। हम बिहारी बन चुके थे। हरामियों ने दंगे की आड़ में मामू का घर भी कब्जा लिया। वहां से मामू हमारे यहां मीरपुर चले आए। लेकिन मीरपुर में भी फिजा बदल गई थी। हमारे सुख चैन पर यहां भी बाघ ने पंजा मार दिया था। दंगाइयों का मन हरामी हो गया था और हम बाबर की औलाद हो गए थे। हर नुक्कड़ पर था हमारे लिए खुला चमचमाता खंजर! हर कोई अपनी खाल से बाहर आ चुका था, बिजली का नंगा तार हो चुका था। हालत यह हो गई थी कि जहां देखते मर्दों को, सबको कमर में डोरी से एक साथ बांध ले जाते वहां के दंगाई बंगाली। हम घरों की सारी खिड़कियां और दरवाजे बंद रखते। जूता पहनकर सोते, घर को कंधे पर लादे कि कब भागना पड़ जाए। मेरे अब्बू, शौहर, भाईजान और मामू तो तीन दिन तक घर के अंदर पलंग के नीचे छिपे रहते, वहीं सोते, वहीं खाते कि कौन जाने कब कोई भूखा भेड़िया निकले अपनी मांद से और दबोच ले हमें।"

गहरी सांस खींच बोलीं वो, "ऐसी हालात में मेरे घोसले की वह चिड़िया इशरत क्या लौटती! बूंद की तरह टपकी और ओस की बूंद की तरह गायब! बस वही मुट्ठी भर चांदनी सा वक्त बीता उसके साथ! ऊफ, कितना प्रेम था। वह नीला दुपट्टा लेती और मेरा मन आसमानी हो जाता।" अपने प्रवाह में बहती वह फिर कविता करने लगी थीं।

"असली बात बताओ।" मैं झुंझलाई। वह एक ही बात को जाने कितनी बार बोल रही थीं, जाने क्यों उनको लग रहा था कि मैं पूरी शिद्दत से उनकी बात समझ नहीं पा रही हूं जबकि उनकी बात में ऐसी कोई बात थी ही नहीं कि मैं समझ न पाऊं। वह शर्मिंदा हुईं। हल्की झुर्रियों से भरे बूढ़े चेहरे की खाल कांपी। बिखरी स्मृतियों को बटोरते हुए फिर अपनी रौ में बहने लगीं वो, "बचपन से ही कविता करना अच्छा लगता था, आदत अभी तक नहीं गई आपा। फिर बहुत दिनों बाद कोई मिला है न अफसानानिगार आप जैसा तो कविता भी जैसे आजाद परिंदा हो गई है। हां तो मेरा मतलब यह था कि आज पचास साल से तरस रही हूं इशरत को छू लेने के लिए। कौन समझ सकता है मेरे दिल के सन्नाटे को। रात आंख झपकती भी नहीं कि बुरे ख्वाब नोच लेते हैं नींद को। शायद ही कोई रात गुजरी हो कि कायदे से सो पाई हूं, कलेजे में वो हूक उठती है कि क्या बताऊं। लगता है जैसे कोई खंजर गड़ा है भीतर। आठ आठ आंसू रोते अब्बू भी धरती की लड़ाई लड़ नहीं पाए और आसमान हो गए। इशरत इशरत करते प्राण निकले उनके। मैं कौन जिंदा हूं, काठ हो गई हूं। शरीर यहां रूह वहां। जब कलेजे की हूक थमती ही नहीं और घबड़ाहट बहुत बढ़ जाती है तो बेटा मुझे डिप्रेशन की गोली खिला देता है। तीस साल से खा रही हूं ये गोलियां, अब तो मरी ये भी असर नहीं करतीं। मेरी गोली तो इशरत है। कुछ साल पहले मेरा बेटा एक बार चोरी से छुपते छुपाते किसी प्रकार पहुंच गया था वहां केलाबगान में। काश! तभी चली जाती उसके साथ! मैंने तो कहा भी लेकिन चोरी छिपे मुझे ले जाने की हिम्मत नहीं हुई उसकी! अपने लोगों ने भी मना किया, अब पछता रही हूं, चली जाती तो मन को सुकून तो मिल जाता, ज्यादा से ज्यादा क्या होता, अंदर ही तो कर देते? अभी कौन बाहर हूं!"

मैंने फिर उस पर विराम लगाते हुए पूछा, "केलाबगान?"

"हां, वहीं रहते हैं जीजू कोलकाता में, बेटे ने यहां आकर जो बताया उसका हाल तो कलेजा मुंह को आ गया। मेरे जीजा जो हुनरमंद कारपेंटर थे, अब काम नहीं कर पाते हैं। मरीगिरी सी बस एक नौकरी है उसके साहिबजादे के पास, मेरी अजीज आपा, दूध भरे थाल सा उसका रूप, हरीभरी देह, एकदम कजलाई हो गई है, कमर झुक गई है। न अब्बू का आसरा न शौहर का..." उनकी उदासी का रंग एकाएक गाढ़ा हो गया। हथेलियों से मुंह ढांप वह फिर फफक पड़ीं।

कुछ खामोश बोझिल पल!

उनके कांपते जिस्म को देख, सांत्वना देने के लिए कुछ पूछना जरूरी था, इसलिए पूछा मैंने, "मैं कुछ समझी नहीं, क्यों नहीं मिल सकती तुम इशरत से। इतने सालों में क्या की तुमने कोई कोशिश?" दुपट्टे के पल्लू से नाक आंख को पोंछते हुए बोलीं वह, "क्या कोशिश करती आपा? कैसे करती? बिना पासपोर्ट कैसे जाती? शुरू में तो हमें बस अपनी जान बचाने भर की पड़ी थी इसलिए सरकार ने भी हमारे मुंह पर काला कपड़ा डाल हमें इन कैंपों में डाल दिया कि हम बचे तो रहेंगे, सर पर छज्जा तो रहेगा। पर सरकार ने हमारे सारे नागरिक अधिकार छीन लिए तो हमें भारत जाने के लिए पासपोर्ट कहां से मिलता? हमारे पास तो वोट तक देने का हक नहीं था। सरकारी नौकरी तक हमें नहीं मिल सकती थी। रोटी और जिंदा रहने की लड़ाई ने ही निचोड़ लिया हमें। अब तो फिर भी कुछ ढिलाई हुई है। फर्ज कीजिए आज परमिशन मिल भी जाय तो शरीर ऐसा जर्जर कि दस मिनट न चल पाऊं, न लंबा बैठ पाऊं। ऊफ! तब तो कोई सोच भी नहीं सकता था कि पाकिस्तान के भी दो टुकड़े हो जाएंगे। हमने सोचा था कि पाकिस्तान बन गया अब झमेला खत्म, तब क्या पता था कि बंटवारा कभी खत्म नहीं होता। युद्ध कभी नहीं थमता। बाहर से चाहे खत्म हो गया पाकिस्तान का डर पर भीतर की बांबी में बसा पाकिस्तान कभी खत्म नहीं होता। अब्बू ने भला ही सोचा था कि रिश्तों की डोर के सहारे वे कोलकाता की डोर से भी बंधे रहेंगे, कुछ सालों तक रिश्तों की अमीरी रही भी, हम अपने चचाजान से मिलने आते जाते भी रहे कोलकाता पर बांग्लादेश क्या बना, यहां के बंगालियों की तासीर में ही पानी मिल गया। सारे धागे ही टूट गए।"

"मैं नहीं समझ पा रही हूं। बांग्लादेश के मुक्ति संग्राम में तो भारत ने बांग्लादेश की भरपूर सहायता की थी। फिर भारतीय मूल के मुसलामानों से क्यों इतनी नफरत?"

"हम पर हिंदुस्तान का अहसान है आपा, इससे मैं कब इंकार कर रही हूं। लेकिन बांग्लादेश बनने के बाद हमसे अपनी खुशी से जीने का हक छीन लिया गया क्योंकि बांग्लादेश बनने के बाद हमें सिर्फ मुस्लिम नहीं बिहारी मुस्लिम कहा जाने लगा था। हमारी जड़ें आज के पाकिस्तान में खोजी जाने लगीं जबकि हम बिहार से आए थे। हमने तो पाकिस्तान देखा तक नहीं था। पर क्योंकि हम अल्पसंख्यक थे और उनकी तरह न दिखते थे, न बंगाली बोलते थे। हम हिंदी उर्दू बोलते थे। और आपको यह भी पता होगा कि बांग्लादेश बनने के पीछे भाषा का भी बहुत बड़ा कारण था, पाकिस्तान यहां के बंगालियों पर उर्दू थोप देना चाहता था। जबकि बांग्लादेशियों को लगता था कि उर्दू का साहित्य उनका अपना साहित्य नहीं है और न ही उर्दू इनकी स्वाभाविक भाषा है। इसलिए अलगाव का बीज तो तभी पड़ गया था जब सालों पहले पाकिस्तान ने बंगाली को दबाकर उर्दू वालों को तवज्जो देना चाहा। माना पाकिस्तान ने गलती की, यह भी माना कि हमारे लोगों से भी चूक हुई, पर वे बंगाली तो टैगोर के गीत गाते थे, पर टैगोर को कितना समझा उन्होंने? दोनों ही देशों में टैगोर का गीत राष्ट्रीय गीत बना, दोनों

ने यह भी माना था 'सबाई ऊपरे मानुष सत्य' पर किसने अमल किया इस पर? बताइए!"

बोलते बोलते वह अचानक लपट में तब्दील हो गई थीं।

मैं चुप! क्या जवाब देती उनके सवालों का?

एक अजीब सा विषाद आकर बैठ गया था हमारे बीच।

विषाद को दूर भगाने के लिए समीना को वहीं छोड़ मैं चौके में चाय बनानें चली गई।

बांग्लादेश मेरी संवेदना का हिस्सा तब से बना हुआ था जब मैं कॉलेज में थी। उन दिनों मुक्तिवाहिनी का बांग्लादेश मुक्तिसंग्राम चल रहा था। पश्चिम बंगाल के छात्र भी उन दिनों पाकिस्तान विरोधी रैली में बढ़ चढ़ कर भाग ले रहे थे, मैंने भी उन दिनों की रैली में बंग बंधु मुजीब के समर्थन में 'जय बांग्ला' जैसे खूब नारे लगाए थे। उन्हीं दिनों ढाका यूनिवर्सिटी की कुछ छात्राओं ने वहां के अनिश्चितकालीन बंद के मद्देनजर हमारे कॉलेज में दाखिला ले लिया था, उसी दौरान हम हिंदुस्तानियों ने ढाका और बंगबंधु मुजीब के लिए एक गहरी आत्मीयता महसूसी थी।

जाने अनजाने उन दिनों के ढाका और मुजीब ने मेरे मन में अपना बसेरा बना लिया था।

कभी का देखा वह स्वप्न अब पूरा हुआ जब साल भर के लिए मुझे ढाका आने का सुअवसर मिला।

पहली नजर में ढाका सचमुच बहुत ही रमणीय लगा। रात यहां रात जैसी थी, कभी तारों भरी तो कभी काजल भरी। सुबह शहर फिर बदल जाता। पोखरों, पेड़ों, पाखियों और झूमते बादलों से भरपूर ढाका की सुबह सरगम रचती। नीले आसमान में उड़ान भरते परिंदे, पेड़ों पर फुदकती गिलहरी, ढेरों ढेर हरे तोते, रकम रकम की रंगबिरंगी चिड़ियां, उनकी गूंज, टहनियों और पत्तियों की सरसराहट...प्रकृति के शोर और मौन को सुनने में ही गुजर जाती थी मेरी सुबह। यहां के पोखरों में खिले पदम फूलों को देखते देखते अक्सर ओठों पर भूली बिसरी पंक्ति थरथराने लगती—मेघेर ढाका ढाका। गुड़ गुड़ करते मेघों से ढके ढाका की टापुर टुपुर बारिश जब नारियल की झुकी टहनियों के पत्तों पर गिरती तो सचमुच जलतरंग सी बज उठती थी।

यहां सचमुच अल्लाह और इंसान हमेशा साथ साथ रहते थे। सुबह हर मस्जिद से आती अजान की गूंज, फजर (सुबह की नमाज) के लिए पुकारती और यह संदेश देती कि प्रार्थना सोने से बेहतर है। । लगभग हर ऑटो के पीछे लिखा मिलता 'अल्लाह सर्व शक्तिमान'।

मुझे अच्छा लगा कि यहां अल्लाह और इंसान साथ साथ रहते हैं। एक बार मैंने अपनी मातहत को काम का दायित्व सौंपते हुए पूछा—हो जाएगा? उसने फिर अल्लाह को आगे कर दिया और कहा—इंशाअल्लाह। मैंने मजाक में कहा—तनख्वाह मैं तुम्हें देती हूं, अल्लाह को नहीं तो फिर हर बार तुम अल्लाह को आगे क्यों कर देती हो? जवाब में फिर उसने हाथ लहराते हुए कहा—वल्लाह!

हम दोनों ही खिलखिलाकर हंस पड़े! ऐसा प्यारा बांग्लादेश और यह कह रही हैं कि इस देश ने बर्बाद कर डाला इनको?

या इलाही माजरा क्या है!

कब नजर में आएगी बे दाग सब्जे की बहार,
खून के धब्बे धुलेंगे कितनी बरसातों के बाद

बिस्कुट और मठरी के कुछ टुकड़े चद्दर पर गिर गए थे, उन्हें बुहारते हुए उन्होंने कहा— "हम बिहारियों ने कितना कुछ तो दिया इस मुल्क को लेकिन जैसे ही भाषा का मसला आया हमारे किये धरे को फोल्डिंग कुर्सी की तरह समेटकर कोने में डाल दिया गया और हमें कह दिया गया—दफा हो जाओ यहां से। हम यहां की कल्चर बिगाड़ रहे हैं। कितना भरोसा किया था हमने इन पर, उनके गाने की एक पंक्ति है—ये देश तोमार आमार (यह देश तुम्हारा हमारा है)। झूठा था वो गाना। माना कि हममें से कुछ लोगों ने बांग्लादेश बनने का विरोध किया था, कुछ ने पाकिस्तान का समर्थन भी किया था, पर इसका दंड पूरे समुदाय को क्यों दिया गया? काश उस समय हम अपने आज को देख पाते।"

"आप लोगों ने मुकाबला नहीं किया उनका?" मेरे पूछने पर उनकी आंखों में शोले भड़क आए थे, "जहां जहां हम ज्यादा थे किया भी, पर अब हुकूमत उनकी थी, हम पतला दूध और पतली दाल खाने वाले क्या खाकर मुकाबला करते उनका! हम निहत्थे, वे रथ पर सवार। वे जमाने के खुदा! हम उनके पैरों की ठोकर! आसमान से नफरत और हिंसा बरसने लगी, बांग्लादेश के जन्म का जश्न अभी कायदे से शुरू भी न हुआ था कि खून खराबा, मारकाट, लूटपाट, नफरत और बलात्कार का नया दौर शुरू हो गया। 'मैं श्रेष्ठ मैं श्रेष्ठ' के मारे वे यह भी भूल गए कि इस्लाम का मतलब होता है इंसाफ। इधर शिशु देश ने मिचमिची आंखों से देखना शुरू किया, उधर हम पर गाज गिरनी शुरू हो गई। जो अभी तक हमारे पीछे पीछे दुम हिलाते चलते थे, वे भी आंख दिखाने लगे। हम इस देश के बाशिंदे ही नहीं रहे। वे मुक्त आत्मा थे, कानून से ऊपर। उनको आजादी मिली और आजादी के साथ हमें मारने की भी आजादी मिली। हमें मरने की आजादी मिली। सबकी अलग अलग आजादी। और तो और हमारे कुत्ते भी अब बिहारी कुत्ते कहलाने लगे। हमें मुकम्मल मुसलमान नहीं समझा गया। क्योंकि हम न बंगाली मुसलमान जैसे दिखते थे और न बंगाली बोलते थे। उर्दू बोलने के कारण और गोरा दिखने के चलते हमें पाकिस्तानी समझा गया। हम बुरका और हिजाब भी नहीं पहनते थे। मछली भी उतना नहीं खाते थे। उन दिनों हम पर जो कहर गुजरी कि क्या बताऊं। हसनाबाद में हमारी कॉलोनी थी, जिंदगी की सबसे उदास कविता उस रात लिखी गई जब खिड़की से मैंने देखा, मालगाड़ी में भरकर लाशें जा रही थीं। सिर्फ शक्ल और भाषा देखकर हमें मारा जा रहा था। उन दिनों हमारे बारे में बांग्लादेशी यहां तक कहने लगे थे कि हमारी तो चालढाल भी अलग है। इतनी नफरत भरी थी उनके अंदर हमारे लिए। वैसे सच कहूं तो नफरत दोनों ओर थी और दोनों की नफरत दोनों के लिए खाद पानी का काम कर रही थी। किसी को हमारे पेपर देखने तक की भी फुर्सत नहीं थी, ऐसा जुनून था उन पर हिंसा का। हमारे घर में बांग्लादेशी घुस आए थे कट्टे लेकर, कैसे कैसे संपोले, जाने किन किन से आशनाई लड़ा के मांओं ने जना था उन्हें कि उतारू थे खून पीने को। एक बार तो लगा मार डाले जाएंगे हम सभी पर हम तो जीने पर तुले थे, बच गए। अपने बचाव के लिए उन काले दिनों में हमने हिजाब पहनना शुरू कर दिया था। मैंने लिप्स्टिक और नेल पोलिश तक लगाना बंद कर दिया था। खुद को एकदम मुकम्मल मुसलमान दिखाने के लिए। हम अपने घरों की दीवारों पर कुरान की आयतों की तस्वीर चिपका कर रखते थे कि दंगाई समझ जाएं कि हम मुस्लिम हैं, हिंदू या हिंदुस्तानी नहीं हैं। हम ही नहीं इस्माइली मुसलमानों का भी यही हाल था, उन्हें भी पाकिस्तानी माना गया। हालात यहां तक बिगड़ गए कि इस्माइली मुसलामानों को तो इमाम द्वारा जमातखाने में निर्देश दिया गया कि महिलाओं और बच्चों को बांग्लादेश से बाहर भेज दिया जाए।"

"जमातखाना?"

"जी नमाज के बाद जो सामूहिक बैठक होती है न।" दाहिने हाथ से माथे का पसीना पोंछते हुए कहा उन्होंने।

"पर उसमें तो बंगाली मुस्लिम भी होते होंगे?"

"नहीं मैडम इस्माइली मुसलामानों की मस्जिद अलग होती है।"

"कैसे पहचानते हो कि यह उनकी है, आपकी नहीं?"

"मैडम उनकी मस्जिद की बनावट थोड़ी अलग होती है। वे बंगालियों की मस्जिद में तभी जाते हैं जब आसपास उनकी मस्जिद नहीं होती है।"

"क्या आप लोगों की भी मस्जिद अलग होती है?"

"नहीं। हम सुन्नी लोगों की मस्जिद तो एक ही है। बस भाषा और खानपान, पहनावा उनसे थोड़ा अलग है।"

मैंने रोका। अभी तक मैं जानती थी कि मुसलामानों में बस शिया और सुन्नी ही दो बड़े धड़े हैं। पर आज समझी कि सुन्नी में भी बंगाली मुसलमान अलग और बिहारी मुसलमान अलग अलग होते हैं। बंगाली बोलने वाले बंगाली और हिंदी उर्दू बोलने वाले या बिहार से आए बिहारी मुसलमान। फिर ये इस्माइली मुसलमान क्या बला है?

"मैडम इतना समझ लीजिए कि इस्माइली शिया होते हैं और वे उर्दू बोलते हैं। उन्हें पंजाबी मुसलमान भी कहते हैं। बहुत गोरे होते हैं वे, पंजाबियों की ही तरह लंबे चौड़े। कुछ की जड़ें तो पाकिस्तान में हैं भी लेकिन जब सालों से वे यहां रह रहे हैं तो यहां के ही हुए न! वे भी हम लोगों की तरह उतना भात मछली नहीं खाते। चाय की जगह झागदार लस्सी ज्यादा पसंद है उन्हें। मैडम उन दिनों दरवाजे पर हल्की सी दस्तक भी होती तो हम डर जाते, घबड़ाहट के दौरे पड़ने लगते। बादल भी गरजते या कोई जोर से आवाज भी लगाता तो हम सिहर जाते। नसें तन जातीं, लगता चटक ही जाएंगी। हर तेज आवाज मुझे डराती थी। आज तक नहीं गया वो डर। कई बार अभी भी जाने कैसी कैसी आवाजें रात में सुनाई पड़ती हैं। कई बार लगता भ्रम है कई बार लगता सचमुच कोई चीखा था। कई कई सालों तक मैं रात को भी बत्ती जलाकर सोती थी, दिन में भी अकेले रहने से घबड़ा जाती थी, भूले से दिन में आंख लग भी जाती तो खौफजदा हो नींद टूट जाती, लगता जैसे पूरे जिस्म में आग लग गई है। हसनाबाद की खिड़की से देखी वो लाशों से भरी ट्रक आंखों के आगे कौंध जाती। फिर भी हम यहां से निकलने को तैयार नहीं थे। दूध के जले जो थे! फिर हम रोज कुआं खोदने वाले लोग ठहरे। एक बार भागकर भी क्या मिला हमें? अब दुबारा से तिनका तिनका चुनकर जो घरोंदा बनाया इन सालों में, उसे उजाड़ने और फिर से नई उड़ान भरने का दम न मेरे बूढ़े अब्बू में बचा था और न ही मेरे श्वसुर में।" पपड़ाए ओंठों पर जीभ फिराकर पानी के दो चार घूंट भर वह फिर चालू हो गई थीं, "पहले अलग मजहब ने हमें मारा अब अलग रंग और भाषा हमें मार रही थी तो क्या साथ साथ रहने के लिए जरूरी है कि इंसान का मजहब, जबान, शक्ल, रंग सब एक जैसे हों। जानवर तक एक साथ रह सकते हैं तो हम क्यों नहीं? जब जब नया मुल्क बना मेरे जिस्म के टुकड़े होते गए। गंगा और पद्मा नदी का पानी मेरे और इशरत के खारे आंसुओं से आबाद है आपा।" कविता करते करते वह फिर अपने खारे आंसुओं को पोंछने लगी थीं। मैं अवाक उसके आंसुओं की धार को देखती रही।

कुछ पलों की आत्मीय खामोशी के बाद फिर फट पड़ीं वह, "बोलिए आपा, आप

खामोश क्यों हैं? देश का बंटवारा क्या रूह को भी बांट सकता है? क्या मेरी झोली में इशरत का उतना ही हिस्सा लिखा था?" बोलते बोलते जैसे जिंदा खौफ उनकी आंखों में धमाचौकड़ी मचाने लगा।

हमारी आंखें मिलीं। मैंने देखा, उसकी सपनीली आंखों में अभी भी बहुत जान बची हुई थी। कुछ पल रुककर वह फिर शुरू हो गईं, "सरहदों की लड़ाई क्या हुई हम फना हो गए। सच्चाई बेघर हो गई, नफरत को ठौर मिल गया। नफरत ने हमसे हमारा आसमान, हमारी रूह, जीवन, बसेरा सब कुछ छीन लिया। जब अखबारों में पढ़ती हूं कि अमुक ने देश के लिए इतना कुछ किया तो मन कलप उठता है, अपना देश, अपना मुल्क कितनी बड़ी नियामत है यह! पर हम बदिकस्मत बिना देश के हैं। कौन समझेगा इस पीड़ा को? कौन समझेगा घर का बिस्तर, घर की गलियां छोड़ने की तकलीफ? सपनों से बाहर होने की तकलीफ! जीवन गुजर रहा है पर हर वक्त जैसे एक खंजर घुसा है सीने में, क्या कभी छू पाऊंगी उस माटी को जहां खोली थी आंखें मैंने और मेरी बहन ने? लगता है जैसे एक अंधेरी सुरंग में ठहर गया है जीवन हमारा। आज भी ढाका के उमड़ते घुमड़ते मेघ संभालते हैं मुझे, जान से प्यारा लगता है ढाका मुझे पर ढाका मुझे अपना नहीं समझता, मेरे माथे पर मुहर लग गई है 'अटके पाकिस्तानी की' स्ट्रेन्डेड पाकिस्तानी।"

"स्ट्रेन्डेड पाकिस्तानी? यह क्या बला है?"

"आपको नहीं पता?"

"तीन लाख के करीब एक जैसे दुख वाले हम वे बदनसीब लोग हैं जिन्हें कोई मुल्क अपनाने को तैयार नहीं और जो पिछले पैंतालीस सालों से यहां के विभिन्न जेनेवा कैंप में शरणार्थियों की तरह रहे हैं।"

"जेनेवा कैंप? सुना तो था मैंने भी कि ढाका में ऐसे कई जेनेवा कैंप हैं जिन्हें बिहारी कैंप भी बोला जाता है। पाकिस्तान को हराने के बाद पाकिस्तानी मानसिकता को हराना बांग्लादेश के लिए सबसे बड़ी चुनौती थी। इसलिए जिन्होंने 1971 में पाकिस्तानी सेना की मदद करनी चाही थी, ढाका में होने वाले मुक्ति संग्राम का विरोध किया था; जिन्होंने पाकिस्तानियों की मदद भी की थी और कई स्वाधीनता सेनानियों की हत्या में भी जिनका हाथ था; पाक द्वारा थोपी गई उर्दू का समर्थन किया था, उस छोटे से वर्ग को बिहारी मुस्लिम कहा जाने लगा और सबक सिखाने के नाम पर बंगाली मुस्लिमों द्वारा उनका कत्लेआम शुरू हो गया था। ऐसे में जेनेवा समझौते के तहत इन बिहारी मुसलमानों को उनकी जानमाल की हिफाजत के तहत जेनेवा कैंपों में रखा जाने लगा। उनसे उनकी नागरिकता छीन ली गई और बदले में बस एक शिनाख्त पत्र दे दिया गया। उस समय कहा गया था कि यह इंतजाम सिर्फ तीन सालों के लिए है। वे तीन साल आज बढ़कर पचास साल हो गए हैं और वे अभी तक वहीं अटके हुए हैं।"

मुझे विश्वास नहीं हुआ कि वे सचमुच ऐसे कैंप में रहती हैं, फिर पूछा मैंने, "कहां रहते हो आप?"

"मोहम्मदपुर के जेनेवा कैंप में?"

"मोहम्मदपुर? क्या ठिकाना है आपका?"

"रहीम ऑटो पार्ट्स, हुमायूं रोड, जेनेवा कैंप, मोहम्मदपुर, ढाका—1202।"

जाने कैसे मुंह से निकल गया, "क्या मैं आपके घर आ सकती हूं?"

"घर तो क्या आपा सर पर रखा एक छज्जा भर है। यदि आप वहां आ जाएं तो सर

आंखों पर, मैं तो बस यही सोच सकुचा रही थी कि पलस्तर उखड़ी दीवारों वाले उस एक कमरे के हमारे अंधेरे से घर में आपको जाने कैसा लगे?"

"अरे, मुझे आपसे आपके घर में मिलना अच्छा लगेगा!"

"घर न कहें आपा। घर तो वह होता है जिसकी सरजमीं पर प्यार और भाईचारे के फूल खिलते हों। जहां लोग चाहे कुछ नहीं जानते हों लेकिन इंसान होना जानते हों। हमारा तो घर मुकम्मल घर तब बनेगा जब हम सब, दोनों बहनें एक साथ मुस्कराएंगी। क्या कहें, अपने पैदाइशी पानी में कुमुदिनी सी खिली रहनेवाली हम बहनें अब मुस्कराना तक भूल गई हैं। पहले सोचती थी कि दुनिया में सबसे बड़ा कुफ्र गरीबी है लेकिन आज सोचती हूं कि दुनिया में सबसे बड़ा कुफ्र शरणार्थी होना है।" उन्हें फिर यादों के कांटे चुभने लगे थे। अतीत का दौरा सा पड़ गया था। फिर चालू हो गया था उनका हनुमान चालीसा। मुझे बीच में ही रोकना पड़ा, "कल किस समय आऊं?"

"किसी भी समय आपा!"

कोयलिया मत कर पुकार / करेजवा लागे कटार

झिमिर झिमिर बारिश के बीच मैं पहुंची मोहम्मदपुर जेनेवा कैंप में। वहां 21वीं और अठारहवीं दोनों सदियां एक साथ वर्तमान थीं। मोहम्मदपुर से निकलने वाले सभी रास्तों के नाम मुगलिया सल्तनत की याद दिलाने वाले थे—जैसे ताजमहल रोड, शेरशाह सूरी रोड, नूरजहां रोड आदि। बाहर ढेर सारे साइकिल रिक्शे खड़े थे। डाव, गन्ने का रस और चाय की दुकानें और फलों के ठेले भी लगे हुए थे। समीना के घर को खोजने में भी कोई दिक्कत नहीं आई। सब सबसे जुड़े हुए थे। समीना का घर पूछने के लिए जब मैंने यहां की महिलाओं और दुकानदारों से जानबूझकर हिंदी उर्दू में बात की तो वे खुशी से उछल पड़े। भाषा प्रेम जाग गया, एक दंतहीन वृद्धा ने पूछा भी कि आप क्या इंडियन हैं? और जब मैंने बताया कि हां मैं भारत से हूं तो उनके पोपले मुंह पर मुस्कान चमक उठी, माटी और जड़ों का प्रेम कम नहीं होता।

बहरहाल छोटी छोटी दुकानों से भरे ये कैंप अपने आप में अति साधारण दैनिक जीवन का एक आश्चर्यलोक थे। यहां बेलन के आकार की छोटी छोटी गलियां थीं जहां चिरंतन पसरा हुआ हल्का नीला सा अंधेरा था। हर जगह पलस्तर उखड़ी दीवारों से झांकती ईंटों और टिन की छतों वाले एकमंजिला या दुमंजिला मकान थे। इन गलियों के बाहर बकरियां, मुर्गियां, आवारा कुत्ते, स्कूटर, साइकिलें, ठेले वाले, मोबाइल, स्टोव रेपेयरिंग शॉप, कलपुर्जों के वर्कशॉप, किराने और गोश्त की दुकानों से लेकर राशन, बिजली के सामान, फल, सब्जियों के ठेले, दर्जी, श्रृंगार, दवाई, कपड़े, कबाड़ी, जरी के सुंदर सुंदर घाघरे आदि की यानी जीवन के लिए जरूरी सभी दुकानें थीं। छोटे छोटे कुटीर उद्योग थे। हर कोई किसी गतिविधि में लगा हुआ था। यहां के लोगों को बनारसी साड़ी और जामदानी साड़ियों के निर्माण में महारथ हासिल था। विकास और आधुनिकता की परछाईं को झेलते, सीमांत पर पड़े यहां के बाशिंदों के जीवन में कोई विशेष अंतर नहीं आया था। छोटे छोटे घर थे जहां कहीं कहीं अंधेरा था, कहीं आग थी तो कहीं राग था। घुटन थी, मुस्कराती शक्लों के साथ लाचार, बेबस और मनहूस शक्लें थीं। सच्चाई यह भी कि दर्द गुबार, धूल धक्कड़ और अभावों के बीच भी एक अनोखी मानवीय लय थी।

बिजली, पानी की समुचित व्यवस्था नहीं थी। संकरी गलियों के भीतर बने हुए घर।

घरों के बाहर ही अड्डा मारती ढेरों औरतें, सभी उम्र की। रंगढंग, सजधज में एकदम बंगालियों जैसी। लगा नहीं कि ये अलग आसमान के परिंदे हैं। लेकिन इन दुकानों के पते पर जेनेवा कैंप लिखा था, बहरहाल कैंप का पूरा नजारा लेकर ही मैं समीना के घर तक पहुंची थी।

उदासी में डूबा उनका कमरा। कमरे के फर्श पर बिछा बिस्तर और पास ही बिछी एक दरी पर बैठी हुई खरबूजे के सूखे हुए बीज छील रही थीं समीना। हमें देखते ही मुस्कराईं। कोने में रखी साफ सुथरी सुराही से पानी का गिलास मुझे पकड़ाया। दो घूंट भी भर न पाई कि फिर छलका उनका दर्द, "देखा आपा आपने हमारा कैंप! हम तो इसी माटी के हैं, हमने तो कभी पाकिस्तान को देखा तक नहीं, सिर्फ नाम भर सुना है, हमने तो पीठ तक उधर नहीं की फिर भी हमें क्यों पाकिस्तान से जोड़ा जा रहा है? हमको क्यों 'अटके पाकिस्तानी' कहा जा रहा है? कलेजे में कटार धंस जाती है जब कोई हमें पाकिस्तानी कहता है। इससे बढ़कर गाली नहीं हमारे लिए।"

वे बोल रही थीं और मेरी निगाहें दरवाजे के बाहर लगे उस बड़े से बोर्ड पर अटकी थीं जहां पाकिस्तानी झंडा लहरा रहा था और लिखा था—Stranded Pakistanis General Repatriation Committee. H.O.—Geneva Camp, Mohammadpur. हठात मेरे मुंह से निकल ही पड़ा, "आपके यहां जो पाकिस्तानी झंडा लगा है, आप लोग उसे उखाड़ क्यों नहीं देते?" याद आया मेरे मकान मालिक ने बड़ी नफरत के साथ मुझे बताया था कि हम क्यों उन्हें अपना मानें, वे तो अभी तक पाकिस्तान का झंडा लगाते हैं।

उनका आक्रोश फिर बोल उठा, "बाप रे! हम कैसे उतारें इसे? यह तो जेनेवा वालों ने लगाया है। हम तो यहां चुपचाप चुक रहे हैं। यह पूरा इलाका अंतर्राष्ट्रीय देखरेख में है। हम खुद नहीं चाहते कि पाकिस्तानी झंडा यहां लगे। हमें क्या मतलब पाकिस्तान से? लेकिन लोग भूल चुके हैं कि हम भी इसी मिटटी के हैं। हमें भुला दिया गया है आपा। आज भी जब कानों में पड़ जाता है न कविगुरु का राष्ट्रीय गान 'आमार सोनार बांग्ला, आमि तोमाके भालोवासी' तो कलेजे में कटार उतर आती है। अब तो शायद इसी कैंप की जमीन पर दम तोडूंगी पर अपने देश और मिटटी का हिस्सा होकर नहीं। बेगानी होकर इस कैंप में। देश जब होता है आपा तो वह हवा पानी की तरह होता है, बस होता है। मैंने पहले कभी किसी को देश के लिए इतना कलपते नहीं देखा जितना यहां कैंप में लोगों को देखा है क्योंकि देश जब आपके लिए नहीं होता है तब उसका नहीं होना आपके वजूद की चट्टानें तोड़ देता है। मरने से पहले अपने घर लौटना चाहती हूं, 'अटके पाकिस्तानी' के दाग से खुद को आजाद करना चाहती हूं। बाकी सब तो धरा पर, धरा का, सब धरा रह जाना है। बस उस अंत से डर लगता है, जब मेरे अपने और मेरा देश मेरे साथ नहीं होगा। इंसान मुल्क के लिए है या मुल्क इंसान के लिए बताओ आपा? यही गुजारिश आपसे अफसानानिगार कि कुछ ऐसा लिखो कि धरती के हलक में अटका इंसान इंसान के फर्क का कांटा निकल जाए।"

उनका दु:ख फिर बोलने लगा। जिस्म हल्के हल्के कांपने लगा था। उनके बेटे ने वातावरण को थोड़ा हल्का करते हुए कहा, "आपा, पिछले दस पंद्रह सालों में समय का चाक घूमा है, हवा का जहर कम हुआ है। हमारी स्थिति में सुधार भी हुआ है और अब उनको जो 1971 में नाबालिग थे या वे जो 1971 के बाद में जन्मे हैं, उन सब को नागरिकता दी जाने लगी है। अब इस नई उगी पीढ़ी ने भी खुद की माटी को देश की माटी में ढाल लिया है, हम लोगों ने बांग्ला भाषा और संस्कृति को पूरी तरह से अपना भी लिया है, लेकिन

अतीत है कि फिर भी हमारा पीछा नहीं छोड़ रहा है। लोग हैं कि बीते हुए को भी जबरन रोककर रखे हुए हैं।"

इस बीच सलमा उठकर जाने कहां खिसक गई थीं। मुझे लगा शायद चाय लाने गई हों। लेकिन थोड़ी देर में ही वह वापस। हाथ में एक डायरी और मीनाकारी की हुई पीतल की एक डिब्बी थी जो उस माहौल में यूं लग रही थी जैसे ठूंठ के बीचोबीच खड़ा कोई हराभरा पेड़। उसमें दो चमकती सोने की बालियां थीं। मुझे देते हुए कहने लगीं, "आप मेरे मुल्क की हैं, कभी जाकर इशरत को दे देना, सोलह भरी सोना तो वे लूटकर ले गए, ये दो बालियां अम्मी के पास रह गई थीं, जाते वक्त अम्मी मुझे संभला गई उसकी यह अमानत..." बोलते बोलते पीड़ा चिथड़ों की तरह उसके चेहरे से चिपक गई थी।

"दे दोगी न आपा!" उनका चेहरा सांझ का आसमान हो गया था, एक रंग आ रहा था एक जा रहा था। क्या जवाब देती मैं, दो दो मुल्क उनके भीतर थे लेकिन किसी भी मुल्क में उनके लिए इंच भर भी जगह न थी।

एक खामोश आत्मीय चुप्पी पसरी रही कुछ देर। फिर मैं उठने को हुई तो फिर जकड लिया उन्होंने—"दे देंगी न, बस यही बचा है मेरे पास, सबसे बचाकर रखा है।" हिम्मत नहीं हुई मेरी मना करने की। उनके शब्द मेरी आत्मा को बार बार अपनी नोक से कोंच रहे थे।

चुपचाप ले ली मैंने उनसे बालियां। सौ सौ कमल खिल उठे उनके चेहरे पर, मुचीतुड़ी साड़ी के कोने से माथे पर चुनचुनाते पसीने को पोंछते हुए मुझे आशीष देती कहने लगीं, "खुदा आपको सलामत रखे आपा, मेरी तरफ से उसे खूब छूना, खूब प्यार देना। महीने भर पहले उसकी आवाज सुनी थी, मोबाइल पर झलक भर देखी थी। आवाज भी क्या सुनी बस रोना भर सुना था। काश उसे छू पाती! जेठ के प्यासे की तरह तड़प रही हूं कि किसी प्रकार एक बार उसे बांहों में भर लूं। बचपन में उसने खूब उमेठे थे मेरे कान, तब वो मेरी सबसे बड़ी दुश्मन थी, मैं कई कई दिनों तक उससे कुट्टी किये रहती पर आज जब वक्त ने ही कुट्टी कर ली तो भी वह अटकी है मेरे हलक में।" और वह फिर बिसूरने लगी।

"कितने साल की होंगी वो?"

अंतरिक्ष की ओर देखते टूटी आवाज में बोलीं वो, "बताया तो था कि मेरी जुड़वां हैं, मैं पिचहत्तर की हुई तो वो भी तो..." फिर सिसकी। साड़ी के कोने से आंखों को पोंछा उन्होंने, सदियों का इंतजार कालिमा की तरह जमा था वहां।

"और यह डायरी? क्या है इसमें?"

"रात जब नींद उचट जाती है तो डायरी भरने लगती हूं, पता नहीं डायरी को भरती हूं या खुद को। इसमें कविताएं हैं हमारे बचपन की, बिछुड़ने की, गंगा की, पद्मा नदी की..." बोलते बोलते फिर समुद्र बन गईं उनकी आंखें।

उदासियां मुझे दबोचने लगी थीं। अब वह सिर्फ एक पीड़ा थी, दुःख थी, बेचैनी थी जिसके कुछ परिंदे अब मेरी डाल पर आकर बैठ गए थे। मुझे उन्हें उड़ने देना था इसलिए जल्दी से बाहर निकल लंबी लंबी सांस ली। पर निकलकर भी लगा जैसे थोड़ी सी वहीं रह गई हूं। देर तक पीछा करती रही भादों सी उमड़ती उनकी आंखें और उनके सवाल, मुल्क बड़ा है या इंसान? इंसान के लिए मुल्क है या मुल्क के लिए इंसान? चेहरा ऐसा जैसे यातना शिविर से निकल आया कोई यहूदी।

"क्या कहूं उनसे?"

मेरी कलम में वो ताकत नहीं कि 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ...' की तर्ज पर दो

देशों के पानियों पर लिखे इन बेवतन लोगों के जानलेवा अफसानों को शब्दों में पिरो सकूं! कह सकूं उन सवालों की कहानी जो उनकी रक्तिम आंखों में उग रही थी। दे सकूं उनकी आवाजों को आवाज! किस खाते में दर्ज होगा, जीवन का यह कारवां, ये जुल्म, ये मटमैली जिंदगियां, यह दर्द!

बहरहाल चार महीने, छब्बीस दिन और आठ घंटों बाद मैं वापस कोलकाता। लौटने के अगले के अगले दिन जब पहुंची इशरत के घर तो वह जीवन की अंतिम घड़ियां गिन रही थी, नीम बेहोशी में जाने उसने मुझे पहचाना या नहीं पर उन बालियों को ठीक पहचान गई थी वह! जिन्हें देख एक हल्की सी जुंबिश हुई थी उसकी बुढ़ाती अधमुंदी आंखों में, शायद कोई इंतजार कुंडली मारकर बैठा था वहां।

अगली सांझ अपनी सीमाओं से मुक्त, धरती की लड़ाई से दूर आसमान हो गई थी वह!

खुली अधखुली मुट्ठी में पड़ी हुई थीं बालियां।

डायरी शायद अनखुली अनपढ़ी ही रह गई थी।

कथा त्रयी

एकांत श्रीवास्तव

धूसर

मुझे धूसर रंग पसंद है। यह धूल और मिट्टी का रंग है। हम चाहें तो इसे मटमैला भी कह लें। जो अपनी धरती से प्यार करता है, वह इस रंग से भी प्यार करता है क्योंकि यह धरती का रंग है। इसलिए मैं खेत की मेड़ों पर मिट्टी के ढेलों के बीच घोंसला बनाती हूं। चैत वैशाख में जब किसान अपने खेतों को चौमास से शुरू होने वाली खरीफ फसल के लिए तैयार करता है, तब पिछली बारिश में फैल गई मेड़ों को ठीक करता है। उसकी दोनों तरफ की मिट्टी को कुदाल से खोदकर बड़े बड़े ढेलों से ऊंचा करता है। इसे ढेलवानी देना कहते हैं। इन ढेलों के बीच धूप हवा की बहुत जगह होती है। मैं इन्हीं ढेलों के बीच घोंसला बनाती हूं।

मैं परमुटकी हूं—छोटी सी चिड़िया। मैं काली हूं। मेरी पूंछ हर समय हिलती रहती है या ऐसा कह सकते हैं कि आदतन मैं इसे हर समय हिलाती रहती हूं। इसलिए गांव में बच्चे मुझे कुलामुटकी (कूल्हे मटकाने वाली) कहकर चिढ़ाते भी हैं। मुझे यह दूसरा नाम बिल्कुल पसंद नहीं है। लेकिन बच्चों की बातों का मैं बुरा नहीं मानती।

मेरी सहेलियां और दोस्त—सब पेड़ों में रहते हैं और वहीं अपना घोंसला बनाते हैं। पेड़ मुझे भी पसंद हैं। मैं वहां जाती हूं। डालियों में उड़ती हूं, फुदकती हूं। फल तो सब वहीं मिलते हैं। अन्न के लिए धरती पर आना पड़ता है। मिट्टी में घर बनाने वाली शायद मैं एकलौती चिड़िया हूं। लेकिन इसके कई खतरे भी हैं। कभी असमय बारिश आ जाती है तो

मिट्टी के ढेलों के बीच बना मेरा घोंसला पानी में बह जाता है। यों तो नए ढेलों में कोई घास दूब, जीव जंतु होते नहीं, इसलिए यहां सांप नहीं आते। पर भूले भटके कोई सर्प आ गया तो वह मेरे अंडों या कभी बच्चों को खा जाता है। तब मैं बहुत रोती हूं और विलाप करती हूं। अपना दुःख लेकर मैं गांव के घरों के आंगनों में भी जाती हूं। वहां टहनियों पर बैठकर सिसकती हूं कि शायद मेरा दुःख इंसान बांट ले। पर इंसान मेरा दर्द नहीं समझते। मैं उनकी बोलियां समझ लेती हूं। पर वे मेरी बोली नहीं समझते। क्या मुझे भूख नहीं लगती? प्यास नहीं लगती? थकान नहीं होती? नींद नहीं आती? क्या मेरे साथ दुर्घटना नहीं हो सकती? क्या मैं किसी साथी या परिजन के बिछुड़ने या न रहने पर शोक नहीं मना सकती? इसलिए प्रत्येक समय मेरी आवाज को संगीत न समझा जाए।

ऐसे समय बच्चे मुझे चिढ़ाते हैं, तो मुझे गुस्सा आ जाता है। मैं चिल्लाकर कहती हूं—"ऐ चुपकर।" पर वे नहीं समझते। तब मैं कर भी क्या सकती हूं। क्रोध में उड़ जाती हूं—"जा; मैं तेरे घर कभी नहीं आऊंगी..."

पर एक दो दिन बाद मुझे उन पर दया आ जाती है। बच्चे ही तो हैं। और मैं फिर आ जाती हूं।

नानी बताती थी; जब महाभारत का युद्ध शुरू हुआ तो कुरुक्षेत्र के मैदान में मिट्टी के ढेलों के बीच परनानी की परनानी का घोंसला था। परनानी हाथी के पांव तले दबने ही वाली थीं। उन्होंने भगवान से प्रार्थना की तो हाथी के गले से घंटी टूटकर गिरी और उसके बीच परनानी सुरक्षित बच गईं।

तो मैं यही बता रही थी कि धरती पर रहने के जोखिम भी हैं। लेकिन इतना डरने से न इंसानों का जीवन चलेगा न हम परिंदों का।

तो मैं आपको बता रही थी कि मैं इंसानों की बोली समझती हूं। क्योंकि रहती मैं निर्जन मैदानों और खेतों में हूं पर गांवों में आना जाना तो लगा ही रहता है। दाना पानी की खातिर भी। और फिर बच्चे मुझे पसंद हैं। बच्चे भी मुझे पसंद करते हैं। मुझे देखते ही चिल्लाते हैं—'वो देखो परमुटकी...' तो मुझे भी अच्छा लगाता है। जब कोई हमें पसंद करता हो, चाहता हो तो हमें अच्छा ही लगता है। फिर गांव वालों के हालचाल भी गांव जाने से मिल जाते हैं। मैं उस ग्वालिन की तरह हूं जो रहती तो गांव से बाहर है लेकिन जिसे दूध लेकर रोज घर घर जाना पड़ता है।

बुद्धि में मैं कुशाग्र हूं। यों विधिवत् पढ़ी लिखी तो खैर नहीं ही हूं। एक बार किसान और उसकी पत्नी खेत में काम कर रहे थे—यही ढेलवानी का काम दूसरी मेड़ों पर। जहां मेरा घोंसला है, वहीं बैठकर किसान का बेटा पहाड़ा याद कर रहा था। क्या आप विश्वास करेंगे; मुझे पांच तक का पहाड़ा मुखाग्र याद हो गया। एक बार वह एक कविता पढ़ रहा था—

ओहो काली काली कोयल
मीठी बोली वाली कोयल
फिरती डाली डाली कोयल
आम फले तब आती कोयल
आम पके तब गाती कोयल...

मुझे यह कविता भी याद हो गई। बहुत आश्चर्य भी हुआ कि हमारे बारे में किताबों में कविताएं भी हैं। मैंने अगले दिन यह बात कोयल बहना को भी बताई—

"पता है, तुम्हारे बारे में किताब में कविता है।"

"अच्छा।" उसे भी आश्चर्य हुआ।

"सुनाऊं?" मैंने पूरी कविता सुना दी। कोयल बहना बहुत खुश हुई और उपहार में मुझे एक पका आम मिला जो पत्तों में छुपकर पका था, पनलुका आम।

"यह अब तुम्हारा है..." कोयल बहना ने कहा।

"शुक्रिया..." मुझे यह बहनापा अच्छा लगा।

जिस खेत में मेरा घोंसला है, वहां का किसान और उसका परिवार कड़ी मेहनत करता है लेकिन उसे उसकी मेहनत का मुआवजा उतना नहीं मिल पाता। इसलिए मेहनती संतोषी होने के बावजूद वह दु:खी रहता है। उसकी बातों से उसकी कथा की झलक मिल ही जाती है।

किसान के खेत में किसान की बहन भी काम कर रही थी। वह अन्य किसी गांव से आई थी और अब किसान के घर ही रहने लगी थी। वह दु:खी दु:खी रहती और कभी खेत में ही बैठकर रोने लगती तब किसान की पत्नी उसे चुप कराती। किसान निरुपाय सा उसे देखता रहता। कभी वह भी बहन को समझाता। बहन ने सफेद साड़ी पहन रखी थी। ननद भौजी की बातों से पता चला कि पिछले साल अकाल में फसल चौपट हो जाने के कारण और बैंक का कर्ज न चुका पाने के कारण उसके पति ने कीटनाशक दवा पीकर आत्महत्या कर ली थी। सुनकर मुझे बहुत दु:ख हुआ।

एक दिन मैं किसान के घर गंगा इमली की डगाल पर बैठी थी। गांव की पाठशाला के मास्टरजी आए हुए थे। वे खाट पर बैठकर गिलास में चाय पी रहे थे। किसान का बेटा पढ़ने में अच्छा है। उसे खेती किसानी के काम के कारण स्कूल से नागा न करवाने और रोज स्कूल भेजने की बात किसान को समझा रहे थे। किसान 'हव गुरूजी...हव गुरूजी...' कहकर सारी बातें सुन रहा था। किसान की पत्नी और बहन घर की ड्योढ़ी पर बैठकर सूप में चावल फटक रही थीं और मास्टर जी की बात सुन रही थीं।

बातचीत के बीच कुछ चिंतित स्वर में मास्टर जी ने कहा—"सुखराम (किसान का यही नाम था) एक चिंताजनक समाचार है। अखबार में छपा है कि सरकार ने एक नया कानून बनाया है—'भूमि अधिग्रहण कानून'। इसके तहत उद्योगों और फैक्ट्रियों के लिए वह जबरवाली मुआवजा देकर किसानों का खेत ले सकती है..."

किसान अवाक। जैसे वहीं काठ हो गया हो। खेत चले जाएंगे तो किसान क्या करेगा? थोड़ी देर बैठकर मास्टर जी चले गए। किसान सिर पर हाथ धरे बैठा रहा। काटो तो खून नहीं। मेरा जी भी धक् से हो गया। किसान धीरे धीरे चलकर खेत में आकर बैठ गया। मैं भी उड़कर उसके साथ आ गई। आज न किसान के कदमों में जान थी, न मेरी उड़ान में। किसान को ऐसे देखकर अच्छा नहीं लग रहा था।

जमीन और खेत ही तो किसान के पंख हैं। इनमें जब धान लहराता है तो वह भी उड़ता है—अपने सपनों की उड़ान। पंख ही छिन जाएंगे, तब इस उड़ान का क्या होगा!

मैं मिट्टी के ढेले से सटकर बैठ गई। किसान भी देर तक खेत में बैठा रहा—डूबते हुए सूर्य की तरफ देखता हुआ। उस दिन मुझे पता चला कि धूसर सिर्फ मेरा नहीं, बल्कि किसान का भी प्रिय रंग है। क्योंकि यह धरती का रंग है और उसके खेतों का भी।

गुलाबी

'गुलाबी प्यार का रंग है'—अनुपमा मैडम ने स्वत: ही कहा और गहरी सांस खींचकर गुलाब की खुशबू ली। फिर गुलाब उन्होंने वापस मेरी डेस्क पर रख दिया। मैं कक्षा में सबसे पहली पंक्ति में बैठता था। कक्षा सातवीं 'ब' थी। हम लगभग चालीस छात्र थे। कस्बे का मिडिल स्कूल था। गांव में प्राथमिक शाला थी और केवल कक्षा पांच तक पढ़ाई की सुविधा थी। आगे की पढ़ाई के लिए चार पांच कोस दूर कस्बे में आना पड़ता था। गांव का नाम कोमा था जो फिंगेश्वर रोड में पड़ता था। कस्बे का वर्तमान नाम राजिम था लेकिन गरड़ सर बताते थे कि इसका प्राचीन नाम कमलक्षेत्रपदमावतीपुरी था। राजिम महानदी के किनारे त्रिवेणी संगम पर बसा था। यहां पैरी और सोंदुल दो सहायक नदियां महानदी में आकर मिलती थीं।

कोमा से राजिम मार्ग में तीन आम के बगीचे और खेत पड़ते थे। बीच में एक बड़ा निर्जन तालाब भी; जिसे खाम तरिया कहते थे। शनिवार को जब सुबह स्कूल लगता तब लौटने में इत्मीनान रहता। हम तालाब में गुलाबी कमल के फूलों को देखने जाया करते थे। पुरइन के पत्तों पर जल की बूंदें मोती जैसी चमकती थीं—धूप में—और जलपांखियां उड़ते रहते थे। हमें यह दृश्य बड़ा प्यारा लगता था। हम गांव के चार पांच बच्चे साइकिल से और कभी पैदल ही स्कूल आते थे।

पिताजी दुर्ग में नौकरी करते थे और मां तथा अन्य भाई बहन उन्हीं के साथ रहते थे। गांव के बड़े से मिट्टी के घर में मैं दादी के साथ रहता था। दादी घर और खेतीबाड़ी के साथ छोटी सी किराना दुकान भी चलाती थीं। स्कूल के बाद नानक की दुकान से मैं दुकान की चीजें खरीदकर गांव ले जाता था। अंकापल्ली गुड़ की पूरी चक्की साइकिल के कैरियर में आ जाती थी। घर में कोठा भी था। यहां गाय बैल रात को बंधे रहते। सुबह परदेशी राउत दूध दूहने आता। फिर पशुओं को चराने ले जाता। गाय बैल भैंसों की यह बरदी (रेवड़) गोठान (खेड़का डाहर) में कुछ देर धूप तापती। फिर बरदिहा (चरवाहे) उन्हें मैदानों की तरफ चराने ले जाते।

अनुपमा मैडम के गुलाब वापस रखने पर मैंने मैडम से बहुत आग्रह के साथ कहा—"मैडम, आप रख लीजिए।"

"अच्छा..." मैडम ने कहा और भरी कक्षा में गुलाब को अपने जूड़े में खोंस लिया। हम बच्चों को बड़ा आनंद आया। सब हंसने लगे। मैडम मुस्कराईं और चाक लेकर ब्लैक बोर्ड की तरफ लिखने के लिए मुड़ गईं। अनुपमा मैडम बहुत सुंदर थीं। हमें बहुत अच्छी लगतीं। वो कभी किसी को डांटती नहीं थीं। हर बात प्यार से समझातीं। वो हमारी क्लास टीचर थीं। पहला पीरियड लेती थीं। हाजिरी लेने का काम भी उनका था। हम गांव के बच्चे थे—प्राय: सीधे सादे। अधिक उत्पाती नहीं थे। इसलिए कक्षा में अनुशासन की समस्या नहीं थी।

भारती सर भी हमें बहुत अच्छे लगते थे। वो हिंदी पढ़ाते थे और बड़े हंसमुख थे। छात्रों को कभी डांटते मारते नहीं थे। अनुपमा मैडम सामाजिक अध्ययन पढ़ाती थीं। मुश्ताक सर अंग्रेजी, साहू सर विज्ञान और मतावले सर संस्कृत। विद्यालय में रहमान सर, भार्गव सर, रात्रे सर और गुप्ता मैडम भी थीं लेकिन वे सब हाई स्कूल की नौवीं, दसवीं, ग्यारहवीं की कक्षा लिया करते थे। गरड़ सर प्राचार्य थे लेकिन कभी कभी कक्षा में आते थे। हाई स्कूल मिडिल स्कूल की कक्षाएं एक ही समय में एक साथ लगती थीं। गुप्ता मैडम और अनुपमा मैडम आपस में सहेलियां थीं और उनमें अच्छी पटती थी। गुप्ता मैडम शादीशुदा थीं और मांग में सिंदूर भरकर स्कूल आती थीं।

भारती सर किसी काम से हमारी कक्षा में आए और अनुपमा मैडम के जूड़े में गुलाब फूल देखकर मुस्कराए—"आज क्या बात है?"

अनुपमा मैडम शरमा गईं और बस मुस्कराकर रह गईं। गांव में घर की क्यारी में ढेर गुलाबी गुलाब फूले रहते। कई झाड़ियां दादी ने लगा रखी थीं। मैं रोज ही एक फूल ले आता और कक्षा लगने से पहले ही मैडम की मेज पर रख देता। मैडम फूल को देखकर खुश होतीं। कभी मेरी तरफ देखकर 'थैंक्यू' बोलतीं, कभी बस मुस्कराकर एक दृष्टि डाल लेतीं। मुझे यह बहुत अच्छा लगता। घर लौटकर मैं दादी को बताता तो उन्हें भी अच्छा लगता—"तुम रोज एक फूल ले जाया करो..."

और मैं ऐसा ही करता था।

अनुपमा मैडम अब रोज ही गुलाब के फूल को वेणी में लगाने लगीं। लेकिन पहली बार की तरह अब वो भरी कक्षा में गुलाब नहीं लगातीं। कभी कक्षा समाप्त होने के बाद बाहर निकलते समय, कभी पढ़ाते पढ़ाते कक्षा में सबसे पिछली बेंच के पास जाकर वो धीरे से फूल खोंस लिया करतीं। अब हमें भी इसकी आदत हो गई थी। कोई विशेष ध्यान नहीं देता। भारती सर का पीरियड कभी बगल की कक्षा में चल रहा होता तो जरा देर के लिए कुछ पूछने के बहाने अनुपमा मैडम वहां चली जातीं या कोई बात पूछने के लिए भारती सर हमारी कक्षा में आ जाते। तब अनुपमा मैडम का चेहरा गुलाब की तरह ही खिल उठता। अनुपमा मैडम का रंग गुलाबी था। वो जब मेरी कॉपी जांचती तब उनकी गुलाबी उंगलियां मुझे बड़ी सुंदर लगती थीं। एक बार अनुपमा मैडम गुलाबी साड़ी में आईं तो सबकी निगाहें—क्या बड़े क्या छोटे—उन्हीं की तरफ रहीं। ऐसा लग रहा था जैसे आकाश से उतरकर कोई गुलाबी परी धरती पर आ गई हो।

एक बार विद्यालय में लंच टाइम था। भारती सर स्कूल के प्रांगण में प्रफुल्ल सर के साथ बैंडमिंटन खेल रहे थे। हम बच्चे पानी पीकर लौट रहे थे। सामने से गलियारे में गुप्ता मैडम और अनुपमा मैडम बातें करती चली आ रही थीं। अनुपमा मैडम ने कनखियों से सबकी नजरें बचाकर भारती सर की ओर देखा। भारती सर ने भी उसी समय उन्हें देखा। दोनों मुस्कराए। किंतु रैकेट से सफेद चिड़िया को नेट के उस तरफ मारने से वो चूक गए। सफेद चिड़िया नीचे गिर गई। उधर प्रफुल्ल सर हंसने लगे। झेंपे झेंपे से भारती सर चिड़िया उठाने के लिए झुके।

गुप्ता मैडम ने भी अनुपमा मैडम को ऐसा करते हुए देख लिया। उन्होंने अनुपमा मैडम को कोहनी मारी—"क्या हो रहा है?"

अनुपमा मैडम भी झेंप गईं। उनका गुलाबी चेहरा लाल हो गया। धीरे धीरे यह बात पूरे स्कूल और फिर कस्बे में फैल गई। हर तरफ इसकी चर्चा होने लगी। कस्बा भी बड़े गांव की तरह था, कोई नगर नहीं था।

हम बच्चे छोटे थे, लेकिन इतने भी नहीं कि कुछ न समझते हों। दूरदर्शन पर उस जमाने में प्रत्येक रविवार की शाम को एक हिंदी फीचर फिल्म आया करती थी। प्रत्येक गांव की पाठशाला में सरकारी टी.वी. था—श्वेत और श्याम। गांव वाले और हम बच्चे स्कूल के प्रांगण में एकत्र होकर सिनेमा देखा करते थे। राजिम में टूरिंग टॉकीज थी—एक ही थी। उसमें शाम को एक शो सात से साढ़े नौ तक हुआ करता था। सात बजे से इसलिए कि सिनेमा के लिए अंधेरा होना जरूरी हुआ करता था। टॉकीज ऊपर से खुली हुई थी और शामियाना तना था। मैदान की टिकट डेढ़ रुपए और बॉलकनी की टिकट दो रुपए थी। बारिश होने पर मैदान में बैठे लोग छाता तान लेते। ऐसा लगता था, जैसे फिल्म में भी बारिश हो रही हो। मध्यांतर

में मूंगफली और पापड़ बेचने वाले आते। कोमा से गांव वालों के साथ हम बच्चे भी कभी कभार सिनेमा देखने आया करते। दादी हमें टिकट के दो रुपए और मूंगफली के लिए पचास पैसे दिया करती थी। आरती 'ओम जय जगदीश हरे...' की आवाज सुनकर हम साइकिल के पैडल पर दबाव बढ़ाते और तेज तेज चलाते हुए राजिम पहुंचते थे।

और फिर खुद भारती सर कभी कभी हिंदी पढ़ाते पढ़ाते कहते थे—"प्रेम और घृणा दो ऐसी चीजें हैं जिनके लिए भाषा की जरूरत नहीं पड़ती। ये ऐसे ही समझ में आ जाती हैं।" तब उन्हें क्या पता था कि एक दिन यह बात उन्हीं पर लागू हो जाएगी।

एक दिन भारती सर की मां और बाबूजी प्राचार्य गरड़ सर से मिलने आए। कहते हैं कि चर्चा उन तक भी पहुंची थी। हाईस्कूल के छात्र यह चर्चा भी करते कि भारती सर और अनुपमा मैडम की जाति अलग अलग है।

अनुपमा मैडम कक्षा में पढ़ा रही थीं। तभी सहसा एक आंटी अंदर आईं जो शायद भारती सर की मां थीं। उन्होंने एक हल्दी लगा कार्ड मैडम की तरफ बढ़ाया—"बेटी, जरूर आना..."

मैडम ने कुछ आश्यर्च से उन्हें देखा और कुर्सी से उठकर खड़ी हो गईं।

"जी..." वो इतना ही कह पाईं और वो आंटी तेजी से चली गईं। वे लोग शायद पहली बार मिल रहे थे। उनके जाने के बाद मैडम ने कार्ड को देखा। उनका चेहरा म्लान पड़ गया जैसे जेठ की धूप में गुलाब कुम्हला जाता है। वो शायद भारती सर के विवाह का कार्ड था। अपने भावों को छुपाने के लिए मैडम खिड़की के पास गईं और बाहर देखने लगीं। कक्षा की तरफ उनकी पीठ थी। लेकिन हम अब स्तब्ध होकर उनका रोना देख रहे थे। यह रोना नि:शब्द था जैसे बारिश कभी कभी बिना आवाज के होती है। उनका शरीर हिल रहा था। कुछ देर बाद उन्होंने पल्लू से चेहरा पोंछा। पलटीं और बिजली की तरह तेजी से मेज से रजिस्टर उठाकर बाहर चली गईं।

उस दिन के बाद अनुपमा मैडम ने स्कूल आना छोड़ दिया। गुप्ता मैडम हाजिरी लेने आतीं। पूछने पर इतना ही बतातीं कि अनुपमा मैडम छुट्टी पर हैं। शायद तबीयत खराब है। ठीक होने पर आएंगी। हम बच्चों को कुछ अच्छा नहीं लगता था। मैं बहुत उदास था। गुलाब का फूल बस्ते में रखा रखा ही कुम्हला जाता था।

भारती सर आ तो रहे थे लेकिन उनके पढ़ाने में अब पहले जैसी बात नहीं थी। उनकी हंसी कहीं खो गई थी। गुमसुम रहते थे। उनकी दाढ़ी बढ़ी रहती और आंखों के नीचे सांवला सा रंग दिखता जैसे कई रातों से ठीक से सो न पाए हों। पढ़ाते पढ़ाते वो खिड़की के बाहर देखने लगते जैसे कहीं खो गए हों।

फिर अचानक भारती सर ने भी स्कूल आना बंद कर दिया। स्कूल में और बाहर तरह तरह की चर्चा होने लगी।

एक दिन अखबार में भारती सर और अनुपमा मैडम की तस्वीर छपी और उनके विवाह का समाचार भी। उन्होंने रायपुर जाकर आर्य समाज मंदिर में शादी कर ली थी। पूरे कस्बे में जैसे भूचाल आ गया हो। धीरे धीरे चर्चा में विराम लगा और इसका कंपन कम हुआ।

लगभग महीना भर का समय बीत गया। परीक्षा के दिन करीब थे। धूप में आंच बढ़ने लगी थी। अचानक एक दिन विद्यालय में भारती सर और अनुपमा मैडम एक साथ दिखाई दिये। प्रार्थना के समय प्रांगण में सबकी निगाहें उनकी तरफ थीं। सब लोग भारती सर से हाथ मिला रहे थे और उन्हें बधाई दे रहे थे। प्रार्थना के समय हम छात्रों की आंखें पूरी तरह बंद

नहीं हो रही थीं, रह रहकर खुल जा रही थीं। गरड़ सर देख रहे थे और मुस्करा रहे थे। आज वो डांट नहीं रहे थे। वो भी खुश लग रहे थे।

पहले पीरियड की घंटी बज गई थी। रजिस्टर लिए भारती सर और अनुपमा मैडम एक साथ हंसते हुए और बातें करते हुए आए और अपनी अपनी कक्षा में चले गए। मैडम के आते ही हम सब बड़ी जोर की हर्षध्वनि करते हुए खड़े हो गए। मैडम ने रजिस्टर मेज पर रख दिया और हंसकर बड़े प्यार से हम सब की तरफ देखा। फिर मेरी तरफ देखकर मुस्कराईं—मैं उनका प्रिय छात्र जो ठहरा। मुझे संसार की सारी खुशी जैसे मिल गई हो। आज वो उसी गुलाबी साड़ी में थीं और उनकी मांग में सिंदूर चमक रहा था। उनकी वेणी में गुलाब का फूल नहीं था। लेकिन वे खुद एक गुलाब फूल की तरह दिख रही थीं।

बैंजनी

भटकटैया के फूल बैंजनी होते हैं। इसका पौधा सड़क किनारे या उजाड़ मैदान में उगा होता है। यह बहुत छोटा और छितरा हुआ सा कांटेदार होता है। इसके कांटे नरम नाजुक होते हैं—बैंगन के पौधों के कांटों से भी छोटे। ये गड़कर न पांव में टूटते न इनमें वैसा दंश ही होता जैसा मोखला कांटा में होता था। इन्हें कुछ हद तक झरबेरी की तरह भी कहा जा सकता है लेकिन ये उतने फैले नहीं होते। इनके फल गोल गोल, छोटे, हरे बैंगन की तरह होते हैं—छोटे आंवलों के आकार के। दादी बताती थीं कि ये बैंगन (भटा) के पूर्वज हैं। इन्हीं से बैंगन को उन्नत किया गया। गांव में इनके फलों की खट्टी सब्जी मही (छाछ) डालकर या कभी ऐसे ही बनाई जाती है। तब खेती वर्षा आधारित थी। जब तब अकाल पड़ जाता था। गांवों में बहुत गरीबी हुआ करती थी। छत्तीसगढ़ में भटकटैया को भसकटिया कहते हैं।

मैं गांव की पाठशाला में कक्षा पांच का छात्र था। गांव में मैं दादी के साथ रहता था और उन्हें 'अम्मा' कहकर पुकारता था।

"क्या तोड़ रही हो मरही दाई?" सड़क किनारे एक पौधे पर झुकी हुई मरही दाई को देखकर मैंने पूछा।

"भसकटिया के फल तोड़ रही हूं बेटा। इतने फल से एक जून की मेरी साग हो जाएगी।"

उस दिन पहली बार मैंने भसकटिया के पौधे पर गौर किया था। यों देखना कई बार हुआ था पर दृष्टि बदल गई थी। जो फूल फलों में बदल जाते हैं और हमारी भूख को अन्न बनकर मिलते हैं, वे हमारी नजर में आदरणीय हो जाते हैं।

मैं भी तुड़वाने लगा—मैं वहीं उकड़ू बैठ गया। मुझे यह सब नया लग रहा था।

"नहीं बेटा, तुम्हें कांटे चुभ जाएंगे।" मरही दाई ने मना किया और दत्तचित्त होकर भसकटिया के फल तोड़ती रही। मरही दाई ने काली किनार वाली अंडी की सफेद साड़ी पहन रखी थी जो मैली होकर मटमैली सी दिख रही थी। मरही दाई काली और दुबली पतली थी। गांव में मिट्टी की कोठरी में अकेली रहती थी। पति कभी के गुजर गए थे। बच्चे नहीं थे। गांव वाले सब उन्हें मरही दाई कहकर पुकारते थे। सबके सहयोग से और कुछ बनी मजूरी से उनका गुजारा हो जाता था। उनका नाम 'मरही' क्यों पड़ा होगा—इस बारे में अधिक कुछ बता पाना संभव नहीं। गांव के लोग अजीबोगरीब नाम रखते थे ताकि बच्चों को किसी की नजर न लगे, वे बच जाएं। मरही दाई का नाम भी 'मरही' इसी तरह रखा गया होगा। कभी

कभी बच्चों के न बचने के कारण भी लोग ऐसा नाम रख देते ताकि वह बच जाए। गांव में लोगों का ऐसा विश्वास था। अब इसे अंधविश्वास भी कहा जा सकता है।

मैं संतू के साथ भरदा फंदाने मैदानों खेतों की तरफ गया था। संतू मेरा दोस्त और सहपाठी था। बांस की कमचिलों से जालीदार टोकरी बनाई जाती थी। फिर उसे उलटकर रख दिया जाता। भीतर 'घोंई' कीड़ा (जो पानी में रहता था) को पकड़कर बांध दिया जाता। जो गोल गोल घूमता रहता था। भरदा चिरई इसे खाने के लालच में बैठती और उसका पांव रस्सी की सरफांसी में फंस जाता। उसके फड़फड़ाते ही दौड़कर उसे पकड़ लिया जाता।

लेकिन इसके लिए हमें लंबा इंतजार करना पड़ता। हम मेड़ के पीछे या बबूल की झाड़ियों के पीछे छुपकर बैठे रहते। आज लंबी प्रतीक्षा के बाद भी कोई भरदा चिरई टोकरी यानी जाल में नहीं उतरी तो मैं ऊबकर लौट आया। संतू वहीं रह गया था। धूप चढ़ रही थी। लौटते में मरही दाई मिल गई थी।

"इसकी साग कैसे बनती है दाई?" मैंने पूछा।

"चलो...बताती हूं।" मरही दाई हंसी।

"अच्छा..." खुशी खुशी मैं मरही दाई के साथ हो लिया।

मरही दाई का घर गांव के बाहर तालाब के किनारे था। तालाब के किनारे ऊंचा पीपल का पेड़ था जिसकी सरसराहट घर से सुनाई देती थी। घर के नाम पर मिट्टी की कोठरी थी जिसमें कोई खिड़की नहीं थी बल्कि छोटा सा एक गोल रोशनदान था। खपरों वाली छानी थी। रोशनदान के अलावा छानी से भी उजाला छनकर आता था। कोठरी के बाहर छोटा सा बरामदा था जहां एक तरफ आधी दीवार उठाकर मिट्टी का चूल्हा बना हुआ था और कुछ शीशियां रखी हुई थीं जिनमें नमक, हल्दी और तेल था। दो चार एल्युमीनियम के बर्तन थे। एक तरफ मिट्टी के काले घड़े में पीने का पानी था। चूल्हा, बर्तन, घड़ा आदि को यानी छोटी सी रसोई को बबूल की कटी हुई कांटेदार झाड़ी से दाई ने ढक रखा था ताकि कुत्ते, बिल्ली, गाय बैल बकरियां कुछ नुकसान न पहुंचाएं। मरही दाई ने झाड़ी को हटाकर आंगन के किनारे रख दिया। परछी (बरामदा) और आंगन भी गोबर से लिपे हुए थे। दीवारें पीली छुही (चूने) से पुती हुई थीं। परछी में एक खटिया रखी थी। दाई ने भीतर से लाकर एक कथरी उस पर बिछा दी। मैं उस पर बैठ गया।

अब दाई ने सूखे कंडों और लकड़ियों से चूल्हा सुलगा लिया और उत्साह से चंऊर (चावल) चुनने लगी।

"यह सत्रह नंबर सफरी चंऊर है।" दाई ने बताया। सत्रह नंबर सफरी उस जमाने में एक लोकप्रिय धान का नाम था। इसकी फसल बहुत अच्छी होती थी।

"अच्छा!" मैंने कहा।

"हां।" दाई बोली। फिर कुछ रुककर कहने लगी—"तुम आ गए हो तो लग रहा है जैसे कोई पाहुना (अतिथि) घर आया हो। यहां ज्यादा कोई आता नहीं..."

फिर गहरी सांस भरकर कहा—"लोग बस आते जाते हालचाल पूछ लेते हैं। मैं ही सब घरों में बैठने चली जाती हूं। लोग मुझे मानते हैं। 'दाई दाई' कहते रहते हैं। सब चाहा (चाय) पिलाकर ही विदा करते हैं। मैं भी खाली हाथ नहीं जाती। कभी बोइर (बेर) कभी चना भाजी, कभी मुंगेसर (मूंग की फलियां, भटकटैया की तरह जंगली), कभी केसरवा कांदा (तालाब का मीठा कंद), कभी तुमा (गोल लौकी) तो कभी तरोई लेकर जाती हूं..."

"हां दाई, तुम हमारे यहां भी तो चुनचुनिया भाजी (तीन पत्तों वाली पानी में उगने वाली

शाक। बंगाल में इसे शुशमी शाक कहते हैं) लेकर आती हो..."

"हां...।" यह सुनकर दाई खुश हुई।

मरही दाई की घर की छानी में तुमा (गोल लौकी) और तरोई की नार (बेल) चढ़ी हुई थी। आंगन में कुम्हड़े की बेल थी। एक ओर टमाटर, हरी मिर्च के कुछ पौधे लगे हुए थे। छोटा सा तुलसीचौरा था जिसके पास सदा सुहागिन का फूलों से भरा पौधा लहरा रहा था। एक तरफ सूखी पतली लकड़ियों का गट्ठर रखा था और जमीन पर थापे गए कंडे (उपले) सूख रहे थे। परछी में कोठरी की दीवार में एक आला था जिसमें मिट्टी तेल की ढिबरी (चिमनी) और दियासलाई की डब्बी रखी हुई थी। एक खूंटी में कंदील टंगी थी, दूसरी में उलटा सूपा टंगा हुआ था। परछी के कोने में खरेरा (सींक) और छींद के पत्तों की झाड़ू रखी हुई थी। और बांस की अलगनी में रोजमर्रा के बहुत थोड़े से कपड़े टंगे थे। यह थी मरही दाई की छोटी सी गिरस्ती।

मरही दाई ने भसकटिया के फलों को धोकर काट लिया! बीज अलग कर दिये। लहसुन और जीरे की बघार लगाई और भसकटिया उसमें डाल दिये। कुछ भुन जाने पर सिल में पीसी हुई खड़ी मिर्च, हल्दी और धनिया का मसाला डाल दिया। थोड़ी देर के लिए ढक दिया। फिर मट्ठा (छाछ) डालकर थोड़ा सा गड़ा नमक डाल दिया। दो मुंहों वाला चूल्हा था। दूसरी तरफ भात पक रहा था।

"दसरी ग्वालिन के घर से आज सुबह ही एक लोटा मट्ठा लाई थी।" दाई ने चूल्हे की लकड़ियों को भीतर ढकेलते हुए कहा।

"हूं...।" मैंने कहा और जलती हुइ आग को देखता रहा।

थोड़ी देर में खाना पककर तैयार हो गया। मरही दाई ने कांसे की थाली में भात साग परोसकर चटाई बिछा दी। फिर मेरी तरफ देखकर मुस्कराई—"आओ, बाबू, खा लो।"

"मैं...?" अब मैं कुछ हतप्रभ था। बात खाने की नहीं थी। केवल यह देखने की थी कि सब्जी कैसे बनती है।

"लेकिन मेरा खाना तो घर में अम्मा ने बनाया होगा दाई। मैं वहीं खा लूंगा घर जाकर।"

"अरे, खाओगे नहीं तो पता कैसे चलेगा कि भसकटिया की साग कैसी बनी है। अम्मा कुछ नहीं कहेंगी। कहना, दाई ने जोर देकर खिला दिया। आओ, मैं हाथ धुला देती हूं..." और मरही दाई लोटे में पानी लेकर परछी के एक किनारे आंगन की तरफ खड़ी हो गई। मैं इंकार न कर सका। हाथ धोकर खाने बैठ गया। भूख तो लगने ही लगी थी। भात साग स्वादिष्ट बना था। कुछ भूख के कारण और कुछ मरही दाई के प्रेम के कारण खाने का स्वाद चौगुना हो गया था। रोटी तो कहीं भी मिल जाती है लेकिन प्रेम सब जगह नहीं मिलता। पेट की भूख रोटी से मिटती है लेकिन आदमी का मन तृप्त प्रेम से ही होता है।

मैं बहुत भरा भरा लौटा जैसे मन का कोई कोना अब तक रिक्त था जो मरही दाई से मिलकर ही परिपूर्ण हुआ हो। घर लौटकर मैंने अम्मा को बताया।

"अच्छा किया..." अम्मा ने कहा। फिर पूछा—"तुम्हारे खाने के बाद क्या मरही के लिए कड़ाही में साग बची थी?"

तब मुझे ध्यान आया। मैंने कुछ सोचकर कहा—"थोड़ी सी ही बची थी।"

अम्मा रसोई में गईं और एक गिलास में भरकर दाल ले आईं। अम्मा ने पालक वाली दाल बनाई थी।

"जाओ, मरही को दे आओ..." गिलास मेरे हाथ में पकड़ाते हुए अम्मा ने कहा।

तब तक मैं कुछ पछतावे से भर उठा था। अम्मा की बात सुनकर मैं खुश हो गया। तुरंत मरही दाई के घर की तरफ दौड़ पड़ा।

मैं हांफते हुए पहुंचा था। मरही दाई तालाब से नहाकर लौटी थी और बस अभी खाने बैठी थी। साग सचमुच बहुत थोड़ी ही बची थी। दाई ने पहला कौर भी नहीं उठाया था कि मैं पहुंचा—"दाई, दाल, अम्मा ने भेजी है। तुम्हारे खाने के लिए साग थोड़ी ही बची है न, इसलिए..." मैंने गिलास दाई की थाली के पास रख दिया और एक सांस में सब कह गया।

अब अवाक रहने की बारी मरही दाई की थी—"काहे को लाए बेटा, साग कम थी तो क्या, मैं नूनचरा अचार के साथ खा लेती..."

बोलते बोलते गला भर आया और दाई ने उठकर मुझे अंक में भर लिया।

मेरी मेहनत सफल हो गई थी। दाई का यों भाव विभोर होना मुझे भी भिगो गया। ऐसा लगा, आज से मेरी दो मां हो गई हैं। खाना छोड़कर मरही दाई मुझे बाहर तक छोड़ने आई। बहुत दूर गांव के करीब आने के बाद मैंने पलटकर देखा। मरही दाई अभी भी परछी के बाहर खड़ी थी। इतनी दूर से बस एक धुंधली सी आकृति दिखाई दे रही थी।

मरही दाई का अकेलापन और उसके भीगे हुए स्वरों का दर्द तीर की तरह जैसे मेरे हृदय में बिंध गया था। ऐसा लगा, जैसे मरही दाई भी निर्जन में उगा हुआ भटकटैया का बैंजनी फूल हो जो हर दिन किसी पाहुना का इंतजार करता है।

'कोई अनुभव नितांत एक का नहीं होता, निजी से निजी भी'

सुप्रसिद्ध कथाकार **गीतांजलि श्री** से **अर्पण कुमार** की बातचीत

अपने लेखन में किसी तरह के दबाव से कोई समझौता न करनेवाली, भाषायी स्थापत्य के बने बनाए फॉर्मेट को तोड़ती, सरलता ग्राह्यता के ढांचाबद्ध किसी पूर्वाग्रह को नकारती और टेक्स्ट की बहुस्तरीयता और उसकी कल्पनामयता में गहरे विश्वास करती, अपनी धुन में रमी एक कथाकार का नाम है—गीतांजलि श्री, जो मुख्यत: कहानियां और उपन्यास लिखती हैं, मगर इन दिनों उपन्यास का अरण्य उन्हें ज्यादा लुभाता है। उपन्यास के बड़े कैनवस पर चलते हुए उनकी कलम, किसी कूची सरीखी हो उठती है, जिससे वे अपना मनचाहा उकेरती रहती हैं। यथार्थ यथार्थेतर लोक में आवाजाही करता उनका रचनाकार, अपनी कथाओं में स्मृति स्वप्न के तानेबाने से बुने अपने गल्प में हमारे आसपास के जीवन को लाता है। तार्किकता अतार्किकता में डूबता उतरता जीवन, हमारे सामने होता है। वहां, मनुष्यों के बीच रंगों, नस्लों और धर्मों के नाम पर फैले भेदभाव और उसकी जटिलताओं का चित्रण है। गीतांजलि अपनी कृतियों में व्यक्ति मन के अंदर आलोड़ित होती मौन आहटों को, उसके अंदर के राग, अवसाद और ठहराव को, बनती टूटती बनती भाषा में अभिव्यक्ति प्रदान करती हैं। अपने इस शिल्प को उन्होंने साधा है या भाषा के साथ बर्ताव का उनका यह खास लेखकीय स्वभाव है या कुछ कुछ ये दोनों ही तत्व हैं—यह सुनिश्चित होकर कहना जरा मुश्किल है। उनके पाठक इसे

अपने अपने हिसाब से समझ सकते हैं या इसमें कुछ जोड़ घटाव कर सकते हैं। वे अपने पात्रों और परिवेश के साथ हमें हमारे आसपास के अब तक अदृश्य या फिर अल्पदृश्य रहे कई कोनों की ओर ले चलती हैं। जैसे ये कोने उनकी तलाश के लक्ष्य हैं, वैसे ही भाषा इस तलाश में उनकी सहचरी है, जो उनकी सृजनधर्मिता में एक बड़ी ताकत के रूप में उनके साथ खड़ी दिखती है। उनके यहां कथा है और कथा विनोद भी।

अर्पण कुमार

अपनी पारिवारिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के बारे में कृपया बताएं। स्कूल कॉलेज के दिनों के अपने कुछ रोचक और अब तक आपको गुदगुदाते रहते कुछ अनुभवों के बारे में चर्चा करें। अगर चाहें तो कुछ कड़वे अनुभव भी साझा कर सकती हैं। कुछ ऐसे अनुभव भी होंगे जिनसे आपके जीवन में कुछ खास परिवर्तन आए।

उत्तर प्रदेश का मध्यवर्गीय परिवार हमारा। पिताजी गांव से शहर आ गए। उनकी मां उनके छुटपन में चल बसीं; पिता अपने जीवन में व्यस्त रहे तो काफी कुछ अपने को उन्होंने खुद बनाया, पढ़े लिखे, सरकारी अफसर बने और गांव के रिश्तेदारों के हीरो हुए। एक मेरी तुलसी बुआ थीं, उनकी बहुत प्यारी चचेरी छोटी बहन। बतातीं कि वे घोड़े पर आते जाते, कवि प्रकृति के थे, उसके अनुरूप लंबे बाल रखे हुए थे और शहर से बुआ के लिए किताबें लाते। बुआ का गौना होना था तो पहले ही जाकर उन्हें अपने यहां शहर में ले आए। बुआ और उनका परिवार मेरे बचपन से अब तक हमारा करीबी रहा। बुआ, अचार पापड़, बड़ियां क्या क्या तो हमारे लिए बना के लातीं। मेरा प्रिय था धनिया की पंजीरी जो उनके संग मेरी दुनिया से कूच कर गई। अब तो सुनने में भी नहीं आती।

चाचाओं और उनके परिवारों का भी हमारे संग राबता था। गांव के भाई भतीजे, आते जाते रहते। बाकी गांव के परिवारों से पिता काफी अलग थलग रहे, हालांकि उनका दबदबा जबरदस्त था। अक्खड़ थे, दबंग भी, लड़ाकू भी। फिर अंग्रेजों की संगत में साहिबी रंग भी उन पर खूब चढ़ा। तो उनके मिलेजुले प्रभाव से बनी उनकी जोरदार शख्सियत के साये में हम पले बढ़े, कुछ उनकी मानी कुछ उनसे लड़े। मां उनकी तरह डराती नहीं थीं, न उस तरह के कड़े कायदे कानून का साम्राज्य फैलातीं। तो माहौल बैलेंस हो जाता! मां की भी मां उनके बहुत बचपन में गईं। सौतेली मां थीं जो खुद अल्हड़ उमर पर आईं और उन्हें पहले से मौजूद एक बच्ची की देखभाल कोई बहुत भायी नहीं।

मां पर अंग्रेजीयत का कोई रंग न था। यह पिता के संग उनकी कमजोरी हुई पर हमारे संग, खासकर मेरे, उनकी ताकत हुई। वे हमसे हिंदी में बात करतीं और बाद में जब मैं हॉस्टल चली गई, हम एक दूसरे को हिंदी में लंबे पत्र लिखते यानी हिंदी वाकई मेरी मातृभाषा है। इस कारण मैं हिंदी से भरपूर जुड़ी रही और घर में हिंदी की पत्रिकाएं अखबार किताबें आती रहीं। शिक्षा जरूर मध्यवर्ग के मूल्यों के अनुसार अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में हुई। पर पिताजी का तबादला होता था, बहुत से छोटे शहरों में भी रही, तो वहां अंग्रेजी स्कूलों का वह अंग्रेज रंग नहीं था जैसा बड़े शहरों में और खासकर आजकल हो चला है।

यही मिलीजुली सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है मेरी।

अनुभव मीठे, कड़वे? याद करने दें। अब यह है कि बचपन और जवानी में मीठे

और कड़वे की गड्डमड्ड चलती ही है। बल्कि पूरे जीवन में ही। कोई एक बात अभी नहीं याद आ रही पर वह पहली बरसात में हम बच्चों का बाहर भीगने दौड़ना, मां का डांटना कि पहली बरसात में नहीं, कल जाना। देखिए कि पर्यावरण को लेकर एक व्यावहारिक ज्ञान सबको चलाता था और उसके लिए मन में सम्मान था। पहली बारिश में हवा में तिरती गंदगी भी बरसेगी, उसके बाद साफ सलोनी बूंदें आएंगी। वाह क्या बूंदें आती थीं, कभी तो कंकड़ों की मार सी लगतीं। और यह भी कि पता रहता कि आज पहली बारिश हुई, अब अगले दिनों बारिश आती रहेगी। खूब मजा उसका हम लेते। स्कूल की छुट्टी पर नाच उठते। रेनी डे, हॉलिडे, क्या खूब। घर पर धमाचौकड़ी। पकौड़ी। हलवा। मीठी हवा।

हवा कुछ और थी मेरे बचपन में। साफ भी और आदर्श भरी भी। गांधी और नेहरू हम बच्चों को खास प्रेरित करते। न्याय अन्याय को परखने और सही मूल्य पालने को हम आतुर थे। उत्तर भारत का सामंतवादी और पुरुषप्रधान समाज, तो हर तरफ हमें उकसाने ललकारने वाला जीवन होता। जातियों, धर्मों, आदमी औरत, अमीर गरीब, अंग्रेजी हिंदुस्तानी, निरे भेदभाव हमें परेशान करते।

सुंदर बात यह कि हमारे माता पिता भले ही बेहद निजी स्तर पर, जैसे शादी ब्याह के मामले में, अभी सामाजिक नियम तोड़ने से कतराते थे, रोजमर्रा की हमारी जिंदगी में हमें बराबरी का ही पाठ सुनाते। नतीजा कि हममें यह आदर्श बड़ा मूल्य बना। मुझे याद है कि मैं जमादारिन की बेटी जो मेरी हमउम्र थी, उसके संग खूब खेलती थी और किसी ने नाक भौं नहीं सिकोड़े। यह अलग बात है कि उस शहर को छोड़ने के बाद मैंने जब अपनी इस सहेली को पोस्टकार्ड लिखा तो उसने मुझे कोई जवाब नहीं दिया। उधर क्या मामला था मुझे कतई पता नहीं था। कोरा आदर्शवाद बहुत दूर नहीं ले जाता! तो ऐसी ही बातें थीं। कॉलेज के लिए दिल्ली आ गई। घर में चिंता थी, बवाल उठा, मगर बड़े भाई ने साथ दिया।

शायद तभी पहली बार बैंक अकाउंट मेरे नाम का खुला। पहली बार हस्ताक्षर करने कलम उठाया तो अपना पूरा नाम लिखा। इस पर बताया गया कि सिर्फ पहला नाम लिखूं क्योंकि लड़की का सरनेम तो बदल जाता है। यह बात दिल में लग गई। मजाक है कि जिससे भी जोड़कर नाम बदल दिया? तय किया कि कोई और मेरा नाम नहीं तय करेगा और वे जिनका हम बच्चों के बनने में इतना बड़ा हाथ रहा, उनका नाम कहीं नहीं जुड़ा, यह क्या बात हुई? यानी मां का नाम। मैं लिखने लगी तो मां का पहला नाम, मेरा दूसरा नाम ('श्री') हो गया।

किसी एक घटना के बाद अचानक मेरी नजर बदले उस तरह की हूं नहीं। बहुत धीर गति से चलती हूं, जो चीजें मन में घर करती हैं, पक्की होती जाती हैं। धीमे धीमे आती हैं, टिकती हैं, अडिग हो जाती हैं। भरसक ड्रामा नहीं। शायद उस किस्म की हूं कि जो होता है उसे नीम नींद में देखती हूं, जगार तो होते होते, रफ्ता रफ्ता होता है और जब पूरी चेतना में आ जाती हूं तब पूरी तरह जान पाती हूं। तो अक्सर काफी दरमियान गुजर चुका होता है, किसी चीज के असर का अपने पर पुखताई से चस्पां होने तक!

अलग सा वक्त होता है वह। कॉलेज, यूनिवर्सिटी युवा होने का। दिल की दुनिया खुलती है, दूर जगहों के दोस्त बनते हैं, खुद से सरोकार बढ़ता है, जो जमीन छोड़ी है उसकी बुराइयां दूर आकर नए सिरे से समझ आती हैं पर अच्छाइयां लगभग पहली बार दिखने लगती हैं और मन बार बार मां बाप के घर लौटता है। जब घर जाती तो वी.आइ.पी. होती। पिता कहते, अरे समोसे, जलेबी मंगाओ। मां हमारी पसंद के खाने बनातीं। घर के चक्कर लगाने में और पुराने पेड़ पौधों में घूमने में नया आनंद मिलता। पिता सबको ड्राइव पर ले जाते, सॉफ्टी आइस

क्रीम खिलाने या कहीं बाहर खुले में नदी तट पर। जमुना किनारे गंगा किनारे टोंक किनारे। या बस मंदिर तक जहां दर्शन से ज्यादा हमें प्रसाद वाले लड्डू का चाव था! समय अभी ऐसा था कि बड़ी सादी चीजों का स्पेशल मजा था।

फिर आजाद अपने अकेले 'प्रदेश' में लौट जाती। नई पढ़ाई। नए दोस्त। नए निर्णय। कर रही थी इतिहास चूंकि घरवालों ने चाहा था सरकारी नौकरी के इम्तिहान में बैठूं। पर रुझान तेजी से साहित्य की तरफ होता गया और हिंदी की तरफ। उसी कारण प्रेमचंद पर थीसिस लिखने की ठानी कि हिंदी से साबिका बढ़े।

आपने विश्वविद्यालय स्तर पर इतिहास पढ़ा और पढ़ाया है। अपने शोधग्रंथ 'बिटविन टू वर्ल्डस—एन इंटलैक्चुअल बायोग्राफी ऑफ प्रेमचंद' के बारे में कुछ बताएं।

इसीलिए कि माना जाता था इतिहास की पढ़ाई से कापटिशन में सफलता मिलेगी पर मुझे उसमें बैठना ही नहीं था। पढ़ा और पढ़ाया क्योंकि नौकरी करनी थी।

मैं हमेशा कहती हूं कि 'बिट्वीन टू वर्ल्डस' मेरे पिछले जन्म में लिखी गई कोई किताब है। मेरा शोध इस पर था कि नई राष्ट्रीय चेतना और नए आजाद भारत की परिकल्पना के बीसवीं शताब्दी के बुद्धिजीवियों व लेखकों ने क्या आयाम बनाए। प्रेमचंद इस तलाश में एक सशक्त जवाब थे। मगर, मेरी आत्मा इतिहास शोध में रम नहीं पाई। डर रहता कि क्या कहना है, सही है, कैसे कहूं। डर डर कर बोलेंगे तो आवाज लड़खड़ निकलेगी। जो लिखा अपने आप कुछ कह गया हो तो अलग, मगर डर के ही बना!

मैं समझ गई थी इतिहास शोध मेरी दिशा नहीं है। मैंने जरूर उससे सीखा मगर मैं खुद उसे कुछ खास नहीं दे पाई।

साहित्य लेखन में आपकी रुचि कब और किस तरह विकसित हुई? विधिवत लिखना कब और किस विधा में शुरू किया?

देखिए, उन दिनों हवा में साहित्य प्रेम भी था। चूंकि नई नई आजादी का जोश था। कवि सम्मेलन, मुशायरे, संगीत सम्मेलन, छोटे बड़े शहरों में गर्व से आयोजित होते। हम अपने मां बाप के संग जाते। हमारे घर शहर के मशहूर लेखक और अन्य कलाकार आते। फिराक गोरखपुरी, सुमित्रानंदन पंत घर के आत्मीय मेहमान होते थे। भाई हमारे हम बहनों के लिए अंग्रेजी साहित्य लाते। हमें अंग्रेजी स्कूलों में भेजा जरूर गया पर हिंदी के बड़ों का सम्मान था।

मेरे पिताजी लिखते थे। बहुत सफल नहीं हुए पर ऐसे असफल भी नहीं। बरसों बाद, टोक्यो के बड़े विश्वविद्यालय के नामी पुस्तकालय में उनकी किताबें देखकर मैं ठगी रह गई! सबसे बड़ी बात जिसने हमें खूब प्रभावित की वह थी उन्हें लेखन में डूबे हुए देखना—हमने यह जाना कि कोई इंसान सुबह शाम अपनी कलम खोल, पुलिंदे पर झुका लिखे जा रहा है दीन दुनिया से बेखबर।

सो किताबों की दुनिया चारों ओर थी।

सबकी तरह किस्से कहानियों का शौक पैदा होते ही मुझे भी हुआ। सुनने का भी, बताने का भी। जब पढ़ना आया तो पढ़ने का भी। सीधे लफ्जों में कहूं तो आम सा मेरा यह शौक अपने आप बढ़ता गया और लत लग गई कहानियों की दुनिया में जीने की, जिसका नशा खुद ब खुद मुझे लेखन सिखाता चला गया। सोचूं, कल्पना को उड़ान भरने दूं, कुछ अतिरिक्त ढूंढूं कि मुझमें क्या विशिष्ट कि मैंने लेखन चुना तो यह, कि मैं लड़की, जिसे कम

बोलने को बोला गया, सो कम बोलना उसने अपना कवच बना लिया, जिसके पीछे वह बहुत बोलने लगी! उस बोलने को अभिव्यक्त करना था। किया। लिखने लगी!

विधिवत लिखना खासा देर से शुरू किया। यों तो बचपन में ही कहने लगी थी कि लेखक बनूंगी और कुछ लिखती भी रहती। उस समय अंग्रेजी में। कहानियां, जो अंग्रेजी की पढ़ी पुस्तकों से प्रेरित थीं। अपने पर आज हंस पाने के लिए काश वे संभाली होतीं! पर ऐसा किया नहीं और वे गायब हैं। जरूर कुछ बचकानी उड़ानें उनमें रही होंगी। यह याद है कि ईनिड ब्लाइटन जैसे लेखकों की सी कहानियां थीं पर लोकेल भारतीय था, उसके बच्चे पात्र भारतीय थे। वे किन संकटों में पड़ते थे, कैसे रहस्यों का भंडा फोड़ते थे, कैसे मुश्किलें सुलझाते थे, तरुण जासूस बने, मुझे ही कभी बहुत जिज्ञासा होती है क्या लिखा होगा!

उसके बाद कॉलेज और यूनिवर्सिटी में पढ़ाई इतिहास की पर उड़ानें साहित्य की, चलती रहीं। यहां मसला भाषा को लेकर भी रहा कि किस भाषा में लिखूं? अंग्रेजी में कुछ चीजें लिखीं। वे भी गायब हैं। माने कि कोई तलाश चल रही थी, भटक रही थी, पर अपने अनजाने अपनी राह और जुबान पा रही थी। प्रेमचंद पर काम ही इसलिए किया कि हिंदी साहित्य पढ़ूं। सिलसिलेवार तो नहीं पर तभी से और खुद से ही पढ़ने लगी और जितना हो सका पढ़ा। जेएनयू में हिंदी विभाग की कक्षाओं में चली जाती। मैनेजर पांडे, नामवर जी, इनके लेक्चर्स सुनती।

तो हिंदी अंग्रेजी के बीच झूलते झूलते हवा ने हिंदी पाले में गिरा दिया और वहीं उठ खड़ी हुई!

आप मूलतः कहानी और उपन्यास विधाओं में हैं। साहित्य की इन दो विधाओं के प्रति क्रमशः बढ़ते गए अपने रुझान के बारे में कुछ कहें। कालांतर में आपके रचनाकार के समक्ष किस किस तरह की चुनौतियां आती गईं और आप उनसे कैसे निबटती गईं?

काश कविता लिख पाती। पर क्यों नहीं होता, अभी तक तो, पता नहीं। जबकि सूक्ष्म की मैं मुरीद हूं, अनकहे की भी, ध्वनि की बहुत! सब कविता के गुण। बस कहानी और उपन्यास ही अभिव्यक्ति का जरिया बने। जल्दी से कुछ नहीं कहना चाहती, आराम से धीर गति से चलना पसंद है, तो उपन्यास ज्यादा पसंदीदा होता गया है। कि वक्त हो, विस्तार हो, तरफ तरफ जाने का सबब हो। भटकने का भी!

एक बार नामवर जी ने मुझे और मेरे लेखन को लेकर एक शेर कहा, अपनी स्नेहिल हंसी के साथ जिसमें शायद एक कोंचा भी था—

दयारे फन में जहां मंजिलें भी फर्जी हैं
तमाम उम्र भटकने का हौसला कीजै।

तो बस ये हौसला है हममें।

आप किन चुनौतियां की बात कर रहे हैं? पारिवारिक, सामाजिक? तो थोड़ी बहुत आईं, कोई मरना मारना नहीं हुआ उनके पीछे। लड़की से अमूमन घरों में उसके नौकरी पेशे को लेकर बहुत ऊंचे ख्वाब नहीं देखे जाते। घर से बाहर निकलकर जो कुछ करने की मंशा लड़की की हो, उसको लेकर बेशक चिंता और सख्त मनाही का माहौल बन जाता है। मां बाप अपनी बेटी को इस पुरुष प्रधान और तरह तरह से बेढंगे समाज में निकलने देने के खयाल से भयभीत क्यों न हों? पर लड़की लिखना चाहती है, उसको लेकर कोई बवाल नहीं मचा, इसलिए कि वह किसी और चीज के आड़े नहीं आता लगा। मेरा घर से अपने को मुक्त कर

लेने की प्रक्रिया को मेरे लिखने की चाह से नहीं जोड़ा गया।

निकल गई और अकेली रहने लगी तो यह समस्या जरूर रचनाकार की चुनौती थी कि जीवनयापन कैसे होगा, हिंदी लेखन से तो नहीं होगा। मुझे समय चाहिए था हिंदी से अपना रिश्ता और सामंजस्य भलीभांति बिठाने का, नौकरी की जरूरत एक बड़ी अड़चन थी। क्योंकि नौकरी बहुत समय खा लेती। सरकारी नौकरी के इम्तिहान में मैंने पिता जी के दबाव के खिलाफ जाकर कोशिश भी नहीं की। इतिहास की छात्रा थी, पढ़ाने का काम करने को तैयार थी। सो कुछ वर्ष किया, दिल्ली में। पर पाया कि लेक्चर्स की तैयारी ही करती रहती हूं, अपने रचनाकार को जानने साधने का यहां कोई स्कोप नहीं। उम्र निकलने का एहसास होने लगा और तब मैंने सब दूसरे सुविधा के रास्ते तज दिए और तीस के दो एक वर्ष पहले, यानी इतनी देर से, फुल टाइम लेखन करने लगी। इसमें कोई बड़ी शहादत नहीं थी। मेरे भाई और मेरे अब पति ने मुझको लेखक माना और साहस बढ़ाया कि और चीजों में वक्त क्यों सर्फ करो, कूद पड़ो लेखन में। लिखना इतना मेरा जीने का हिस्सा था कि बड़ा पैसा, बड़ी जरूरतों, के सपने ही नहीं बने और बाकी तो किस्मत की मेहरबानी कि खाने के लाले अपन को नहीं पड़े!

दूसरी चुनौती कि स्त्री हूं, उस खेमे में डलने वाली जिसे स्त्री कथाकार कहकर पहचान देते देते खारिज भी कर दिया जाता है, तो यहां भी मुझे बहुत पापड़ नहीं बेलने पड़े। कहानियां लिखीं तो राजेंद्र यादव ने 'हंस' में खास परिचय देकर तीन, एक के बाद एक निकालीं। संग्रह 'राजकमल' को भेजा तो शीला संधु ने बहुत प्यार और बढ़ावे से लिखा कि मुझे छापना चाहेंगी मगर एक दो साल लग सकते हैं, यानी आगे लंबी कतार है, और फिर वर्ष से कम में छाप दिया!

वाकई मैं खुशकिस्मत हूं कि इधर उधर धक्के नहीं खाने पड़े। कहानी सबसे पहले 'हंस' को भेजी और मंजूरी पाई। संग्रह सबसे पहले 'राजकमल' को और वहां भी स्वीकार हुई।

असल चुनौतियां भीतरी रहीं। उमंग और उत्साह और कर्मठता और प्रतिबद्धता के भीतर ही भीतर अपने को लेकर, अपनी काबिलियत को लेकर, अपने लिखे को लेकर असंतोष, संदेह, भय। समाज की चिंता में सपाटबयानी तो नहीं, नारेबाजी तो नहीं करनी। भाषा कैसे बरती जा रही है, उसकी प्राण प्रतिष्ठा हो रही है या दम घोंटा जा रहा है? साहित्य है यह जो मेरे कलम ने लिखा है? यहीं से चलती रहती थी एक सतत खोज कि समाज साहित्य भाषा, ये क्या हैं, अभिव्यक्ति में इनका आना कैसे हो? यहीं से कोई लेखक सीखता जाता है, उसकी कलात्मकता की समझ बारीकी पाती है, अपना संतुलन पाती है।

हमारे समाज में यह एक विशेष चुनौती है। इसलिए कि हमारे चारों ओर इतना शोर है और इतनी नाटकीय कहानियां हैं कि विषयों की भरमार तो है, पर साथ ही जल्दबाजी की और बाहरी वर्णन को कथा करार देने की भूल भी। मैं यह बार बार याद करती हूं और याद दिलाना चाहती हूं कि साहित्य के समय और समाज के समय में फर्क है—पहला ठहराव में चलता है, दूसरा रुकता ही नहीं है। साहित्य का इसरार है कि थम जा, देख, बस देख, चुप रह, बोलने की जल्दी नहीं। समाज तो रोज की दौड़ धप्प से अवकाश देना ही नहीं चाहता, डराता है कि रुके तो गाड़ी छूट जाएगी। इन दो वक्तों और उनके दबावों का सार्थक मिलान सर्जक के लिए बड़ी चुनौती हैं।

प्राप्त हुए कुछ सर्जनात्मक अवसरों और उनके उपयोग के बारे में भी बताएं। अपने सर्जक के जरूरी और महत्वपूर्ण पड़ावों के बारे में कुछ चर्चा करें। इन दो विधाओं (कहानी और उपन्यास) के अतिरिक्त आप अन्य किन विधाओं में लिखना (गाहे ब

गाहे ही सही) पसंद करती हैं? साथ ही एक पाठक के रूप में किस तरह की पुस्तकें पढ़ना आपको पसंद हैं?

सर्जनात्मक अवसर! एक बार जब साहित्यकार होने को मान लिया तो हर पल सर्जनात्मक अवसर है, जीना सर्जनात्मक अवसर है। यह नहीं कि जो देखा उसे रचना बना दें, मगर एक साहित्यिक नजर से दुनिया जहान को देखने की दरकार है यहां। साहित्यिक संवेदना से। चीजों को परखने की, आनंद की कीमत महसूसने की, जीवन को आभासने की।

पर ज्यादा मुखर सी बात करूं तो नाटकों से मेरा सरोकार एक बड़ा सर्जनात्मक अवसर बनकर पेश हुआ। नाटक मंडली के संग मैंने जाना कि भले ही मुखर तौर पे कथालेखन में मालूम न चले कि और कितने 'लेखक' हैं मेरे अलावा मेरी कृति को रूपरंग सज्जा देने वाले, वे हैं—सृजनात्मक प्रक्रिया में बहुत से सृजनकर्ताओं का होना निहित है। हमारी शिक्षा, हमारा परिवेश, हमारी विचारधारा, हमारी परंपरा, पूर्वग्रह, न जाने क्या क्या और कौन कौन आज के और पूर्वज जमानों के, हमारी अभिव्यक्ति में उतर आते हैं।

स्पष्ट में यह भी जाना कि सब कुछ शब्दों से नहीं कहना होता और सही जगह पर 'कट' कर देने से ही सांसों का निर्माण होता है, यानी चुप्पियों से सांस और जीवन आते हैं, सब शब्दों में कह देने से नहीं। और भी, कि दूसरी कलाओं के मार्फत भी कहा जाता है—ध्वनि, रंग, छवि, स्पेस, मुद्रा इत्यादि। और अपने लेखन को साधने, संतुलित करने, उसकी लय बनाने में इन सबका गठबंधन कारगर होता है। यह चुनौती ही थी कि हर कला में हर कला के प्रति संवेदनशील और सचेत हों, ताकि उनका सामंजस्य जादुई हो, सोजपूर्ण, लोचपूर्ण हो। तो साहित्यकार जो शब्दों से ही सबसे ज्यादा खेलता है, कैसे करे? यह पहचाने कि शब्द माध्यम से ज्यादा एक उपस्थिति हैं, अपना व्यक्तित्व लिए। नाटक के किरदारों की तरह। याद आ रहा है, मेरे ही उपन्यास *हमारा शहर उस बरस* पर एन.एस.डी. (राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय) की रेपर्टरी द्वारा खेला नाटक। उसमें एक पात्र कुछ नहीं बोलता, बस आता है, कुछ हरकत सी करके चला जाता है। हम ध्यान भी नहीं देते। बड़ी चीजें घट रही होती हैं, हम उधर देख रहे होते हैं। वह फिर आता है, चला जाता है। और हमें पता नहीं चलता किस पल में और किस पल से उसकी उपस्थिति एक कहानी बनती जाती है। वह आकर उकड़ूं बैठ के चला गया, फिर वहां कुछ रख गया, फिर एक मूर्ति आ गई, फिर उस पर देवालय छोटा सा, और धीरे धीरे एक मंदिर जहां दर्शन पाने जनता उमड़ने लगी। एक नामालूम सी उपस्थिति एक धमकाती डराती उपस्थिति बन गई।

शब्दों का अतिरेक न हो, शोर और भीड़ न हो, ताबड़तोड़ प्रॉप्स न भरें कि जो एक कर रहा है, वही दूसरा प्रॉप भी कर रहा है, और फिर भी हम उसके मोह में उसे ठूंस दें कृति में। यह सब एक माने में अलंकार हैं। हमारे सौंदर्यशास्त्र में अलंकार का बहुत महत्व है। अलंकार के बगैर कला संभव ही नहीं है। लेकिन अलंकार कला के लिए हैं, न कि कला अलंकार के लिए। एक उदाहरण यह है—नख शिख वर्णन में शरीर के हर अंग के लिए उपमाएं होती हैं। मिसाल के तौर पर केश बादल, नेत्र मीण, मुख कमल इत्यादि। पर इन सारी उपमाओं को कवि एक जगह एक संग वर्णन में रख देंगे तो सुंदरता नहीं, वीभत्सता प्रकट होगी।

एक कहानी यह चलती है जिसने भी बनाई है सृजन क्रिया पर क्या खूब किंवदंती है। कि भवभूति ने कुछ लिखा और किसी वाहक से कालिदास को उसे देखने को भेजा कि बताएं वह कैसा बना है? कालिदास ने वाहक को बिठलाया, देर तक इधर उधर की बातें कीं और भेज दिया वापस। क्या कहा, भवभूति ने पूछा। कुछ नहीं, वाहक बोला। माने क्या? माने इधर

उधर की बोलते रहे और फिर कहा जाओ। भवभूति परेशान। बोले, तफसील से बताओ, एक एक ब्यौरा दो, तुम्हारे मिलने के पल से लेकर निकलने के पल तक क्या क्या हुआ? वाहक ने दिए सारे ब्योरे। आखिरी था कि कालिदास ने पान निकाला, जो उसमें मिलाना मिलूना था, मिलाया, मुंह में दबाया और कहा 'चूनम अधिकम'। बस भवभूति समझ गए!

अतिरेक और सरल स्पष्टीकरण, कलात्मक संतुलन और लय को पटकनी लगा देते हैं, यह सीख एक बड़ा सर्जनात्मक सबक रहा। तो बस यह सही माप, मयार, संतुलन हैं रचनाकर्म की असल चुनौती। बाकी तो हर चीज की वहां आजादी।

स्त्री संबंधित कई संवेदनाएं और समस्याएं आपकी रचनाओं में सहज ही दिखते/आते हैं। एक भोक्ता के रूप में अपने कुछ अनुभवों को दर्ज करते हुए रचनात्मक स्तर पर कहीं एक निरपेक्ष निर्वहन की कोशिश भी रहती है। सम्मिश्रित अनुभवों की इस अभिव्यक्ति प्रक्रिया के बारे में कुछ कहें।

इन संवेदनाओं को तो मुझमें होना ही है। बल्कि हर संवेदनशील व्यक्ति भी इनसे लैस होगा और होगी। सहज, जैसा आपने कहा। अपने अनुभव को रचना में कैसे लाया जाता है, इस पर मैं यही कहूंगी कि सरलीकरण न ही किया जाए—अनुभव अपना हो या अन्य किसी का, सीधा सपाट, रिपोर्ट के तौर पर रचना में न आना चाहिए। जीवन से रचना तक का रास्ता होता है, उस पर बहुत से और तत्व हैं, औजार हैं, जो बात को निखारते, तराशते, उसमें जोड़ते जुड़ते घटाते चलते हैं। रचना में आने तक वह मेल मिलाप रचना का सत्य हो जाता है।

आईने में झांकने पर भी इधर और उधर की छवि में फर्क होता है! इतने लंबे रास्ते से गुजरने के बाद तो बहुत कुछ फर्क लाजमी है। भले ही सीमित नजर से देखें तो लगे कि विवरण हुबहू वही है जो जीवन के यथार्थ में। यह बात समझने वाली है, चाहे अनुभव मेरा हो, या किसी का भी। खैर कोई अनुभव नितांत एक का नहीं होता, निजी से निजी भी।

आपके लेखन से गुजरते हुए हम पाते हैं कि वहां किसी तरह के दबाव से समझौता न करने की प्रवृत्ति है। आप भाषा के बने बनाए फॉर्मेट को तोड़ती हैं। अनावश्यक होने की स्थिति में सरलता के किसी आग्रह को अस्वीकारती हैं। अक्सरहां अपनी धुन में आप हमें रमी हुई दिखती हैं। कृपया अपने इस स्वभाव के बारे में बताएं। रचनारत रहते हुए एक रचनाकार को इससे कितनी सुविधा होती है? दूसरे, अपनी रचनाओं को लोगों तक ले जाने में क्या इससे कोई असुविधा होती है?

समझौता मैं करती हूं, अपनी आवाज के कहे की मानकर, दूसरे के कहे की नहीं।

रचनाधर्म मैं मानती हूं, यह मांग करता है कि बिना बाहरी समझौता किए, अपना स्वर तलाशें। किसी और के दबाव में नहीं, अपने भीतरी दबाव में। जैसे नाविक निकले नई जमीन, नया संसार पाने, देखने। समझौते हैं, इस मायने में कि आप नाव चलाना सीखेंगे, तैरना सीखेंगे, मौसम को भांपना सीखेंगे, राह में आते जानवरों से पार पाना सीखेंगे, तूफान में पाल गिरा देंगे इत्यादि। कितना डर, कितना निडर, यह तय करेंगे, और आगे जाएं, जंगल या लहरों को छांट पाएं, मगर बचे रहें, निगल लिए गए तो फिर हो गई वार्ता पूरी! पर यह समझौते विधा के हैं, तकनीक के हैं, और इनकी हद सरहद हमें खुद अंदाजनी है। कि अंततः ऐसा संसार बने जो लुभावना हो, जोरदार हो, और खरा हो, यह मंसूबा है।

यह भी गौरतलब है कि रचना सिर्फ हमारी गढ़ी वस्तु नहीं है, उसकी अपनी आन शान

है, अलग अस्तित्व है। और सुनिए, साहित्य, साहित्यकार से बड़ा है। हम जो लिखते हैं वह हमसे कहीं बड़ा होता है या उसे होना चाहिए, वरना यों समझिए कि वह बना नहीं। चूंकि संसार अभिव्यक्ति और कल्पना की भी उपज है, तरीके और उनके प्रयोग बराबर चलेंगे। कैसे कहें, कौन सी उड़ान भरें, कि बात पुरमस्त प्रकट हो, घिसा पिटा बयान न हो, यह मनन हमेशा चलेगा। यह करने के लिए जरूरी है कि आप अकेले चलें, निर्भीक हों, और अभी आपको रोकने टोकने वाला आपके अलावा कोई न हो। इस आजादी से बढ़ें आप।

यानी आप पहले लेखक, पहले पाठक, पहले आलोचक हैं। दूसरा कोई, जिसे आना है, इसके बाद आएगा। इसलिए मुझे लगता है कि मैं अपने लेखन में काफी हिम्मती हूं! शायद आजाद भी। इस जोखिम को उठा के चलती हूं कि यात्रा सार्थक हो सकती है या पछाड़ खा के गिर भी सकती हूं।

कुछ हद तक यह भी जानती हूं कि आजादी में निहित है बंधन—मेरा अंतर्मन मुझे निर्धारित करेगा। मेरी बरसों की ट्रेनिंग, साधना, उपासना, इंस्टिंक्ट, सब मेरे गाइड होंगे। ऐसा नहीं कि कुछ भी कैसे भी करूंगी। कोई मेथड अपने को खोलेगा, खिलेगा। अकेले में बढ़के, संसार रच लिया, तब जाकर किसी और की दरकार है। अब दूसरे कैसे इसे देखेंगे, मैं निर्धारित नहीं कर सकती। अब हम खुले में आ गए, उनके हाथ में है मेरी रचना को सफल करार दें या असफल घोषित करें। पर चूंकि मैं कोई ऐसी अनूठी, अकेली, यूनीक हस्ती नहीं हूं कि कोई नहीं मेरे जैसा और मुझे समझने वाला; तो मेरी लय से लय मिलाने वाले आप ही निकल आते हैं। आखिर संगीत में धुन है, सोज है, आनंद है, तो कुछ पारखी तो निकल ही आएंगे। कुछ हमेशा होंगे जिन्हें कुछ धुनें रास नहीं आएंगी। जैज जैसा महान संगीत भी बहुतों को बेसुरा लगता है। और शास्त्रीय संगीत को न झेल पाने वाले भी कम नहीं, तो रिजेक्शन कुछ तरफ से तो आएगा ही, आने दें।

मैं लिखती हूं, अलग कोशिश करती हुई रास्ते बनाती हूं। आज तक तो मैं स्वयं ही अपने लिखे से ऐसी प्रफुल्लित नहीं हो पाई कि वाह वाह कर बैठूं। मेरी जान उसमें लगी है तो मेरा निजी हो गया वह, प्यार किया उसे, मगर खुद को तोप तो नहीं ही समझा! बल्कि मुझसे अधिक दूसरे पाठकों ने मेरे लेखन को सराहा! कभी कोई ऐसा जिसे आप बढ़िया समझते हैं, सराहे, तो आप इस सराहना से खुश हो लेंगी। कभी कोई आपके ही लिखे के अलग आयाम आपको दिखा दे तो आप अचंभित और चमत्कृत हो लेंगी। कोई बुराई करे तो वह भी आप सुनेंगी। ये बातें आपके भीतर कोई नई चेतना, नया सुझाव उठा दें तो उन्हें अमल में लाएंगी। वरना वही आप और आपकी चाल निराली! चलेंगे जब तक चलने का दम है।

आपके पहले उपन्यास 'माई' की कुछ बात की जाए। हम पाते हैं कि यहां पीढ़ियों से हस्तांतरित सत्ता, प्रेम, उपेक्षा, घृणा आदि कई तत्व सहज ही प्रकट हुए हैं। एक तरफ यहां सामंतवादी व्यवस्था में दबती पिसती एक स्त्री की कथा है तो दूसरी तरफ उस स्त्री के दो बच्चों की कहानी है जो अपनी मां से जबरदस्त बांडिंग रखते हैं और जो अपनी मां की तरह घुट घुटकर जीना नहीं चाहते हैं और जो कहीं न कहीं अपनी मां को बचाते भी चलते हैं। मां, पुत्री और पुत्र के बीच की इस अनोखी बॉडिंग पर कुछ कहें। साथ ही हमें यह भी बताएं कि आप संयुक्त परिवार को किस रूप में देखती हैं? खासकर वहां मिलते दिखते स्त्री के अस्तित्व के संदर्भ में। इस उपन्यास (माई) और 'मैंने अपने आप को भागते हुए देखा' सरीखी कहानियों में अहं, सत्ता और जयकारा

पसंद पुरुषों की संततियों में इन सबके नकार का एक सशक्त तत्व दिखता है। समय के साथ पुरुषों में किस तरह के बदलाव आपको दिख रहे हैं और वे लैंगिक समानता के लिए कितने महत्वपूर्ण और अनुकूल हैं? कृपया इसे स्पष्ट करें।

'माई' सामंतवाद और पुरुष प्रधान समाज का दस्तावेज है, सही। मां और बच्चों की स्पेशल बांडिंग का भी। मगर दबी पिसी औरत की कहानी नहीं है यह। बल्कि दबी पिसी दिखने वाली स्त्री की कहानी है, जो चुप के पीछे, झुके होने के पीछे, अपनी आग से ज्वलंत है, और उसी की शक्ति बहुत कुछ संचालित कर रही है। यह बात बच्चों को जल्दी नहीं दिखती क्योंकि वे समझते हैं कि लड़ाई तो वे लड़ रहे हैं और उन्होंने जीती है, पुराने वक्त के लोग बस फंसे हुए थे। सच तो यह है कि हर स्थिति और हर वक्त में लड़ाई चलती है, व्यक्ति और समाज के बीच खींचातानी, कमजोर और शक्तिशाली के बीच भी। सफल असफल की दास्तान भी चलती रहती है। बस कुछ किया है तो हमने किया है, इस दंभ को तजें। और हमने किया तो उसकी क्या सीमा है, उसे भी परखें। यह भी कि जो हमने किया उसका श्रेय किस हद तक हमसे पहले जो कर गईं उनको भी है, यह विनीत स्वीकार अपने में लाएं। इस किस्म की चिंताएं हैं 'माई' में।

संयुक्त परिवार अपने भौतिक रूप में तो हर तरफ बिखरता नजर आता है, 'माई' में भी बदल जाता है, मगर संयुक्त परिवार की मानसिकता कमोबेश अभी बरकरार है। उसमें सबका साथ होना, वक्त जरूरत एक दूसरे के काम आना, यह शामिल है तो आपस की फूट, द्वेष, दरार, हिंसा, वह भी उसका यथार्थ है। समय के साथ पुरुष बदला है, क्यों नहीं बदलेगा? बस सतर्क यों रहना है कि कितना बदलाव ऊपरी है, केवल विचार में है, कितना अंतर्मन में उतर चुका है और वाकई इंसान की नजर बदल गई है? हाल में मैंने कहीं पढ़ा—और यह 'सर्वे' तथाकथित पहली दुनिया के समाजों का है—कि अभी भी कम पुरुष स्त्री का लिखा पढ़ते हैं। यह कुछ तो कहता है—स्त्री सरीखे विषयों, अंदाजों के प्रति बेरुखी या अन्यमनस्कता, स्त्री को पूरी गंभीरता से न ले पाने की असभ्यता व अक्षमता को।

आपके उपन्यास 'खाली जगह' में खाली जगह का रूपक कई तरीकों से हमारे सामने आता है। वह खाली जगह कभी शरणस्थल या बचावस्थल के रूप में आती है तो कभी अपनी महत्वहीनता और अलक्ष्यता से ऊपर उठकर सहसा किसी केंद्र का रूप लेती हुई दिखती है। एक बम विस्फोट से उन्नीस लोगों की मौत को किसी आंकड़े की सीमा में रखकर न देखने का लेखकीय आग्रह है। ऐसी डरावनी घटनाओं से छिन्नभिन्न होती मनुष्यता की कराह को उसकी सघनता और व्यापकता में आपने यहां प्रस्तुत किया है। आज जब हम वैश्विक स्तर पर बड़ी से बड़ी आतंकी हिंसक घटनाओं को देखने महसूसने के आदी होते चले जा रहे हैं, जिनमें सैकड़ों हजारों की जान कुछेक पलों में चली जाती है, ऐसे में अतिवाद/उग्रवाद, असहिष्णुता और सांप्रादायिक उन्माद से प्रभावित इस समकालीन परिप्रेक्ष्य में आप अपने उपन्यास 'खाली जगह' को कैसे देखती हैं?

इस पर क्या कहूं। मैं अपनी तरफ से भारी मुद्दों को लेकर लिखने कम ही बैठती हूं। बहुत छोटी, निजी, रोजमर्रा की बातें, साधारण लोग, उनके पीछे पीछे, साथ साथ हो लेती हूं। यह तो अलग बात है कि निजी कोनों में भी बड़े संदर्भों की हवा की महक आ पहुंचती है। आखिर हम सब इतिहास, समाज, काल से अलग तो नहीं हैं।

'खाली जगह' का घटना क्षेत्र वह संसार है जहां हिंसा आम सी बात हो गई है। यह

हिंसा कैसे सहज जीवन की संभावना मिटा देती है, साधारण लोगों को पटरी से नीचे उतार देती है और अब उनकी टेढ़ी, टूटीफूटी, बेढंगी चाल हो जाती है। यह दु:ख की बात है। 'खाली जगह' का बच्चा सधा संवरा जीवन चाहता है और युवकों वाली मस्तियां, प्यार चाहता है। पर उस बम विस्फोट से पैदा विकृतियों के चलते एक अजीब उपस्थित/अनुपस्थित व्यक्तित्व के बीच झूलता रहता है। कथा हिंसा से बच आए 'सर्वाइवर' की है, 'सर्वाइवल' की है, और 'खाली जगह' उम्मीद और निराशा दोनों का द्योतक है।

आपका उपन्यास 'रेत समाधि' एक चमत्कारिक प्रयोग है। भाषायी और शिल्पगत स्तर पर। हिंदी भाषा का ठाट और तेवर यहां दोनों देखने को मिलते हैं। मगर यह सिर्फ प्रयोग तो हो नहीं सकता। कुछ रोचक खंडों में विरचित यह उपन्यास वृद्धावस्था, मातृत्व, अकेलापन, स्त्री पुरुष संबंध, भारत पाक विभाजन आदि मुद्दों को अपने खिलंदड़े अंदाज और बिखरते दिखते कथाक्रम में उठाता है। इसके रचाव और शिल्प पर कुछ बताएं। बहुत ठहरकर लिखे गए इस उपन्यास में हम पाते हैं कि मां बेटी के बीच की उम्र को प्यारे और प्रभावी ढंग से चित्रित किया गया है। इस अर्थ में यह, मां बेटी के बहनापे का भी उपन्यास है। मां बेटी के इस बहनापे के पीछे की कथा पर कुछ कहें।

बरसों लगे उस उपन्यास को पूरा करने में। कृति अपनी अवधि खुद तय करती है। उसका स्वर आ जाता है कि बस हम यहीं तक होंगे, और अब आने दो हमें दुनिया में, वहीं देखी जाएगी। अपनी कृति पर खुद वर्णन व्याख्या मुझे करना खास समझ नहीं आता। एक तो यह बात होगी कि मैं मानती हूं कि लेखक को अपने भीतरतम प्रदेश को टटोलना चाहिए, खंगालना चाहिए और हिम्मत और ईमानदारी होनी चाहिए, वहां जो प्रकट हो उसे व्यक्त करने की। मगर यह भीतरतम सोचकर सोचने वाला नहीं है, यह तो छिपी चीजों को उजागर करता है, हमारे अनजाने भी हमें सदियों से जोड़ता है, उनको हममें व्यक्त करता है। इसी कैफियत में मैंने 'रेत समाधि' उपन्यास लिखा।

एक बात और थी। मैं उसमें चलने लगी तो 'मुझे बैसाखियों का सहारा नहीं चाहिए' वाली स्थिति में आती गई—उपन्यास की परिपाटी यह होती है, नारी पात्र है तो नारी विमर्श की मांगें ये होती हैं, हिंदी है तो उसका व्याकरण ऐसा होना चाहिए। मैं अपनी राह खुद बनाती चली या यों कहें कथा और पात्र राहें सुझाते चले। तो एक स्वतंत्रता आई उसके रचने में जो उसका सच्चा स्वभाव था, दिखावटी नहीं। और नतीजा खुशहाल हुआ क्योंकि हर स्तर पर ताजगी आई, भाषा, कथा, किरदार सब निराले।

जोखिम होता है मगर इतना भी नहीं, क्योंकि जाने अनजाने हम अपनी मिट्टी अपने आसमान से ही पाते हैं, उसी में जड़ें जाती हैं, उसी में उड़ानें बनती हैं। हमारी जमीन से, हमारे आसमान से!

रिश्तों का उपन्यास है, तरह तरह के रिश्ते। मजा भी, दर्द भी उनमें। समाज, इतिहास, इंसानी नियति और प्रवृत्ति तो हैं ही जो उन्हें अपनी लपेट में स्वत: लेती रहती हैं। कथा है पर एक बृहत्तर कथा में ढेरों लघु कथाएं हैं तो एक तरह से कह सकते हैं जीवन के गड्डमड्ड का स्वरूप यहां। आपने मां बेटी का कहा। ठीक है, दोनों एक जाति की हैं तो एक आप्सी संवेदना बनती है जो खास उनकी, और कभी मां बेटी हो जाती है, बेटी मां। मगर मां बेटा भी है, औरत और मर्द भी है, औरत और औरत/मर्द या थर्ड जेंडर भी। और आदमी और कौवा भी, औरत और तितली भी, बेटी और दरवाजा भी, कौवा और तीतर भी!

'माई', 'खाली जगह', 'रेत समाधि' जैसे आपके उपन्यासों के विदेशी भाषा/ भाषाओं में अनुवाद हुए हैं। वैश्विक स्तर पर रचनाकार और उसकी कृतियों की व्यापक स्वीकृति की दिशा में यह सुखद है। आपके अनुवादक अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन भाषा आदि के हैं। अपने अनुवादकों से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण अनुभव कृपया हमसे बांटें।

हां कुछ भाषाओं में इन पुस्तकों के अनुवाद छपे हैं। उससे ज्यादा कई भाषाओं में इन कृतियों पर काम हुआ है, कहीं शोधकर्ताओं द्वारा, कहीं पाठ्यक्रम में इन्हें लिया गया है, तरह तरह से।

अक्सर विदेशों में साहित्य से ज्यादा भाषा पढ़ाने के काम में कृतियां ली जाती हैं। कहानियां ज्यादा फिट बैठती हैं। मगर खुशी है कि कुछ अध्यापक, खासकर नए, जवान, साहित्य के बारे में जिज्ञासु होते हैं और अपने छात्रों में यहां के साहित्य की समझ और संवेदना बढ़ाते हैं। फिर भी छात्र कम संख्या में हैं जो गंभीरता से यहां की भाषा व साहित्य पढ़ते हों। कोई भविष्य उसमें नहीं दिखता उन्हें। विभाग निरे हैं, बहुत से देशों में। इन्हीं में ऐसे लोग मिलते हैं जो वाकई इस भाषा और इसके साहित्य से प्यार करते हैं। मुझे ऐसे लोग मिले और मेरे साहित्य को कुछ कुछ जगह वहां मिली।

हां कभी दिलचस्प वाकए घटे। खासकर 'माई' उपन्यास के पाठ दौरान। मैं समझ रही थी कि पश्चिम को किताब में इसलिए दिलचस्पी हुई कि यह पूरब की, उनसे फर्क जीवन और संस्कृति से उन्हें रूबरू कराता है। पाया कि एक दफे नहीं, बार बार बारंबार, अलग अलग यूरोपीय देशों में, ऑडीयंस बोलती हां हम खूब समझ रहे हैं, ऐसी औरतें हमारे घरों में भी हैं, अभी भी। कुछ कहतीं हम माई हैं।

एक से ज्यादा बार किसी पुरुष ने सवाल किया, इतना बुरा हाल औरतों का तुम्हारे देश में कि माई दूसरों के मुताबिक चल रही है, स्वेच्छा से कुछ नहीं कर रही, हमारे यहां तो ऐसा नहीं हो सकता। जिस पर पहले कि मैं कुछ कहूं, वहां बैठी औरतें एक स्वर में चिल्ला पड़ीं, अच्छा, यहां ऐसा नहीं होता! इल्जाम भी, ताना भी!

और एक बार एक अनुवादक ने जो प्रोग्राम करने और बहस बातचीत के दौरान मध्यस्थता करने आया था, जिससे मैं बस तभी तभी मिली थी बोला—शुक्रिया इस उपन्यास को लिखने के लिए। इसे पढ़कर मैंने अपनी मां की इज्जत करना सीखा।

एक और घटना याद आ रही है। जर्मनी के कील नाम के शहर में। मैंने सोचा 'माई' से नहीं, अलग सी कोई कहानी पढ़ दूं। सो 'पंख' नाम की अपनी कहानी पढ़ी। पूरी की तो सुनने वालों में एक बेसाख्ता बोल पड़ीं, ऐतराज के से स्वर में, कि इसमें भारतीय क्या था?

इससे समझ में आया कि पश्चिम अक्सर यह भी चाहता है कि उनकी नजर में जो भारतीय खूबियां—नहीं कमियां कहिए—हैं, जैसे पिछड़ापन, औरतों का शोषण, जाति अत्याचार आदि बातें आएं, इधर का जब वे साहित्य पढ़ें। शायद इससे उनका अपना स्तर ऊंचा हो पाता है!

मैंने जवाब दिया था कि साहित्य क्यों किसी एक जगह से ताल्लुक रखे, सार्वजनिक मूल्यों का है, क्यों न हो?

आपकी रचनाओं में बोली बानी (मुख्यतः अवधी) की छटा और उसका ठेठ परिवेश उभरकर आता है। बतौर रचानाकार बोली भाषा के अंतर्संबंधों पर कुछ बात करें। साथ ही, अपनी रचनाओं के कुछ संदर्भ भी दें। लोक और साहित्य के जुड़ाव पर कृपया अपना दृष्टिकोण रखें।

लोक और साहित्य अलग न हैं न थे। बल्कि मुझे लगभग कहीं भी इस तरह के द्वैत में चीजों को बांटना दिक्कततलब लगता है। जीवन के प्रवाह के विपरीत। लगातार के आदान प्रदान को अनदेखता। यह सब नाहक सरहदें खड़ी करने वाली बात है और सरहदें गड़बड़ हैं अगर वे इधर का उधर का रोक देती हैं। सरहद डेड एंड नहीं होती। और डेथ भी डेड एंड नहीं होती।

भाषा के भीतर संरचनात्मक स्तर पर आपके यहां कई बार काफी तोड़फोड़ दिखती है। पाठकीय प्रवाह के प्रति आग्रहशील शिल्प टूटता है, वहीं उससे एक नया भाषायी सौंदर्य भी उत्पन्न होता है। आपका मानना है कि भाषा सिर्फ माध्यम नहीं है, वह अपने आप में एक व्यक्तित्व भी। कही जा रही कोई चीज किस तरह कही जाए, आपका इस पर आग्रह रहता है।

मुझे लगता है आपके इन सवालों का केंद्रीय बिंदु दरअसल पाठकीय प्रवाह है। हम मान लेते हैं कि एक तरह का सपाट आसान प्रवाह पाठक चाहते हैं। असल लोचा यहीं है। पाठकों की योग्यता और रस ग्राहकता दोनों के प्रति अविश्वास यहां निहित है। परिष्कृत दृष्टि वाले सदा तत्पर रहते हैं संप्रेषण के नए नए खेलों के लिए, अलग प्रवाहपथ के लिए।

एक अहम बात—हम लेखक को निर्देशक माने बैठे हैं कि सब वह निर्धारित करता है। कृति और उसमें घुले अलग अलग तत्व, उनकी भी चलती है, यह भूल जाते हैं। निर्देशन उधर से भी आता है और ज्यादा उधर से आए, लेखक को निमित्त बनाता चले तो रचना से ज्यादा उम्मीद की जा सकती है। मेरी भाषा इत्यादि इस तरह फलते फूलते हैं।

और हां, प्रवाह की बात करें तो संगीत को याद करिए। कितने अलग किस्म के प्रवाह मिलेंगे आपको। अलग लय, तरंग, उठान, कभी तो सुरीले की आम धारणा को पूर्णत: धता बतलाते, बेसुरे से लगते। पर होते नहीं—उनकी बेहद लजीज, बहुत असरदार ध्वन्यात्मक 'मकानियत' है। जो पाठक इन अलग किस्म की लयकारी और प्रवाह का रस नहीं पाते, यह उनकी कमी है—वे खुद ही समस्या हैं—न कि साहित्यकार एवं संगीतकार की!

यह भी सुनिए। कि साहित्य क्या करता है? अक्सर जो कम सुने जाते हैं, या किनारे छूटे पड़े हैं, बहिष्कृत, तिरस्कृत, उनको वह सुनना व उनकी सुनाना चाहता है। जो दृश्य हम भूल गए हैं, या देखते नहीं, या आदी हो गए हैं तो हेय समझने लगे हैं, उन्हें सामने करना चाहता है। इसमें जरा अलग ढंग, अंदाज, ध्वनि, लय, यानी अलग सा प्रवाह बन जाता है तो हमारा ध्यान उधर जाता है, तो यह अच्छा हुआ न?

यह सब सोचा समझा षड्यंत्र नहीं है, शिद्दत से बात कहने का अंजाम है।

आपका रचनाकार क्या कभी मोहभंग का शिकार होता है? मोहभंग और उदासी के क्षणों में, निराशाजन्य स्थितियों से निबटने के लिए आप क्या करती हैं?

मोहभंग होता है जब हम कुछ बहुत अच्छा पढ़ते हैं। जैसा कि अक्सर हम पढ़ते हैं। तब लगता है मैं कहां की लेखक, लेखन तो यहां है, हम तो गोटी खेल रहे हैं! मोहभंग होता है जब हम अपनी कोशिश में अपनी अधरची दुनिया में विचर रहे होते हैं और हमारे चारों ओर की दुनिया दूसरे दु:ख दर्द व संकट से जूझती है। हम नितांत बेकार हैं, कर क्या रहे हैं इसको बचाने, अपने ऊपर शंका होती है, अपना काम बेमकसद लगता है।

निबटने के लिए नुस्खा नहीं ढूंढ़ती। क्योंकि मैं जो कर रही हूं कुछ हद तक वही कर

सकती हूं, उसके अलावा कुछ नहीं, तो वही करती रहती हूं—कोशिश, अपने लिखे को संभालने की, अपने लिखे और चारों ओर में संवेदनशील संतुलन पाने की, कुछ मददगार हो पाने की, कुछ उम्मीद का जज्बा जगाने की।

यह कोशिश ही निबटने में कारगर होती है।

विस्थापन, भारत पाक विभाजन, राष्टवाद बनाम मानववाद, थर्ड जेंडर आदि से जुड़े कई सामाजिक/राजनीतिक/सांस्कृतिक मुद्दे अपनी पूरी संवेदनशीलता में आपकी रचनाओं में अभिव्यक्त होते हैं। साहित्य में इन्हें दर्ज करते वक्त आप किस तरह की तैयारी करती हैं?

आप अपने समाज व इतिहास से जुड़े हैं तो ये मुद्दे आपके जीवन का हिस्सा हैं। साहित्यिक कृति की मांग हो तो वहां भी सहज सहल आ जाएंगे। एक और तरह से कहें तो यह तो माज मज्जा हैं ही हमारे साहित्य के। हां, कृति कभी यह जरूर करवाती है कि आपको सिलसिले से इनकी पढ़ाई में लौटना पड़े। 'हमारा शहर उस बरस' के लिए मैंने सांप्रदायिकता को लेकर ऐतिहासिक दस्तावेज, पुस्तकें, अखबार काफी कुछ दोबारा से पढ़े। या 'रेत समाधि' में जब हिंदू मुसलमान ब्याह का प्रकरण आया जिसमें बिना धर्म परिवर्तन के पुराने वक्तों में यह ब्याह रचा गया तो मेरे मन में कुछेक छिड़ा। आजादी के पहले की बात थी, बतौर लेखक मुझे परेशानी नहीं थी कि इसकी ऐतिहासिक मिसालें मिलेंगी, नहीं मिलेंगी—इंसान का दिल है, प्यार सामाजिक नियम और कानूनी संभावनाओं को देखकर नहीं होता। कहने का तात्पर्य है कि ऐसी मिसालें न भी मिलतीं तो मैं मानती कि ऐसा हो सकता है और उपन्यास के किरदारों का वह ब्याह बिना चिंता किए मानती। फिर भी जिज्ञासावश मैंने कुछ छानबीन की और पता चला कि आम ज्ञान इसका नहीं है, पर यहां तो निरी ऐसी शादियां हैं! आखिरकार 1872 का 'स्पेशल मैरिज ऐक्ट' तो बना ही इसलिए था कि अलग अलग धर्म का होना विवाह में बाधक न हो। अचानक पता चला—कोई शोध करने नहीं बैठी थी—कि प्रसिद्ध संस्कृतविद भंडारकर की धेवती, मालिनी ने एक मुसलमान से शादी की और मालिनी खान हो गई। पर उसकी बेटी, सुरैया ने एक हिंदू से शादी की और बगैर शुद्धि के सुरैया टंडन हो गई। महाराष्ट्र में ही डिप्रेस्ड क्लासेज मिशन के प्रमुख कार्यकर्ताओं में गिने जाने वाले दंपति कल्याणी सैयद और अब्दुल कादर सैयद की बेटी दिलशाद ने इसी तरह बगैर शुद्धि के एक हिंदू से शादी की।

एक लेखक के भीतर समर्पण, धैर्य, निस्संगता जैसे गुणों की आवश्यकता होती है। आपके रचनाकार के भीतर हमें ये तत्व मिलते हैं। जब आप स्वयं अपने भीतर उतरती हैं तो आपको इन्हें लेकर क्या एहसास होता है?

अगर हैं ये गुण मुझमें तो मैं खुश हूं। यह साहित्य साधना से गुजरते हुए आप सीखते जाते हैं। अपने को, साहित्य की जगह को बचाए रखने का मनोबल भी प्रेरित करता है। चाय बनाई, पांच मिनट रुके, चम्मच डाली, चलाई, और केतली तिरछी की कि कप में ढाल दें और सुड़ुक सुड़ुक पी गए, यह न साहित्य है, न साहित्य का चस्का। डूबना पड़ता है, जिसका मतलब अवधि से नहीं है, उस संवेदना के संग रहने से है। आप किसी कृति की रचना के पहले और बाद उसी अलग जगह में हो सकते हैं, वह आपके जीने के तर्ज में शुमार हो चुका हो सकता है।

मैं निरंतर औरत, धर्म की बातों, बराबरी की बातों के संग हूं। कुछ लिखते वक्त उसे नए सिरे से तलाशना नहीं पड़ता, बस अलग अलग पात्र उन बातों में मुझे नए सिरे से ले जाते हैं—'खाली जगह' का बच्चा, 'माई' की मां बेटी, 'हमारा शहर उस बरस' के हिंदू मुसलमान, 'तिरोहित' की दो अलग वर्गों की ललना और चच्चो, 'रेत समाधि' की अम्मां और रोजी इत्यादि। बस जल्दबाजी से इनमे से किसी से साबिका नहीं पड़ता, धीरे धीरे उन्हें पहचानती हूं, जितना भी।

यह भी बताएं कि स्वयं में किन तत्वों की कमी आपको परेशान करती है?

किन तत्वों की कमी? अरे सभी तत्वों की! काश कि भाषा, कल्पना, ह्यूमर, समझ सब मुझमें और होते, मैं और तेज होती कि नए जोरदार गठजोड़ बना के पेश कर पाती। यह तो अंतहीन है। उसे पाने ही तो लगी रहती हूं, हर बार कोशिश करती रहती हूं।

आप कहानीकार और उपन्यासकार दोनों हैं। आपको क्या कहलाना ज्यादा पसंद है?

कवि कहलाती तो दिल बाग बाग न हो जाता! मगर सो नहीं हूं न हो पाऊंगी! और मैं क्या अपने को कुछ कहलाऊं। जो आपको लगती हूं आप कहेंगे। हां पिछले बरसों में कहानियों से ज्यादा उपन्यासों में डूबी रही हूं। लिखने को तो नाटक की पटकथा भी लिखीं पर कभी नहीं कहा कि मैं नाटककार हूं। किसी किस्म की कथाकार ही हूं। कुछ ठीकठाक लिख लूं, अपनी संभावनाओं को मूर्त कर पाऊं, उससे अधिक क्या बेच के क्या चाह सकती हूं!

आप एक साथ कई पीढ़ियों से संवादरत है। पूर्ववती और समकालीन साहित्यिक परिदृश्य को आप किस तरह देखती हैं? साहित्य और विशेषकर हिंदी साहित्य की स्थिति आगे कैसी है?

संवाद प्रक्रिया चलती रहेगी, खत्म नहीं होनी। तो अंतिम कोई निर्णय सुनाना मेरे बस की बात नहीं। हां उम्र इतनी हो गई है कि पिछले और आज के साहित्य व साहित्यकारों को देख, कुछ सोचूं, गुनूं। पुराने वक्त में गति इतनी तेज नहीं थी, अपने को कहने का मौका भी आज से कम लोगों को मिला। सो रफ्तार आज से धीरे की रही। पिछले कुछ दशकों में दुनिया तूफानी वेग से खुली है, बदली है, विकास हुआ है, तकनीकीकरण हुआ है, और मैं तो कमोबेश उस पीढ़ी की हो गई हूं जो इन सुपर तेज बदलावों से कदमताल मिलाने की सोचकर ही हांफ जाएं। मैं अभी भी अपना मूल लेखन हाथ से, फाउंटेन पेन से करती हूं, कमोबेश छुपकर करती हूं, और अभी भी चाह गहरी है कि मेरा काम दिखे बढ़िया, मुझे दिखने, दिखाने की कवायद क्यों हो?

क्यों लोग वैसी विजिबिलिटी के लालायित हैं कि उनके चेहरे देखकर उनका लेखन सूझे? या उनके चेहरे जाने जाएं और सारे में छाएं, लेखन से इतर चर्चाओं में अधिक पहचाने जाएं, और उनका लेखन ही पिछली सीट पर रखा दिया जाए? अरे भाई, साहित्य की गरिमा बनाए रखो। और अपनी भी। क्या भीड़ लग गई है ऐसे लेखकों की जो अपने मुखड़े को आगे कर देते हैं और साहित्य की गठरी पीछे पीछे घसीट में आ जाती है, बस। उनसे राबता हो गया, हमने और उन्होंने मान लिया कि उनके साहित्य से हो गया! यह अजीब दौड़ धप्प चल पड़ी है और मैं इसमें नहीं पड़ना चाहती, अपने समय को संभाल के रखना चाहती हूं।

पर यह क्यों कहूं कि अच्छी चीजें नहीं लिखी जा रहीं? बहुत वराइयटी है और कूड़ा

करकट के संग अच्छा भी मिल रहा है। ढेरों युवा लेखक गंभीर साहित्य रच रहे हैं और किसी हड़बड़ी में नहीं बल्कि साहित्यिक गति की गरिमा रखते हुए।

कोरोना प्रभावित इस समय को आप कैसे देखती हैं? इस अवधि में आप क्या कर रही हैं? महाविनाश के इस दौर को क्या आपका रचनाकार किसी रूप में चित्रित कर रहा है? कुछ बताएं।

यह बहुत मुश्किल समय है। बहुत ही गहरे और मूल परिवर्तनों का। अभी तो शुरुआत है, हम उससे घिरे हैं, तो हम जानते भी नहीं कि यह क्या कर रहा है हमारे भीतर। इस तरह की दूरी की जरूरत, छूने छवाने की घोर मनाही, मशीन में एक दूसरे को देखना और वहीं से गंभीर बात करना, क्लास की पढ़ाई होना, पार्टी भी वहीं मनाना, यह इंसानों को, जो प्राकृतिक तौर पर ही साथ रहने वाले जीव हैं, उनको कैसा दुःख दे रहा है, कैसे उनको त्रस्त और विकृत कर रहा है, और कैसे एक नई जाति बना रहा है, जो अकेले बैठी मशीन में हाहाकर मचा के खुश होगी, खुद भी मशीनीकरण होता जाएगा उसका, यह सब भयावह है।

दुखद है कि सरल साथ का विकल्प नहीं है, कम से कम अभी लौटता भी नहीं दिखता।

निरे सवाल हैं जो इस कोविड काल ने हमारे समक्ष ला दिए हैं—यह दुनिया को खत्म होते देख रहे हैं क्या हम? हमने क्या क्या किया है दुनिया को इस कगार पर ला खड़ा करने में? और क्या हम बचा सकते हैं अभी दुनिया को? अपने लिए नहीं तो अपने बच्चों और आगे की पीढ़ियों के लिए? सुधरकर, संभालकर। क्या सीख लेना है हमें? विकास की प्रणाली को बदलना? विशाल से छोटे की तरफ लौटना? प्रकृति को उसका मुकाम देना, यानी हर चीज पर इंसान की दखल और गिरफ्त का अंजाम समझना और खुद को महाबली समझने के दंभ के खोखलेपन को पहचानना।

लगता है कि नए सिरे से दुनिया को रचना होगा और अपने आप को उसमें। समझ कर कि कहां हमसे गलती हुई है जिसे सही कर देना है और कैसे। एकदम हाल की अवधि की बात करें तो लेखकों के लिए उतना मुश्किल नहीं भी हुआ होगा यह समय—घर में बंद होकर बहुत सा काम सिमट पाया, अधूरी कृतियां पूरी हुईं। पर तभी तक जब तक यह मान सकें कि यह कुछ दिन की बात है, फिर निकलेंगे। वरना हमेशा कैद होकर रचना किसे करनी है। सवाल तो आते ही रहे हैं कि कौन सी रचना और किसके लिए—जब दुनिया पलट रही है और मौत मुंह बाए खड़ी है तो रचना क्या मायने रखती है! यहां तो दूसरी लड़ाई है और उसमें सबको कूद पड़ना है। पर वह भी नहीं होने पाता है क्योंकि यही नहीं मालूम कि लेखक जैसी बिरादरी मरतों को कैसे बचाए, खासकर जब बाहर निकलने पर ही रोक हो। बहुत मुश्किल समय है। युवकों को देखकर जो सबकी मदद को निकल पड़े, उम्मीद होती है कि ये बच्चे दुनिया बचा लेंगे शायद। राजनीति को देखकर उम्मीद डूब जाती है।

अंत में यह भी लगता है कि जब तक हैं, हमको वही करना है जो हम करना, कमोबेश, जानते हैं—साहित्य में रत रहना और उसकी जगह को सहेज के रखना। भले ही हम विश्वास से न कह सकें कि यह क्या, कोई भी जगह क्या बची रहेगी! आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (ए.आई.) की नई दुनिया किस तरह मानस मन पर कब्जा कर सकती है, इसका भयावह चित्रण, चिंतक कर रहे हैं। युवाल नोआ हरारी के काम को देखिए। तब लगता है, हम आज ही, बढ़ती तानाशाही में बेकार जीव होते जा रहे हैं, कल शायद एकदम हाशिए पर होंगे। पर मन के कोने में यह भी आता है कि जब सारा मानव समाज रोबोटिक हो जाएगा तो हाशिए

पर बचे खुचे कवि कलाकार लेखक ही, अपने सादेपन में, अकेले इंसानियत को बचाए रख पाए जीव होंगे! उम्मीद क्यों न करें, इंसान नहीं मरेगा।

—प्रख्यात कथाकार गीतांजिल श्री के अब तक पांच उपन्यास हैं : *रेत समाधि, खाली जगह, तिरोहित, हमारा शहर उस बरस, माई*। *रेत समाधि* अंग्रेजी PEN पुरस्कार से समादृत। वह 2021 के फ्रांसीसी पुरस्कार एमील गुइमे के लिए भी शॉर्ट लिस्ट हुआ।

2021 के बनमाली राष्ट्रीय सम्मान के लिए चयन। *अनुगूंज, वैराग्य, मार्च मां और साकुरा, यहां हाथी रहते थे* कहानी संग्रह।

—अर्पण कुमार की सक्रियताओं का दायरा विस्तृत है। कविता, उपन्यास, यात्रावृत्तांत, संपादन, फोटोग्राफी जैसे अनेक क्षेत्रों में उनका अवदान है।

ठसक से जीया गया एक भरपूर जीवन

अशोक कुमार महेश्वरी

कृष्णा सोबती अपने निर्णय की धनी लेखक थीं। जो सोच लिया उसे करना है। जो ठान लिया, उसे किसी भी तरह पूरा करना है। उनका मन, उनके अपने विचारों से बदलता था। किसी और के विचारों से उनके मन को नहीं बदला जा सकता था। सुनती सबकी थीं। उधेड़बुन में भी बहुत रहती थीं। लेकिन निर्णय अपनी अंत:चेतना की संतुष्टि के बाद ही लेती थीं। इस प्रक्रिया में कई बार एक ही निर्णय के कई कई ड्राफ्ट होते। लेकिन जब कोई निर्णय अंतिम रूप से ले लिया तो फिर उसे कोई बदलवा सके, यह दुर्लभतम घटना होती।

कृष्णाजी किसी को पसंद करती थीं तो पसंद करती थीं और नापसंद करती थीं तो फिर नापसंद ही करती थीं। कोई भी उन्हें उनके नजरिए से तभी डिगा सकता था, जब डिगने के कुछ विचारबीज स्वयं उनके अपने मन में हों। वे निरंतर एक बेचैन लेखक थीं। खुद को खुद के पार ले जाने की बेचैनी जीने वाली लेखक। 'कुछ और हो जो नया हो, 'हुए' से अलग हो'—यह उनका स्थायी भाव था। जीने का उनका यह तरीका उनके हर छोटे बड़े काम में झलकता था। पहनने ओढ़ने, खाने पीने, मेहमाननवाजी, यारी दोस्ती, सामाजिक व्यवहार सभी में। उपहार देने का उन्हें बड़ा शौक था। उनके दिए स्वेटर, मफलर, कुर्ते, किताबें, टेबल लैंप, आर्ट बुक्स, गणेश लक्ष्मी और भी बहुत कुछ न जाने कितनों के पास हैं।

प्रकाशक होने के नाते मैं उनकी किताबों की प्रकाशन प्रक्रिया को याद करना बेहतर समझ रहा हूं। *दिलोदानिश* छप चुकी थी तब मैं पहली बार कृष्णाजी से मिला। इसके बाद की सारी किताबों के प्रकाशन की हर छोटी बड़ी बात मैंने ही कृष्णाजी से की। उनकी पूर्व प्रकाशित

सभी किताबों के आकार, कवर डिजाइन टाइपोग्राफी बदले गए। पहली बार उनकी किताबों के पेपरबैक संस्करण प्रकाशित हुए। नरेंद्र श्रीवास्तव उनके पसंदीदा डिजाइनर थे। जब तक वे रहे तब तक उनकी पुस्तकों के कवर उन्होंने ही बनाए।

हर किताब के प्रकाशन के समय वे परेशान रहती थीं। हम सब, जो भी इस प्रक्रिया से जुड़े होते, उन्हें बेकार और नाकारा नजर आते। यह जैसे उनके लिए प्रसव पीड़ा का समय होता। उन्हें लगता कि कोई उनकी बात सुन ही नहीं रहा है; उनकी बात समझने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। वे जो चाहती हैं वह हो ही नहीं रहा है। वे कहतीं—"ये क्या डिजाइन है, मेरे साथ ये जान बूझकर हो रहा है। मुझे क्या पता नहीं है, राजकमल कितनी सुंदर किताबें छापता है। आपको पता होना चाहिए कि मैंने यूनेस्को से बुक पब्लिशिंग का कोर्स किया है। कवर डिजाइनिंग का कोर्स किया है। मुझे सब पता है, ये मामूली डिजाइन है।" होते होते डिजाइन कुछ से कुछ बन जाता। वे जब खुश हो जातीं, हम सब खुश होते। पर अंत तक यह तो रहता ही कि अभी और गुंजाइश थी, बेहतर हो सकता था।

जब तक नरेंद्रजी रहे, यह आंच मुझ तक काफी कम होकर पहुंचती। वे ही समझते, समझाते, विकल्प सुझाते, उन्हें कवर पसंद करा ही लेते। उनके जाने के बाद मुझे ही उनसे सारी बात करनी थी। वे स्नेह भी बहुत करती थीं, कभी कभी तारीफ भी करतीं, समझाती भी बहुत थीं। और डांट भी बहुत लगाती थीं। जब तक संतुष्ट न हो जातीं, तब तक छपने की स्वीकृति नहीं देती थीं। कई बार यह भी हुआ कि उन्होंने स्वीकृति दे दी, किताब छप गई, फिर छपी किताब देखकर उन्हें संतुष्टि नहीं मिली। तब फिर नए सिरे से काम शुरू हुआ।

याद आ रहा है *गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान* उपन्यास। उनके अपने जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा। उनकी प्रिय किताब। इसके प्रकाशन को लेकर वे बहुत उत्साहित थीं। वे चाहती थीं कि इसके कवर पर कैलिग्राफी उर्दू की तरह हो। देवनागरी अक्षर फारसी लिपि जैसे लिखे जाएं। राजीव प्रकाश खरे ने कैलिग्राफी किया। उन्हें पसंद आया। बात फारसी लिपि की तरह लिखने की थी। डिजाइनर ने चलन के मुताबिक कुछ अतिरिक्त बिंदियां कंपोजीशन के अनुकूल लगा दीं, जिससे फारसी का फील आए। कृष्णाजी ने कहा, बिंदी हटेगी। हटवा दिया गया। अब टाइटल तो बन गया, कवर बनने की बात आई। एक बड़ी डिजाइनर ने यह काम बहुत मनोयोग से किया, कवर के कई विकल्प दिए। सब सुंदर थे। सबके प्रिंट उनके पास गए। उनमें से एक विकल्प उन्हें पसंद आया। अपने हाथ से उस पर टिक लगाया। स्पाइन का रंग बदलने को कहा। उसके ऑप्शन आए। उनमें से एक को उन्होंने चुना। मैं खुश खुश लौटा। क्योंकि इस किताब के अलग अलग प्रसंगों में 7-8 बार पहले ही उनके पास जा चुका था। अपनी परेशानी से ज्यादा उन्हें मायूस देखकर तकलीफ होती थी। बहरहाल, सहमति मिल जाने की स्थिति में किताब छपने गई। छपते ही किताब उनके पास लेकर गया, पहली प्रति आशीर्वचन लिखकर उन्होंने मुझे दी। पेपरबैक किताब बाजार में चली भी गई। दो दिन बाद उनका फोन आया 'यह कवर तो ठीक नहीं है। मुझे बिना दिखाए आपने छाप दिया है। यह बाजार में नहीं जाना चाहिए।' मैं सकते में! क्या कर सकता था! शाम को मिलने गया। नया कवर बनवाने की बात हुई। उन्होंने एक रंग बताया, फिरोजी। वे इस रंग का शरारा पहनती थीं। वही शरारा रंग संयोजन के लिए मैं लेकर आया। शरारे के रंग की तरह गहरे हल्के रंग में कई सादे विकल्प तैयार किए गए। चित्र हटाया गया। कई बार की अदला बदली के बाद एक उन्हें पसंद आया। उनकी सहमति से ही दोबारा नया कवर छपा, किताब लेकर मैं उनके पास गया, थोड़ी मीनमेख के बाद इस बार उन्होंने इसे पसंद कर लिया। मैंने

चैन की सांस ली। ऐसा नहीं था कि यह कवर पहले से बेहतर था। बस, यह उससे अलग था और वे अंततः इससे संतुष्ट थीं, यही हमारा संतोष था। सारी बात पर अब नजर डालता हूं तो लगता है, वे कैलिग्राफी में तैयार हुए टाइटल को ही फोकस में रखना चाहती थीं। इसे समझने और समझाने में जो भी समय लगा और परेशानियां हुईं, वह अलग बात है। सूक्ष्म और पारखी दृष्टि थी उनकी। कई बार अपनी पसंद बगैर आजिज हुए, अचूक समय पर वो बता नहीं पाती थीं। लेकिन जब तक ऐसा कर नहीं लेतीं, दम नहीं लेतीं। हमें तब तक धैर्य से उन्हें समय और साथ देना होता था।

चन्ना उनके हाथों में सौंपी अंतिम किताब थी। उनकी पहली किताब जिसे उन्होंने अपनी अंतिम प्रकाशित किताब के रूप में देखा, छुआ और महसूस किया। इसके प्रकाशन की कहानी साठ वर्षों में फैली है। यह कथा कृष्णाजी की तरह ही एक मिथक है। वर्षों से इसके छपने छपाने की बात चल रही थी। फैसला हुआ। किताब छपी, बात कवर पर अटक गई। वे चाहती थीं कि इसका कवर उसी जमाने की याद दिलाए जब यह लिखी गई थी। वे अस्पताल में थीं। वहीं कवर के लिए अमृता शेरगिल की पेंटिंग उन्हें दिखायी गई। बिस्तर पर लेटे लेटे खुश होकर देखती रहीं। कभी हम पर हंसतीं, कभी अपने पर। पेंटिग उन्हें पसंद आ गई थी, उसी से कवर बना। इस बार पहला कवर ही उन्हें पसंद आ गया था। उनका फोटो कवर पर जाना था। उन्होंने कहा कि फोटो उसी समय का जाना चाहिए, जब यह उपन्यास लिखा गया था। साठ साल पहले का। घर से फोटो एलबम मंगाया गया। फोटो छांटे गए। एक पर निर्णय हुआ। अंतिम रूप से तैयार कवर उन्होंने देखा, पास किया। किताब छपकर आई तो उन्होंने कहा, नहीं अशोकजी, यह तो कुछ जम नहीं रहा। मुझे काटो तो खून नहीं, एकदम सन्न। क्या करूं! संयोग से राजकमल प्रकाशन की पूर्व प्रबंध निदेशक शीलाजी की पुत्रवधू सुमिता वहां बैठी थीं। वे कवर के लिए पेंटिंग चुनने की प्रक्रिया में भी राय देती रही थीं, कृष्णाजी को पेंटिंग पसंद कराने में भी उन्होंने मदद की थी। उन्होंने कृष्णाजी को कवर फिर से दिखाया, पिछली बातें याद दिलाईं। कृष्णा जी ने समझा और हंसने लगीं। कृष्णाजी को अब कवर पसंद आ गया था। मेरे प्राण भी लौट आए थे। किताब के साथ कृष्णाजी ने फोटो भी खिंचाया। यह 25 दिसंबर की बात है। कृष्णाजी की भतीजी बीबा सोबती भी वहां थीं। बुक फेयर शुरू होने वाला था। किताब विश्व पुस्तक मेले में जारी होनी थी। हम सभी जो उस समय अस्पताल के कमरे में कृष्णाजी के साथ थे, उन्हें प्रसन्न देखकर खुश थे।

कृष्णाजी एक जिंदादिल शख्सियत थीं। जो अपने ऊपर हंस सकती थीं। अपना मजाक उड़ा सकती थीं। अंतिम दिनों में वे अक्सर कहा करतीं, "यारो अब क्या करना है, ऊपरवाले को भी हमारी जरूरत नहीं है, बहुत देर हो गई है। इतने की जरूरत नहीं थी। बुला ही नहीं रहा है।"

मैं 4 अक्तूबर, 1994 को राजकमल में आया। उनकी *दिलो दानिश* छपकर आई ही थी। आलोचक इसे कृष्णाजी का सबसे अच्छा उपन्यास मानते हैं। बाद में इसके अनुवाद को 'क्रॉसवर्ड बेस्ट फिक्शन अवार्ड' भी मिला। कृष्णाजी इसकी प्रस्तुति और पाठक समाज में स्वागत का आनंद ले रही थीं। कुछ महीने बाद उन्होंने बताया कि उन्हें इसका कवर पसंद नहीं है। इसे बदलना चाहिए। मैंने उन्हें आश्वस्त किया कि जब भी नया संस्करण छपेगा, कवर बदल दिया जाएगा।

कुछ समय बाद राजकमल प्रकाशन के गोदाम में जाना हुआ। वहां *दिलोदानिश* के कवर का एक बड़ा सा बंडल रखा दिखाई दिया। पूछने पर पता चला कि यह छपने के बाद उन्होंने रिजेक्ट कर दिया था। पहली नजर में तो मुझे इसमें और किताब पर चढ़े कवर में कोई अंतर नहीं लगा। दोनों कवर एक साथ रखकर देखने पर बहुत मामूली फर्क कलर शेड में दिखाई दिया। यह बहुत ही नफासत से बना बारीक लाइनों वाला सुंदर कवर था जिस पर पुरानी दिल्ली की इमारतें कारीगरी के साथ उकेरी गई थीं। बाद में नरेंद्र श्रीवास्तव जी ने उनकी सभी किताबों के एक जैसे कवर बनाए, जो इसके मुकाबले कुछ नहीं थे। लेकिन कृष्णाजी को वही पसंद थे तो वही अच्छे थे।

जैनी मेहरबान सिंह को कृष्णा जी ने फिल्म बनाने के लिए लिखा था। हुआ यूं कि *मित्रो मरजानी* को एक फिल्म निर्देशक ने पसंद किया। बातचीत के लिए कृष्णाजी को बंबई बुलाया गया। सब कुछ तय होने के बाद निदेशक महोदय ने कहानी में बदलाव की बात की और इस बदलाव को फिल्म के लिए जरूरी बताया। निर्देशक दरअसल मित्रो के नदी में नहाते हुए कुछ बोल्ड सीन चाहते थे। कृष्णाजी ने इंकार कर दिया। वे यह कहकर बंबई से चली आईं कि जैसी कहानी आपको चाहिए मैं लिखकर भेज देती हूं। कृष्णाजी ने कहानी लिख तो दी पर वे कभी पलटकर बंबई नहीं गईं। एक दिन बातों बातों में उन्होंने अपने पिटारे से यह पांडुलिपि निकालकर मुझे दी। हंसते हंसते कहानी भी बताई कि उन्हें चाहिए थी पंजाब की प्रेम कहानी, पर ऐसी कहानी जिसके पात्र पंजाब से कनाडा और कनाडा से पंजाब आते जाते हों। 'लो जी मैंने लिख दी थी, उनका फोन भी आया, पर मैंने बात ही नहीं की', और वे जोर से हो हो करके हंस दीं।

इसका कवर भी नरेंद्र श्रीवास्तव ने ही बनाया। आप देखेंगे कि यह उनकी सब किताबों से अलग है। एक हंसता खिलखिलाता चेहरा; लाल गुलाबी कत्थई प्रेमिल रंग। खुशनुमा पोस्टर के जैसा अंदाज। इस किताब के प्रकाशन में सबसे कम मेहनत हमें करनी पड़ी। कृष्णाजी ने उतनी मीनमेख इसमें नहीं की। शायद इसे वे अपनी किताबों की शैल्फ में रखी जानेवाली सबसे कमजोर किताब मानती रही हों।

समय सरगम कृष्णाजी की दूसरी किताबों की तरह ही हिंदी में समय से पहले या सही समय पर लिखा जाने वाला उपन्यास है। यह बुजुर्गों की समस्याओं पर लिखा गया उपन्यास है। इसे लेकर वे काफी उत्साहित थीं। इसके प्रूफ आदि के लिए मुझे ही बार बार उनके पास जाना होता था। क्योंकि दूसरा कोई भी उनके पास जाने की हिम्मत नहीं करता था। चेतन ही थे जो उनसे बात कर पाते थे। कृष्णाजी उनसे प्रकाशन संबंधी बात कम करती थीं। प्राय: हर बार देर तक बातें होतीं। मिलने का समय वे हमेशा बहुत सोच समझकर तय करती थीं। सुभीता न होने पर अक्सर बदल देतीं। ऐसा कम होता था कि तय किए समय पर पहली बार में ही मिल लिया जाए। दो तीन बार तो समय बदलता ही था। जिससे उन्हें मिलना होता, केवल उससे ही मिलतीं, उस समय किसी और को नहीं बुलाती थीं। पूरा समय, पूरा ध्यान आवभगत और बातें उसी से जिसे समय दिया है। उनकी लंबी बातचीत में भी कोई बेकाम की बात नहीं होती थी। सभी काम की बातें, पूरी दुनिया जहान की बातें। साहित्य, समाज, देश दुनिया, राजनीति, आर्थिकी, पत्रकार, लेखक सबकी बातें। सब पर उनका अपना साफ नजरिया। अपने दीर्घ अनुभव के साथ जोड़कर वे सब बताती थीं और सुनती थीं। सामनेवाला कितना ही छोटा हो उससे उसकी राय पूछती थीं, सबकी बात ध्यान से सुनती थीं। छोटों की बात पर भी पूरी तवज्जो देना उनका स्वभाव था। बात करते करते कई बार मुझे लगता कि

यूं ही कह रही हैं, घर बैठे बैठे इन्हें क्या पता कि बाहर क्या हो रहा है। कुछ ही दिनों बाद वे ठीक साबित होतीं।

बुद्ध का कमंडल : लद्दाख कृष्णा जी की दूसरी कॉफी टेबल बुक है। पहली है; *मित्रो मरजानी* का टाइपोग्राफिक संस्करण। वे लद्दाख गई थीं, काफी समय वहां रही थीं। इस वृत्तांत को वे रंगीन कॉफी टेबल बुक की तरह प्रकाशित कराना चाहती थीं। समस्या थी कि यह किताब तैयार कौन करेगा। चित्र फोटोग्राफ्स कहां से आएंगे!

नरेंद्र श्रीवास्तवजी से बात की गई। उन्होंने पूरी किताब डिजाइन की, इंटरनेट से लद्दाख के चित्र ढूंढ ढूंढकर निकाले। ये अच्छे नहीं थे, इन चित्रों में कापीराइट की स्पष्टता भी नहीं थी। विकल्पहीनता की स्थिति में कृष्णाजी अनमने मन से हां हूं करती रहीं। नरेंद्रजी ने इस काम में बहुत समय लगाया। डिजाइन के कई ड्राफ्ट बने, पर कोई भी कृष्णाजी को पसंद नहीं आया। वे लगातार दुखी भाव से सब बताती रहीं।

किसी ने उन्हें बताया कि वरिष्ठ चित्रकार सिद्धार्थ बहुत समय लद्दाख में रहे हैं, उनके पास अपने खींचे वहां के बहुत से उत्तम फोटोग्राफ्स हैं। कृष्णाजी ने कहा कि मुझे उनसे मिलकर बात करनी चाहिए। इतने बड़े चित्रकार से मेरे लिए इस तरह की बात करने का यह पहला अवसर था। अनुभव की कमी से यह मालूम नहीं था कि वे क्या मांग रख सकते हैं। सिद्धार्थजी से फोन पर संकोच के साथ बात हुई, लेकिन वे बहुत खुश हुए। अपने घर पर ही बुला लिया। घर क्या था पेंटिंग्स की कार्यशाला थी। चारों तरफ रंग और कैनवास फैले हुए थे। वहीं पता चला कि प्रयाग शुक्ल जी की बड़ी बेटी उनकी पत्नी हैं। आराम से बातें हुईं। उन्होंने अपनी रचनाएं सुनाईं, पेंटिंग दिखाईं। अपनी किताब मुझे दी। फोटो देने का आश्वासन दिया, और कुछ भी लेने से इंकार कर दिया। यह एक बड़े लेखक के लिए एक बड़े कलाकार का सम्मान था। सिद्धार्थजी बड़े दिलवाले आदमी हैं। विशाल हृदय क्या होता है, यह उनसे मिलकर जाना जा सकता है।

बुद्ध का कमंडल : लद्दाख सिद्धार्थ जी के चित्रों के साथ छपी। दो बड़े कलाकारों की कॉफी टेबल बुक। इसे नरेंद्रजी ने ही तैयार किया। राजकमल के लिए यह अपनी तरह की पहली किताब थी। कृष्णाजी को यह अच्छा लगा। पर उनकी एक इच्छा रह ही गई। वे चाहती थीं कि इस किताब के लिए बॉक्स बने, जो नहीं बन सका।

मित्रो मरजानी की टाइपोग्राफिक प्रस्तुति। अन्य भाषाओं के बारे में कुछ कहना ठीक नहीं, लेकिन हिंदी में कागज पर नाट्य प्रस्तुति का पहला प्रयास, जिसमें दृश्य, गति, संवाद और नाटकीय वातावरण सब है, इस किताब को देखकर असलियत में आंखें सुनती हैं। यह प्रस्तुति इस कहानी के भाव और कथा के उतार चढ़ाव की चित्रों और अक्षरों के बहते हुए पाठ के माध्यम से प्रस्तुति है। श्वेत श्याम चित्रों से सज्जित यह किताब विशेष है। नरेंद्र श्रीवास्तव जी ने इस किताब को तैयार करने में अपने कौशल का श्रेष्ठ दिया है। कृष्णाजी ने भी इसे दिल से सराहा और पसंद किया। जैसी सुंदर यह किताब बनी, वैसा ही इसके लिए बॉक्स भी बना।

मुक्तिबोध : एक व्यक्तित्व सही की तलाश में—यह किताब सन् 2017 में प्रकाशित हुई। इसकी प्रकाशन कथा भी लेखक प्रकाशक संबंधों के लिए एक मिसाल हो सकती है। कृष्णाजी मुक्तिबोध के लेखन से बहुत प्रभावित थीं। उनके लेखन को एक पाठक के तौर पर रेखांकित करने के लिए उन्होंने यह किताब तैयार की। यह एक बड़े लेखक का बड़े लेखक के लिए श्रद्धा स्मरण है। एक सृजनात्मक लेखक की दूसरे सृजनात्मक लेखक पर पाठकीय

दृष्टिकोण से यह किताब लिखी गई है। मुक्तिबोध का एक अनौपचारिक पाठ है जिसे कृष्णाजी ने अपने गहरे सम्वेदित मन से किया है। भारतीय इतिहास के दो समय यहां रूबरू हैं।

वे इस किताब को डिजाइनर किताब की तरह प्रस्तुत करना चाहती थीं। उनके दिमाग में कहीं यह भी था कि प्रस्तुति और चित्र उनके शब्दों पर भारी न पड़ें। इसके लिए सबसे पहले उन्होंने सुकृता पॉल कुमार के कुछ चित्रों को चुना। ये चित्र उन्होंने उनकी एक किताब में देखे थे। चित्र पसंद कर लिए गए। एक बुक डिजाइनर को भी काम सौंप दिया गया। उन्होंने पूरी किताब तैयार करके दी, सारी प्रक्रिया में कृष्णाजी साथ रहीं, सुझाव देती रहीं। उन्हें डमी दिखाई गई। उन्होंने पसंद भी किया, साथ ही कहा कि कुछ जम नहीं रहा है। उस आर्टिस्ट ने दूसरी बार काम किया। एक और डमी बनाई, यह भी पसंद नापसंद के बीच डगमगाती रही।

कृष्णाजी की किताब *शब्दों के आलोक में* में विक्रम नायक उनके साथ काम कर चुके थे। विक्रम के नाम पर सहमति हुई। उन्होंने भी पूरी तैयारी के साथ कृष्णाजी की सलाह से किताब डिजाइन की। कृष्णाजी को अच्छा लगा पर फिर भी कुछ अटका सा रहा। वे परेशान होने लगीं। और कुछ नाराज भी कि जैसे मैं जान बूझकर किसी षड्यंत्र के तहत यह कर रहा हूं। जैसे मैं यह किताब नहीं छापना चाहता।

एक दिन बातों बातों में मनीष पुष्कले के नाम की चर्चा हुई। वे खुश हो गईं, सहमत भी। मनीषजी से मैंने बात की, उन्होंने भी खुशी से, पूरे उत्साह से स्वीकार किया और कहा कि मैं राजकमल आकर, ऑपरेटर के साथ बैठकर इसे तैयार कर दूंगा। कृष्णाजी से भी उन्होंने बात कर ली। वे आए, और डमी तैयार कर दी। कृष्णाजी को भी यह अच्छी लगी। मनीष जी को भी उन्होंने सहमति दे दी। किताब छप गई। छपने के बाद उन्हें लगा कि कुछ कमी रह गई है। मुक्तिबोध के चित्र की दिशा दूसरी होनी चाहिए थी। उनका फोटो और अंत का फोटो जिसमें श्रीकांत वर्मा और अशोक वाजपेयी उनके साथ हैं, बहुत मामूली हैं। उन्होंने कहा कि किताब बाजार में मत देना, जितना खर्च हुआ है मुझसे ले लो। मैं परेशान, अशोक वाजपेयी जी से मिला, उन्हें सारी बात बताई। किताब दिखाई। उन्होंने आश्वस्त किया, मैं बात करूंगा, हो जाएगा। तब कहीं कृष्णा जी राजी हुईं।

शब्दों के आलोक में तो पूरी तरह चेतन क्रांति का ही काम रहा। चेतन और विक्रम नायक इस काम को बहुत धैर्य और श्रमपूर्वक करते रहे। यह किताब सरवर को संबोधित है। सरवर यानी युवा पीढ़ी। इस पूरी किताब में कृष्णाजी युवा पीढ़ी से बात करती हैं। अपने विचारों, नैतिकताओं, समय और समाज की अच्छाइयों बुराइयों से परिचय कराती हैं। सबसे महत्वपूर्ण विचारबिंदु इसमें साहित्य और साहित्यकार हैं। साहित्य का मानक साहित्यकार के स्वाभिमान को परिभाषित करने की सफल कोशिश यहां है। मुझे कभी कभी लगता है कि जिन साहित्यिकों के बारे में कृष्णाजी *हम हशमत* में नहीं लिख सकीं, उनके बारे में उन्होंने *शब्दों के आलोक में* चर्चा की है। उनके पसंद के वे बड़े व्यक्तित्व यहां हैं। फिराक, निराला, त्रिलोचन, जयदेव, गीतांजलि श्री, शिवनाथ, धर्मवीर भारती आदि बहुत से लोग यहां हैं। जो पाठक कृष्णा जी के अंतरमन को जानना चाहते हैं उन्हें यह किताब जरूर पढ़नी चाहिए।

पाठक इसे देखकर ही अनुमान लगा सकते हैं कि इसे बनाने वालों ने क्या न किया होगा। मैं बता सकता हूं कि इसके अनगिनत प्रूफ निकले और बार बार पढ़े गए। पृष्ठ बने और बिगड़े। इसका स्थान और आकार किताब छपने तक छोटा बड़ा होता संवरता, सरकता रहा। यह किताब राष्ट्रीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में रहते लिखी गई थी। इसका प्रकाशन वहीं से होना था। पर कृष्णाजी को यह स्वीकार नहीं था। किताब राजकमल से छपी, संस्थान

का आभार इसके प्रिंटलाइन पृष्ठ पर व्यक्त किया गया। और इसकी प्रति शिमला भेज दी गई।

कृष्णाजी पर बात *हम हशमत* के बिना पूरी नहीं हो सकती। उनका हशमत नाम से किया गया लेखन चार भागों में प्रकाशित है। मेरे राजकमल में आने से पहले इसके दो भाग प्रकाशित हो चुके थे। तीसरा भाग 2012 में प्रकाशित हुआ और चौथा 2019 में। चौथे भाग में वे कुछ लेखकों पर और लिखना चाहती थीं। लंबी बीमारी के चलते यह हो नहीं सका।

कृष्णाजी ने हशमत को सिर्फ एक उपनाम की तरह नहीं अपनाया था, यह अपने आप में संपूर्ण व्यक्तित्व है। वे कहती थीं कि जब वे हशमत के रूप में लिखती हैं तब न सिर्फ उनकी भाषा और शब्द कुछ अलग हो जाते हैं उनका हस्तलेख तक बदल जाता है। हशमत का विषय उनके समकालीनों, साथी लेखकों के अलावा गोष्ठियों, पार्टियों में हुए अनुभव और सामयिक मुद्दों पर उनकी प्रतिक्रियाएं होती थीं। कृष्णाजी हमारे समय की ऐसी शख्सियत हैं जिन्होंने अपने से बहुत कम आयु वाले लेखकों पर खुलकर लिखा। ऐसे लेखकों में—अशोक वाजपेयी, सत्येन कुमार, विभूति नारायण राय, आलोक मेहता, प्रयाग शुक्ल, नासिरा शर्मा, मंजूर एहतेशाम, अरविंद कुमार आदि प्रमुख हैं।

कृष्णाजी ने बच्चों के लिए भी एक किताब लिखी। उसके चित्र भी बन गए। कलाकार का चुनाव उन्होंने ही किया था। पर चित्र उन्हें पसंद नहीं आए। यह बालकथा कभी छप नहीं सकी।

कुछ भी छपाने में वे बहुत सावधान थीं। उन्होंने 94 वर्ष की लंबी सक्रिय आयु पाई। वे अंत तक सजग रहीं। मृत्यु के समय तक वे अपने स्फुट विचार बोलकर लिखाती रहीं। अपने साठ वर्षों के लेखकीय जीवन में उनकी कुल अठारह किताबें प्रकाशित हुईं। इनमें से छह किताबें अंतिम वर्षों में छपीं। मैं कह सकता हूं कि हम सबके बार बार आग्रह पर उन्होंने ऐसा किया। अपनी दो और पुस्तकों की रूपरेखा वे बना गई थीं। एक पुस्तक उनके अपने और अपनी रचनाओं के बारे में लिखे लेखों का संग्रह है। दूसरी उनके अधूरे पर पूरी कथा कहते दो उपन्यास हैं। अभी भी उनकी बहुत सी रचनाएं असंकलित हैं।

कृष्णाजी आजीवन संशयशील रहीं। हर बात पर संदेह करना, प्रश्नाकुल होना उनका स्वभाव रहा। उनका पूरा जीवन एक कलाकार का जीवन है। लेखन ही उनकी कला रहा। अपने लेखक के प्रति वे हमेशा सजग रहीं। अपनी रचनाओं का उत्तराधिकारी उन्होंने अपने एकमात्र प्रकाशक राजकमल को ही चुना। वह एक ऐसी लेखक हैं जिनकी कोई पुस्तक, कोई कहानी तो क्या, एक पंक्ति भी किसी अन्य प्रकाशन से प्रकाशित नहीं है। उनकी सभी रचनाओं के प्रकाशन का गौरव राजकमल प्रकाशन को ही प्राप्त है। हमें अपनी इस विशेष स्थिति पर नाज है। कृष्णाजी की यह विशेषता उनके खास नजरिए को दिखाती है। इसे प्रकाशक और लेखक की एक दूसरे के प्रति निष्ठा माना जा सकता है। कृष्णाजी के जीवन का उत्तरार्द्ध कोर्ट कचहरी और घर की खरीद बेच करने वाले दलालों के साथ की उलझनों में बीता। वे इन दोनों पर ही उपन्यास लिखना चाहती थीं। दलालों को लेकर उपन्यास लिखना उन्होंने शुरू किया। इसका एक हिस्सा *शब्दों के आलोक में* 'पावर ऑफ एटार्नी' के नाम से भी संकलित है। इसे वे पूरा नहीं कर सकीं। इसीलिए छपने से रोकती रहीं। न्यायाधीशों, वकीलों, उनके कारिंदों के काम, हावभाव और तौर तरीकों के बारे में वे अक्सर बात करतीं। खूब हंसती और दुखी होतीं। *जिंदगीनामा* के कापीराइट अधिकार के मुकदमे के संदर्भ में ही यह चर्चा होती थी। बाद में 'कृष्णा सोबती शिवनाथ ट्रस्ट' के लिए हुआ मुकदमा भी इसमें जुड़ गया था। यह एक लंबी दुखद कथा है।

जसलोक अस्पताल में उन्होंने अंतिम सांस ली। जीवन के आखिरी दो वर्षों का अधिकांश समय उन्होंने वहीं बिताया। मृत्यु का डर उन्हें नहीं था पर वे लाचार मौत नहीं मरना चाहती थीं। अंतिम तीन चार साल उन्होंने मृत्यु के इंतजार में ही बिताए। वे खुद मृत्यु की चर्चा शुरू करतीं, खूब हंसतीं, अपना—अपनी लंबी उम्र का—मजाक उड़ातीं। ज्ञानपीठ पुरस्कार भी उन्होंने अस्पताल में ही लिया। इस सम्मानित पुरस्कार को भी उन्होंने बहुत अनमने मन से स्वीकार किया था। इसे लेकर दुविधा में वे हमेशा रहीं। बराबर कहतीं 'न लेती तो अच्छा था, देखो जी ये क्या कर रहे हैं। ऐसे भी किसी को सम्मानित किया जाता है।' यह पूरी राशि ज्यों की त्यों उन्होंने अशोक वाजपेयी जी को अपने ट्रस्ट के लिए दे दी थी। वह भी ऐसे समय में जब वे अस्पताल में थीं और उन्हें पैसों की सख्त जरूरत थी। कृष्णा जी की अस्पताल कथा भी उनके जीवन की तरह ही उतार चढ़ाव से भरी है। ठसक से जीया गया एक भरपूर जीवन जो अंतिम समय में बीमारी से लड़ते हुए समाप्त हो गया। यह एक लंबी कहानी है। वे जीवित रहतीं और स्वस्थ होकर घर आ जातीं तो इस पर भी एक उपन्यास लिखने की बात जरूर करतीं।

कृष्णमोहन झा की चार कविताएं

कृष्ण मोहन झा हिंदी के साथ मैथिली के भी समर्थ कवि हैं। समय समय पर आलोचना के क्षेत्र में भी सक्रिय। संप्रति असम विश्वविद्यालय सिलचर में प्रोफेसर।

सुरक्षित हैं गांव

दिल्ली में किसी रिक्शाचालक से पूछो—
भैया तुम कहां के रहने वाले हो
तो कहता है पटना

रेल के किसी सहयात्री से पूछने पर पता चलता है
कि सज्जन दिल्ली के नागरिक हैं

कपड़े की दुकान पर जो शर्मा जी बैठते हैं
वे भी अपना घर जयपुर बताते हैं

और हमारे बैंक के बड़ा बाबू

तो हमेशा कोलकाता के ही होते हैं

किसी से पूछो आप कहां के निवासी हैं
तो कोई नहीं कहता
कि त्रिवेणीगंज से तीन कोस दच्छिन
एक गांव का नाम है जीतपुर
वहीं मेरा घर है
जहां पहुंचने के लिए कभी
एक चौड़ी नदी को पार करना पड़ता था
या नाव न हो तो धरिया भी उतारना पड़ता था

आज सभी कहते हैं
वे राजधानियों में रहते हैं

एक अजीब अंधड़ है
जिसमें उजड़ रहे हैं गांव
उनके नाम उड़ रहे हैं
उनके प्राण छूट रहे हैं

अपना प्यारा देश राजधानियों तक सीमित है अब
महानगर के इंपोरियम में सुरक्षित हैं गांव

अस्थि और उम्मीद

जहां कहीं हाथ रखता हूं
मेरी छुवन के इर्दगिर्द
उड़ने लगते हैं तितलियों जैसे असंख्य स्पर्श

उदासी और उम्मीद में जब भी उठाता हूं हाथ
देखता हूं
कमल जैसी अनगिनत भुजाएं
पहले से ही ऊपर उठी हुईं

फूलों की विलीन पंखुरियां
और वनस्पतियों की विगत प्रजातियां
शय्या बनकर बिछी हैं वहां

अभी अभी जहां एक फूल गिरा है आकर

नदियों में जाकर मुझे अक्सर लगा है
कि सदियों से
पानी को चीरती अधीर बांहों
और अथक जंघाओं ने मुझे डूबने से बचाया है

खुद इस जीवन ने मुझे बताया है
कि मात्र जीवितों पर नहीं
दिवंगतों की अस्थि और उम्मीद पर भी टिकी होती है दुनिया!

विदा होते हुए

और जब एंबुलेंस दरवाजे पर पहुंची
मैं कुछ जरूरी कागज संभाल रहा था

सबसे पहले इंश्योरेंस के पेपर निकाले मैंने
फिर पासबुक बाहर किया
ग्यारह साल से अटके फ्लैट का
प्रॉविजनल अलॉटमेंट लेटर भी खोज निकाला
उसके बाद क्रेडिट कार्ड अपने पर्स से निकालकर
उसे एटीएम कार्ड के साथ मेज पर सबसे ऊपर रख दिया

नीचे सड़क से आती
सायरन की व्याकुल आवाज
रात को चीरती हुई कहीं भागी जा रही थी
यह पहली घटना थी हमारे सामने
जब अधिकतम की लालसा से आविष्ट लोग
न्यूनतम के लिए हांफ रहे थे

धीरे धीरे निकलकर
जब कमरे से आया बाहर
तो मैंने देखा
दोनों बच्चे भिनसारे के सितारों की तरह दूर खड़े थे मुझसे
और पत्नी समुद्र के उस पार कहीं नजर आ रही थी
इस पार अकेले मैं था

और मनुष्य की आकृति का बिना चेहरेवाला आदमी
जो मुझे सहारा दे रहा था

इतने में एंबुलेंस का हॉर्न बज उठा
और मैं चल पड़ा

विदा होते हुए मैंने पत्नी से कहा—
अच्छा चलता हूं
कुछ जरूरी सामान टेबुल पर रख दिए हैं
संभालकर रख लेना

पत्नी ने ठंडी आवाज में झिड़कते हुए कहा—
तुम तो ऐसे कह रहे हो जैसे कहीं बाहर जा रहे हो

नहीं नहीं, आ रहा हूं
मैंने बुदबुदाते हुए कहा

कब्रिस्तान में जगह

वसंत कब का बीत चुका है
गमलों के फूल मुरझाकर सूख गए हैं
और सूर्य की लिपियों से आच्छादित गुलमोहर की टहनियां
आंधी में अरराकर नीचे गिर गई हैं

हमारे किसी अपराध की सजा बनकर
अप्रैल पुनः उपस्थित है अब

श्मशान चलकर बस्ती में आ गया है खुद
और मुख्य सड़कों से उतरकर
गलियों में घूम रहा है
सहमे हुए लोग
किसी षड्यंत्र में शामिल अपने हाथों को संशय से देखते हैं
और उन्हें धोने अंदर चले जाते हैं

कब्रिस्तान में जगह कम पड़ रही है
अपनी बारी की प्रतीक्षा में

अर्थियों पर और ताबूतों में शव उदास लेटे हैं

चिता लगानेवाले और कब्र खोदनेवाले जितने भी लोग हैं
वे पहले से ही व्यस्त हैं बहुत
उन्हें मरने तक की भी फुरसत नहीं है अभी

जो लोग मर चुके हैं
उनसे निवेदन है
कि थोड़ा धीरज बनाए रखें
बस, उनकी बारी आने ही वाली है
अभी तो बहुत से कब्र खोदने को बाकी हैं
अभी तो असंख्य चिताओं के लिए जगह बनाना है बचा हुआ

विहाग वैभव की तीन कविताएं

शैली

मैं जीवन को ऐसे जीना चाहता हूं
जैसे मेरे कवि ने जी है भाषा

कोई भी एक शब्द उठाकर
उसे सुंदर वाक्य में बदल दिया
और ध्वनियों को बनाए रखा हमेशा

अर्थवान, न्याय, समानता और प्रेम का पक्षधर।

और फिर एक दिन

क्या आपको वह कहानी याद है
जिसमें एक मजदूर ने ख्वाब में राजा का मुकुट अपने सिर पर देखा था
वह भी सिर्फ इसलिए कि कभी उसने एक लड़की को रानी बनाने का वादा दिया था

लेकिन जब वह नींद से जगा तब उसका कटा हुआ सिर
कस्बे के बाजार में कौड़ियों के भाव बिकने के लिए रखा हुआ था?

मैं जानता हूं आपको नहीं याद है
क्योंकि ऐसी कोई कहानी कभी थी ही नहीं

पर यह सोचना एक साथ दिलचस्प और बेचैनी में डुबोकर मार देने वाला है
कि जो कहानियां कभी नहीं हुईं उनके पात्र आखिर कहां गए

मसलन एक नहीं हुई कहानी का पात्र, जिसकी प्रेमिका को
सभ्यता की बाजारू रस्मों से बांधकर मार दिया गया
वह इन दिनों कैसा जीवन जी रहा होगा
या जीवन उसे कैसे जी रहा होगा
क्या उसके सारे संत्रास और रुलाइयां शब्दों तक पहुंच पा रहे होंगे?

एक मल्लाह की वह नहीं हुई कहानी
जिसमें उसकी बेटी और पत्नी और भाई एक साथ नदी में डूब गए थे और
वह सिर्फ अपनी बेटी को बचा पाया था
एक को बचा लेने के संतोष को दो को न बचा पाने की पीड़ा ने चबा लिया
और फिर तीसरी लाश उस मल्लाह की उठी

मेरे पास ऐसी कई कहानियां हैं जो कभी हुई ही नहीं
मल्लाह और मजदूर लाशें और कटा हुआ सिर
इन बातों का सिर्फ इतना ही मतलब है—

और फिर एक दिन नहीं हुई कहानियों के सभी पात्र
अपने ही जीवन में सच होने लगते हैं
रंध्रें महसूस करने लगती हैं ग्रहों की हर चाल
सभी पीड़ाएं और संत्रास और अकुलाहटें जमा होने लगती हैं अपनी ही देह में
हड्डियों में इंतजार की चींटियों की चाल
जीवन को हलाल करने में कोई कसर नहीं रखती
रुलाइयों का एक पूरा खानदान होता है
एक दुःख के लिए रोना शुरू करिये तो
आइसक्रीम की जिद करते बच्चों की तरह और दुःख कहने लगते हैं—मेरे लिए,
मेरे लिए

मुझे माफ करें

मैंने अपना तआरुफ नहीं कराया।
मैं एक नहीं हुई कहानी का वातावरण हूं
जिसमें नायिका की चुप चीखों का सन्नाटा गूंज रहा है

मैं एक नहीं हुई कहानी में अचानक से हुई बारिश से बुझ गई मशाल हूं
जिसके न होने से क्रांतिकारियों का एक दल दस्युओं से घिर गया है

मैं एक नहीं हुई कहानी का देशकाल हूं
जो अपने ही भूगोल में भटक गया है

दरअसल यह एक उस नहीं हुई कहानी की बात है
जिसका मैं बस एक पात्र हूं
जिसे कभी कोई लेखक नहीं मिल पाएगा
जिसे भाषा कभी नहीं कह पाएगी
जिसे आप कभी नहीं सुन पाएंगे।

सभ्यता विश्वविद्यालय का वह अवांछित

वह सभ्यता के दक्खिन से आया था

उसकी देह में एक जेल थी
जिसमें उसने खुद को कैद कर रखा था
पूछने पर कहता कि उसकी मां उसे जन्मते ही मर गई थी
इस तरह वह जन्मजात कातिल है और मां के कत्ल के जुर्म में
आजीवन कारावास का सजायाफ्ता है

उसकी आंखें बंद जेल की सलाखें लगती थीं
जिसमें से रिहा होने की अनिच्छा झांकती रहती थी बदस्तूर

वह सभ्यता के दक्खिन से आया था और विश्वविद्यालय में साहित्य का शोधछात्र था

वह इतना शांत था कि दीवार पर चलती हुई छिपकलियों की चाल सुन सकता था
और पाकड़ के पत्ते को गिरता देखकर
गिनकर बता सकता था कि कितने लहर में पत्ता जमीन पर गिर पड़ा
जीवन का ताप इतना अधिक था कि
चूल्हे पर चढ़े चावल की भाप को सूंघकर बता सकता था कि

भात होने में अभी कितना समय और है

उसके कमरे में बहुत सारी किताबें थीं
उनमें भी इतिहास की किताबें सबसे अधिक थीं
मैं जब भी उससे मिलने जाता वह मुझे इतिहास पढ़ता मिलता
और अगर मैं पूछता कि क्या पढ़ रहे हो
तो कहता कि गणित लगा रहा हूं

वह इस कदर शांत था कि कोई नहीं कह सकता था—उसे भी कोई चिंता सता सकती है
पर मेरे जानिब कभी कभी ऐसा भी होता कि
वह एक विक्षिप्त बेचैनी से उठता और सेल्फ में रखी इतिहास की किताबें उलटने पलटने लगता

फिर एक व्याकुल बड़बड़ाहट से इतना सुनने में आता कि—इन किताबों के कुछ पन्ने किसी ने फाड़ लिए हैं
जबकि मैं जांचने पर पाता कि किताबें बिल्कुल सही सलामत होतीं

वह कला और समाज पर बात करते हुए गिओर्गी प्लेखानोव को
नजदीकी रिश्तेदार की तरह याद करता
और रोमन जैकोब्स्न या विक्टर स्लोव्स्की का नाम सुनते ही चिढ़ जाता
आंबेडकर और मार्क्स से रोमानी रिश्ता था उसका पर सवाल उनसे भी करता था
वह भाषा के गिरते स्तर पर चिंतित होता और गालिब को याद करता

आप भी सोच रहे होंगे कि मैं उसके बारे में इतना क्यूं बोले जा रहा हूं
दरअसल यह कविता नहीं, समाजशात्र का एक जटिल प्रश्न है, जिसे मैं हल करना चाहता हूं

अभी पिछले दिनों की बात है
मुक्तिबोध पर लिखा उसका शोधप्रबंध
गुणवत्ता का हवाला देकर खारिज किया गया
मैं ढाढ़स बंधाने की नीयत से उसके पास गया
उसने कुछ इधर उधर की बातें की
यकायक चुप हो गया, कुछ देर चुप ही रहा
फिर अचानक उसका चेहरा कोयले की भट्टी की तरह तपने लगा
क्रोध और कातरता में डूबी निगाहों से वह मुझसे मुखातिब हुआ—
"यह कैसे हो सकता है भला!

क्या मुक्तिबोध की कविताओं से निकल भागने की सजा एक मेहतर को इस तरह
से दी जाएगी?
विहाग, फूको मुझे माफ करें पर मैं अगला शोध 'पॉवर एंड नॉलेज' पर करूंगा
और पूरे पांच सौ पेज की थीसिस मोड़कर फलाने प्रोफेसर की गांड़ में डाल दूंगा'

गुस्से में यह सब बोलते हुए रुंधे गले भी उसने कठोर बने रहने की कोशिश की
पर पहले सिसकियां थीं फिर रुलाई की स्पष्ट ध्वनियां आईं
मेरे गले लगाते ही वह कुंए में गिर गए बच्चे की तरह रोने लगा
उसकी चीखें इतनी लंबी थीं कि एकबारगी मुझे भ्रम हुआ कि ये इतिहास
के किसी सुरंग से आ रही हैं

यह कहना मुश्किल है कि वह क्यों रोया पर इतना तय है कि खारिज हुआ शोध
उस रुलाई कि वजह न था

हमने वह दिन साथ में बिताया
चाय वाय पी, दिन गुजरने का इंतजार किया

थका सूरज अपने घर लौटा और मैं अपने घर
भूख थी पर अनिच्छा ने मेरे हाथ पांव बांधे
उस रात सपने में
कई आदमकद चाकू आपस में लड़ते रहे
दुश्मन मोर्टार के मुंह पर बंधा एक इंसान प्रेम और मुक्ति के गीत गाता रहा
और एक कालयात्री बच्चा
पिछली किसी सदी की युद्धभूमि में बैठकर करता रहा मृतकों की शिनाख्त।

अनुराधा सिंह की कविताएं

सुपरिचित कवयित्री और अनुवादक। 'ईश्वर नहीं नींद चाहिए' कविता संग्रह प्रकाशित, प्रशंसित। 'तद्भव' में पहली बार।

मटर का कीड़ा

मटर की बंद फली
उस एक तिहाई इंच के हरे कीड़े की
पूरी दुनिया है
पांच दाने हैं
अकूत संपदा जीवन के लिए

दस रुपये पाव, तुम्हारे और दुकानदार के
बीच का विनिमय है
मटर के कीड़े का अनुबंध ईश्वर से है
जिसने दाने के गर्भ में
आरोपित किया है उसे

तुम्हारे फली खोलते ही
उसे मजबूरन शामिल होना पड़ा है
तुम्हारे विपणन संसार में
वरना फली में
वह अपनी दुनिया का बाहक बाशिंदा था
उसकी औकात एक कीड़े से कहीं ज्यादा थी।

ढंकने का काम

ईश्वर ने
समंदर को लहरों से ढंका
पृथ्वी को आकाश से
रात को नींद से
और अंत में हर दिखाई देती चीज को हवा से ढंक दिया

स्त्री ने
भूख को रोटी से और
वासना को प्रेम से ढंका
अपने प्रेम को विवाह से ढंकने के बाद वह
धूप ओढ़कर एक बच्चे को दूध पिलाने लगी

पुरुष ने दुनिया से लौटकर देखा कि
स्त्री की आंखें अनावृत थीं
वह निराश हुआ और उसने
ईश्वर के पृथ्वी, आकाश, समंदर और रात को
एक घर से ढंक दिया

फिर उसने
स्त्री के वक्ष को कंचुकी से ढंकने से पहले
उसके होने को अपने होने से ढंक दिया।

भी

मेरे हिस्से उनका विनोद था
गजब सेंस ऑफ ह्यूमर

ऐसे ऐसे चुटकुले कि
कोई हंसता हंसता दोहरा हो जाए

लेकिन मैं नहीं हंसी
मुस्कराई भर
मुझे अपने लिखे पर बात करनी थी

मेरे पास मीठा गला था
स्त्रियोचित लोच और शास्त्रीय संगीत की समझ
मंद्र सप्तक में भी कहती रही
मैं भी कवि हूं
गाने पर नहीं कविताओं पर बात करते हैं
मेरे पास था उज्ज्वल ललाट
छोटी सी यूरोपीय खड़ी नाक और खिंची
पूरबी आंखें
और तो और मेरे चिबुक का स्याह तिल
पहुंचने ही नहीं देता था
उन्हें मेरी कविताओं तक

फिर मैंने कहा, आप
सदियों से मेरे चमकदार खोल की
प्रशस्ति कर रहे हैं
जबकि लिखते लिखते
मेरी आत्मा नीली काली हो गई है
दया कर, एक बार उसे भी पढ़ लीजिए

आपने सही कहा मैं खाना अच्छा बनाती हूं
चित्रकारी उम्दा करती हूं
बागवानी प्रिय है
नौकरी में कर्मठ कही जाती हूं
वात्स्यायन की मानें
तो केलि और मैत्री के लिए सर्वथा उपयुक्त

किंतु आपके सामने बैठी हूं मैं
सिर से पैर तक एक कवि ही बस
आइए, मेरी भी कविताओं पर बात करें।

पानी में शक्कर सी लड़की

मैं उसकी मुट्ठी में बंद उंगली हूं
उसने थामा था मुझे सहारा देने के लिए
और अब मैं पसीने में तर
उसकी पकड़ से छूटने के लिए हूं बेचैन

मैं उसके कंठ में थरथराती
वह आवाज
जिसे वह बोलना ही नहीं चाहता
एक शब्द बनने के लिए तरस रही हूं
जबकि उसके जहन में मेरा समूचा अर्थ कैद है

मैं वह स्वप्न हूं जिसे वह रोज अपनी नींद में देखता है
उसके जागते ही
एक धुंधले अघटित में
तब्दील हो जाती हूं

लोग चेताते रहे
प्रेम न मिले तो व्यर्थ हो जाएगी लड़की
कौन बताता कि प्रेम होते ही
पानी में शक्कर सी घुल जाएगी
हर घूंट में महसूस होगी
पर दिखेगी नहीं फिर कहीं लड़की।

मुझे मिट्टी कर दो

वह पूछता है, कैसी हो
मैं 'ठीक' कह देती हूं
जानते हुए भी कि
यह सदा ठीक भाव
मेरे मन की जमीन को
अनश्वर प्लास्टिक सा हथियाये ले रहा है

मैं जो तीली के गंधक का
अपने कद से बड़ी लौ में

जल मिटना सराहती हूं
मैं जो एक चुंबन के स्वप्न में
यह समूचा जीवन नष्ट कर देना चाहती हूं
मुझे तो इस पृथ्वी पर
किसी के सदा के लिए
डट जाने के खिलाफ होना चाहिए

चाहे वह प्लास्टिक हो या मेरा प्रेम

मुझे अयस्क ही रहने दो
सड़ता सियाहता पृथ्वी की अंधी कोख में
मिट्टी से अधिक जिसकी औकात न हो

क्योंकि पिंड जो जलकर कार्बन हो गए
हीरे बनकर बरसे वही दूसरे ग्रहों पर
पत्तियां जो दब गईं मिट्टी में
उन्हीं के किनारों से फूटे नए पौध

मांएं जो भूल गईं कि वे मनुष्य हैं
बार बार गईं सौरी में
जनमे, पिता कहाने को पुरुष
लोग जो जंग खा गए
मिट्टी हो गए
जिनकी आत्मा को दुःख का घुन लग गया
वही नई दुनिया की जमीनें तैयार कर सके

अमरत्व की आकांक्षा में इस्पात हो चुके लोग
ढल जाते हैं बाजार की मनचाही आकृतियों में
खो देते हैं
सुकुमार बीजों को अंखुआ देने की अलौकिक सामर्थ्य
चीजें जो नष्ट होना नहीं जानतीं
अपना सब कुछ नष्ट कर देती हैं
मिट्टी हुए बिना मिट्टी में धंसे रहने की पीड़ा
इस्पात जानता है

अब जब तुमने नष्ट कर ही दिया
मेरा विश्वास

मैं नहीं चाहती कि
मेरा आहत भाव ही
बना रहे अक्षुण्ण प्लास्टिक सा
स्थायी इस्पात सा
चाहती हूं कि फिर प्रेम ही करूं
छार छार हो
मिट्टी हो जाऊं
फिर विश्वास उपजाने के लिए

और तुम हाल पूछो
तो बता सकूं, ठीक नहीं हूं बिलकुल भी।

हरि मृदुल की कविताएं

कवि और पत्रकार साथ साथ हैं हरि मृदुल। इधर उनके कहानीकार की भी चर्चा है। अनेक भारतीय भाषाओं में रचनाओं के अनुवाद हुए हैं।

अमुक विश्वविद्यालय की अमुक कक्षा के कोर्स में लग गई कविता

जिस दिन उसने फेसबुक के जरिए यह खुशखबरी दी कि
उसकी एक कविता अमुक विश्वविद्यालय की अमुक कक्षा के
कोर्स में लग गई है
उसी दिन मैं समझ गया था कि कविताओं के बहुत बुरे दिन
शुरू हो चुके हैं...

वाकई ऐसा ही हुआ भी कि
उसके फेसबुक में खुशखबरी पढ़ने के बाद ऐसी कई कई खुशखबरियां
कई कई फेसबुक में पड़ी दिखाई दीं
जिनमें कहा गया था कि आप सबके आशीर्वाद से ही ऐसी नायाब उपलब्धियां
हासिल हुईं...
लेकिन मैं नाशुक्रा ऐसा कि इनमें से एक खुशखबरी पर मैंने न चाहते हुए भी टिप्पणी

कर ही दी—
भाई, साफ साफ बता दूं कि तुम्हें मिले इतने सारे आशीर्वादों में मेरा कोई आशीर्वाद सम्मिलित नहीं

मैंने उसे याद दिलाया कि
यह वही कविता तो है
जो तुमने मुझे घेरकर जबर्दस्ती सुनाई थी
और मैंने बिना लागलपेट कहा था कि इसे फौरन फाड़ दो
यह रद्दी है
तुमने मेरी बात मानी भी थी और मेरे सामने उसे चिंदी चिंदी कर दिया था
लेकिन मुझे तब भी पता था कि तुमने महज एक प्रिंट भर ही फाड़ा है
तुम्हारे घर में एक महंगा प्रिंटर है
जिससे तुम ऐसी सैकड़ों प्रतियां पलक झपकते निकाल सकते हो!

भाई, मैं एक बात जरूर साफ कर दूं कि
न तो तुमसे मेरी कोई दुश्मनी है
और न ही तुम्हारी इन कविताओं से
लेकिन मैं उस प्रवृत्ति का पुरजोर विरोधी हूं कि
सत्ता की दलाली भी करो और कविताएं भी लिखो
पूंजीवादियों के साथ मंच पर आसीन रहो और कविताएं भी लिखो
यहां वहां तिकड़में भिड़ाओ और कविताएं भी लिखो
घोटाले कर करोड़पति भी बन जाओ और कविताएं भी लिखो
जब तब सांप्रदायिकों के साथ दिखो और कविताएं भी लिखो
हत्यारों की हंसी में शामिल रहो और कविताएं भी लिखो

नहीं भाई, यह संभव ही नहीं है

हालांकि मुझे यह भी पता है कि
यह सब करके भी तुम कवि कहलाने में सफल हो जाओगे
अक्सर ही हमें मुंह चिढ़ाओगे
हमसे रार बढ़ाते ही जाओगे
इतना ही नहीं, मंच पर चुटकुले सुनाकर काम चलाने वाले तुम्हें
सुकवि मानेंगे
कवि सम्मेलनों में गाल बजाने वाले तुम्हें जरूर सराहेंगे
उनके बीच तुम अवश्य ही छा जाओगे
और खूब मौज मनाओगे

वजह यह है कि तब तक तुम बड़ी होशियारी से थोड़ा मीर रटरटा लोगे
थोड़ा गालिब घोटघाट लोगे
थोड़ा नजीर चाट जाओगे
थोड़ा फैज की पुंगी बजाओगे
फिराक से लेकर निदा फाजली तक
न जाने किस किस का रट्टा लगाओगे

थोड़ा थोड़ा कबीर, सूर, तुलसी और मीरा को भी छू भर लोगे
लेकिन निराला, नागार्जुन, मुक्तिबोध, रघवीर सहाय आदि से तुम्हारी दूरी बरकरार रहेगी
अंतत: तुम सांड़ सहारनपुरी या बैल बनारसी टाइप कवियों की शरण में जाओगे

हां, मैं मुतमुइन था कि एक दिन तुम
कोर्स में कविता लगने जैसी ही कोई न कोई खबर अवश्य सुनाओगे
फिर मुझे मिठाई खिलाओगे
पार्टी दोगे
दारू पिलाओगे

तो मुझे एक बात बड़ी गंभीरता से
कहनी है तुमसे कि
अब तुम्हारी यह यात्रा अनवरत जारी रहनी है
इस यात्रा में तुम कतई नरभसाना नहीं
आखिर तुम्हारे ही तो भाई बंधु हर तरफ छाए हैं
वैसे भी कविता के इतने बुरे दिन
सिर्फ तुम्हारी बदौलत थोड़े ही आए हैं

अगला स्टेशन मीरा रोड*

नींद में था भरपूर
थका सा मन
तन चूर चूर
ऊंघता झटके खाता
खट खट खटाक खट खट
खट खट खट खट...
एक लय में दौड़ती जाती लोकल ट्रेन

* बोरिवली, दहिसर, मीरा रोड, भाईंदर, नायगांव, वसई, नालासोपारा, विरार– ये सब मुंबई के निकट उपनगरों के क्रमश: नाम हैं।

एक एक स्टेशन छोड़
तभी लोकल के भीतर हुई घोषणा—
अगला स्टेशन मीरा रोड
पुढील स्टेशन मिरा रोड
नेक्स्ट स्टेशन मीरा रोड

'अरे, मुझे उतरना था दहिसर'
अकबका कर बोला वह युवक
'बाजू वाले को बोला था कि उठा देना
जब आएगा दहिसर
शायद वह तो उतर गया बोरीवली'
'बोरीवली उतरने वाले को बोलोगे मीरा रोड आने पर उठा देना
तो ऐसा ही होगा'—मसखरी की एक बूढ़े बाबा ने
जो युवक के ठीक सामने की सीट पर बैठे थे

खट खट खटाक खट खट
खट खट खट खट...
एक बार फिर हुई घोषणा—
अगला स्टेशन मीरा रोड
पुढील स्टेशन मिरा रोड
नेक्स्ट स्टेशन मीरा रोड

कौन सा स्टेशन है? मीरा रोड!!!
वह अधेड़ उतरा ताबड़तोड़
आधी नींद में था वह
आधा जगा
चल पड़ी थी लोकल
कूदा फिर भी हड़बड़ी में
गिरा, लेकिन किस्मत अच्छी थी
कि ट्रेन के नीचे नहीं गया...

कई हैं जो सोए तो कतई नहीं हैं
पर अपने ही में खोए हुए हैं
लगे पड़े हैं मोबाइल गेम में
या व्यस्त हैं चैटिंग में
या फेसबुक ह्वाट्सऐप ट्विटर पर जमे हुए हैं—
ये सब अपने अपने स्टेशन पीछे छोड़ चुके हैं...

अब ये भाईंदर पहुंचेंगे या नायगांव या वसई या नालासोपारा
या फिर सीधे विरार

खट खट खटाक खट खट
खट खट खट खट...
नहीं सुन पाए लोकल के भीतर कई कई बार की गई घोषणा—
अगला स्टेशन मीरा रोड
पुढील स्टेशन मिरा रोड
नेक्स्ट स्टेशन मीरा रोड

इतना बेशर्म

इतनी सारी टॉफी खाओगे
दांत सड़ेंगे
बच्चे से छीनी टॉफी
खुद खा गया
इतना बेशर्म

चीनी से चींटी को
कैसे तो भगाया
फिर चार चम्मच
शर्बत में घोल
चुपचाप गटक गया
इतना बेशर्म

दस खर्चों में की कटौती
नजर बचाकर जमा किए जो
बीवी से सारे रुपए लिए
बियर पी गया
इतना बेशर्म

गली में कुत्ता
जाने कहां से लाकर हड्डी
चूस रहा था
बिना बात उठाया पत्थर
मार दिया
इतना बेशर्म

कुमार मंगलम की कविताएं

युवा कुमार मंगलम की कविता, सांस्कृतिक कर्म, संगीत और पाककला में गहरी रुचि है। बीएचयू, अहमदाबाद, इग्नू में अध्ययन करने के बाद फिलहाल उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय में अध्यापन।

सुशासन

रात रोज
नींद में उपराती है लाश
एक नहीं अनगिन

अचंभित देखता हूं—लाश का चेहरा; अपना ही
जिसे ढोता मेरा कंधा

सुनता हूं—बहुत देर तक एक ही खटखट
दस्तक जैसे दूर बैठी किसी प्रेमिका का इंतजार
मृत्यु सरीखा

निर्वात में गूंजती
लाशों की—
भनभनाहट है
निर्वात सी—

और
चुप्पी है—
बेबसी है—
बस अंतहीन मौन गुंजायित—

दो मिनट का मौन
सरीखी यह रात
इतनी लंबी, इतनी स्याह, बहुत लंबी रात

अनंत शव शांतियज्ञ में होम हो रहे हैं प्रतिदिन
लोकतंत्र में सुशासन आ गया है

कोई हत्या चर्चा नहीं, चर्या अब

मैं कितनी बार मर चुका हूं

मैं चाहता था
जब मैं मरूं
तो कोई अफसोस न हो
लेकिन अफसोस
चाह मृगतृष्णा है
जिसे पूरा नहीं किया जा सकता है

तो, मैं कई बार मर चुका हूं
कई बार और मरने का मौका आता रहा है
वक्त बेवक्त

हुआ यूं कि
पहली बार तब मरा जब फेल हो गया मैट्रिक के इम्तिहान में

फिर तो जैसे एक सिलसिला शुरू हो गया

और मैं तब से मरता रहता हूं प्रतिपल
जब मैंने हिंदी पढ़ने का निर्णय सुनाया अपने मां बाप को
फिर जब मैं दूसरी बार प्रेम कर रहा था
और प्रेमिका की थीसिस लिखने से मना कर दिया
फिर मैं मरता हूं हर महीने
जब मैं अपने बाप से पैसे मांग रहा होता हूं
निर्लज्ज हो
फिर मरता रहा नौकरी के लिए धक्के खाता
सभी तैयारी के बावजूद
माथे पर एनएफएस का बोर्ड टंगा मिलता
जैसे अपनी योग्यता हर रोज साबित करना होता है
वैसे हर रोज मरना पड़ता है थोड़ा
जैसे एक हल्की नींद आती है और फिर
एक झटके में नींद खुल जाती है

अब मैं मरने के बारे में नहीं सोचता
जिंदा प्रेत मरे न मरे क्या फर्क पड़ता है

मैं किसी आंदोलन या बदलाव का हिस्सा नहीं हूं

मुझे भूख लगती है
खाना खाता हूं

प्यास लगती है
पानी पीता हूं

नींद आती है
सो जाता हूं

मरने का मन करता है
नहीं मरता हूं
क्योंकि जिंदा नहीं हूं
मरा हुआ आदमी मर कैसे सकता है भला

मैं मरा हुआ हूं
लेकिन कुछ भयानक है भीतर
जो पनपता है

और जिसे मैं समाज की नजरों में
अपनी असफलताओं के अनंत किस्सों के भारी पत्थर से दबाता हूं

बिना धार वाले हथियार से अनवरत
कोई काट रहा है जी को

तो मैं रोज मरता हूं
और रोज थोड़ा जी उठने की कोशिश करता हूं
कि शायद किसी रोज
एक विस्फोट हो
और मैं मरने के लिए नहीं
जीने के लिए अभिशप्त हो जाऊं
वैसे ही जैसे अभी रोज मरने के लिए शापित हूं।

सौंदर्य

सौंदर्य क्रूरतम हो सकता है
गर नजर हो

अगर भींगते पहाड़ देखो
तो
पानी की शक्ल में
पत्थरों से खून रिसता दिखेगा

पहाड़ी नदी
पहाड़ से निकली एक रक्त नदी है

पहाड़ पर सूर्योदय और सूर्यास्त
देखते आगंतुक आंखों में
देखने का
औत्सुक्य है

देख सको तो देखो
किसान के पसीने को
पसीने की शक्ल में
देह से रिसता खून दिखेगा

खेत
किसान लहू से गीले हैं
जिनमें फसल खून से सींचकर पैदा होती है

किसान को
खेत जाते और खेत से लौटते देखने में
देखने का औत्सुक्य नहीं है

किसान पहाड़ है
या पहाड़ किसान
सौंदर्य की परिभाषा तय करे

प्रदीप्त प्रीत की कविताएं

युवा प्रदीप्त को कविता लिखते ज्यादा वक्त नहीं बीता है लेकिन उनकी खास पहचान बन रही है। कविताओं के साथ साथ उनकी एक कहानी भी प्रकाशित है।

समय और कर्तव्य

आकाश और पाताल के बीच
भटकती रहती है ये दुनिया
जैसे नैतिक और अनैतिक के बीच
हमारा तुम्हारा कर्तव्य एवं व्यवहार

ये हमारा तुम्हारा ही समय है मेरे दोस्त
स्याह और विकराल रातों का
जहां दिन उजाले का छलावा लिए आता है
हवाएं नश्तर चुभोती हैं
पृथ्वी शून्य पड़ी है बेजान और थिर
आजाद परिंदों का उड़ना लगता है व्यंग्य
इस काली काली अमावस की रात में एक जुगनू

जल बुझ बुझ जल कर बना रहा है रोशनी
ये रोशनी है ठीक वैसे ही जैसे
किसी देवत्व के चित्र के ठीक पीछे
दिखाया जाता रहा है एक प्रकाशपुंज

कीट पतंगों की तरह वहीं से
निकल रहे हैं ध्वन्याकार अक्षर और शब्द
हमारी अकादमी का सबसे बलिष्ठ आचार्य
जो अपने साथ लेकर चलता है अंगरक्षक
एक पुस्तैनी शब्दकोश से बताता है इनके मानी

इन शब्दों को जोड़ जोड़ कर
वो बनाता है एक पुरुष की काया
चीख चीख कर कहता है
ये हजारों साल पहले की सबसे पवित्र काया है

वो अधिकार से कहता है सारे शब्द इसी से निकले हैं
जैसे मस्तक और धड़ से निकला सोना
पैरों से निकली है मिट्टी
सबसे बड़ी बात वह कहता है
नहीं होता, स्त्री शब्द का अपना कोई स्व

मोहल्ले के जिस चौकीदार को हमने पकड़कर लाया
उसने अस्थायित्व से घबराकर
धीरे धीरे बेचना शुरू कर दिया
दैनंदिनी में शामिल हमारे सुर, लय, ताल

शहर के समृद्ध घरों के बिगड़ैल लड़के
खेलते हैं चौरस का खेल
उन पार्कों में जहां हम झूमकर बड़े हुए

जब लगातार अंधेरा बढ़ता जाता है
लोग अपने ख्वाबगाहों में खोने लगते हैं
तब चौकीदार चुपके से बुझा देता है
अब तक रह गया एक मात्र लैंपपोस्ट
मोहल्ले में सुबह सिर्फ चर्चा होती है
कि बहुत कुछ अचानक से बदल गया है।

भार और शोर

भार की मानिंद खिड़कियों पर
चिपके पड़े हुए हैं धूल के कण
धूप की पैनी निगाह में आने से
ओस को भूल जाना पड़ा है
आसमान की बेवफाई के बाद
धूल का सुकून भरा आलिंगन

कई अन्य चीजें भी भार में बदल गई हैं
जैसे मार्च के महीने में मसहरी पर पड़ी रजाई
खूंटियों पर लटकते हुए गंदले ऊनी कपड़े
कमरे में दरबदर भटकता ब्लोवर

ठीक इसी तरह
शरीर पर पिछले कुछ दिनों का भार
हृदय पर कुछ सालों का भार
मन दबा हुआ है इस पूरे जीवन के भार से

आसपास के शोर के चहबच्चों पर
भारी पड़ रहा है
पास के किसी मकान में काट दी जा रही
ईंटों का रुदन
जब कोई जीवन जीने के बजाय
जीवन काटने लगता है तो
मन में उठता है ठीक इसी तरह का शोर

मेरी दोस्त

मेरी दोस्त
मै तुम्हें दूर से सुनता था उन दिनों
जब किताबों में मैं खोज रहा था
जीवन और उसके फलसफे
तब तुम महज भीड़ बनकर आती थी
भीड़ की गहमागहमी और धक्कामुक्की में
मैं अब तुम्हें पहचानने लगा था

वैसे ही जैसे किसी चरागाह में

दूर द्र के मवेशी रोज रोज की टकराहट में
एक दूसरे को पहचाने लगते हैं

मेरी दोस्त!!
मै कभी कभी सोचता हूं
क्या हम दोस्त बन पाते?
अगर किताबघर में किताबों का अभाव न होता
शिक्षक की जिंदगी में व्यस्तता न होती
और हमारा समाज अगर शांत होता
इन्हीं विषमताओं की खातिर हम टकराए कई बार
अपने अपने वजूद और कर्तव्यों को लेकर।

मेरी दोस्त!!
अब भी हूबहू याद है मुझे अकाल उन दिनों का
जब चींटियों को छोड़ना पड़ा था अपने बिलों को
मेढकों की आवाज दब गई थी सूखे हलक में
सूखते जलाशयों को देख बगुले भगत बन गए
जीवन के बदले स्वीकार था
उन्हें महलों की शोभा बढ़ाना
गड्ढे, तालाब, रहट सब सूख गए थे
नहरों और नदियों ने मुंह मोड़ लिया
सूखते खेतों के बीच मैं भी खड़ा था कुपोषित
एक पीली बीमारी का पीलापन मुझे खाए जा रहा था
और बाबा लाचार थे अपने कर्ज से

मेरी दोस्त
जब खत्म हो चुकी थीं सारी आशाएं
सारे संवादों को भूलने के बदले
एक ही काम बचा पाया था
उस सूरज को ताकते रहना
जो मेरी ही तरह अकेला था और पीला भी
जिंदगी से न शिकवा था न गिला
बस मृत्यु अब हसीन लगने लगी थी
दूरी बस एक प्रतिज्ञा भर थी, भीष्म सी प्रतिज्ञा
उस दिन आकाश नीला हो गया था, बदतर नीला
बादल न जाने कहां पहुंचने की जल्दी में थे

छिटपुट कोड़ों की आवाजों के बीच
एक चीत्कार उठी और उस पर टूट पड़ीं बिजलियां
आज फिर किसी ने रूढ़ियों पर उठाए थे सवाल
आज फिर किसी को बोध हुआ अपने कर्तव्य का
अपने अस्तित्व का

मेरी दोस्त!!
उम्मीद की राह में टकटकी लगाए
मेरी आंखें अब बंद हो गई थीं
एक बूंद ने स्पर्श कर जगाया मुझे
और पूछा—कहो दोस्त कैसे हो?
मैंने मुस्कराकर कहा—
दोस्त!! दोस्त कहा तुमने!!!
हूह्...अच्छा हूं
मौत के मुंह पर खड़ा हूं पर निराश नहीं हूं।

मेरी दोस्त!!
देखा है! बू आसमान से गिरती है
मासूम से दिखते पत्ते प्रीत में
फिर धीरे धीरे कोरों से होकर खो जाती है
नीचे बिखरे विस्तृत मैदान के आगोश में
पत्ता प्रफुल्लित और चमकदार हो जाता है
मैं पत्ता नही हूं...।
और तुम भी तो बूंद नहीं हो।

मेरी दोस्त!!
हम तुर्रमखानों की छावनी के
मात्र वे सिपाही हैं
जो कभी नहीं गए किसी लड़ाई पर
हमारा जीवन बीत रहा है
नवसिखिया सिपाहियों की लादी ढोने में
हमारी संवेदनाएं लुटती रहीं
उनके हरम के नंगेनाच में
और एक दिन हम मर जाएंगे
उनके जख्मों पर मरहम लगाते।

राजमार्ग पर कील

तुम्हें भूलने की आदत है
तुम्हें काम हैं और भी बड़े बड़े

तुम्हारी गति को कभी बांध नहीं पातीं
पैर की मोटी मवाद से भरी बेवाइयां
तुम कभी खीझे भी नहीं
जब कभी बैलों ने कुचल दिए तुम्हारे पैर

टूड की नोक पर लाल रक्ताभ हुई आंखों से
तुमने सूजे में लगाई मूज की रस्सियां
उनसे सिल दिए उम्मीदों के भारी भरकम गठ्ठे
तुम ये सब भी भूल गए
तुमने अपनी उम्मीदों को लुट जाने दिया
उनके औने पौने दामों में

यही भूलने की तालीम बचपन से ही
तुमने अपने बच्चों को दी
वे भी भूल जाते हैं तुम्हारी ही तरह
उन सारे मौकों को
जब जब उन्हें लगना पड़ा
अलग थलग दूसरी लाइनों में।

जब तुम सब कुछ भूल जाते हो
तुम्हारे बच्चे भी जब सब भूल जाते हैं
तब वे तुम्हारे बीच करते हैं साजिशें
तुम्हें खड़ा कर देते हैं एक दूसरे के सामने

उनकी सुरक्षा में तुम्हारे भुलक्कड़ बेटों ने
तुम्हारी पीठ पर, जांघों पर बरसाईं लाठियां
तुम पर तान दी गईं पानी फेंकती वे मशीनें
जिनका बहाव कई घोड़ों की ताकत के बराबर था

जब जब वे नाकाम हुए हैं, गैरजिम्मेदार बने हैं
पूर्वी प्रदेश में मौतों का कारण लीचियां बनीं
राजधानी में जब जब फैली धुंध, घुटने लगा दम

तुम्हारी परालों को बताया जिम्मेदार, लगा दिया जुर्माना

तुम सब कुछ भूल जाओगे
राजधर्म की आड़ में किया सत्ता संघर्ष
धर्म की स्थापना के बदले फैली नफरतें
तुम्हारे ट्रैक्टरों को रोकने के लिए
लगाई गई राजमार्ग पर उनकी कीलें।

सुमित त्रिपाठी की पांच कविताएं

सामाजिक, वैयक्तिक यातनाएं और दु:स्वप्न सुमित की कविताओं में बार बार मूर्त होते हैं। उनके कवि की अपनी विशिष्ट पहिचान है। 'तद्भव' में पहली बार प्रकाशित।

1

काल्पनिक नदी पर
काल्पनिक एक पुल
अभिनेता कदम रखता है
एक संभावना पर

खंजर एक संभावना है
अभिनेता जिसे
छुपाकर रखता है

धीरे धीरे
पास आकर

वह अचानक
आप पर वार करता है
और चीखकर गिर पड़ता है

प्रेम की संभावना को भांप
वह उसे उभारता है
यहां तक कि आप
खुद पर काबू खो बैठते हैं
तब वह लजाते हुए
अपने वस्त्र सरका देता है

अंधेरे में वह
लगातार
आपकी जेबें टटोलता है
फिर सारा कुछ
मंच पर फैला देता है

रोशनी के बीचोंबीच
आपको छोड़कर
अभिनेता अदृश्य हो जाता है

2

सघन एक वन
वह मेरा हृदय नहीं

सुंदर क्यारियों वाला
खेत भी नहीं

पुण्यहीन ऊसर में
उगती है खर पतवार

जंगली जहरीला साग
मैं हृदय में पकाता हूं

3

चिड़िया को
यह गाते सुना
कि पृथ्वी डूब रही है

डूबती हुई पृथ्वी का गीत
चिड़िया के मन में है

पृथ्वी क्यों चुप है?
क्या वह
अपनी मर्जी से डूबती है?

चिड़िया जो वन में है
वन जो वनवास में
डूबने से पहले
क्या पृथ्वी उन्हें बुलाएगी?

4

केवल प्रेम है
सराहने योग्य—
पृथ्वी याद रखेगी
केवल प्रेम

सिर्फ प्रेम
हम दे सकते हैं
या नहीं दे सकते

सिर्फ उसी को
स्वीकार
अथवा अस्वीकार
करते हैं

सिर्फ प्रेम है
जिसे हम जानेंगे

या नहीं जान सकेंगे

5

मैं मृत्यु से नहीं डरता
डरता हूं बंद कमरों से
बिना धूप वाले गलियारों से

खुली धूप में
मृत्यु के खयाल
कभी नहीं आते

मृत्यु आई भी
तो चील की तरह झपट्टा मारेगी
और पता नहीं चलेगा

पर बंद कमरे
कॉफिन सरीखे होते है
उनसे मृत्यु की गंध आती है
भय होता है

हुकुम देश का इक्का खोटा

नीलाक्षी सिंह

अक्सर ऐसा होता है कि जीवन जब सबसे अधिक संकटग्रस्त होता है, दांव पर लगा होता है तभी जिंदगी की स्मृतियां अपने समूचे अमृत के साथ प्रकट होती हैं। अगर एक रचनाकार इससे गुजरे तब संभव है कि वह उन दिनों के अपने दु:स्वप्नों और जिजीविषा का कथेतर गद्य में रूपांतरण करे; कुछ यूं कि सृजन / लेखन अंतत: जीवन के रूपक में रूपांतरित हो जाए। लेखक नीलाक्षी सिंह की ऐसी ही रचना *तद्भव* के पाठकों के लिए प्रस्तुत।

पोशाक आसमानी थी। ढीली कमीज और पायजामा। मैं लेटी थी। स्ट्रेचर में हल्की गति थी। मैं लेटे लेटे गरदन उलटकर बहन को देख ले रही थी। वह खुश थी, मुस्कराती हुई सी खुश। यह भी था कि उलटी आंखों से देखी गई मुस्कान का, सीधी आंखों से देखने पर क्या अनुवाद होगा यह परखने का वक्त नहीं मिल पाया। शायद वक्त तो था, लेकिन मैंने चुना नहीं, उस तरह से देखना। मैं दुनिया की उलटी तस्वीर देखते हुए ही गलियारा पार करना चाहती थी। फिर एक मोड़ आया और रास्ता बदल गया। स्ट्रेचर अब संगीन कमरों की ओर बढ़ चला था। फिर आगे देखने में मेरी दिलचस्पी न रही।

इस सवाल के बारे में कभी ठहरकर क्यों न सोचा, ये खयाल आया। सवाल सच में मानीखेज था कि जीवन में उचककर आगे देखना ज्यादा आसान था या पीछे मुड़कर बीत चुके को देखना। आगे देखने में जितनी कल्पना खर्च की जा सकती है, जरूरी नहीं कि पिछले को याद करने में उतनी या उससे कम ज्यादा कल्पना की बचत कर ली जाए। कभी

कभी अतीत की स्मृतियों को अपने पैरों पर खड़े होने के लिए ज्यादा कल्पना की जरूरत पड़ जाती है। एक कहानीकार को कल्पना इकट्ठा करने की लत लग जाती है, जाने कब कहां कितनी मिलावट करनी हो।

मां कहती हैं सफर में ज्यादा भारी बस्ता लेकर नहीं चलना चाहिए। मां नहीं कहतीं। मैं ही कहती हूं। वैसे इस सीख का यहां क्या मतलब! कोई स्ट्रेचर पर सवार होकर यात्रा पर निकलता है क्या?

एक कमरे के बाहर गलियारे में स्ट्रेचर रुक गया। डॉक्टर आए न थे और शायद कमरा तैयार हो रहा था। सुबह का समय था। फरवरी का महीना। कॉरीडोर सर्द था। एसी का वेंट पास ही कहीं था संभवतः। रोएं तो मेरे बड़े अदब वाले थे ही। तापमान में कुछ ऊंचनीच हुई नहीं कि रोएं सरपट नंगे पैर उठकर खड़े हो जाते थे। इसलिए उसे कोई ऐसा लक्षण नहीं माना जा सकता कि ठंड मेरी संभाल से बाहर हुई जा रही थी। पार्श्व में दो शख्सों की आवाज मौजूद थी जो स्ट्रेचर ले जाने वाले सहायक थे। मैं कुछ हिम्मत करता तो आवाज लगा सकती थी उन्हें और ठंड से बचने का कुछ इंतजाम हो जाता। पर कोई हरकत न हुई मुझमें। एक छींक तक न आई।

उसके अलावा शरीर और क्या संकेत दे सकता था? तलहथी का पसीना? मौसम के सर्द होने के साथ मेरी तलहाथी पसीनेदार बनने लगती। लेकिन तलहथी कहां थी उस वक्त, यह ठीक ठीक लोकेट करना मुश्किल था। बाकी के शरीर की मदद से उसे आसानी से खोजा जा सकता था; आसानी से या कि जहां भी कहीं वह थी वहीं से तलहथी को खुद में कुछ हरकत पैदा करके अपने वहां होने का बयान देना था। लेकिन मन में कहीं आसान रास्ता चुन लेने का मोह अभी भी बचा था क्या। कानों की कोर पर गीलापन महसूस हुआ। गरम गीलापन। यह आंसू भी हो सकता है, पसीना भी। दोनों ही स्थितियों में शरीर से तरलता और नमी के बाहर निकलते जाने की संभावना थी। अभी तलहथी के पास कान तक जाकर गीलेपन की प्रजाति को बूझने का मौका था। लेकिन वह हरकत में न आई। कान की कोर पर उपजा गीलापन भी खुद ब खुद सूख ही गया होगा कहीं।

काफी वक्त बीत चला था। इस सब घालमेल में मन में एक ख्याल आ गया। क्या मैं चुटकुले लिख सकती हूं? होंठ भी तलहथी की राह पर थे शायद, इसलिए एक मुस्कान तक न आई इस विचार पर। पर यह भीतर तक गुदगुदाने वाली बात थी। क्योंकि बनाना तो दूर, एक ढंग का लतीफा स्मृति से सुनाने तक की काबिलियत नहीं रही कभी मुझमें। खैर लतीफा तो नहीं, पर एक दबी हुई अपनी ही कहानी याद आई। उसका पात्र संसार की सोहबत में उम्रदराज हुआ एक गंभीर व्यक्ति है जिसका पेशा अखबार के लिए लतीफे गढ़ना है। अनुमान यह है कि उस पेशे ने उसे चुना होगा क्योंकि उसका पूरा व्यक्तित्व कहीं से इस हावभाव की गवाही नहीं देता कि वह अपनी पहल पर ऐसा काम चुने अपने लिए। जब तक पुरानी चलन में अखबार के एक कोने में उसके लतीफे छपते थे तब तक तो वह किसी तरह लतीफे गढ़ लेता था पर जैसे ही अखबार ने मेकओवर की तरफ कदम बढ़ाया और उसे चरित्र आधारित एक कॉमिक सीरीज लिखने की जिम्मेदारी दी गई, उस शख्स के जीवन में मानसिक तूफान आ गया। उस तूफान की धमक न जाने कहां से उगी और मुझे उस अस्पतालिया सेज से अपनी वेग में उड़ाने लगी।

उस तूफान से मैं पहुंची कहां? सीधे सीधे बचपन के बीचोंबीच। वह रसोईघर था। लकड़ी के जमाने से आगे निकलकर मामला स्टोव, प्रेशर कुकर आदि तक आ गया था।

रसोईघर के एक कोने में जमीन पर रखे स्टोव पर खाना पकता था। दूसरी तरफ की दीवार पर जमीन से लेकर ऊंचाई तक ताखे बने थे, जिन पर चावल दाल आंटा मसाले आदि रहते थे। यह ननिहाल का दृश्य था। उन दिनों हम लोग यानी बहन, मां और मैं उस घर में कुछ स्थायी रूप से रहते थे। पिता बीच बीच में अपने घर यानि हाजीपुर से हमसे मिलने वहां आया करते थे। उन दिनों पिता वहां आए हुए थे और उस सुबह वे वहां से हाजीपुर लौट जाने वाले थे।

सुबह का समय था। उन्हें ट्रेन पकड़नी थी और इधर खाना पकने का काम पूरे शबाब पर था। स्टोव पर प्रेशर कूकर में दाल या ऐसा कुछ, सीटी अब बजी तब बजी के ताव में, चढ़ा था। संयोग कुछ ऐसा बना कि रसोईघर से उसी समय थोड़ी देर के लिए मेरी मां और मौसियां अनुपस्थित हो गईं। लिहाजा हम दोनों बहनों को वह जगह बालि सुग्रीव जैसी उठापटक के लिए मुफीद लगी। हमारी उम्र मिलजुलकर दसेक साल रही होगी। दोनों पक्ष आक्रामक थे और हार मानने या युद्ध को पिता के चले जाने के बाद तक टाल देने के लिए कोई भी तैयार न था। यह भी भय था कि कुकर की सीटी बजने के साथ मां या कोई अन्य लौट आएगा इसलिए हार जीत का फैसला शीघ्र हो जाना बेहतर था। इसी मद्देनजर एक साथ दोनों ही तरफ से एक निर्णायक हमला हुआ और दोनों पक्ष धराशायी हुए। बहन के गिरने से मसालों की साज सज्जा भहराकर गिरी और मेरे गिरने से चूल्हे पर रखा प्रेशर कुकर जमीन पर गिर गया। बीच में कहीं, आधी अधूरी सिसकियों में कुकर की सीटी भी बज गई होगी जरूर। मेरी बाईं बांह, जो पोलियो के टीके या ऐसे ही किसी दाग के लिए आरक्षित मानी जाती थी, एक बर्बर शक्ल के दाग में जल चुकी थी। मुझे उठाते हुए मेरी बहन बेसाख्ता कांप रही थी। उसकी संभावित धुलाई की कल्पना मेरे, उसके—दोनों के वर्तमान पर हर तरह से भारी थी। आपसी सहमति से बगैर किसी ठोस करार के हम तेजी से मसाले वाले डिब्बे और कुकर आदि उठाने में जुट गए। फ्रॉक की झालरवाली तिकोनी बांह से जख्म ढांक दिया गया और तय हुआ कि पिता के जाने तक मुझे सामान्य बने रहना था। हां, उनके चले जाने के बाद मैं जितनी मर्जी चीख पुकारकर रो सकती थी।

पिता घर से निकल चुके थे। पर मुझे सामान्य बने रहने का चस्का लग गया था। उस वक्त मुझे पता नहीं था कि इंसान हो कि आंसू, उपेक्षा सबको हरूस कर जाती है। इसलिए पिता के रेलवे स्टेशन निकल जाने के बाद, गला फाड़कर गर्जन तर्जन करने का सही वक्त आ चुकने पर भी रुलाई आई ही नहीं। लिहाजा जिसे एक भरापूरा प्रसंग होना था वह भुरभुराकर बिखर जाने वाली बात साबित हुई। फ्रॉक की बांह के नीचे से झांकते जख्म को मां ने देखा और फिर मां मौसियों के बीच एक चीख पुकार मची जिसमें मरहम और डॉक्टर की खोज का जलवा ज्यादा था, मैं कहीं पीछे छूट चुकी थी। इस घटना के बाद बहन के हिस्से ताउम्र चलने वाली कुछ शर्मिंदगी आई। मेरे हिस्से में थोड़ी शहादती मौज आई, जिसका उस उम्र में मैं कोई खास महत्व नहीं समझती थी। पर संभवतः वही पहला मौका था जब जीवन में पत्तों की आमद हुई थी। वह कोई भी पत्ता हो सकता था। उस पर लिखे अंक या उभरी आकृति का कोई महत्व नहीं था। बस हौसला उसमें इक्के के आसपास कहीं का था, यह दर्ज हो जाने वाली बात थी। कालांतर में मैं उसे एक कार्ड के रूप में हमेशा अपने साथ रखती और इस मौके की ताक में रहती कि बहन के साथ के विवाद में कब मेरा पाला कमजोर पड़े और मैं उस पत्ते को उछाल सकूं।

बहरहाल, उस पल के वर्तमान में मेरा चित लेटा हुआ शरीर, सर्द वातावरण से इस कदर एकसार हो चुका था कि तब ठंड का कोई असर न हो रहा था। बल्कि उस मुकाम पर

मैं खुद सर्दाने के स्रोत में तबदील हो चुकी थी। अब इस स्ट्रेचर, कमरे और दरअसल कहीं फरवरी के महीने को मुझसे खतरा था। मेरे सामर्थ्य को पैनेपन की इस हद तक खींच देने के बाद अस्पताल हरकत में आया। मुझे लगा कि सामने का दरवाजा कुछ खुला, बंद हुआ और दोनों स्ट्रेचर वाहक, गप्पगोष्ठी को विराम देकर मेरे पास आए। मैंने महसूस किया कि स्ट्रेचर धीमे धीमे कमरे में दाखिल होता गया।

डॉक्टर कोपिक्कर अपने सहयोगियों के साथ कमरे में मौजूद थे। सफेद पोशाक। तसल्लीदायक मुस्कान। वे एक बड़े सर्जन थे। सदाशय भी। बेहोशी की सूई देने के पहले उन्होंने मुझे पूरी प्रक्रिया समझायी। ब्रेस्ट के ऊपरी सिरे की सर्जरी होगी और ट्यूमर को निकाला जाएगा। फिर ऊपरी बांह में एक चीरा लगाकर यह देखा जाएगा कि कैंसर का संक्रमण लिम्फ नोड तक पहुंचा है या नहीं आदि। बस। बस न? बस। मुझसे पूछा गया कि मैं और भी कुछ समझना चाहती हूं क्या? पता नहीं अमूमन ऐसे वक्त मरीज और क्या जानना चाहते होंगे? मेरा मन किया कि उनसे कुछ वैकल्पिक जवाब जोकि दरअसल मेरे लिए वैकल्पिक सवाल होते, का तफसील पूछूं ताकि उनके बीच से अपना सवाल, या अपने लिए सवाल चुन पाती मैं। पर तब डॉक्टर को शक पड़ जाता कि मैं शब्दों से घिरी रहने वाली शख्स थी और उस वक्त भी दरअसल बहुत सारे शब्द ही चाहती थी अपने लिए।

यह सब सोचते हुए मैं इतनी तसल्लीदार लगी कि डॉक्टर को लगा होगा कि मुझे कुछ पूछना नहीं और इसके आसपास ही कहीं मुझे बेहोशी की सूई दे दी गई। पर वह सूई जल्दीबाजी में असर दिखाने के मूड में नहीं थी। डॉक्टर कह रहे थे कि मुझे आंखें मूंदकर सो जाना चाहिए। मैं कहती थी आप काम शुरू कीजिए, मुझे कोई परेशानी नहीं है आदि। न उनकी न मेरी। बीच का रास्ता निकाला गया। बातचीत का। 'हमने बातें करनी शुरू कर दीं' का रंग नहीं था उस बातचीत में। मुझे सिर्फ जवाब देना था। अपने बारे में। अपने काम के बारे में। लेकिन मैं चालाक बन लेने जैसी होशमंद थी। लेखक होने वाली बात का जिक्र तक नहीं आने देती। मैं उन्हें या अपने आप को ऑब्जर्व कर रही, इस बात का जरा भी भान न देना था। तभी मन में एक परख की चाह उठी थी। होश गवांकर भी चालाक बने रहा जा सकता था क्या! सनद रहे सूई के प्रभाव से नहीं, बल्कि यही सब जांचने के लिए ही संभवतः, मैं तत्काल होश गंवाने की राह पर निकल पड़ी थी।

घाव जल्दी भरने लगा था। पहले मुझे बताया गया था कि ऑपरेशन के बाद मामला निबट जाएगा। बताया नहीं गया था, मैंने मन ही मन खुद मान लिया था ऐसा। लेकिन आगे क्या इलाज होगा वह सब एक टेस्ट पर निर्भर था। उसे फिश टेस्ट कहते थे और उसकी रिपोर्ट आने में कुछ वक्त लगने वाला था.। यह नाम मुझे बहुत हिलामिला सा लगा। मेरे गांव वाले घर के भूगोल में बसे पोखर का नाम यूं ही लाल पोखर थोड़े न रहा होगा। कुछ तो परीक्षा ली गई होगी मछलियों की उस जल मैदान में। इस तरह लाल लाल छपाक में या तो वे मारी गई होंगी या इस लाल सतह से उपजे दृष्टिभ्रम का फायदा उठाकर भीतर भीतर गुलाटी मार कर जीवित निकल गई होंगी।

खैर, देरसबेर फिश टेस्ट पाजिटिव आ गई। फिश टेस्ट का पॉजिटिव आना अच्छा लक्षण नहीं था। मछली फंस चुकी थी। जाल की नस्ल की थाह लेने के लिए वक्त ही वक्त था। तो सर्जरी से ठीक होने वाली बात अब कीमो, रेडिएशन, हरसेप्टिन आदि के संपूर्ण तामझाम में फंस गई थी।

कीमो शुरू हो चुका था। हर हफ्ते बुधवार। बारह हफ्ते चलने वाली प्रक्रिया थी। उसके पहले मेरी काउंसिलिंग की जानी थी। पर दर्द आदि के लिए मैं हमेशा से तैयार जीव थी। इसलिए सीधे सीधे मैदान में उतर जाना था। कलाई की नसों में स्लाइन लगती और बूंद बूंद की चाल में छह बोतल दवा पानी को शरीर में प्रवेश मिल जाता। बस चंद सेकेंड भर की तकलीफ थी। जैसे ही कलाई और सुई की नोंक एकसार होती उसके बाद सब कुछ आसान हो जाता। आगे दाहिने हाथ के अस्तित्व को भूलकर आसानी से छह साढ़े छह घंटे लांघ लिए जा सकते थे। वह ऑर्किडस नाम के एक कैंसर सेंटर का डे केयर कमरा था। गुलाबी रंग की दीवारों वाला कमरा। लगभग सारे मरीज ब्रेस्ट कैंसर वाले। डॉक्टर कोप्पिकर और डॉक्टर देशमुख की देखरेख में सारी प्रक्रिया चलती। वहां के स्टाफ के लोग बेहद चुस्त दुरुस्त और सबका ख्याल रखने वाले थे। मुझे अगल बगल के बेड वाली स्त्रियों ने बता दिया कि मेरी असली तकलीफ कीमो के अगले दिन शुरू होने वाली थी। साथ में मेरी मां थी। मेरे रिक्लाइनर चेयर के बगल में उनके बैठने की जगह थी। वे सह स्त्रियों की बातें सुनकर चिंतित होती थीं, फिर अगले पल मेरे शांत खुश चेहरे को देखते सुकून में आ जाती थीं। सचाई यह थी कि वे मेरा आईना बन जाने की मुस्तैद कोशिश में थीं। मैं मुस्करा मुस्करा कर उनके वैसा बन जाने की हद मापना चाहती थी। क्या मुझे कोई आभास था कि अगले ही कुछ पलों में मेरे भीतर किसी की सुकूनपरस्त आत्मा समा जाने वाली थी!

जॉर्ज पर डे केयर की देखरेख की जिम्मेदारी थी। उसके अनुसार मुझे सोने की कोशिश करनी चाहिए थी। मैंने आंखें मूंदीं तो जाने कहां से दरभंगा महाराज की एक मनगढ़ छवि सामने आ गई। कौन थे ये महाराज और इनके उस वक्त वहां आने का क्या प्रयोजन था? जो नाम चेतन अचेतन में कभी पास न फटका, वह कैसे सामने आ गया अकस्मात! उनका उस जगह क्या काम था? मैंने हड़बड़ाकर आंखें खोलीं पर फिर लगा कि उनके होने का प्रयोजन आंखें खोलकर न बूझा जा सकता था। लिहाजा फिर से आंखें बंद हुईं।

उस इलाके में मेरी मां की ननिहाल थी और उनके किस्से मां को उनकी मां सुनाती थी। किस्सों वाले दरभंगा महाराज बड़े उदार थे। बला के संतोषी। प्रजा के सात खून माफ कर देने जैसा मामला था। वैसे प्रजा सीधे सीधे खून ही कर आए वह भी सात आठ, ऐसे भी हालात न थे। प्रजा हल्की फुल्की चोरी कर लेने भर चालाक थी और वे सबका कर्जा माफ करने जितने दिलदार थे। उनके यहां का सोना साल में एक बार सूखने के लिए रखा जाता था। हर एक स्वर्ग आभूषण को उलट पुलटकर सुखाया जाता था। प्रजा एक समूह थी। भीड़। जहां निन्यानवे लोग भले हों और एक ही चोर, वहां भी सोना के सुखाए जाने और खुले में सुखाए जाने से माहौल खराब हो सकता था। पर यहां तो राजा ने खूनियों को माफ करने वाली दयालुता की दिलेरी के साथ, उदारता के बैरियर को काफी ऊंचा उठा दिया था। इसलिए प्रजा ज्यादा मात्रा में चोर बन जाने को ललच गई होगी। बहरहाल, हर साल उनके सूखते सोने में खुलकर सेंध लगाई जाती। बेशुमार चोरी हुआ करती हर बरस। आभूषण सारे, सुबह धूप में रखे जाने के पहले तौले जाते। फिर शाम में तिजोरी में वापस जाने के पहले तौल लिया जाता। जाहिर है दूसरी तौल के सोने का वजन काफी कम निकलता। महाराज के पास जैसे ही यह बात जाती वे अपनी प्रजा की हथलपकी को अपने दुशाले से ढांक लेते। महाराज का कहना होता कि गर्मी की आंच पाकर चीजें सूखकर सिकुड़ती ही हैं। जब गहने सुखाए गए हैं तब तो वे हल्के होंगे ही। लेकिन इस कहानी में कितना भी दम हो और कितने भी जोर से याद आएं दरभंगा महाराज, मैं उनकी मुस्कान का अक्स अपने चेहरे पर नहीं देखना चाहती। वैसी

मूर्खता की सरहद में पसरी दयालुता की मुझे क्या दरकार थी! किसकी सुराखों को ढंकना था मुझे? और क्या जिसे ढंकना था वह चीज उघड़ी हुई थी पहले से या अभी उसका उघड़ा जाना तक बाकी था और मैं उघड़ने के पहले ही उसे ढंकने के लिए प्रस्तुत थी!

यही था मन और उसकी सुपरसोनिक गति। जिस नानी को कभी न देखा न सुना, मां से उनका सुनाया यह किस्सा भी कच्चे कान भर कम ही सुना, फिर उनकी स्मृति यहां क्यों! मैं आंखें खोलकर मां से पूछना चाहती थी कि क्या हर साल दरभंगा महाराज सोना सुखवाते थे और हर साल आखिर में वैसे ही मुस्कराते थे या वह इकलौता कोई वाकया था? पर मां की आंख लग गई थी। पीछे अपनी सीट की टेक से माथा टिकाए और कुछ कुछ मुंह अलगाए सो चुकी थीं वे। यह भी है कि वे जगी होतीं तब भी मैं ये सवाल पूछती नहीं। मां वाकई थकी थीं।

उस दिन वापस लौटते हुए ऐसा लगा मानों शरीर के भीतर, खासकर पैरों में पानी की बहुत सी थैलियां बंधी थीं। कोरा भ्रम ही रहा होगा सब। लेकिन रात में सोने का अध्याय शुरू करते ही पानी की उपस्थिति बहुत खुलकर प्रकट होने लग गई और मैं करवट इस सहूलियत से बदलने लगी कि पैर से बंधी पोटली से उछाल मारकर पानी, बिछौने पर छलक न आए। पर पानी वाला यह सब भ्रम इसलिए तो नहीं रच रहा था कि कुछ वक्त बीते मैंने खुद को फंस चुकी मछली मान लिया था। कहीं मेरे जीते जाने को आसान बनाने के लिए ही पानी खुद बढ़कर करीब तो नहीं आ गया था। थोड़ा वक्त बीतने पर यह साफ हो गया कि थैलियां बंधे पैरों से छलांग मारकर रात को लांघने का अभ्यास करते हुए उस रात को काटते जाना था। इसी एहसास के करीब एक ही दिन में लगभग दूसरी दफे, नानी मेरे जेहन में सेंध लगाने लगीं। वजह थी उनके इस तरह दाखिले की। मां बताती थीं कि उनके पेट में भी बहुत सा पानी भर गया था आखिरी वक्त में और रात काटने में उन्हें बहुत मुश्किल पेश आती थी। ठीक उसी वक्त रात के अंधेरे में एक बिल्कुल ही भूली हुई बात झक्क से रोशन हो गई। उनकी मौत कैंसर से हुई थी! यह भी कोई भूलने वाली बात थी! पर स्मृति ने उसका कोई रेफरेंस न रखा था सच में। उनकी मौत की वजह ने नहीं पर अपनी स्मृति के दोगलेपन ने जरूर मुझे पसीने से बोथा दिया। और दोपहर में दरभंगा महाराज आदि के स्मरण वाले प्रसंग के वक्त वे मुझे इशारा कर रही थीं कि मैं यह भूली बात याद कर उनसे अपनी साम्यता को कुछ पहचान ही लूं और मैं सोना तौलने में उलझकर रह गई! हद थी।

यह बात और थी कि नानी, मां की शादी के पहले ही गुजर चुकी थीं और मेरे जीवन पर उनकी फर्स्ट हैंड स्मृतियों की कोई छाया न थी। पर यह भी तो था कि उनकी मौत वाली शाम को मां की बार बार की तफसीलों ने हमारी सबसे जीवित स्मृतियों में शुमार कर दिया था। फिर मुझे दिन में ही सब क्यों न याद आया? फरवरी का महीना, शिवरात्रि की रात, बहुत सी बारिश, तेज हवाएं, दरभंगा मेडिकल कॉलेज का अस्पताल। मेरी मां तब दो चोटियां ही बनाती रही होंगी। नानी महीनों से वहां भर्ती थीं। डॉक्टर जवाब दे चुके थे, पर घरवाले चाहते थे कि जब तक ऊपरवाला परीक्षक समय के खतम हो जाने का हवाला देकर उत्तरपुस्तिका न छीन ले, तब तक कुछ न कुछ लिखते ही जाना था। हालांकि सब समझ भी रहे थे खूब कि अब नानी के पास वक्त बहुत कम था। नानी आंखें खोलकर बीच बीच में सबको देख ले रही थीं। बेटियां सब थीं आसपास ही, लेकिन वे—बहुत संस्कारी नानी—कुछ खोजती ही जा रही थीं। नानी की शिष्या, दोस्त, घर की बड़ी बेटी—कुछ और ज्यादा संस्कारी मेरी मां—समझ गईं। वे उसी कमरे में खिड़की से लगकर खड़े शिला से बने अपने पिता के पास गईं और कह उठीं—बाबूजी चलअ न।

उनके पिता ऐन वक्त पर सबसे ज्यादा संस्कारी साबित हो गए। उन्हें जीवन भर की कसक मंजूर थी, पर अपनी बेटियों के सामने मरती हुई पत्नी से मिलना और बिखरकर एकमेव हो जाना मंजूर नहीं था। मां भाग भागकर कभी नानी के पास जातीं कभी खिड़की से लगे बाबूजी के पास जाती रहीं। एक वक्त आया जब चारों बेटियों के क्रंदन की गुंथी हुई लड़ियां कमरे में बिखर गईं। नाना खिड़की से ही लगे रहे। मां इतना भर बताती थीं। इसके आगे उनसे बताया नहीं जाता। पर उससे क्या। मैं अभी देख पा रही हूं कि नानी ने जाने के लिए खिड़की का रास्ता चुना था! नाना यह जानते थे और पिछले दृश्य में दर्ज होने से रह गया उन दोनों का मिलना मिलाना वहीं, खिड़की के उन्हीं दो खुले पल्लों के मध्य, संपन्न हुआ होगा।

मुझे लगा मेरी सांसें अटक गईं। नाना, नानी जहां मिले होंगे आखिरी बार वहीं। उसी मोड़ पर। मेरे उस वर्तमान में भी फरवरी के महीने का कैलंडर बस बदला ही जाना था। नानी भी उसी महीने में गई थीं। खिड़की के रास्ते। उनके हिस्से का सारा पानी खुद में समाए अपने हिस्से की फरवरी से अपनी खिड़की से मैं उन्हें आवाज देकर रोक लेना चाहने लगी। पर मेरी आवाज बाहर की तरफ निकलने की बजाए भीतर भीतर भीतर, बहुत भीतर तक ही घुमड़ती जा रही थी।

पर मैं कितना भी कपस कर रो लूं वे रुकने वाली नहीं थीं। नानी चली गई थीं। मेरी फरवरी से। और अपनी फरवरी से भी। जाने कैसे उनकी बीमारी से जुड़ी बातें मेरी स्मृति से बिल्कुल धुलपुंछ गई थीं। शायद इसलिए कि मेरा मानना था कि पिछले जमाने में सघन बीमारी से जो भी मरता, उसे कैंसर या हार्ट अटैक के खाने में रखकर पूर्णविराम लगा लेने की रवायत थी। इसलिए जेहन में उनकी मृत्यु और बीमारी की तफसील तो दर्ज रही, पर बीमारी का नाम भूल गई। और तो और मैं सारे डाक्टरी मोर्चे पर 'कोई फैमिली हिस्ट्री नहीं' का सत्यापन भी देती आई थी। उस वक्त भी कभी जुबान न लड़खड़ाई। याद ही न था तो जुबान क्या घबराती। मैं अपनी इस बीमारी को मौलिक उपज मानती आ रही थी, जिसे प्लास्टिक के बॉटल में गरम पानी पी पीकर मैंने बड़ी मूर्खता से अर्जित किया था।

मौसम चाहे कोई भी हो, गरम पानी के प्रति शुरू से मेरी दीवानगी रही है। और कि भूल चूक अगर सर्दी का मौसम हो तो हसरतों को पंख लग जाते। पानी ऐसे तबीयत से गरम हो कि गले के ऊपर बॉटल सटा लूं तो भीतरी तहों तक सिंकाई भी हो जाए। यह सब चतुराई मैं दफ्तर में दिखलाती थी पर मां को इसका कुछ आभास रहा होगा। तभी बिना किसी प्रसंग के महीने भर पहले ही उन्होंने अखबार के स्वास्थ्य वाले कॉलम में प्लास्टिक और कैंसर के संबंध पर छपी किसी खबर का उच्च स्वर में पाठ किया था। जाहिर है यह सब मुझे ही सुनाने के प्रयोजन से था। उनकी बात लगभग सही निशाने पर लगी भी थी और मैंने महसूस किया कि जो करती आई थी वह सब करना बहुत जाहिली का काम था और तत्काल मैंने निर्णय किया कि इस बार का जाड़ा समाप्त होते ही यह सब छोड़ देना था। ठंड महीने भर की मेहमान थी। तो इस जाड़े में जैसे जो चल रहा उसे वैसे ही चलना था और अगले जाड़े से प्लास्टिक का त्यागकर स्टील की बॉटल को अपना लेना तय हुआ। पर अपनी चालाकी कभी कभी नाकाफी साबित हो जाती है। तो इतनी प्रतिभा से पाई चीज का श्रेय फैमिली हिस्ट्री आदि को क्यों दिया जाता भला! इसलिए अगर नानी वाली बात याद भी रहती तो शायद मैं जवाब वही देती।

पर उन बातों का तब कोई मतलब न था। उस वक्त का सबसे बड़ा सवाल नींद था, जिसका जवाब बार बार करवट बदलने पर भी न मिल रहा था। नींद कहीं दूर थी, बहुत दूर।

पर नींद से भी ज्यादा दूर देश की बातें याद आ रही थीं, पर यह भी था कि पड़ोस अतीत की एक बात से मैं नजरें चुरा रही थी। मुझे बीमारी की बात पर शोक बनाने का कोई वक्त नहीं मिला था। खबर कन्फर्म होने के तुरत बाद मैं हरकत में आ गई थी। पटना से पुणे की ताबड़तोड़ भागाभागी के बीच बस बमुश्किल पांचेक सेकेंड का वक्त मिला था।

बीमारी की बात कन्फर्म होने के समय मैं पटना में थी। गहरी शाम का समय था जब यह बात पता चली। उन दिनों पिता मेरे साथ थे। मां और बहन पुणे में थीं। सूचना की जानकारी बस हम दोनों बहनों को थी। रात भर में हमने तय किया कि इलाज पुणे में हो। अगली सुबह पिता के साथ मैं पुणे की यात्रा में थी। मेरे बगल की सीट पर पिता थे। इन बातों से बिल्कुल बेखबर। मैं सामान्य बनी हुई थी और दूसरी बातों में मन को उलझाने का प्रयास कर रही थी। मेरा माथा सीट की खिड़की से टिका था। आंखें बंद थीं। दिमाग भी बंद ही था। अचानक पिता ने कुछ कहा और उसके बाद जो मेरी आंखें खुलीं तो उनमें आंखों की माप भर का एक आंसू था। मैं सोच भी नहीं सकती थी कि मैं रोऊंगी। आंसू से तो हरगिज नहीं। लेकिन वही हुआ था। मैंने पिता की बात का जवाब न दिया क्योंकि क्या पता मुंह खोलती तो आवाज भी कोई नया रहस्य प्रकट कर देती मेरे आगे। दुबारे आंखें मूंद लीं मैंने क्योंकि आंसू जिस रास्ते आया था वहीं से उसे पीछे दफन कर देना था। मैं नहीं चाहती थी कि उसे गाल के रास्ते पूरा चेहरा लांघकर टपक जाने का चस्का लगे। पर आंखें बंद करते ही मैं बहुत दयनीय ढंग से कातर हो गई। लगा जैसे किसी ने भीतर से सवाल किया कि मुझे क्या चाहिए?

सवाल पूछा गया यह एक दुबला पतला कयास ही था पर मेरा अंतस इस उल्लास से जवाब देने दौड़ा कि लगा मानों आखिरी इच्छा पूछी गई हो। 'बस उपन्यास पूरा हो जाए, उतने वक्त जी लूं...'—यह महावाक्य भीतर उपजा और उसी वक्त तिरोहित होकर मेरी आत्मा पर राख की हैसियत से बिखर गया। अब जब तक रहना है अपनी कातरता के इसी राख के बोझ तले रहना था। खैर, जहाज लैंड कर चुका था। अब आंखें खोलकर बहुत सी ठोस चीजों का सामना करने का समय आ चुका था। मां पिता के सामने सच का आना और इलाज की प्रक्रिया का शुरू होना। मैंने मोबाइल ऑन किया। नोटिफिकेशन में दिखा कि उस रोज वर्ल्ड कैंसर डे था। चार फरवरी। दिलचस्प संयोग मेरे जीवन का अभिन्न हिस्सा था वाकई। और इन सब से बढ़कर और इतना बढ़कर कि एक बस वही सच की हैसियत का विचार सामने था—फिर से एक बार कद्दावर पत्ते का जुगाड़ हुआ था। इतना जीवन जी लेने के बाद मैं हुकुम देश के पत्तों का एक छोटा मोटा संग्रहालय बन पाने लायक समृद्ध तो हो ही चुकी थी। मैं होशमंद थी आरंभ से ही कि नियति चटक लाल पत्तों के साथ खेल रही थी। इस तरह देखा जाए तो स्याह पत्ते चुनना कुछ पसंद की भी बात थी और ज्यादा खेल के नियम की भी।

बहरहाल, उस समय मुद्दा यह था कि अब जबकि ऑपरेशन हो चुका और घाव भी भर गया और कीमो भी शुरू हो चुका था, वक्त आ गया था कि जाने अनजाने जैसे ही सही, उपन्यास के प्रति जो लगाव दिखाया था खुद के आगे, उसकी कौल निभाई जाए। लिखने की प्रतिज्ञा से मैं खूब दम से भागती आई हूं। जाहिर है विपरीत दिशा में। जब तक टाला जा सके वाली बात थी। बहरहाल तब तक पैरों में बंधी प्रतीत होने वाली थैलियां, अपने भीतर का पानी लिए दिए पूरे शरीर से लिपट गईं।

जब नींद न आ रही थी तो कम से कम उपन्यास की बाबत ही कुछ सोच लेना उचित था। लेकिन मन को सुदूर अतीत में आवाजाही का चस्का लग गया था यह एक बात थी और दूसरी एक और बात यह थी कि मैं बीमारी, मृत्यु और भय से इतर कुछ ठोस सोचना चाहती

थी। इसलिए मैं बिहारी टोन में मोक्ष के बारे में सोचने लगी। ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षा, बिहार बोर्ड में कॉलेज की पहली सीढ़ी हुआ करती थी। पटना के मगध महिला कॉलेज में मेरा दाखिला हो चुका था। लेकिन यह था जरूर कि उसे चुने जाने की वजह कहीं से भी उसके साथ जुड़ा जेंडर बोधक सरनेम न था। कॉलेज परिसर में हॉस्टल की सुविधा और विज्ञान विषयों की अच्छी पढ़ाई ही चयन का आधार थी। क्लास शुरू हो जाने और हॉस्टल मिलने के बीच समय का थोड़ा गैप रहा। मेरा घर पटना से लगे हुए छोटे से शहर हाजीपुर में था इसलिए उस बीच के समय में मैं रोज बस से पटना आना जाना करती रही।

मोक्ष का एक द्वार पूर्वांचल के कस्बाई शहरों की बस यात्राओं से होकर भी गुजरता होगा जरूर। महिलाओं के लिए आगे की दो चार बर्थ आरक्षित होती थी। कभी कभी विभाजन के पार की सरहद वाली सीट पर पहले से बैठा व्यक्ति भी उठकर महिलाओं को जगह दे देता। पर भ्रम में पड़ना मना है। सम्मान की सरहद यहीं तक थी, बस। इसके आगे खुला खेल था। एक बार आपने बस में जगह पा ली और अगर कि चेतना है कुछ भीतर, तो आगे फिर आपके लिए ज्यादा विकल्प न था। खुद को बुद्ध बनाइए या कान के भीतर एक कपाट उगाइए या नाक की सीध में आंखों को कहीं जमा कर पलकें न गिराने वाली जुगत का रियाज कीजिए। कुछ भी लेकिन कीजिए जरूर। वजह कि महत्तम वॉल्यूम में जो संगीत आगे बजने वाला था उसके लफ्ज आपके कपड़ों के अस्तित्व को मटियामेट कर देंगे। भोजपुरी हो कि हिंदी, शरीर की हदों का चिंदी चिंदी विश्लेषण सुनते हुए एक जन समुदाय काठ मार जाने की कला को मांजता आसानी से महात्मा गांधी सेतु की विशालता माप लिया करता था।

इस तरह के कठिन रियाज के बीच सधी परवरिश हुई थी मेरी। कान को सुनना छोड़वा देना था। सिर को झुकना छोड़वा देना था। खाल को किसी उलटी पुलटी छुवन से सकुचाना छोड़वा देना था। शर्म या क्रोध का किसी खास अंग में वास नहीं हुआ करता होगा। पर जहां भी हों वे, उन्हें भी अपनी दिशा मोड़ लेने का आदेश था। ऐसे कालजयी और समाजजयी पथ पर अकेली यात्रा तो सह्य थी। पर जिस दिन पिता साथ होते उस रोज यह सब रियाज उयाज कुछ भी काम नहीं आता। मन में विचार जागता कि अगर पैसे होते और ताबड़तोड़ अगली चप्पलादि खरीदी जा सकती, तो वहीं के वहीं एक एक संगीत सुधि का हिसाब किताब कर देती।

मुझे आरंभिक बचपन से वीर रस से बड़ा लगाव था। जब मैं एबीसीडी का ज्ञान पाने स्कूल जाती थी तब हम दोनों बहनों को साथ साथ स्कूल से पैदल लाने ले जाने का भार पड़ोस की एक दीदी पर था। ये वही ननिहाल वाले दिन थे। उनका घर मेरे घर से लगा ही था और वे भी उसी विद्यालय में दसवीं की छात्रा थीं। दो लंबी लंबी चोटियों और सौम्य हाव भाव वाली गुड़िया दीदी। रास्ते भर मेरी बहन और वे घुनूर घुनूर बतियाती चलतीं। मुझे उन दोनों की बातें कुछ समझ न आतीं और यह भी होता कि मैं उनसे कभी आगे या पीछे छूट जाती। पर मैं भर दम से चेष्टा करती कि उनकी बातें भंडूल की जाएं। इसलिए रोज नई नई खुराफत सोचनी होती। गुड़िया दीदी आजिज आ जातीं और लौटने पर रुआंसी होकर मेरी मां से बतातीं कि उन्हें मेरा अभिभावक बनकर चलने में बहुत डर लगता था। डर? सनद रहे उन दिनों मुझमें एक स्वस्थ थप्पड़ चलाने की भी प्रतिभा न थी। वे मां से बतातीं कि जब समूह तेज चलता और मेरे नन्हें डग पिछड़ने लगते, तब मैं सबको डांटती कि किसी को घरवाले की परवाह नहीं, ऐसे तेज भागने से मुंह हाथ फूट गया तो? फिर जब सब धीरे चलने लगते तो मैं ही उकताकर कहती मां इंतजार कर रही होगी किसी को होश ही नहीं। यानी यह सिद्ध बात थी मेरे बालपन के उन दिनों में भी कि भय का बल से कोई संबंध नहीं था। बस इंसान

में किसी से भी भिड़कर चूर हो जाने की बुलंदी होनी चाहिए।

पर अब तो बचपन बीत चुका था। अब दूसरों को डराने से क्या। अब अपने डरों से बात करनी थी। ऐसा नहीं था कि कोई छुईमुई परवरिश थी हमारी कि बस वाले अश्लील गानों से शुचिता भंग हो जाती कानों की। जिस घर से निकलकर बस पकड़ना था, वही घर तो दरअसल एक खुला हुआ चौक था। घर की दीवारें मोटी थीं पर कान ऐसे कच्चे कि सटे पड़ोस में बसने वाले पट्टीदारों के घर की आवाजें बुलंदी से प्रवेश पा जाती थीं। हमें अंदेशा था कि दीवारों के कान दुतरफा कच्चा थे और हमारी तरफ की बातें भी उधर जाती रही होंगी। इसलिए हमने एक कदम आगे बढ़कर फुसफुसाहट से दोस्ती कर ली थी। लिहाजा हमारी तरफ के मौन में पड़ोस की आवाजें ज्यादा खुलकर निखरती थीं। क्या संयोग था। जैसे ही हम लोग किताबें निकालते थे उस पार से सर्वश्रेष्ठ आवाज में रेडियो या टेपरिकॉर्डर की आवाज आने लगती। कितने भी दबे पैर पढ़ाई शुरू की जाए सरहद पार वालों को खबर लग ही जाती। वैसे हम भी कोई जनेऊधारी पढ़ाकू नहीं थे। हम भी भटक जाने के लिए बहाने की तलाश में ही रहते पर चूंकि गाने बेहद कर्कश और फूहड़ होते, इसलिए किताब के प्रति अतिरिक्त समर्पण ही मुक्ति की तरफ जाता रास्ता बन जाता। फिर पता ही नहीं चला कि कब इन सब ने एकाग्र हो पाने की आवश्यक शर्त के रूप में दाखिला ले लिया।

आगे ये होने लगा कि जिस रोज हम शून्य से भी नीचे—माइनस स्तर वाली—खामोशी अख्तियार कर अध्ययन के दुर्ग में दाखिल होकर पढ़ने बैठते और किताब के दो तीन पन्ने पलट लेने के बाद तक उस पार से गाने की आवाज नहीं आती, उस दिन हमारे मन में एक किस्म की बेचैनी सुगबुगाने लगती। फिर क्या हो! उस तरफ वालों को खबर लगने दिये बगैर पढ़ाई शुरू कर लेने का दुर्ग तो हम जीत ही चुके होते। असल मुद्दा तो यही था। अब गाना शुरू भी हो जाए तो हर्ज नहीं। इसलिए हम अपनी आवाज को उचकाकर क्लू के एकाध सूत्र सरहद पार तक उछालना चाहते। उधर वाला पक्ष उत्साही और कर्तव्यपरायण था वाकई में। कभी कभी प्रतिपक्षी की चाल को सूंघने में भूल चूक तो किसी से भी हो सकती है। इसका यह मतलब नहीं कि वे कोई चूके हुए लोग घोषित कर दिए जाएं। बहरहाल हमारे पन्नों के पलटने की आवाज जैसे ही सरहद लांघती, उस पार की संगीत व्यवस्था चैतन्य हो जाती और इस पार हम झुंझलाते हुए पढ़ने में मन लगाने लगते। जब साक्षात घर ही ऐसा था तब बस के संगीत पर वैसी हाय तौबा मचाना क्या जायज था? उस सवाल के हल तक जाने के पहले एक और प्रसंग याद आ गया।

इस तरह से तेज बेमतलब और कर्कश संगीत मेरे जीवन के लिए तेजी से खुद को कैटलिस्ट ही बनाता चला जा रहा था। कॉलेज की कोई परीक्षा चल रही थी और मैं बड़े बेमन से किताब पकड़कर बैठी थी। यह वाकया कॉलेज के हॉस्टल का था। सामने किताब के पन्नों पर जो चीज पसरकर खुली थी उसे साल भर नहीं देखा था। उस दिन भी न पढ़ने के संकल्प के साथ ही वह सामने खुला था। बस नजरें फिराकर परीक्षा के पहले के बचे रह गए आखिरी लम्हों को सद्गति देने की नीयत थी। हालांकि यह भी था कि सामने वाली उस चीज में अचानक से परीक्षा का संभावित प्रश्न बन जाने की योग्यता दिखने लग गई, पर मन एकदम से 'अब बिल्कुल भी नहीं पढ़ना' वाले ध्रुव पर जा बैठा था। उसी वक्त नेपथ्य से तेज शोर में बेढंगा गाना बजने लगा। हॉस्टल के सामने की सड़क पर रिक्शे पर माइक आदि बांधकर किसी समकालीन सिनेमा का प्रचार किया जा रहा था और ऐन हॉस्टल के अगल बगल रिक्शा लगाकर, चालक कहीं चला गया था संभवतः। मैं कुढ़ती रही। उस संगीत पर

या परीक्षा के इन आखिरी लम्हों पर, जिनमें झूठमूठ किताब देखते जाने वाली औपचारिकता की रवायत थी।

बहरहाल, अगले दिन मेरे पैर के नीचे वाली जमीन खिसकने के लिए बोरिया बिस्तर समेटने लगी, जब मैंने देखा कि वही सवाल मोटे मोटे लफ्जों में प्रश्नपत्र में दर्ज था। दिक्कत यह भी थी कि इस सवाल पर शुरू में ही नजर चली गई और इसके लिए तयशुदा अंक भी बहुत ज्यादा थे। लिहाजा पूरे प्रश्नपत्र को सुलझाते हुए वही सवाल दिमाग में अटका रहा। खैर जैसे तैसे सबको सलटाकर मैं उस सवाल को कातरता से देखने लगी। लेकिन कैसी भी कातरता से देखा जाए, एक बार प्रश्नपत्र में जगह बना चुका सवाल अदृश्य तो न हो पाने वाला था कभी। तभी जाने क्या सूझा और मैंने आंखें बंद कीं और उस गाने, बल्कि उस दृश्य को बूंद दर बूंद मन ही मन याद किया...उमस भरी दोपहरी है, नींद आ रही पर परीक्षा का लिहाज कर किताब थामे बैठी हूं मैं, पन्ना बेमतलब पलटा जा रहा है। तभी शोर की शक्ल में वह लफंगा गीत बजता है और बजता ही चला जाता है...। कमाल—यहीं कहीं छिपा बैठा था। जैसे ही मैंने अतीत के उस टुकड़े को जीना शुरू किया, एक पर्दा सा हटा और उसके पीछे से एक दिन पहले वाले पन्ने पर के सारे अक्षर सही सही अर्थ समेत सामने आ गए। मैं धड़ाधड़ जवाब लिखने लगी। उस रोज यह स्पष्ट हुआ कि आंखें, बिना दिमाग को साथ लिए भी पढ़ती हैं कभी कभी और वह सब देर तक याद भी रह जाता है बशर्ते कि पृष्ठभूमि कद्दावर हो।

बहरहाल, घर या कमरे के एकांत में उस तेज बाजारू संगीत का अपने पक्ष में जैसा भी अनुवाद क्यों न किया जाए, सार्वजनिक जगहों पर वह पिघले हुए शीशे जैसा ही आक्रामक था। यह बात और है कि रियाज से किसे न साधा जा सकता है भला! तो इस तरह से बस के संगीतमय माहौल में सोने को तपाकर कुंदन बनाने की ऐसी घनघोर प्रतिभा थी कि ईमानदार कोशिशों के साथ अगर उस प्रक्रिया से गुजर लिया जाए तो आगे ऑटो या राह चलते की छेड़छाड़ बचकाना प्रयास मालूम पड़ती थी। लब्बोलुआब यह कि भाईदूज की बजरी खाकर नहीं, बल्कि आसपास बिखरे लाल कोयलों पर नंगे तलुवों से चलते हुए बज्जर बनना था। लेकिन कहां सोचा था कि शरीर के प्रति निस्संगता का यह पाठ आगे चलकर कभी नाकाफी साबित होने वाला था।

कीमो वाली वह पहली रात बगैर नींद के कट गई। अगले दिन शरीर में बहुत भयानक उथलपुथल मची थी। अजीब सी बेचैनी घुली थी चारों तरफ। बैठती तो अपने पैरों का भार असह्य लगने लगा। लेटती तो सिर से पैर तक पसीने से नहा जाता और बहुत उबकाई आती। सुबह से लेकर दोपहर तक न जाने कितनी दफा मैं छोटी छोटी नींदें सो चुकी थी। जब चैतन्य होती तो मां परेशान सी आसपास मंडराती मिलतीं। मैं झेंपकर उठती और फिर सोफा, बेड या कुर्सी जहां भी जाकर बैठती वहीं कुछ वक्त बेचैनी में गुजारती और न जाने कब दुबारे सो जाती। ढलती दोपहर का समय था। उसी क्रम को दुहराते हुए मेरी आंखें खुलीं और मां ने पिछली बार की तरह पूछा कि मैं तब कैसा महसूस कर रही थी? घुटने से नीचे मेरी टांगें दर्द से फटी जा रही थीं। मैंने अपने खजाने में उंगलियां फिराईं, कुछ भी, कोई पत्ता भी हाथ लगे। पर जीवन ऐसा भी चौबीस कैरेट खेल नहीं होता, जहां एक दांव के सामने दूसरा कुछ मुकाबले में हाजिर हो ही जाए। कभी कभी सामने वाले के पैंतरे को अपने वजूद पर महसूस करते हुए खुद को जाया होते देखना भी जरूरी ही था। पर मैं लत में थी। मेरे हाथ कुछ लग ही गया। मैं एकबारगी कौंध में चमकी और मैंने जवाब में सब कुछ ठीक होने की बात कबूल कर ली।

मैं उठी, चेहरा धोया और दो तीन कोरे पन्ने उठाकर डाइनिंग टेबल की कुर्सी पर बैठ गई। उपन्यास के पंद्रह बीस पन्ने बीमारी वाले प्रकरण के पहले लिखे जा चुके थे। गनीमत थी कि पहले के लिखे की सॉफ्टकॉपी मेल में मौजूद थी। तो अब छूटे सिरे को थामने के सिवा कोई विकल्प था ही नहीं। आगे, लगभग मजबूरी में जबरन शुरू किए गए इस काम ने धीमे धीमे ही सही पर कुछ रंग पकड़ लिया। जिस तीव्रता से शरीर के भीतर तकलीफ बढ़ रही थी उसी रफ्तार से उन सबका अनुवाद उपन्यास के कथानक में कर देने की तड़प भी बढ़ने लगी। मन अब उस फांस में उलझ गया था जहां उपन्यास का छूटा सिरा मिल नहीं रहा था। जो थोड़ा बहुत सिरा हाथ आ रहा था उसमें आगे ले जाने का माद्दा नहीं था। इसलिए दिमाग बुरी तरह उलझ चुका था। जाहिर है, वही जाल उस वक्त मेरे लिए सबसे सुरक्षित और सुकूनवाला पता था और मैं उसमें अपनी पहल पर कैद हो जाने के मौके खोजती रहती।

बुधवार का दिन कीमो के लिए मुकर्रर हुआ था। एक रोज पहले खून की बहुआयामी जांच करवानी होती थी। सारे मानकों पर खरा उतरने के बाद ही अगले रोज कीमो संभव हो पाता। यह एक बड़ी चुनौती थी क्योंकि दवाओं का असर इस रास्ते में रुकावट बनकर खड़ा था ही। दूसरी बात कि शरीर की सामान्य गतिविधियां भी प्रभावित हो रही थीं। स्वाद लगभग चला गया था और पाचनतंत्र सुस्त पड़ गया था। लिहाजा तरल भोजन ही विकल्प था। चलते हुए या लेटे हुए होने पर मैं सहज महसूस करती। बैठने पर जाने क्यूं बहुत अस्वाभाविक सा महसूस होता। इस दौरान मैंने लेटकर लिखने का अभ्यास किया। भांति भांति से, जिसमें करवट लिए होने के प्रचलित तरीके के अलावा चित्त लेटकर कागज को पेट पर रख लिखने का अभ्यास भी शामिल था। बहरहाल, अपनी गाड़ी चल निकली। उपन्यास की धीमी ही सही पर अनुशासित गति आरोह बनी और 'नहीं है कोई तकलीफ अब' का उद्घोष अवरोह बन गया और इस तरह दोनों मिलजुल कर मेरे पहिए बन गए।

बचे हुए समय में मैं खूब श्रम करती। सुबह शाम लंबी सैर, घर के काम आदि। परिश्रम करते समय दिमाग काम करने की रफ्तार बढ़ा देता था। विचार बढ़चढ़ कर आने की कोशिश करते और मैं उन्हें रोकने की चेष्टा करती हुई बार बार सोचना स्थगित करती जाती। इस संघर्ष से बहुत सी ऊर्जा जमा होने लगी थी। परिश्रम की आदत शरीर को बचपन से रही है। और मजे की बात यह कि मौका आने पर यही काया बड़ी आरामतलब भी हो उठती थी। कुछ इस तरह कि खुद को ही अपनी परवरिश के विलासी होने का भ्रम होने लगे। लब्बो लुआब यह कि मौका मिलते ही चौका मार देने की कूबत थी भीतर। जो हालात हाथ लगे उसी में गाफिल हो जाना था। पर वह सरासर श्रम का मौसम था।

घर में ज्यादा लहराकर उड़ियाने वाले केशों को अब मैं विशेष चौकन्नेपन से देखने लगी। इस चालाकी के साथ कि घर में किसी की नजर न पड़े। वे मेरी इस चालाकी को चुनौती देते हुए विशेष फुर्तीले बन चुके थे। उन्हें हवा में वैसे फुदकते हुए देखकर अचानक मेरे मन में यह विचार आया कि उन्हें संभालकर रख लूं। उनकी नियति झाड़ू से बुहारे जाकर कूड़ेदान तक जाने की नहीं थी। अहा। बस मैं उसके पीछे पीछे लग गई। इस बात की भनक लगते ही वह ज्यादा अगरा अगरा कर उड़ने लगा। पर वह मुझसे चतुर कैसे हो सकता भला। एक चौखट लांघ गया वह और दूसरे के ठीक पहले उसे मैंने पकड़ लिया। मैंने उसे हाथों में क्या पकड़ा, एक अजीब सी बात हुई। मुझे लगा उसी पल जमीन पर बैठकर बीमारी प्रसंग के बाद की पहली आधिकारिक रुलाई चैन से रोई जा सकती थी। न न न। उस बुद्धिगर केश ने मुझे बिल्कुल ही इस खयाल से दो गज की दूरी पर रोक लिया। मौके आएंगे भविष्य में

जरूर। कद्दावर मौके। इसलिए आंसुओं को सहेजना ही है। बहरहाल उस वक्त मैंने तो उसे सहेजकर रख लिया और तय हुआ कि आगे नजर में पड़ गया मेरा एक भी टूटा केश अब लावारिस बना सा कूड़ेदान में नहीं जाएगा। मैंने बालों पर एक गंभीर शोध भी शुरू किया जिसका सार यह था कि प्रतिदिन सौ तक की संख्या में केशों का गिरना, सामान्य बात की श्रेणी में आता था। तो उस वक्त मैं असामान्य दिनों की जद से कुछ दूर ही थी।

बहन के घर से आठ नौ सौ मीटर की दूरी पर एक सिनेमा हॉल था, जो अब तक गुमनामी में खोया था। अब मेरे उस प्रवास से वह अचानक से बहुत रोशनी के बीचोंबीच आ गया। उस जगह तक बार बार जाने लगे हम। जाहिर है मनोरंजन की चाह में नहीं, बल्कि खुद को स्थगित करने के उद्देश्य से लैस होकर। दुबली पतली कमजोर लाचार बीमार किसी भी किस्म की फिल्म रिलीज होती और मैं अपनी बहन के साथ जाकर उसे देख लेती। यह एक नया जुनून था, ऐसा नहीं था। बहुत उबियाते हुए भी इस रस्म को हम ऐसे निभाते जैसे यह कोई जिम्मेदारी हो। हमें निर्णायक बना दिया गया हो मानों और हर प्रदर्शन को एक समान ध्यान से देखना मजबूरी हो ताकि न्याय करने का वक्त आए तो खुद की खुद से शर्मिंदगी का मामला न बने। । निर्णायक होने का हौसला रखकर जरूर जाती पर यह भी था कि अपनी भूमिका ठीक से निभा न पाती। ऐन फिल्म देखकर बाहर निकलने के समय अगर मुझसे उसकी कहानी पूछी जाती तो मैं बगले झांकती हुई कल्पना का आह्वान करने लगती। दरअसल मैं बस तकलीफ और उपन्यास के बीच कुछ पलों के लिए दिमाग को बेसंभार शोर, प्रकाश विहीन माहौल और रोयें को जमा देने वाली ठंड से भर देना चाहती। भरी गर्मी का वक्त था। पर मुझे कीमो के बाद वाले पसीने सने वक्त में भी एसी की ठंडक बहुत आसानी से पचती न थी। इसलिए सिनेमा हॉल के लिए कूच करने के पहले मैं बजाब्ता गरम शॉल, सूती मोजे आदि वाली तैयारी को अंजाम देती थी। पर इस सिनेमा प्रकरण की शुरुआत बहुत वीर रस वाले अंदाज में हुई थी।

हुआ यूं कि ऑपरेशन हुए जुम्मा जुम्मा छह आठ रोज हुए थे। अपनी चाल की चींटी की चाल से क्या तुलना करूं। ऐसा इसलिए कह रही क्योंकि मैंने चींटियों को गौर से देखा था चलते हुए और मेरी निगाह में वे अपनी कद काठी के लिहाज से भरसक स्मार्ट चाल ही चला करती थीं। ऐसे भी मुझे किसी के जैसा होना कभी भी मन मुताबिक न लगा। जैसा तैसा बनना मंजूर था, पर 'जैसा' नहीं बनना था। खैर, मुद्दे की बात यह कि ऑपरेशन के तत्काल बाद मैं चलने को बहुत सूक्ष्म गतिविधियों वाले तामझाम से संपन्न करती थी। दाहिना पैर आगे बढ़ाना, फिर घिसटकर बाएं को उसके पार्श्व तक पहुंचाना, फिर बचे खुचे शरीर को कदम भर आगे बढ़ाना। बाईं तरफ ऑपरेशन हुआ था इसलिए बायां हाथ हर वक्त आगे बढ़कर शरीर के दुर्घटनाग्रस्त हिस्सों की पहरेदारी करता था। फिर भी जैसा कि अमूमन ऐसे समय घटित होने का रिवाज है, दीवार से लेकर चल अचल तमाम चीजें उसी हिस्से से टकरा जाती थीं। इसलिए अतिरिक्त हिफाजत के लिए मैं शॉल आदि से उस हिस्से को ढांक लेती। इस तरह दिनचर्या एहतियात की भेंट चढ़ी जा रही थी कि दोनों बहनों के दिमाग ने फुसफुसाहट में संवाद कर लिया। बहन कुछ संकोच में थी और उसने पूछकर बार बार दरियाफ्त कर ली थी कि मुझे तकलीफ तो न होगी। गाड़ी से जाने का विकल्प न था क्योंकि जर्क का खयाल तक रूह कंपाने को पर्याप्त था। फिर एक ही विकल्प था। सिनेमा हॉल तक पैदल जाना। मां की त्योरी कम चढ़ती थी। उन दिनों तो बेहद कम। वे सीधे सीधे कातर ही हो जाती थीं। लेकिन चूंकि प्रस्ताव मेरी तरफ से आया था, उनके लिए ज्यादा गुंजाइश न थी। दूरी तय करने के

लिए अमूमन लगने वाले वक्त से चौगुना समय अपने पास रखकर हॉल की तरफ निकल गए थे हम। मैं शहादत, ओज, धीरज, एकाग्रता, रोमांच और न जाने क्या क्या से भरकर चलने लगी। बहन लाख कोशिश कर के भी कदम न मिला पाती थी। मिलाती भी कैसे, हमकदमी के लिए दो लोगों की चालों का दुनियावी होना जरा जरूरी भी है शायद। खैर, हमारे पहुंचने तक फिल्म कुछ आगे खिसक चुकी थी, यहां तक तो ठीक है पर इतनी चौकसी नहीं रख पाए थे हम लोग कि सीट आगे की लें। आदतन पीछे वाली जो सीट चुनी गई थी, उस तक पहुंचने के लिए बहुत सी सीढ़ियां चढ़नी होतीं और संभव था वहां तक मेरे पहुंच पाने तक इंटरवल का प्रकरण आ जाता। खैर, एक और मुहिम अपनी चाल से अंजाम तक पहुंची लेकिन सिनेमा का बहुत कुछ छूट जाने की कोई कसक न थी। और दरअसल हासिल यही था कि सिनेमा देखने की ललक नहीं, खाली जोखिम लेने का रोमांच लाया था वहां तक। यह और बात थी कि वापसी में भी उतना सब प्रपंच रचकर आना भी था।

चस्का तो लग चुका था अब। चार पांच दिन बाद हमने वही सब फिर से दोहरा लिया। वापसी के रास्ते में बहन ने ध्यान दिलाया कि मैं बेहतर चलने लगी थी। और सिनेमा के हाल के बाद वाले कुछ फेरों के पश्चात ही मुझे झटककर चलने का प्रमाणपत्र हासिल हो गया। मैं अपनी पीढ़ी के उन लोगों में से हूं जो *दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे* देखे बगैर होशमंद हो गए थे। और कहां अब हफ्ते में दो फेरे तो हो ही जा रहे थे। क्या यह सब चाल सुधार मापने का एक पैमाना भर था या वही—शोर और निरर्थक से दिमाग को भर लेने की कोशिश या कुछ और। इस कुछ और का रास्ता महीन बचपन तक जाता था।

हमारा एक शुरुआती बचपन समस्तीपुर में बीता। वह नानाजी का घर था। वहां मैं विशुद्ध बच्ची थी। पराक्रमी, बेफिक्र और भोली। इसलिए वहां की बहुत गाढ़ी स्मृति नहीं बची थी मेरे पास। उसके बाद कक्षा तीन के आसपास हम हाजीपुर आ गए। यह पिता का घर था और सांसारिक शब्दावली में हमारा असली घर था। समस्तीपुर वाला स्कूल भी एक मिशनरी स्कूल था पर हाजीपुर वाले स्कूल के डीलडौल थोड़े ऊंचे स्तर के थे। दाखिले के पहले एक परीक्षा देनी थी। अपने चयन या गैर चयन से ज्यादा, पिता के घर में ननिहाल से सीखकर आए गुणों का इम्तिहान था यह। उस उम्र तक हमारे लिए ननिहाल, जो नानी की अनुपस्थिति के बावजूद भी ननिहाल ही कहलाता था, की आन बान शान पर कुर्बान हो जाने का जुनून पैदा हो चुका था। मेरी बहन उस घर के छूट जाने से बहुत आहत थी और मैं, मां और बहन के दुख की नकल में आहत थी। अपने उस बनावटी दुख को असलियत का जामा पहनाने के लिए मैंने जोशो खरोश में चिल्लाना शुरू कर दिया कि ननिहाल का घर ही हमारा असली घर था। जाहिर है मेरा यह सब चिल्लाना सिर्फ मां और बहन की उपस्थिति में ही होता, जिसके कोई मायने थे नहीं। मेरी बहन, जिसे मैंने कभी भी अपने से बड़ा नहीं माना, अचानक से अभिभावक की भूमिका में आ गई। यह बात उजागर हुई थी कि इस वाले स्कूल के लोग अंग्रेजी के प्रति बड़े संजीदा थे और हमारा अंग्रेजी ज्ञान ही निर्णायक साबित होने वाला था। फिर क्या बचता था! बहन ने अपनी पहल पर मुझे बहुत से अंग्रेजी शब्दों की स्पेलिंग आदि रटवायी।

स्कूल की प्रिंसिपल मेरे दादाजी की पहचान की थीं। यह बात कुछ तसल्ली की आड़ में और खौफ ही पैदा कर रही थी। वजह कि पहचनवालों के सामने असफल होने के खतरे का कुछ आभास था। बहरहाल, उन्होंने नाम आदि पूछकर हमें आगे की कारवाई के लिए दूसरे शिक्षकों के हवाले कर दिया। एक कमरे में बस हम दो बैठे थे और हमारे आगे सवाल

परोस दिए गए। कुछ दूरी पर एक व्यक्ति बैठा था जो प्रत्यक्षत: निगरानी पर न होकर दरअसल उसी पर था। इसलिए मैं बहन से कुछ मदद लेने का जोखिम न ले पाई और अपने दम पर जवाब लिखना शुरू किया। परीक्षा का बस एक सवाल याद रह गया है। मुझे ब्यूटीफुल की स्पेलिंग लिखनी थी। क्या गजब की बात थी कि बहन के संभावित प्रश्नों के खजाने में वह शामिल था। उसने तीन हिस्से में तीन तीन वर्ण को बांटकर मुझे याद कराया था। मैं उतनी भी खिलवाड़ी नहीं थी। तीन में से दो हिस्से मुझे बिल्कुल याद थे। बहुत याद करने पर भी बीच के तीन वर्णों वाला सेट याद न आया। लिहाजा मैंने बी ई ए और एफ यू एल वाले दो सेट के बीच में तीन डैश बनाकर अपना जवाब पूरा किया था। और सवाल तो याद नहीं पर जब संभावित प्रश्नों में शुमार सवाल का यह हश्र था तो बाकी का अंदाजा लगाया जा सकता है। एडमिशन प्रसंग का पटाक्षेप उस कद्दावर वाक्य की आभा में हुआ कि स्कूल की प्रिंसिपल मेरे दादाजी की पहचान की थीं। आगे बहुत मेहनत करवाने की मां पिता की जमानती शर्मिंदगी के बीच दाखिले की औपचारिकता पूरी हुई।

लेकिन कुछ ही दिनों में पासा पलट गया और इस नई जगह ने चमत्कारिक साबित होने में जरा भी वक्त न गंवाया। रातोंरात हमारे सितारों ने अपनी स्थिति बुलंद कर ली थी। हम दोनों न सिर्फ पढ़ने लिखने में तेज मान लिए गए बल्कि हमारी स्मार्टनेस का ग्राफ आसमान छूने लगा। स्कूल में हमारा डंका बजने लगा। पिता और दादाजी से कोई शिक्षक सरे बाजार टकराता तो हमारी प्रशंसा के पुल बंध जाते। लेकिन हमें उन दिनों भी पक्का यकीन था कि इसमें हमारी प्रतिभा का कोई योगदान न था। यह सब बस हुए चला जा रहा था और हम खुद भी टकटकी लगाए खुद को मशहूर होता देख रहे थे। इसी समय के कुछ आसपास हम चालाक बनना सीख गए। हालांकि बात को सिनेमा वाले प्रसंग तक जाना था पर थोड़ा तफसील से इस वक्त में ठहरना जरूरी है।

गांव में घर से मुख्य सड़क तक जाने के तीन रास्ते थे। एक सीधा और सर्वमान्य था। दूसरा थोड़ा ज्यादा प्रशस्त था पर लंबा बहुत था और उसका उपयोग तब होता था जब सामान्य दिनों में रिक्शे से घर तक आना हो। पैदल उस रास्ते पर चलने की कोई स्मृति नहीं है मेरी। तीसरा रास्ता खेतों वाला था और फिसलन भरा था और जिसे कि उस उम्र में हम इस्तेमाल नहीं करते थे। इसलिए पहली वाली सड़क को ही एकमात्र रास्ता मानकर चलते हैं। सड़क यूं देखा जाए तो ठीक लगती थी पर एक अछार पानी बरसते ही सब मटियामेट हो जाता। स्कूल जाने के लिए रिक्शा मुख्य सड़क से मिलता था। वह सड़क हाजीपुर से मुजफ्फरपुर की ओर जाती थी। हमारे पिता सर्दी, गर्मी, बरसात किसी भी मुसीबत में हमें स्कूल भेजने का प्रयास नहीं छोड़ते। बरसात के दिनों में स्कूल जाना एक कर्मकांड की तरह रस्मों से पटा था। जब पानी बरस रहा होता हम लोग छाता लगाकर घर से निकलते। पिता की पीठ पर एक बड़े पॉलिथिन में हम दोनों बहनों का स्कूल बैग रहता। उनके हाथ में एक दूसरा पॉलिथिन होता जिसमें हमारे जूते मोजे होते। उनके कंधे पर पानी की एक अतिरिक्त बॉटल रहती। इन सबसे अगर कोई हाथ खाली बच जाता तो उससे मेरी उंगलियां पकड़ी जातीं। बहन अपने बड़े होने का कौल निभाती पैरों को जमीन में खूब धंसा धंसाकर बगैर फिसले या गिरे, चलती जाती। इस सज धज से हमारी सवारी निकलती और हम मुख्य सड़क तक पहुंचते। मुख्य सड़क के पास हाई स्कूल का अहाता था। वहां पहुंचकर पिता अपने कंधे वाला अतिरिक्त वाटर बॉटल निकालते और हमारे कीचड़ सने पैरों को बॉटल के पानी से धोकर सुखाया जाता। फिर जूता मोजा पहनकर हम दोनों बहनें वहां पहले से खड़े इंतजारिया रिक्शे पर सवार होकर निकल

पड़तीं। अब इस संस्कारी दृश्य के आगे हम क्या करती थीं यह देखिए।

रिक्शा के गति पकड़ते ही हम लोग फटाफट कंघी निकालते और अपने हेयर स्टाइल में आमूलचूल तबदीली कर लेते। वह मेरी बहन का ईजाद किया हुआ तरीका था जिसमें छोटे बालों में भी हम लोग स्टाइल का बघार डाल सकते थे। कभी मैं उसे क्रियान्वित करने में सफल नहीं हो पाती तो रिक्शे के निचले हिस्से में जहां पैर रखा जाता है, वहां चुक्केमुक्के बैठ जाती और बहन मेरे बाल बना देती। इस प्रसंग पर उस सत्य का कोई असर नहीं पड़ता कि हफ्ते में पांच दिन हमारे बीच अबोला रहता। बातचीत हो कि न हो, आपसी तालमेल से सार्वजनिक श्रृंगार प्रसंग का निर्वहन होता। इस तरह घर से निकलते वक्त धारण किए गए पढ़ाकू हुलिए का मेकओवर कर हम एक और रस्म को सफलतापूर्वक संपन्न कर लेते। इसके बाद अगली सांस में हम अपने अपने बस्ते से एक रंगबिरंगी किताब निकालते। इसमें ताजा रिलीज हुई फिल्मों की कहानी चित्र, डायलॉग और गाने समेत मौजूद होती। बची हुई रिक्शायात्रा को हम उसी पढ़ाई में लीन होकर तय करते। सुलह वाले दिनों में हमारे बीच इस मामले के ज्ञान की एक प्रतियोगिता भी होती और जीतने वाला खुद को पोरस की परंपरा की अगली कड़ी मानते हुए दूसरे पक्ष से वैसा ही सम्मानपूर्ण व्यवहार करता जैसा एक जीता हुआ राजा दूसरे पराजित पक्ष के साथ करता था।

बहरहाल, सचित्र कहानियों वाली किताबें चार रुपए की आतीं और बगैर तस्वीरों वाली की कीमत दो रुपए थी। हमने इस व्यापार में कुछ शुरुआती निवेश किया था। ये किताबें हमारे पढ़ चुकने के बाद दूसरे बच्चों के बीच घूमतीं। स्कूल में इसका एक चेन सा बन गया था, एक बच्चा जो किताब खरीदता वह फिर क्रम में दूसरे बच्चों के बीच वितरित होती चली जाती। एक एक कर सबकी दुबारे किताब खरीदने की बारी आती। इस तरह से यह एक समानांतर पुस्तकालय था, जिसके लाइब्रेरियन हम थे।

दो तीन वर्षों के बाद अचानक इस सहज सुलभ चलती दिनचर्या में एक तीखा मोड़ आया। बहन को आगे की पढ़ाई पूरी करने के लिए हजारीबाग में बसे एक आवासीय विद्यालय में जाना पड़ा। उस विद्यालय में नामांकन के लिए चार चरणों की कठिन परीक्षा उत्तीर्ण करनी होती थी और उसमें दाखिला बड़े सम्मान की बात थी। तत्कालीन बिहार से, जिसमें आज का झारखंड भी शामिल था, हर वर्ष पचहत्तर लड़कियों का चुनाव होता और उन्हें कक्षा सात से दसवीं तक की पढ़ाई उसी विद्यालय में करनी होती। परिवार में खुशी अपरंपार थी पर बहन के दूर जाने की बात से सभी भीतर भीतर मुरझाए भी थे। लेकिन वे सब मेरे अकेले पड़ जाने की कल्पना की दहशत में खुद को संभाले बैठे थे। और मेरे मन में क्या चल रहा था!

पहली प्रतिक्रिया में मैंने सबसे बड़ी कुर्बानी देने की बात ठानी। बहन के बगैर नहीं पढ़नी थी मुझे सिनेमा की कहानियों वाली कोई भी किताब। फिर बाद में जब मैं कुछ संयत हुई तब मैंने एक व्यावहारिक प्रतिज्ञा की। उसके तहत मैं अपने हाथों से एक सादी कॉपी में उन किताबों की नकल तैयार कर रखने वाली थी ताकि जब मेरी बहन छुट्टियों में आए तब उसे पढ़ सके। छुट्टियों में यानी चार पांच महीने के अंतराल पर साल में दो बार उसका घर आगमन होता। और इधर दो छुट्टियों के बीच वाले वक्त में रिलीज हुई सभी फिल्मों के संवाद और गाने की छायाप्रति तैयार करते हुए मुझे अपने प्रेम की परीक्षा अनवरत देते जाना था। यह और बात है कि बहन के चले जाने के बाद मैंने अपनी प्रतिज्ञा में एक कलछुल पानी मिलाया और संवाद और गाने रटकर छुट्टियों में उसे हूबहू सुना देने के करारनामे पर मुहर लगा दी।

तो इतने बरसों बाद सर्जरी के बाद वाले वक्त में वही बचपन वाला सिनेमा प्रेम वापस

लौट आया था क्या? लेकिन इस तथ्य में संदेह था क्योंकि देखा जाए तो सिनेमा से लगाव उस वक्त भी नहीं था। उस समय भी उस सब के उत्स में रोमांच ही था। सिनेमा की किताबों को स्कूल में छिपाना, घर में छिपाना और सबसे बढ़कर स्कूल में फिल्मी किताबों के जाल बिछाने वाले उस इतने बड़े खुफिया अभियान का सूत्रधार होना!

बहरहाल फिल्म दर फिल्म मेरा घाव भरता जा रहा था। कीमो कक्ष वाली दुनिया बिलकुल जुदा थी। वहां एक दिन में एक साथ छह लोगों का इलाज होता। छह स्त्रियां। और उनके साथ आए छह सात और भी कोई न कोई। ये स्त्रियां ठीक ठीक लिखे जा रहे उपन्यास के यातना शिविर की छह स्त्रियां नहीं थीं। ये हर बार आपस में भी जुदा स्त्रियां थीं। इनमें अधिकतर ऐसी थीं जिन्हें इक्कीस दिनों पर आना था और मेरे जैसी कुछ ऐसी थीं जिन्हें हर हफ्ते आना था। इसलिए अपनी बारी वाले दिन मुझे कुछ पुराने और ज्यादा नए चेहरे मिलते। मैं कोशिश करती कि कमरे में सबसे पहले पहुंचूं ताकि एक पसंदीदा जगह को हथिया सकूं। दरअसल उस खास कुर्सी वाली जगह से मुझे प्रेम हो गया था। वह थी भी एकदम अलहदा। सबसे हटकर अलगथलग सी। पर उस पर बैठकर बगैर खुद ज्यादा किसी को दिखाई दिए, दूसरों को भरपूर देखा जा सकता था। यह जगह एक तरह से दुनिया में मेरी असली जगह का प्रतिरूप ही थी।

कीमो शुरू होने के पहले दवा आदि की तैयारी वाले अतिरिक्त समय में मैं बारी बारी से सारी स्त्रियों के पास जाती थी। अधिकतर महिलाएं बुजुर्ग होतीं। नंगा दुपट्टे से लपेटा बिना केश का सिर और चेहरे पर तकलीफ की गाढ़ी रेखाओं के बीच साझी बिरादरी के एक और जोड़ीदार के मिल जाने की मुस्कान। यह मुस्कान मुझे हांट करती बेतरह। कीमो से लौटने वाली रात मुझे जरा भी नींद न आती। संभवत: उन रातों में इन्हीं बेधती मुस्कानों का समुच्चय मुझे सोने नहीं देता था। उनकी तकलीफ के आगे अपनी फुदकती हुई चाल अश्लील लगने लगती।

जब वे स्त्रियां अपनी तकलीफों का जिक्र करने के बाद मुझसे पूछतीं कि मुझे क्या कुछ पीड़ा हो रही थी तो मैं बड़ी दुविधा में पड़ जाती। मैं जानती थी कि जहां एक बार मैंने तकलीफ होने की बात को स्वीकार किया तो मुश्किलें तत्काल मुझे ड्राइविंग सीट से हटाकर सड़क पर खड़ा कर देंगी। हकीकत की जमीन पर। इसके अलावा भी एक बात थी कि मेरे भीतर नकल काढ़ने की ऐसी विचित्र प्रतिभा थी कि वह हमेशा मेरे लिए शर्मिंदगी का बायस ही बनती आई थी। वजह यही कि दफ्तर में मैं किसी के ठीक पीछे चलने से कतराती थी। अगर कि आगे वाले की चाल में जरा भी ऊंच नीच हुई तो मैं भी उसकी तरह ही चलने लगती थी। अगर सामने का व्यक्ति हकलाने या तुतलाने या नकियाने की लत वाला निकलता तो फौरन मैं वैसा वैसा ही बनने लगती। इस बात का अहसास भी बाद में ही आता कि इस तलब को उस व्यक्ति के सामने से चले जाने के बाद तक के लिए टाला जा सकता था। तो फिर उस वक्त अगर मैं 'दर्द है?' वाले सवाल के आगे सही का निशान लगा आती तो आगे फिर कराहती ही चली जाती। और अगर जवाब में न कहती तो वे स्त्रियां एक अजीब सी हसरत से मुझे देखतीं। उस देखने में ईर्ष्या न होती जरा भी, पर फिर भी जो होता वो मुझे जला देता।

सहयात्रियों से मुझे यह दिव्यज्ञान मिल गया था कि कीमो शुरू होने के सत्रहवें दिन की सुबह गैर ठीक बनकर सामने आएगी और भोर में नींद से जागने पर केश सारे, सिरहाने बेजान पड़े मिलेंगे। फरवरी के महीने का आखिरी था जब पहला कीमो हुआ था। फरवरी। दुबला पतला पहले से ही कटाछंटा महीना। उसकी तकलीफ को कम करने के लिए लीप इयर का मरहम तो आया पर फिर भी उसकी काया संकुचित ही थी। मैं चाह रही थी, शिद्दत

से चाह रही थी कि इस दफे फरवरी न जाए। मार्च का सामना करने के लिए मुझे कभी भी तैयार नहीं किया गया था। या कि मैं कुछ ज्यादा ही तैयार थी!

तीन फरवरी को बीमारी के बारे में पहली बार पता चला था। तब मैं पटना में थी। चार को मैं पुणे आ गई। पांच तारीख को दुबारे बायोप्सी हुई, जिसकी रिपोर्ट आठ को आई। दस फरवरी को मैं हॉस्पिटल में एडमिट हुई और ग्यारह को ऑपरेशन की प्रक्रिया निबटाई गई थी। यानि सब कुछ बहुत आननफानन में हुआ था। पांच से आठ तारीख के बीच कहीं जब हम डॉक्टरों के चक्कर लगा रहे थे, एक बार मेरी बहन कुछ देर एकांत में डॉक्टर के पास रुक पाई। उस घटना के तुरत बाद वाले दृश्य में वह मुझसे मुखातिब हुई और उसने बगैर लाग लपेट मुझसे कहा कि ब्रेस्ट रिमुवल के लिए हमें तैयार रहना चाहिए। मुझे धक्का लगा। जो उसने कहा था उस बात से नहीं। इस अहसास से कि वह पिछले दस पंद्रह मिनट से इस तथ्य के साथ अकेले थी। इस बात से जूझती हुई कि वह मुझसे यह सब कैसे कह पाएगी। मेरे मुंह से बेसाख्ता निकला—वह तो जब चाहे हो जाए कोई फिक्र नहीं। पर केश तो बच जाएंगे न!

केश! हम दोनों चौंके ही होंगे। फिर चौंक चुकने के बाद हमारी सोच के रास्ते अलग अलग हो गए। उसने बहुत तसल्ली में आकर कहा वे तो साल भर में वापस आ जाएंगे। मैं सोचने लगी कि ये केश कबसे इतने सगे हो गए मेरे कि इतना मोह उजागर कर आई मैं। मेरी तब तक की जानकारी में तो कोई और ही रिश्ता था मेरा केशों से। बचपन में हम पर किसी तरह के कोई प्रतिबंध नहीं लगे पर पिता की चौकस निगरानी में केश हमारे कभी कान से नीचे न बढ़ने पाए। बाद में जब यह पहरा कुछ श्लथ हुआ तो हमने भुक्खड़ों की तरह केश बढ़ाए। अब जब उन्हें लहराकर मैं पिता के सामने से गुजरती थी तो बड़ी आजाद किस्म की विजयी फीलिंग आती थी। पर इस घटना के बाद बार बार इस बात ने खुद को साबित किया कि मैं उस मोर्चे पर कमजोर थी जरूर कुछ। खैर, बायोप्सी की रिपोर्ट आने के बाद साफ हो गया कि बात उतनी भी नहीं बिगड़ी थी कि ब्रेस्ट रिमुवल की नौबत आए पर केशों की कुर्बानी तय थी।

बहरहाल, उस कयामत वाले सत्रहवें दिन के काफी पहले ही मैं एक पार्लर में जाकर बैठ गई और जितना संभव था उस हद तक केशों को काट देने की बात कही। मेरे खजाने वाले पत्तों में जाहिर है हुकुम की रानी की पुरअसर मौजूदगी थी ही और जाहिर है उसकी किस्मत या गैर किस्मत का वास उसके केशों में नहीं था। वह बहुत छोटे से केशों में भी कमतर तो न साबित होने वाली थी। सामने एक लड़की थी जिसने बालों पर मुलायमियत से हाथ फेरे और पूछ लिया कि मैं वैसा क्यों चाहती थी? मुझे ये पसंद नहीं—शायद यही जवाब दिया था मैंने। उसने कहा कि मैं उसे दान में क्यों नहीं दे देती। दान? ऐसा होता था क्या! यह किसके काम आता? 'कैंसर पेशेंट के'—उसने छूटते कहा। मेरे सारे बाल कट गए और एहतियात से उसने उन्हें जमा कर लिया। मुझे मजा आने लगा। मैंने उससे पूछ लिया कि अगर किसी के सिर पर जिधर तिधर कुछ केश बच जाएं तो उस पार्लर में पूरे माथे को सफाचट बेदाग बनाया जा सकता था? उसने मुझे बहुत गौर से देखा और कोई पहचान खोज निकाली। उसने अगले पल एक विजिटिंग कार्ड निकालकर मुझे थमाया और धीरे से कहा—फोन कर दीजिएगा। मैं घर पर आकर कर दूंगी। मैंने बहुत इसरार किया पर उसने पैसे नहीं लिए। इस तरह उसने अनजाने में मुझे बहुत कमजोर बना दिया और बाहर निकलते हुए मेरे पैर कांपते चले गए।

कमर तक लंबे बाल कान तक जितने छोटे थे अब। एक छोटे मोटे कद का लतीफा रचा जा रहा था आसपास। इस तरह कि बाल छोटे करवा लेने से मैं दस साल पीछे गई सी

दिखने लगी थी और डॉक्टर कहते थे कि इस पूरी इलाज प्रक्रिया से गुजरने के बाद शरीर की उम्र दस साल बढ़ जाएगी। यानी शरीर के भीतरी और बाहरी आवरण में एक जेनेरेशन गैप आने वाला था! पर मन की उम्र कौन तय करता और क्या आम राय बनती उसकी उस उम्र के बारे में! बहरहाल आगे की तैयारी के लिए बैंबू कॉटन की मुलायम एक टोपी ले आई थी मैं, जिसके कई प्रतिरूप मां के नेतृत्व में हमने सिलकर तैयार कर लिए थे।

बहुत अच्छा हुआ और इन तैयारियों के चकरजाल में फंस जाने से सत्रहवां दिन आने के एक रोज पहले, दिन की गणना मेरे जेहन से उतर गई। सत्रहवें दिन की भोर हुई और आदतन सबसे पहले मेरे हाथ माथे तक गए। मैंने महसूस किया कि केश बहुत रूखे और सख्त थे। मैं हड़बड़ाकर उठी। आंखें बंद कर चौड़े पाट की कंघी से मैंने बालों को सुलझाया और आंखें खोलीं। गिनती की तमाम तमीज बिसरा गई। मैंने उन केशों को जमा करके रख लिया और घर में किसी से इस बात का जिक्र किए बगैर तैयार होकर सुबह की सैर को निकल गई। सैर क्या तेज तेज तेज भागने की मुहिम। उस तरह से भागने से मुझे बहुत आंतरिक शक्ति मिलती थी। लगता था कि दिमाग शून्य में होते हुए भी मानस मजबूत ही हुआ चला जा रहा है। तो उस तेज तेज भागने के दौरान मैंने अपने कोष वाले पत्तों को परखा और उन सब पर बस उंगलियां फेर लेने के बाद यह तय हो गया कि सुंदर तरीके से धो सुखाकर केशों को विदा करना था।

सिर पर पहली बार पानी डालने के बाद से लेकर शैंपू के हर दांवपेंच में बाथरूम के सफेद फर्श पर बालों की पच्चीकारी सघन होती गई। मेरा हालिया शोध यह कहता था कि दिन भर में सौ तक केशों का गिर जाना एक सामान्य बात थी। हालांकि यह उदारता से किया गया शोध था और इसमें खुद के लिए ढांढस पा लेने का पुट था इसलिए सामान्य को उसके अधिकतम तक खींच लिया गया था। पिछले एक हफ्ते से मैं रोज जमीन पर बिखरे अपने बाल चुनती और रात में उन्हें गिनकर हिसाब रखती। गिनने का शॉर्टकट यह निकाला गया था कि दस केशों को गिनकर अलग रखा जाए और फिर अनुमान से उसी मात्रा में बाकी के केशों को अलग अलग समूहों में बांटकर गिनती कर ली जाए। लेकिन उस रोज यह सारी चतुराई पानी से बोंदाई सी बेसुध पड़ी थी, सामने। मैं इस कदर पस्त पड़ गई कि धुले केशों को जो तौलिए में बांधा तो फिर आगे उन्हें सुलझाने या सुखाने की हिम्मत न हुई। उसी तरह तौलिए में लिपटे गीले केशों समेत मैंने झोंक में उपन्यास के कई पन्ने लिख डाले। बेमतलब के पन्ने। बस कुछ भी लिखते जाने वाले पन्ने। अर्थ चाहें तो उन बेतरतीब शब्दों में खुद को भर सकते थे। बीच में कुछ न सूझता तो मैं उसी लय में कलम को घसीटती जाती। कलम और कागज का रिश्ता टूटने नहीं देना था। तथाकथित अर्थवान शब्दों के बीच की जगह को घसीटने की व्यर्थता से भरने का विचार नया नहीं था। मुझे एकदम बचपन के दिन का स्मरण आ गया जब मेरे पिता मुझे डिक्टेशन लिखाते थे। मैं उनके वाचिक शब्दों की गति को नहीं संभाल पाती और बजाए पूछने के कि उन्होंने बीच में क्या कहा, बीच के न पकड़ में आने वाले शब्दों की जगह को घसीटकर बनाई वक्र रेखाओं के जाल से भर देती और जहां से पिता के शब्द पकड़ में आ जाते, वापस सार्थक लिखने लगती।

खैर, उस वक्त की बात पर ही टिककर रहना चाहिए अभी। घर के लोगों का क्या जो जानते थे कि मैं अपनी दिनचर्या में कितनी अनुशासित हूं और एक सूत भर भी बेपरवाही मुझे बर्दाश्त नहीं। इस तरह से गीले बालों पर तौलिया लपेटे हुए लिखना मेरे कुलगोत्र की हरकत न थी। वे मेरे आसपास आते रहे और मुझसे कुछ कहने की हिम्मत न जुटाकर लौट जाते रहे। आखिर में बहन आई और उसने मुझसे कहा चलो। सामना करते हैं।

मुझे यकीन था कि सामना करने के लिए कुछ बचा नहीं था। तौलिया हटाती मैं और उसी में मेरे बाल सारे, सिमटे मिलते। खैर, तौलिया हटाया गया। केश थे। फिर पहले उंगलियां चलीं फिर कंघी—मोटे पतले हर किस्म के ब्रिसल्स वाली। बहुत थोड़े से केश जमीन पर बिखरे थे। ज्यादा और बहुत बहुत ज्यादा मेरे माथे पर थे सही सलामत। यह क्या था! प्रतिपक्ष का प्रतिनिधि—साक्षात लाल पान का कोई राजसी पत्ता! यह नियति का कोई बड़ा दांव था यकीन ही, जिसके मायने मैं बूझती रह जाऊं। इतना तय था कि एक झटके में मुझे हलाल करने का उसका कोई इरादा नहीं था। अगर यह कोई खेला ही था, तो लंबा चलने वाला था। मैं कंघी आदि पटककर कागज कलम तक भागी। लिखे जाते उपन्यास को नाम मिल गया था। *खेला!*

बचपन में कभी खेलते हुए अपना चित्र याद करती हूं तो कोई जोरदार दृश्य नहीं याद आता। हाजीपुर वाले घर का आंगन और दरवाजा कभी मिट्टी का था और उसे हर हफ्ते या दस दिनों के अंतराल पर गोबर से लीपा जाता। लीपने आदि का जिम्मा मेरी दादी पर था। उन्हें मेरी लड़ाकू प्रवृति पर बहुत गर्व था और वे सबसे कहती फिरतीं कि अगर मैं लड़का होती तो पट्टीदारों से जमीन जायदाद के झगड़े अपने हक में फरिया लेती। मैं इस बात पर बगैर मतलब बूझे इस कदर इतरा जाती कि गोबर लिपी जमीन पर एकाध बार फिसलने के बाद ही उस खुमार से उबर पाती। बहरहाल, दादी जमीन लीपने के पहले हमारा आह्वान करतीं कि हम लोग भी गांव की दूसरी बच्चियों की तरह जमीन पर कितकित के निशान बना कर जी भर कर खेल लें, ताकि एक बार जमीन के लीप लिए जाने के बाद आगे कुछ लंबे समय तक उसके निशानों से खराब किए जाने की संभावना खतम हो जाए। पर उस तरह के खेल में मन न लगा। गुड़िया आदि वाली संपत्ति भी नहीं जुड़ी कभी।

इसके आगे गंभीर बचपन वाले दिनों में मैं भी बहन के पीछे पीछे हजारीबाग के आवासीय स्कूल तक चली गई थी। वहां की भी कोई स्मृति नहीं थी खेलकूद की। हालांकि वहां हमारे हर तरह के विकास पर बड़ा बवाल था और सर्वांगीण शब्द मुझे बचपन का सबसे बड़ा दुश्मन लगने लगा था। सुबह पांच बजे से लेकर रात के नौ तक हमें किसी न किसी भले काम में लगे रहना था। खेलकूद का जिन्न दिन में दो बार प्रकट होता। एक अलस्सुबह, दूसरा शाम में। वहां चप्पे चप्पे पर शिक्षिकाओं और प्रिफेक्ट बनी लड़कियों का ऐसा पहरा था कि वह जगह नियम तोड़ने के रोमांच को जोरदार हवा देती थी। मैं सातवीं से दसवीं कक्षा तक वहां रही। पर आरंभिक छह सात महीने के बाद मैंने ऐसा ढोंग काढ़ा कि स्कूल के ये दो नियम तोड़ पाने में सफल हुई। हुआ यूं कि एक दिन अपनी एक सुंदर विशेषता पर मेरी नजर गई। लेटकर हंसने से मुझे खांसी होने लगती थी। लिहाजा भोरे भोर उठकर लेटे हुए दो चार बार हंस लेने से ही मैं ग्राउंड तक न जाने वाले पैमाने जैसी खांसी का प्रभाव उत्पन्न कर देती। इस तरह से सुबह सुबह बेहाल होने का सिलसिला चल पड़ा और भोर की पाली के खेल सत्र में मैदान जाने की बाध्यता का तोड़ मिल गया।

शाम में स्कूल के बीमार बच्चों को डॉक्टर के पास ले जाया जाता। मुझे उस वक्त डॉक्टरों के ज्ञान पर बड़ा भरोसा था। इसलिए मुझे डर था कि शाम में इस नुस्खे की आजमाइश भारी पड़ सकती थी। मुझे लगता कि डॉक्टर मेरे ढोंग को पकड़ लेंगे और इससे सुबह की पाली के सुख को भी खो देने का खतरा बन सकता था। खैर शाम के समय के लिए एक दूसरा उपाय निकाल लिया मैंने। खेल के मैदान में कोई अटेंडेंस तो लगती नहीं थी। बस हॉस्टल, जिसे हम आश्रम कहते थे, की सूक्ष्म चेकिंग होती थी। बाथरूम आदि की भी तलाशी होती थी ताकि कोई छिपा न रहे। हर आश्रम में पांच कमरे थे और प्रत्येक कमरे में नौ दस लड़कियां

रहती थीं। कमरे की चौड़ाई वाले दोनों कोनों में कतार से हमारी अलमारियां लगी रहतीं। हर एक लड़की की एक अलमारी, जिसमें उसके कपड़े और जरूरत के सामान रहते। मैं शाम के खेल की घंटी बजने के फौरन बाद फुर्ती से अपने कपड़े बाल्टी में डाल उसे बिस्तर के नीचे सरका देती और खुद अलमारी में बैठकर भीतर से दरवाजा सटा देती। सफाई से। उस तरह से घंटा भर गुजार देने और खेल के मैदान में न जाने का क्या तर्क था और उससे क्या सुख मिलता था यह आज भी रहस्य है। लेकिन उस वक्त मन में बड़ी विजय का आनंद आता और एक उमंग सी उठती जिसमें मैं गाफिल रहा करती। खैर, दुनिया के ठोस सभ्य सर्वमान्य खेलों की कुर्बानी की बिनाह पर जो हासिल हुआ था, वो कतर ब्योंत छल प्रपंच धोखा शातिरपना आदि आदि, भी तो एक किस्म के खेल का रियाज ही था।

उपन्यास कुछ पन्नों के बाद ही एक अजब दिशा पकड़ चुका था। ईमानदारी की बात तो यह थी कि बगैर किसी मूल कहानी की परिकल्पना किए ही मैंने बस उसे लिखना शुरू कर दिया था। इसलिए उस पर यह इल्जाम नहीं रखा जा सकता कि वह तयशुदा रास्ते से भटक गया था। इस बार का लिखना, और बार के लिखने से अलग लग रहा था खुद में। वह इस तरह से कि मैं चाहती थी कि रेडिएशन खत्म होने तक यह पूरा हो जाए। सही अर्थों में लिखना कीमो शुरू होने के बाद ही शुरू हुआ था। फरवरी सर्जरी और घाव के सूखने में निकल गई। तब तक बमुश्किल बीस बाईस पन्ने पूरे हुए होंगे। फरवरी के आखिरी हफ्ते में कीमो शुरू हुआ, जो कि साप्ताहिक बारह किश्तों के हिसाब से तीन महीने चलता। इसके बाद, हफ्ते में पांच दैनिक आवृतियों के हिसाब से रेडिएशन डेढ़ महीने चलता। इस तरह से पांच महीने का वक्त था। इसलिए तय सीमा में इसे पूरा करने के लिहाज से रोज लिखना था। और सिर्फ लिखना ही नहीं था लिखे हुए को उसी दिन टाइप भी कर लेना था। असल समस्या यही थी क्योंकि बैठना ही मुझे उस वक्त बहुत मुश्किल लगता तो लैपटॉप के तामझाम में बैठने की क्या बात। लेकिन यह भी था कि हाथ से लिखे को ताजा स्मृति में ही टाइप न कर लिया जाता तो बाद में उसे डिकोड कर पाना असंभव होता। अपनी फ्लो वाली लिखावट को देखकर मुझे यही लगता रहा आदिकाल से कि राजा महाराजा के जमाने में मुझे खजाने का पता लिखने की जिम्मेदारी सौंपी जा सकती थी। फिर उस लिखे को छिपाकर रखने की कोई जरूरत नहीं होती। वह चौराहे पर भी टंगा रहता तो मेरे सिवा उसे किसी से डिकोड किए जाने का कोई खतरा न होता।

लिखते हुए या टाइप करने वाले वक्त के अलावा मैं उपन्यास के बारे में कभी कुछ सोचना नहीं चाहती थी। मैं चाहती थी कि बिल्कुल शून्य दिमाग से लिखती जाऊं। रोज कुआं खोदने और पानी पीने जैसा। जब न लिख रही होती तब मैं उपन्यास के बारे में नहीं सोचना चाहती थी, बीमारी के बारे में तो बिल्कुल भी नहीं सोचना चाहती थी, फिर क्या सोचना चाहती थी! सांसों की शरीर के भीतर की चाल, मन शरीर के भीतर ठीक ठीक कहां है, विचार को अगर तरजीह न दी जाए, कोई उचित महत्व न दे सोचने वाला तो वे शरीर के भीतर ही कहां डूब जाते है, शरीर क्या सच में वही था जो आज तक मैं समझती आई थी आदि आदि। मैं बहुत जोर से अपने मन और शरीर को पढ़ लेना चाहती थी। उसी शरीर को जिसे मैं अपना लगभग गुलाम समझती आई थी और जो मेरे मूड स्विंग की जी हजूरी में कभी कभी दिलचस्प हरकतें तक कर लिया करता था। एक दृश्य याद आया। यह कुछ पहले की घटना थी। मुझे खांसी जब भी होती थी कफ सूख जाता था। फिर आगे शीतोपलादि जैसी आयुर्वेदिक चीजों के इस्तेमाल से जब वह कुछ वेश बदल लेता तब मुझे बेतरह उल्टियां होतीं और उसके बाद

सब कुछ सुंदर हो जाता। एक दफे वही सब दौर चल रहा था। उबकाई का प्रचंड वेग था और मैं लगभग बाथरूम के पास पहुंच गई थी कि घर के दरवाजे की घंटी बजी। मैं अकेली थी। मैंने अचानक से रास्ता बदल लिया और जाकर दरवाजा खोलने लगी। सामने एक टेलीफोन कंपनी का एजेंट था जो घर में लग चुके फोन के कुछ औपचारिक दस्तावेजों पर मेरे दस्तखत चाहता था। मुझे लगा कि मैं वहीं दरवाजे पर ही सब कुछ उगल दूंगी। पर उसी समय उलटी के वेग को सबक सिखाने का विचार मन में आया। मैंने उस एजेंट से पूछा—चाय पीजिएगा?

इतना संस्कारी तो मैं कभी न रही कि किसी से भी चाय पीने की बात पूछूं क्योंकि खुद चाय न पीने की आदत के कारण मुझे इसे बनाना हमेशा से श्रम का अपव्यय लगता था। बहरहाल उस व्यक्ति ने मेरी तरफदारी करते हुए हां कर दी। उल्टी बेचारी दुबक गई। उल्टे वह सीधी बनकर, दूध और चीनी कितना डालना है, इन सब का ज्ञान देने लगी। वह व्यक्ति जब चाय पीकर गया तब मैंने पहले प्याली साफ की फिर उबकायी वाले अधूरे सूत्र को थामने चली।

इस तरह की द्वितीय किस्म की नागरिकता प्राप्त शरीर के बारे में अब मैं सोच रही थी। सो वह नखरा क्यों न करता। मैं जितने मोटे अक्षरों में शरीर के ऊपर 'कोई तकलीफ नहीं हो रही' लिखती, भीतर कहीं किसी अंग में उतने ही दुबले पतले स्वर में टीस उठने लगती। लुकाछिपी का दौर चालू था। उसी दौरान डॉक्टरों ने एक और बात सामने रखी। कीमो की दवा के असर से पीरिएड्स के चक्र को अपना बोरिया बिस्तर समेटकर निकल लेना था। शरीर की उम्र, दस साल आगे बढ़ जाएगी वाली चिकित्सकीय घोषणा का मर्म अब समझ आया था। जाहिर है उम्र से यहां मतलब आने वाली नहीं, बीती हुई उम्र से था।

मन कौन सा था और आत्मा की सरहद कहां से शुरू हो जाती थी? एक शरीर के भीतर दोनों कैसे रह लेते थे? क्या हर शरीर के भीतर दोनों की स्थिति होनी ही थी? इन सबके बीच एक चीज जिसने तबाही मचा दी, वह थी हॉट फ्लेसेज। पूरे शरीर पर पसीने की बारीक कशीदाकारी हो जाती और धड़कन बहुत तेज चलने लगती। लगभग हर घंटे इसकी आवृति चलती। नींद तक में यह पीछा न छोड़ने वाली शै थी। कुछ फितूर भी दिमार पर सवार हो चले। मसलन बिस्तर पर सोने में लगता कि सब कुछ आसमान के करीब पहुंच रहा। लिहाजा मैं जमीन पर सोने लगी कि आसमान से दूरी कुछ बढ़ जाए। सोते समय अगर बरसात होती तो छज्जे पर टपकते पानी की आवाज बहुत साफ उगने लगती कानों में और मैं जिदिया जाती कि एक एक बूंद को आवाज के सहारे अलग अलग गिनूंगी। जीवन पागलपंथी की परिभाषा बना पड़ा था पर यह भी सच था कि मैं चाहती थी यह वक्त न बीते क्योंकि इसमें जब भी मन करे सो जाने या कम से कम सो जाने का स्वांग रच देने की स्वतंत्रता थी। एकमुश्त घर, बहुत दिनों बाद मिला था। घर के काम खासकर रसोई संभालना मुझे हमेशा से बहुत रचनात्मक बना देते हैं। मैं चाहती थी मां काम न करें। पर बार बार वे तकरार वाले इस बिंदु की गुंजाइश रखतीं।

बचपन में कक्षा में मां के नंबर औसत आते थे। एक भले परिवर्तन के तहत गणित को ऑप्शनल विषय के खाते में रखा गया और उसी साल से वे अव्वल आने लगीं। मेरी मां अपनी भी मां की बहुत दुलारी थीं। वे चार बहनों में सबसे बड़ी थीं। शांत, गुण से बेहतरीन। वे साड़ी, कोट और जूते पहनकर कॉलेज जाती थीं। उनकी मां, मेरी नानी कॉलेज से मां के लौटने का इंतजार करतीं और जैसे ही मां घर में दाखिल होतीं, नानी चूल्हे पर कढ़ाई चढ़ा देतीं। गरमा गरम पकौड़ियां ताली जातीं। बाकी का खाना पहले से तैयार रहता। फिर दोनों

साथ खातीं। मेरी मां उनकी सोहबत में बहुत सुंदर कपड़े सिलतीं। महीन कढ़ाई करतीं। दोसा, गाजर का हलवा जैसे अवागर्द व्यंजन बनातीं। मां अपनी दोस्तों का जमावड़ा जब तब घर पर लगातीं, सिले जाते कपड़े की कटाई करते हुए उसके नीचे बिछी नई चादर भी काट डालतीं पर उनकी सब गलतियां क्षम्य थीं। वे दोनों, नानी और मां—मां बेटी कम, एक दूसरे का विस्तार ज्यादा थीं। नानी मेरी मां को बहुत पढ़ाना चाहती थीं। ब्याह आदि का प्रसंग दूर तक नहीं था पर अचानक नानी की मौत ने समीकरण बदल दिए। नाना भावनात्मक रूप से बड़े असुरक्षित और कमजोर पड़ गए और मां की शादी हो गई। मां बीए पास कर चुकी थीं पर आगे पढ़ाई छूट गई। लेकिन मां के पूरे व्यक्तित्व और जेहन पर मेरी नानी की ऐसी गहरी छाया थी कि हम बगैर देखे महीन ब्योरों के साथ उन्हें जानते थे। नानी स्नेहिल और गुणी तो थीं पर बड़ी अनुशासनप्रिय थीं। जब वे थीं तब तक अपने घर की सबसे प्रभावी शख्सियत थीं। न रहने के बाद भी उनका प्रभाव कम न हुआ था। मां की सुनाई गई कहानियों में नानी इतनी जीवित थीं कि मुझे स्मरण है कि अपने महीन बचपन में मैं गलतियां करने पर नानी से मिलने वाली काल्पनिक सजा से ही डरती थी।

जब मैंने स्कूल जाना शुरू किया तब मां ने फिर से पढ़ाई शुरू कर दी। पोस्ट ग्रेजुएशन किया। उसके बाद शोध शुरू हुआ। यही वह वक्त था जब हम हाजीपुर आ बसे थे और मेरी पुख्ता स्मृतियों का प्लिन्थ स्टेज यहीं से तैयार होना शुरू हुआ। कह सकते हैं कि अपनी जीवित याददाशत के पहले चरण में मैंने मां को घर भर का काम निबटा चुकने के बाद लैंप की रोशनी में शोधप्रबंध लिखते देखा। हिंदी पद्य संसार की धराऊं किताबों के पन्ने उड़ियाते रहते और हम लोग उनके पास मंडराते हुए मां के लिखकर उठने की प्रतीक्षा करते।

हमारी सारी जमीन सरकारी योजनाओं में स्वाहा हो चुकी थी। जिला जेल, नहर आदि आदि सबमें कौड़ियों के दाम जमीनें गई थीं और फिर परिवार के पास कट्टर सोच के सिवाए ज्यादा कुछ बचा नहीं था। सामंतों की जमीन छिन गई पर सामंती मानसिकता का एक कतरा भर बाल बांका न हुआ था। तो उसी प्रजाति के परिवार की छोटी बहू मेरी मां थी। तुर्रा यह कि उनकी दोनों ही संतान बेटियां थीं। जाहिर है माहौल में बेटों का बड़ा प्रताप था। तुर्रा ये कि मूछें हों तो नत्थूलाल जी जैसी नहीं तो न हों, की तर्ज पर बेटे हों तो दो हों नहीं तो न हों का जयघोष था। वैसे वाक्य का यह आखिरी अंश बोलते हुए लोगों की जुबान कांपती थी और बाद में 'एक भी हो तो किसी तरह काम चला ही लेंगे' का उपवाक्य जोड़ लिया जाता था। पर मोटे तौर पर एक बेटे को कुछ हो जाने की स्थिति में वैकल्पिक व्यवस्था के तहत एक दूसरे भी बेटे का होना जरूरी समझा जाता। हम बहनों की किस्मत का सबसे चमकीला पक्ष यह था कि मेरे पिता की छवि बड़ी दुर्दांत थी और घर पट्टीदार में वे 'गोसीयल' स्वभाव वाले शख्स के रूप में जाने जाते थे। मेरे मां पिता की जोड़ी पढ़ी लिखी मॉडर्न किस्म की मानी जाती थी और उन दोनों के लिए दुनिया संतान पर शुरू होकर उसी के साथ कभी भी खत्म न होने वाली चीज थी। लिहाजा, करीबी समाज मन मसोस कर रह गया और हम बिना किसी हाय तौबा के पल गए।

बहरहाल, मेरी मां घर भर को खिला पिलाकर निराला और मुक्तिबोध के संसार में दाखिल हो जातीं। बचपन में 'राम की शक्ति पूजा', 'जूही की कली', 'असाध्य वीणा', 'प्रलय की छाया', 'ब्रह्मराक्षस' और 'अंधेरे में' आदि शत्रु सरीखे लगते जो मां का हमारे हिस्से वाला बचा खुचा वक्त भी हड़प लेते। हमें मां के अनकहें को बारीक डिकोड करना उसी वक्त से आने लगा था। जिस दिन वे पूछ पूछ कर हमारी पसंद की खाने की चीजें बनातीं, समझ आ

जाता कि उन्होंने कोई चेप्टर अपने मन मुताबिक पूरा कर लिया था। जिस दिन वे हमारे पास होकर भी नहीं होतीं, समझ आ जाता कि गाड़ी कहीं फंस गई थी। एक दुनिया थी समानांतर जो किताबों की बिनाह पर टिकी थी। उस दुनिया में यह माद्दा था कि वह हमारे देखते देखते मां को हमसे दूर ले जाए, तो जरूर वह एक कद्दावर संसार था। और मेरा उसके सम्मोहन में पड़ जाना लाजिमी था।

खैर, किताब के संसार में मेरा दाखिला बाद में, पहले मां की बात। तो आरंभिक जलन और कुढ़न के छंट जाने के बाद, मां का पढ़ता हुआ रूप ही मेरे मन में उनकी सबसे सुंदर छवि की हैसियत से दर्ज हो गया। उस काम से इतर जब भी मां को घर के काम में लगी देखती तो मेरे भीतर बड़ी नाराजगी सर उठाने लगती। उधर मेरे मां पिता का प्रयास रहता कि हम दोनों बहनें सिर्फ पढ़ाई करें या वैसा ही कुछ करें जिससे कुछ न कुछ सार्थक सीख रहे हों। कुछ भी, पर चूल्हा चौका या घर के काम हरगिज नहीं। पर शायद मां को काम कम करना पड़े इसी मुहिम में बगैर कुछ सिखाए हम घर के सारे काम सीख गए और मजे की बात यह कि मेरा मन सिल लोढ़ी पर मसाला पीसने, बरतन मांजने, फर्श पर पोंछा लगाने, चापाकल से पानी भरने आदि में खूब लगने लगा। सिलाई कढ़ाई बुनाई...सब में हम ये चौकसी रखते कि पिता की नजर में आए बिना हम इन कामों को जल्दी निबटा लें। इन सब कामों की शुरुआत मां को मदद या कहें ज्यादा से ज्यादा किताबों के पास पहुंचाने के लिए हुई थी पर कालांतर में जब मैंने खुद लिखना शुरू किया तब घर के काम उत्प्रेरक बनकर उपस्थित हुए। सिल लोढ़ी का दर्जा तो रामजी के बाण जैसे अचूक अस्त्र वाला था। लिखते हुए अगर गाड़ी फंस जाती और मुझे एक वैचारिक धक्के की जरूरत होती तो मैं उसी की शरण में जाती। आंगन में एक मेहंदी का पेड़ था। पीसे जाने को अगर उस वक्त घर में कुछ मौजूद न होता तो मैं मेहंदी के पत्ते ही पीसना शुरू कर देती। लोढ़ी वजनी थी। हफ्ते दस दिन पर सिल की छिद्रों के उभार को तराशा जाता। जैसे जैसे यह तराश अपना असर खोती, पीसना श्रमसाध्य बनता जाता। हाथ की नसें उभर आतीं और पूरी बांह उस पिसाई के बाद झनझनाने लगती पर इन सबकी परवाह किसे थी। क्योंकि पीसते हुए मुझे कहानी में आगे बढ़ने का रास्ता तो मिल ही चुका होता।

पर यहां तो मामला उलट पड़ चुका था। श्रम करने का हौसला तो था पर शरीर चुकने लगा था। हड्डियों पर दवाइयों का जो असर आना था, उसने सबसे पहले अपना ठिकाना दाहिने हाथ के अंगूठे में बनाया। एक दो दिन के भीतर बात इतनी बढ़ गई कि यह अंगूठा अब मुड़ने से इंकार करने लगा। लिहाजा कलम पकड़ना क्या अंगूठा हिलाना तक असंभव बन गया। अंगूठे के निचले हिस्से की हड्डी बहुत उभर आई और पूरा अस्तित्व बस अंगूठे तक सिमट कर रह गया। जुम्मा जुम्मा उपन्यास में कुछ गति आई थी कि यह समस्या आ खड़ी हुई। अब आगे कैसे बढ़ा जाए! बीएचयू वाले दिनों में मैं हमेशा क्लास की पिछली सीट पर बैठती थी। मेरे कानों में पढ़ाया जाता एक शब्द भी न पड़े इस प्रतिज्ञा से लैस। लेकिन तीन सालों तक रोज लगातार पिछली सीट पर बैठकर करती भी क्या! लिहाजा मैंने उन दिनों बाएं हाथ से लिखने का खूब रियाज किया था। पर बायां हाथ अब इतने दिनों बाद एकबारगी प्रकाश में आने में कतरा रहा था। उसने दलील दी कि उसकी गति बहुत धीमी थी आदि। मैं इतनी कठोर थी कि दो दिन में उसकी चाल सुधरवा देती पर घर में यह बात उजागर नहीं होने देना था। इसलिए दायां हाथ व्यायाम के मोर्चे पर डटा। इधर बीच में जो कुछ लिखा जाना था उस बीच के हिस्से को मैंने टेप कर लिया। गनीमत है दाहिना हाथ घर की बहू साबित हो

गया और परिवार पर आई मुसीबत के समय बहुएं जिस तेजी से स्वस्थ होती हैं उसी गति से इसने कलम पकड़ने लायक तंदुरुस्ती हासिल कर ली।

मैं एक सादे पन्ने के दोनों तरफ लिखती और टाइप कर चुकने के बाद उस पन्ने को मोड़कर कागज के एक बड़े थैले में रख लेती। कागज के एक दूसरे थैले में दिन भर के चुने हुए केश जमा होते जा रहे थे। इस तरह से दो थैले उस समय जीवन का आधार बने थे और दोनों समान रूप से समृद्ध हो रहे थे। बाल बीच के, बहुत तेजी से बिछुड़ते जा रहे थे। मां की सिली सुंदर, रंगबिरंगी टोपियां मुझे खुश रखने लगी थीं। दिनचर्या में मेरे मन मुताबिक पर्याप्त अनुशासन था। पालक पत्ते, अनार और इस जैसी ही सात्विक खुराकों ने एक चमक का वितान त्वचा के इर्दगिर्द रच दिया था। मैं सुबह शाम लंबी सैर पर निकल जाती। सैर नहीं, निरर्थक तेज तेज चलना कह सकते हैं उसे। उस वक्त उस तरीके से चलना मेरे भीतर की तमाम टूटफूट की मरम्मत कर देता। और मन में जमा हो गई क्यों कैसे कितना आदि द्वंद्वों की गर्द को धो डालता।

इस दरमियान पिता की भूमिका को समझ पाना टेढ़ी खीर थी। उनके मन में क्या चल रहा इसे मैं डिकोड नहीं कर पा रही थी। जब बीमारी का पता चला था, वे मेरे साथ ही थे। पर मैंने उन्हें कुछ बताया नहीं और आननफानन में उन्हें लिए दिए इलाज के लिए पुणे आ गई थी। मैंने सोचा था कि यहां आने पर इलाज की प्रक्रिया शुरू होने पर उन्हें पता लग जाएगा और फिर मां और बहन के साथ मिलजुल कर वे संभल जाएंगे। हुआ भी ठीक ठीक यही। पर किसने किसको क्या समझाया यह एक रहस्य ही बना रहा। मेरे सामने सब, सबके सामने मैं, और अपने भी सामने मैं बिल्कुल सामान्य बनी रही। पर उनका सामान्यपन मुझे हांट करता था क्योंकि वे, घर में सबसे कम बोलते बतियाते थे और मुझे लगता रहा कि उनके सामने मुझे जरूरत से ज्यादा सामान्य बने रहना चाहिए। ताकि मेरी प्रतिक्रिया, उनकी प्रतिक्रिया से बीस साबित होती रहे। लिहाजा उन्हें अतिरिक्त सुना सुना कर मैं बखान करती कि डॉक्टर मेरे स्वास्थ्य ग्राफ से कितने खुश थे आदि। पिता को प्रसन्न करने की इस कुंजी का मुझे बचपन से पता था। खाली बस, शिक्षकों की जगह अब डॉक्टरों ने ले ली थी। परीक्षकों की नजर में वे हमारे सही और सफल साबित हो जाने को लेकर हद तक सतर्क पिता थे। बात यहां तक बढ़ी हुई थी कि जब उन्हें लगता कि हम कुछ डगमगा सकते हैं, वे खुद ही आगे आकर मोर्चा संभाल लेते। बचपन में उनके लिखे भाषणों को रटकर इकट्ठा की गई ट्रॉफियां मुझे आज तक कोताही करने से साफ साफ बचा ले जाती थीं।

उनको कपड़े साफ करने और फिर उन्हें कड़क इस्तरी करने का विचित्र रोग था। बचपन में हमारे खेलकूद वाले स्कुलिया सफेद जूतों की चमक के आगे निरमा वाली ललिताजी भी शरमा जाती रही होंगी। उनके साफ कर इस्तरी किए कपड़ों से एक अजीब तरह की फरफरी खुशबू आती थी। एक बार शनिवार की सफेद पोशाक पर नारंगी बरफ के गोले खाने से कुछ पच्चीकारी सी बन गई थी। फिर घर आने के बाद मेरी वो शामत हुई कि उस वाकये के बाद से बरफ के गोले की जीवन से रुखसती हो गई। वाद विवाद, नृत्य, सुलेख.. हमारे उस हाजीपुर के विद्यालय की औकात भर का कुछ भी न छूटा था जिसमें अव्वल आने का लोड न था हम पर। और उस गाढ़े वक्तों में, बेमानी पर उतर आना पड़े इस इल्जाम के साथ भी, किस्मत तो हमारे ही साथ होती। जो जो पुरस्कार मेरी बहन से छूट जाते उन्हें मैं लपक लेती। यह और बात है कि बहन होशियार थी और जीतने के क्रम में उससे कुछ छूटने न पाए इतनी शऊरदार भी थी।

लेकिन यह सब एकतरफा कब तक चलता। लिहाजा जल्दी ही हमने तोड़ निकाल लिया। पिता के अनुशासन का तोड़ निकालने की जुगत ने हमें जितना समृद्ध किया, सिखाकर संपन्न करने की वैसी कूबत दुनिया की किसी शिक्षाप्रणाली में न थी। सबसे जरूरी था हर महीने स्कूल में होने वाले टेस्ट से निबटना। दोनों बहनों को मिलाकर हर महीने औसतन दो से तीन विषय ऐसे निकल ही जाते थे जिनमें हमें 'बी' या उससे भी निम्नस्तर की धिक्कार श्रेणी का कोई ग्रेड आ जाता था। उन विषयों की कॉपी को हम अपने स्कूल के रिक्शे की गद्दी के नीचे छिपा देते और बुलंदी से बता देते कि आया तो 'ए' ग्रेड था पर कोई सहपाठी कॉपी अपने घर ले गया है ताकि नोट्स उतार सके। दो बहनों के सारे विषयों का लेखाजोखा रखने वाले पिता इन चालबाजियों को पकड़ न पाते। हर महीने हमारा बेड़ा आराम से पार हो जा रहा था। बस एक बार चूक हो गई। बहन के मैथ्स में कुछ ज्यादा ही खराब नंबर आ गए और इसके पहले कि हम कॉपी को ठिकाने लगा पाते, बाजार में पिता की मुलाकात मैथ्स टीचर से हो गई। जाड़े के दिन थे। दोनों में से एक किसी बहन को भी कम नंबर आए तो इसे हम सामूहिक संकट का दर्जा और सम्मान देते थे। इस मुलाकात से अनजान हम दोनों बहन बोरसी के इर्दगिर्द बैठकर आगे की रणनीति बना ही रहे थे कि तभी पिता प्रकट हुए और हमारे साथ बैठ गए। उन्होंने कहा—"बिसनाथ बाबू से मुलाकात हुई थी। मेरा माथा शर्म से झुक गया।"

उनकी आंखों में आंसू थे कि नहीं थे मालूम नहीं पर, आग की लपट के उस पार पिता का चेहरा पहली बार स्पष्ट पढ़ने में आ रहा था। वैसे ही, जैसे गुप्त लिपि में लिखे गए पत्रों को आग की आंच में ठीक ठीक पढ़ा जा सके।

हम लोग उनके लिए न जीवन लक्ष्य थे, न कमाई जीवन की, न पुरस्कार, न जीवन संघर्ष को मापने का लिटमस पत्र। हम उनके लिए दो स्वतंत्र जीव थे, जिन्हें बस वे उम्र के कच्चे पड़ाव पर ही आजादी को ठीक ठीक वरण करने लायक बना देना चाहते थे। अच्छा हुआ कि हमने उन आंसुओं से बिंधकर तात्कालिक हड़बड़ी में अपने लिए कोई सुधार का मार्ग नहीं तय कर लिया। बल्कि शायद उसी मोड़ के आसपास कहीं, हम लोग 'जिम्मेदार' शब्द के थोड़ा और करीब पहुंच गए। जीवन में असफल नहीं होना है या कमतर नहीं साबित होना है यह हमारा सबक नहीं था, बल्कि अपनी कमतरी को ससम्मान दुनिया में शामिल रखना है—यह उस घटना का हमारे हिस्से का पाठ था।

हाजीपुर वाले स्कूल के सालाना जलसे में मेरी बहन की प्रतिभा की मुनादी बजती थी। उस जमाने में निजी प्रयासों से स्थापित उस स्कूल का शहर में बड़ा जलवा था और सालाना जलसे की तैयारियां महीने दो महीने पहले से शुरू हो जाती थीं। कड़ा रियाज। जो ओपेनिंग कार्यक्रम होता उसकी बड़ी महिमा थी और उसकी थीम बड़े जतन से तलाशी जाती। उस वक्त स्कूल में ओंकार सर नाम के एक शख्स का प्रवेश होता जो साल भर गायब रहते और नए नए विचार लेकर इस खास वक्त प्रकट होते। उनकी लगभग हर महत्वाकांक्षी परिकल्पना की धुरी मेरी दुबली पतली बहन होती। मैं जान ही न पाई कब इस इलाके में मेरी बहन ने पताका लहरा दी और मैं देखते देखते विपरीत पाले में जा खड़ी हुई। मेरा वाला पाला नाकारा तालीपीटकों का समूह था और बहन, जहीन कलाकार वर्ग में शुमार थी।

उसके नाम के सहारे तीसरी चौथी कतार वाली सहयोगी भूमिका के लिए एकाध बार किसी किसी नृत्य में मेरा भी चयन हुआ जरूर। पर मुझे बहुत होशमंद एहसास था कि मेरी बेमतलब की कूदफांद बहन के लिए कहीं न कहीं शर्मिंदगी की वजह बनती होगी। यह और बात है कि एकांत में भी कभी उसने मुझे सुधारने सिखाने या कमतर साबित करने की कोई

चेष्टा न की। मेरे स्वाभाविक अनगढ़ रूप में उसकी अगाध आस्था थी और हम उसी तरह अपनी अपनी भूमिकाओं से खुश थे। ।

मां साड़ियों की बहुत शौकीन थीं और एक साड़ी खरीदने के लिए भी तमाम दुकानें छान मारतीं। बाद में मेरी मौसियां उन साड़ियों की छायाप्रति हासिल करने के लिए नगरी नगरी भटकतीं। खैर, मां के उसी खजाने में से साड़ियां चुन चुन कर बहन का नृत्य कॉस्ट्यूम तैयार होता। बहन के स्कूल में रहते, मैं दो बार नृत्य में शामिल की गई। एक बार मुझे मल्लाह बनकर मंच के बैकड्रॉप में बनी नाव के पीछे खड़े होकर चुपचाप नैया खेते जाने का अभिनय करना था। चाहे नाचना एक जरा न हो उसमें, पर कालांतर में वह एक महत्वपूर्ण भूमिका साबित हुई। इस तरह से कि उस नृत्य की हर तस्वीर में मूंछों वाले नन्हें मल्लाह की उपस्थिति थी। दूसरी बार मुझे एक जंगली नृत्य में भागीदारी मिली जिसमें पीठ पर झाडुओं का घना समुच्चय बांधना था। मैं इस बात से बहुत उत्साहित थी कि मेरे दादा और दादी ने एक एक झाड़ू का दमखम परखकर तीन चार कद्दावर झाड़ू खरीदे थे। सिर्फ मेरे लिए। घर के दरवाजे पर ही झाड़ू व्यापारी अपना साम्राज्य फैलाए बैठा था। उस खरीदारी के वक्त मैं भी इठलाकर वहां चहलकदमी करती रही। मेरी दादी झाड़ू को बढ़नी कहती रहीं और ठोंककर उनकी मजबूती थाहती रहीं। उधर बहन के कॉस्ट्यूम निर्माण में भी मैं बढ़चढ़ कर हिस्सा लेती। पूरे प्रकरण में हल्की फुल्की जलन से बहुत ज्यादा कहीं 'मेरा तुझको अर्पण' वाला भाव प्रभावी रहता।

जलसे वाले दिन दादी दादा मां पिता सब, समय से बहुत पहले ही समारोह स्थल पहुंच जाते। बहन का भव्य शृंगार होता और हद तो ये थी कि स्कूल प्रशासन, मुझ तक को उसके पास न फटकने देता कि मेकअप खराब हो जाएगा। उस कार्यक्रम की धमक शहर में बहुत लंबे वक्त तक रहती और दादाजी, जिन्हें हम बाबा कहते, हर शाम बाजार से सब्जी या राशन आदि लेकर लौटने के बाद अपने साथ परिचितों की तारीफों की पोटली लाते। तारीफों का खजाना तो पिता के पास भी होता पर वे ऐसे मौकों पर बहुत गंभीर आलोचकीय तेवर अख्तियार कर लेते। अपनी उपलब्धियों को तत्काल खारिज कर देने का पाठ कुढ़ कुढ़ कर ही सही पर हम थोड़ा बहुत उनसे, सीखते ही रहे।

कुछ वक्त बीते, बहन का चुनाव हजारीबाग वाले आवासीय विद्यालय में हो गया और अपने पीछे एक भव्य आभामंडल छोड़ वह दूसरे शहर चली गई। घर में और विशेषकर मेरी दुनिया में विशाल सूनापन पसर गया। हालांकि मैं सतर्क थी और इस चेष्टा में रहती कि चुपचाप अकेली छत की ओर ताकती हुई न पकड़ी जाऊं। घर का सारा दुलार अब मेरे लिए था, पर उसे स्पर्श करने तक का मन न होता था। स्कूल से लौटते हुए मैं रिक्शे के एक कोने में सिमटकर बैठती और बगल की जगह बहन के लिए खाली रखती। छल प्रपंच सब धार खो चुके थे। इधर स्कूल में नेपोटिज्म का मामला प्रकाश में आया और मेरी बहन की गैर हाजिरी से खाली होने वाले प्रकाशवृत में मुझे रख दिया गया। अगले वर्ष स्कूल के सालाना उत्सव में मैं मुख्य भूमिका में थी और मां की धराऊ साड़ियों से बना कॉस्ट्यूम मुझे मिला था, पर मेरे संसार से प्रकाश खो चुका था। बहन के घर से दूर चले जाने के बाद जीवन में पहली बार मैंने अकेलेपन का स्वाद चखा था। उस वक्त मुझमें यह तमीज नहीं थी कि उस अकेलेपन का एकांत में अनुवाद कर सकूं, इसलिए मुझे गहरे तक चोट लगी थी। अगर एक बार मैंने जोर से रो लिया होता तो शायद चीजों को कुछ सहजता से अपनाती पर मुझे तब भी रोना कहां से शुरू करना है यह समझने में तकलीफ होती थी। मैंने सारा ध्यान बहन वाले स्कूल की प्रवेश परीक्षा की तैयारी में लगा दिया और वह वक्त आ ही गया जब मेरा दाखिला

वहां हुआ। बहरहाल, यह मेरे जीवन का सबसे निर्णायक मौका था। इसलिए नहीं कि मेरा चयन एक अच्छे स्कूल में हो गया था या अब मैं बहन के पास जाने वाली थी। यह बिंदु खास इसलिए था कि यहीं पर, जीवन के इसी पड़ाव पर मुझे एक मुकम्मल पता मिला था। बिना लागलपेट का अपना पता। हुआ यूं कि उस विद्यालय की परीक्षा के चार चरण होते और हर चरण के बाद घर में सफलता असफलता की सूचना वाला पत्र आता। मेरे पिता ने पत्र व्यवहार के लिए जो पता दिया था उसमें 'डॉटर ऑफ' या 'केयर ऑफ' जैसी किसी चीज का जिक्र नहीं था। उस पते में मेरा नाम था और उसके ठीक बाद बस 'लाल पोखर दीघी, हाजीपुर' दर्ज था!

मैं कीमो कक्ष में पहुंच चुकी थी। वह सातवां चक्र था। यानी उत्तरार्ध का पहला फेरा। आदतन सबसे पहले अपनी पसंदीदा कुर्सी पर कब्जा जमा लिया मैंने। मैं उकताकर इंतजार करने लगी कि कब जॉर्ज जल्दी से स्लाइन वगैरह फिट करे और मैं चैन से लेटकर आंखें बंद कर लूं। मुझे उस खेल में मजा आने लगा था। जैसे ही स्लाइन लगती और मैं रिसाइकलर चेयर पर लेटकर आंखें मूंदती, अतीत से निकलकर कोई न कोई पात्र सामने आ खड़ा होता। यह सब औचक ही होता। बिना पूर्वसूचना, दस्तक।

उस दफे आंखें बंद करते ही दादी सामने आ गईं। खाली हाथ नहीं, लहसुन की बहुत सी पत्तियों और कलियों को तेल में भूनकर उसे आलू के मसाले में मिलाकर अद्भुत स्वाद पूरियां लिए प्रकट हुई थीं वे। मैंने जीवन में सबसे करीब से जिस मौत को देखा था वह दादी की ही मौत थी। वे पढ़ी लिखी तो जरा भी न थीं पर अपने मां बाप की इकलौती संतान थीं। गांव घर के माहौल में लगातार रहने से उनके मन में भी पुत्रमोह तो था, और क्यों न हो वे भी दो पुत्रों की मां थीं, पर कहीं न कहीं उन्होंने भी बचपन में अपने मां बाप को पुत्रविहीन होने के ताने सुनते देखा होगा। इसलिए उनके मन का एक कोना मेरी मां और हम दोनों बहनों के लिए धड़कता तो था। मेरी दादी के पिता का बचपन में ही देहांत हो गया था और उनकी मां ने उन्हें अकेले अपने दम पर पाला था। दादी की मां, जिन्हें हम बुढ़िया नानी कहते थे, मेरी दादी की मौत के बहुत साल बाद तक जीवित रहीं। जब तक दादी जीवित थीं उनकी मां हर महीने उनसे मिलने आतीं कुछ घंटों के लिए। बुढ़िया नानी, मेरी मां को बहुत प्यार करती थीं। यह भी शायद एक वजह थी कि मेरी दादी मेरी मां को नजरंदाज नहीं कर पाती थीं। दादी के बड़े बेटे यानी मेरे चाचा सुखी संपन्न थे और दूसरे शहर में रहते थे। घर में खटपट होने पर दादी अक्सर उनके यहां चले जाने की बात उच्च स्वर में कहतीं पर उनका मन हमारे सिवा ज्यादा कहीं टिक न पाता। मां की पढ़ाई लिखाई को लेकर उन्होंने बीच बीच का रुख अपनाया था। मां हफ्ते में लगभग दो दफे शोध के सिलसिले में मुजफ्फरपुर जातीं क्योंकि वहीं उनकी गाइड और पुस्तकालय दोनों थे। जब मां चली जातीं, तब उस दिन दादी हम दोनों बहनों का खूब लाड़ करतीं और रोटी तक को घी में डीप फ्राई करके परोसतीं। मेरे पिता से उनका अक्सर अबोला रहता और मेरे पिता को उनकी अनुपस्थिति में वे 'जरनैल सिंह' कहकर संबोधित करतीं। पिता को दादी का घर घर जाकर दिन भर मंडली जमाना, चप्पल न पहनना आदि पसंद न था और इस टोकाटोकी से वे अजिजाई रहतीं। दिलचस्प कि अपने आखिरी दिनों में जब दादी के पैरों में बहुत भयानक घाव हुआ और गैंग्रीन तक की नौबत आई तब सिर्फ उन्हीं जरनैल सिंह से ही वे अपने घाव साफ करवाती थीं।

बहरहाल, दादी का गांव की औरतों के बीच विशेष रुतबा था। वजह ये कि वे घर के दरवाजे पर कुर्सी लगाकर शाम की चाय बाबा के साथ पीती थीं। उनकी सहेलियां सब

एक से बढ़कर एक विचित्र थीं। रिश्ते में सब गोतिया या पट्टीदार निकलती थीं। एक स्त्री, जो ग्रूप में सबसे बुजुर्ग थीं और जिसे सब लोग बड़की भौजी कहते थे, मुझे बहुत दिलचस्प लगतीं। वे नकिया कर अपनी बात कहतीं और कुछ बोलते या न भी बोलते हुए उनकी गरदन लगातार डुलती रहती थी। वे मरखप कर बहुत पीछे कहीं छूट गई होंगी पर जब मैं काशी हिंदू विश्वविद्यालय पहुंची और भरतनाट्यम के डिग्री कोर्स में मेरा दाखिला हुआ तब गरदन को लय में दाएं बाएं डुलाते हुए मैं आंखों में आंसू आ जाने की हद तक उनका स्मरण किया करती। मैं बचपन में उनका मजाक उड़ाती थी पर अब एहसास हो रहा था कि किसी भी हल्की फुल्की विसंगति के साथ जन्मी स्त्रियों का जीवन कितना दूभर होता होगा। दादी की एक दूसरी सहेली गटागट हुक्का फूंकती। उनके गले में घेघा था और जमीन जायदाद के झगड़ों की पोंछेती में वे अपनी खुटराकस बुद्धि के दम पर खासी लोकप्रिय बन जाती थीं। मेरी दादी कामकाज में विशेष उत्साही न थीं पर अपनी कुछ कलाओं पर उन्हें विशेष गुरूर था। इनमें जमे हुए दही को काटना भी शामिल था। उन्हें ऐसा लगता रहा कि दूसरा कोई दही में कलछुल या ऐसा कुछ भी लगाकर दही निकाले तो कालांतर में बर्तन में बचे रह गए दही में पानी का अंश ज्यादा आ जाता था। इस तरह की महीनी से लाल पोखर आबाद था। इस हद तक कि अपनी लगभग मृत्युशैय्या से वे इस बात के लिए भी बुक्का फाड़कर रो पड़ी थीं कि उनके जाने के बाद घर में दही कौन परोसेगा?

मेरी मां का मानना था कि उस पोखर के पानी में झूठ और गप्प मिला था। और बचपन में मेरी कल्पनाशीलता को लाल पोखर का जलवा माना जाता था। मैं कभी भी जवाब देने में हार न मानती थी। बचपन में एक सवाल आकर टकराया कि पान खाने से मुंह क्यों लाल होता है? मैंने जवाब दिया कि सुपारी जब अंतरियों से टकराती है तो अंतरियां खून फेंक देती हैं और मुंह लाल हो जाता है। समस्तीपुर वाले बचपन में मैं अक्सर मां, पिता या मौसियों के साथ फिल्म देखने जाती थी। मेरी बहन मारधाड़ के दृश्य देखकर बहुत घबड़ा जाती थी। वह सिनेमाघर न जाना चाहती पर समस्या यह होती कि एक बच्चे को कहां छोड़ा जाए। लिहाजा उसे किसी तरह फुसलाकर ले जाया जाता और वह रास्ते भर पूछती जाती कि क्या हम बांग्ला फिल्म देखने जा रहे हैं? उसने मन में यह धारणा बना ली थी कि बांग्ला फिल्मों में हिंसा नहीं होती। मुझे उस वक्त हमेशा रोल मॉडल की आभा में दमकने वाली अपनी बहन, बड़ी डाउन मार्केट लगती और अपनी दिलेरी पर मन झूम उठता। मैं होंठ तिरछा कर मुस्कराने लगती। हॉल में पहुंचकर जैसे अंधेरा किया जाता, मेरी बहन सीट की तरफ मुंह करके उल्टी स्थिति में बैठ जाती। उसकी इस डरपोक हरकत से मेरे भीतर का जोश उफना जाता मैं दुगुने उत्साह में भरकर तालियां पीटती हुई ढिशुम ढिशुम का आनंद लेने लगती।

बाद में जब बहन ने विद्रोह की सांद्रता कुछ बढ़ा दी तब कोई एक बड़ा सदस्य उसके साथ घर में रुकने लगा। सिनेमाहॉल से मेरे लौटकर आते ही बहन मुझसे फिल्म की कहानी पूछती। मैं एक ही फिल्म की कहानी का हर दूसरे दिन नया संस्करण सुनाती। बहन हर बार कहानी शुरू होने के पहले बड़े यकीन से पूछती कि इस बार वाली कहानी ही फिल्म की सच्ची कहानी थी न? मैं माथा डुलाती और शुरू हो जाती। बहरहाल, दोनों में से कौन भोला था कौन चालाक, यह रहस्य ही रहा।

दादी अपने अधिकारों के प्रति सजग थीं। गांव में गर्मियों में लगभग हर दूसरे दिन उच्च स्वर में बाजा बजने लगता और घर घर भोज का न्यौता बंटने लगता। अमूमन शादी ब्याह में घर के मर्दों के लिए भोजभात का बुलावा आता। पुरुष समाज भोज खाने चला जाता।

ऐसे में दादी, घर की स्त्रियों के लिए खीर पूरी बनाने चल देतीं। उन्हें आधुनिक स्वाद की भी बड़ी कद्र थी और हमें पसंद आने वाले अंवागर्द स्वादों में उनकी बढ़ी चढ़ी भागीदारी होती। पर यह सब शायद इसलिए भी था कि उन्हें तमाम तरह की बीमारियां थीं और उनका खाना पीना गहरे प्रतिबंध के साये में था। एक बार वे बगैर चप्पल पहने घूमने निकाल गईं और उनके तलुवे में कोई कांटा चुभ गया। उन्हें मधुमेह था और यह छोटी सी लापरवाही भारी पड़ गई। तुर्रा यह कि मेरे पिता और उनके जरनैल सिंह के डर से उन्होंने इस बात को कुछ दिन छिपाकर रखा। परिणाम बहुत घातक हुआ। घाव भीतर भीतर बहुत बढ़ गया। उन्हें, एक बड़े अस्पताल ले जाया गया पर वे चली गईं। अंत समय तक वे लगातार बस अपनी मां और हम दोनों बहनों को याद करती रहीं। इस तरह से अपने आगे पीछे की दो पीढ़ियों की स्त्रियों में अपना प्राण टांगे हुए, वे चली गईं। जाड़े का दिन था। जनवरी का महीना। तड़के उनके शरीर को अस्पताल से घर लाया गया। रोने चिल्लाने की आवाज से मेरी आंखें खुलीं। यह अप्रत्याशित ही था क्योंकि एक रात पहले ही खबर आई थी कि वे सुधार की राह पर थीं। उसी दिन मेरी परीक्षा थी। हजारीबाग वाले स्कूल के इम्तिहान का पहला चरण।

मैं पहली प्रतिक्रिया में अवाक हुई। फिर अजीब दुनियादार से विचार मन में आने जाने लगे। कभी यह भी लगा जोर से कि अच्छा हुआ अब परीक्षा देने न जाना होगा आदि। यह भी विचित्र था। इस परीक्षा के सहारे ही बहन वाले स्कूल में नामांकन होता और इसी के छूट जाने की खुशी भी हो रही थी। मुझे एहसास हो रहा था कि यह एक काला खयाल है। उसे मिटाने के लिए मैं जोर जोर से रो भी लेती। मेरे बाबा जो घटना के बाद से खुद को संभाले थे, मुझे रोता देखकर रोने लगे। यह तो मेरे लिए खुद को धिक्कार लेने वाली बात थी। मेरे मां और पिता जो दिन रात मेहनत करके मुझे उस परीक्षा के लिए तैयार करवा रहे थे, उस रोज होनी के आगे ठिठके थे और लगा कि अब परीक्षा का छूट जाना तय था। तभी बाबा मुख्य अभिनेता की हैसियत से दृश्य में आए और उन्होंने घोषणा कर दी कि मेरी परीक्षा नहीं छूटेगी। गांव के सामंती माहौल में इस बात का खयाल कि एक छठी क्लास की लड़की की परीक्षा न छूटे, जबकि घर के दरवाजे पर अर्थी रखी हो, एक क्रांतिकारी बात थी। लेकिन इन सबका परिणाम यह निकला कि अपने घनघोर एकांत में मैं यह जान गई कि मैं दरअसल किसी की सगी न थी। अपनी तो बिल्कुल भी नहीं।

यह आंखों में एक गोलमटोल बूंद के ठीक ठीक समाने का वक्त था कि डॉक्टर देशमुख राउंड पर आ गए। मुझे आंखें खोल देनी पड़ीं। डॉक्टर हाथ पैर, पेट सब जगह दर्द या तकलीफ के निशान खोज रहे थे। इधर मैंने भी जोर जोर से 'कोई तकलीफ नहीं हो रही' का जाप आरंभ कर दिया। आखिर में हर बार की तरह वे खुश होकर मेरे सिर पर हाथ फेरकर चले गए और मैं आंखें मूंदकर अपनी दुनिया में लौटने की कोशिश करने लगी। वह अपने स्याह कक्षों को याद करने का दिन साबित होता जा रहा था। लिहाजा, दुबारे से आंखें बंद करने पर दादी नहीं, बल्कि एक और छल वाली तस्वीर सामने आ गई।

मेरे नानाजी सीआईडी में थे और अक्सर काम के सिलसिले में बाहर रहते। नानी ही घर परिवार रिश्ता नाता सब संभालतीं। नानी के अचानक चले जाने के बाद नाना भहरा गए। मां की शादी हो गई तत्काल बाद, लेकिन घर में पीछे तीन छोटी मौसियां थीं। लिहाजा मां अपनी बहनों के पास ही रहने लग गईं। जब तक एक एक करके सारी बहनों की पढ़ाई लिखाई और ब्याह आदि न हो गया तब तक हम वहीं रहे। इसीलिए हमारा आरंभिक बचपन ननिहाल में बीता। नानाजी को मेरी बहन से बहुत लगाव था यह एक खुला सत्य था। वे मुझे

दुलार में 'फ्रॉड कंपनी' कहकर पुकारते थे, उस वक्त मेरी उम्र सात आठ रही होगी। ऐसे नाम की क्या वजहें रही होंगी, इसकी तफसील देने की जरूरत क्या! बस इतना कि यह मेरा अरजा हुआ नाम था। नानाजी की दिनचर्या में बहुत अनुशासन था और अपनी इस खूबी को उन्होंने आखिरी समय तक निभाया। उन्हें अपने अंत का कुछ अनुभव हो गया था इसलिए जिस दिन वे गुजरे, उस रोज उन्होंने सुबह की सैर, दाढ़ी बनाना, नहाना, अखबार पढ़ना जैसी सारी दिनचर्या बहुत जल्दी जल्दी पूरी की। उनसे जुड़ी एक सबसे गहरी याद का रास्ता भी मेरे एक झूठ से होकर ही जाता था।

हम लोगों के हाजीपुर आ बसने के बाद नानाजी वहां आते और महीनों तक हमारे साथ रहते। मेरे बाबा और उनमें समझदारी भरी दोस्ती थी। तब तक हम दोनों बहनें हजारीबाग के स्कूल के छात्रावास में रहने लगी थीं और साल में दो बार—मई और दिसंबर में हम घर आते। स्कूल के हिस्से वाले वक्त में अगर कोई बहुत ज्यादा बीमार पड़ता तब ही बीच में उसे घर जाने की अनुमति मिलती। दुर्गापूजा और दिवाली के कुछ बीच का वक्त था। हजारीबाग की मिट्टी बड़ी रुखड़ी थी। कभी मैं गिरी और मेरे बांह में गहरा जख्म हो गया। संयोग की बात थी कि स्कूल यूनिफॉर्म के शर्ट की बांह से रगड़ खाकर वह घाव बार बार जिंदा होता रहा। फिर बाद में मुझे कुछ दिन आश्रम में आराम करने की छूट भी मिली ताकि यूनिफॉर्म न पहनना पड़े। आराम वाले उन्हीं दिनों में मेरे दिमाग में यह बात आई कि अगर मैं इस तकलीफ को बड़ा बना देती हूं तो शायद बीच में घर जाने का टिकट मिल जाए। अब मैं रोज खुद ही जख्म को किश्तों में चोट पहुंचाकर बड़ा बनाने लगी। जल्द ही परिणाम सामने आया, जाहिर है मेरे हक में। सूचना घर पहुंची और पिता हजारीबाग पहुंच गए। मैं उनके साथ घर के लिए रवाना हुई। रात भर की बस की यात्रा थी। बड़ी मस्ती में जीत की खुशी में झूमती हुई अलस्सुबह मैं घर पहुंची। । रात का अंधेरा अभी पूरी तरह छंटा नहीं था। दरवाजे पर दस्तक देने के पहले ही हम लोगों की आहट पाकर नानाजी दौड़े आए। वे उन दिनों हाजीपुर आए हुए थे और रात भर जागकर मेरा इंतजार कर रहे थे। उन्होंने मुझे गले से लगाया और जोर जोर से हिलककर रोने लगे। पैर के नीचे शायद हमेशा धरती ही होती है। पर जो भी था उस वक्त, मेरी जमीन की हैसियत से मौजूद वह सब बेतरह कांप उठा। क्या थी मैं! और क्या थे मुझसे प्रेम करने वाले ये लोग! उस स्पर्श और रुदन ने बचपन से उस रोज तक चली आई उस मान्यता को धो डाला कि नानाजी को मेरी बहन के सिवा कुछ सूझता न था। पर उस महा अहसास के वक्त भी एक जर्रा खुशी न हुई। बस मैं ठगेपन की हद को छूकर स्तब्ध हुई जा रही थी। संभव है मैंने उनके भीतर से उनके व्यक्तित्व की अनुशासन वाली कुछ कठोर चीजें अपने लिए अपना लीं और कोशिश की कि उसे सदैव साथ रखूं।

बचपन क्या बिल्कुल भी होशमंद नहीं होता या कि चालाकी की हद तक होशमंद होता है। और आखिर तक इंसान वैसा ही बना रहता है जैसा कि बचपन में हो। बस एक उम्र के बाद ऊपरी मुलायमियत खत्म हो जाती है और हम रुखड़े आवरण में प्रस्तुत दरअसल उसी पुरानी चीज को, बड़े हो चुके का दर्जा दे देते हैं। अपने भीतर झांककर देखती हूं तो खुद को कभी भोलाभाला विषदंत विहीन नहीं पाती। बल्कि लगता है मैं सदैव से एक प्रहरी ही रही। कठोर प्रहरी। अनुशासित प्रहरी। छल छद्म युक्त प्रहरी। मां पिता ने जो आजादी दे दी बगैर मांगे, उस आजादी की प्रहरी। यह भी एक संभावना बनती है कि कभी मां पिता के साथ भूमिका की अदला बदली भी की हो मैंने, सुदूर बचपन में ही।

कीमो के आठवें हफ्ते तक दूसरी तकलीफें सच में जाती रहीं। या तो अब शरीर अभ्यस्त

हो गया था या फिर उसके अस्तित्व को अस्वीकार करते करते मैंने सच में उसे भुला दिया था। केश धीरे धीरे कर के किश्तों में जा रहे थे। नौवें हफ्ते के बाद बालों के गिरने का क्रम रुक गया। तब तक किनारे के केश ही बस इस जुगत में बचे थे कि टोपी पहन लेने के बाद कोई बूझ नहीं पाता था कि कोई कमी थी। भौहों के बाल बीच में कब गए कब आए, इसका मैंने हिसाब नहीं रखा क्योंकि वे पहले भी जीरो फिगर वाली छरहरी काया ही रखते थे। मैंने सुना था कि रेडिएशन की प्रक्रिया में रोज औसतन दो से तीन मिनट लगते हैं इसलिए मैं मन मन खुश थी कि अब रास्ता आसान हो चुका है। इधर केश गिरने की प्रक्रिया जैसे बंद हुई, नए घुंघराले बाल आने लगे। टोपी उतार देने के बाद मेरी शक्ल बहुत जादुई लगती, जिसमें किनारे के हिस्से में कान के निचले सिरे जितनी लंबाई के सीधे साधे बाल थे और बाकी जगह पर नवजात घुंघराले बाल। जो भी जैसा था, बिलकुल नया और ताजा था। बहुत सी दवाइयों के असर में शरीर सूज चुका था और स्वाद से नाता बिलकुल टूट चुका था, पर इन सब को आसानी से धता बताया जा सकता था क्योंकि उपन्यास गति पकड़ चुका था। मैं होश में यह प्रयास करती कि उस लिखे जाते में जो भी सहजता से आना है आए और मैं कभी सचेत न हो जाऊं। पर शायद हो यह रहा था कि मैं रोम रोम से सजग हो जा रही थी कि तत्कालीन जीवन के उस दूसरे पक्ष की कोई छाया उपन्यास में न पड़े। यह द्वंद्व उपन्यास के लय पाने के साथ ही ज्यादा मुखर होकर परेशान करने लगा था। जब वहां कोई पात्र कातर होता तो चोर नजरों से मैं उसमें अपना साम्य तलाशने लगती।

इन्हीं सब के बीच कीमो का द एंड आ गया और अगले पड़ाव की तरफ हम बढ़ चले। इस दूसरे ठिकाने का पहला दिन ही बहुत भारी साबित हुआ। शुरुआती जांच, बायोप्सी, सर्जरी, फिर जख्म की ड्रेसिंग, पट्टी उतरना सब ऐसी प्रक्रियाएं थीं जिनमें शरीर पर ऊपरी वस्त्रों का कोई अस्तित्व न था। वाकई न था, क्योंकि शायद मन में आशंका और भय इतना था कि उस तरफ ध्यान ही न गया। अब इस नई प्रक्रिया में शरीर का एक डमी खांचा बनाया जाता और उस खांचे में जीवित, साबुत, अडोल लेटकर मशीन को अपने ऊपरी निर्वस्त्र हिस्से के ऊपर से गुजरते हुए देखना और महसूस करते जाना था। प्रक्रिया शुरू होने के पहले जब यह सब मुझे बताया गया तब मेरा मन—मेरा बहुत मजबूत और तैयार मन, कांप गया और मुझे लगा कि अब आगे मैं न चल पाऊंगी।

मैं उस कमरे के बाहर बैठी थी। मुझे हमेशा से यकीन था कि मेरे पास उठापटक में माहिर कुछ दूसरे पत्तों के साथ, हुकुम का इक्का भी था। मैंने कभी भी उसे देखा न था। पर वह एक ठोस चीज के ऐतबार में मेरे पास था। मैं उसे हर हाल में बचाकर रखना चाहती थी और उसका इस्तेमाल करने के लिए उसके कद के मौके तक इंतजार करना चाहती थी। खैर उसके चले जाने की बारी आती न आती, उसका स्मरण और यह संतोष कि वह है मेरे पास, बहुत से मौकों पर आगे बढ़ने का हौसला दे देता। मेरा नाम पुकारा गया। मेरी कमरे के भीतर जाने की बारी आई। मां मेरे बगल में थीं। अस्पताल के गलियारे में। उन्हें मानों कुछ खबर न थी। अपनी संतानों के चेहरे को पढ़ सकने वाली किसी प्रोग्रामिंग का ईजाद वे बरसों पहले कर आई थीं। उस वक्त जाने कैसे उन्होंने जान लिया था कि मैं हमेशा की तरह चिकित्सा कक्ष में जाने के पहले मुस्कराकर उन्हें देखूंगी और इसी प्रत्याशा में उनका चेहरा मुस्कराने के ठीक पहले वाले पड़ाव पर ठिठका खड़ा था। मैं उस वक्त इस हद तक खुद को वापस पीछे खींच लेने के आसपास कहीं थी कि उन्हें मुस्कराने का इशारा दिये बगैर, कमरे के भीतर दाखिल हो गई।

वह कमरा ठंडा था। टेबल पर मेरे ही शरीर का एक सांचा पड़ा था। ऊपरी हिस्से से कपड़े के तमाम आवरण हटाकर मुझे उस सांचे में अपने आप को फिट कर देना था। बूंद बन जाना था या तूफान, यह निर्णय करने के लिए मेज तक पहुंचने जितना बस सात आठ कदम का फासला था। मदद करने के लिए एक तकनीशियन जरूर खड़ा था पर जाहिर है वह चार चार मिनट में हर मरीज को निबटा देने की कवायद में मेज के ऊपर फैली मशीन से ज्यादा मशीन था और इंसानों की खुशकिस्मती कि मशीन सोच नहीं पाती न किसी के बारे में कोई धारणा ही बनाती है। जब मैं उस सांचे के बीच लेटी तभी यह बात तय हो गई कि मैं उस कमरे से ज्यादा ठंडी साबित हो गई थी। सांचे में सब चीजें सही अंदाज में फिट हो गई थीं। मेरा सांचा मेरा ही साबित हुआ था। और इसी रिश्तेदारी के बीच कहीं मुझे लगा कि क्या गजब हो कि कभी मैं जाते हुए सांचा उठा ले जाऊं और इसी मेज पर सांचे के बदले में अपना ढांचा छोड़ जाऊं। सांचा और ढांचा। दोनों एक दूसरे के हेरफेर में कभी मेरे साथ चलें तो! बस इस खयाल ने मुझे मौज के पाले में धकेल दिया। भीतर का सचेतपना जाता रहा। निश्चिंतता सी भी थी कि मशीन के बंद हो चुकने पर उठ जाने का इशारा हो जाने के बाद भी अगर मैं सांचे से उठना भूल गई तब भी वक्त का पहरेदार वह तकनीशियन मुझे वहां से उठने की याद दिला ही देगा।

मैं कक्ष से वापस लौटी तो बहुत जोर की मुस्कराहट में थी। क्या ऐसा संभव है! क्या यथार्थ और फंतासी का घालमेल संभव है जीवन में और इन दोनों के मिल जाने से कौन सा रसायन तैयार हो पाता! यह एक बहुत जीवित स्मृति थी जिसे मैं ताउम्र याद रखना चाहती थी। पर खतरा था कि मन मन इस याद की आवृति करने से इसका इनोसेंस एक ठस जड़ अनुभूति में बदल सकता था। फिर मुझे क्या करना चाहिए था? अगले रोज उस कक्ष में दाखिल होने के बाद सबसे पहले तो मुझे उस तरह से सोचना छोड़ना चाहिए और किसी नई अनुभूति का आह्वान करना चाहिए! वे तमाम सवाल जो जीवन में थे, पर न थे, उनका वक्त आ गया था क्या?

वक्त और समय एक हैं या एक ही चीज के दो पाट हैं। दो अलग पाट हैं। इन दोनों को कुछ छूकर वापस आना और बहुत छूने की तमन्ना करते जाना मुझे पसंद था। अगर ये दोनों अलग थे तो दोनों में आवाजाही करना बहुत रियाज की बात थी और अगर लगातार का एक भी तार बीच में कहीं मद्धम पड़ा तो बात बहुत पीछे छूट जानी थी। पीछे छूट जाना बात का हो या इंसान का, हमें बुरा नहीं मानना चाहिए।

मां का शोध मेरे हजारीबाग चले जाने के बाद चल निकला था। वे कोशिश करतीं कि हमारी एक छुट्टी से दूसरी छुट्टी के बीच काम को तेजी से पूरा कर लें ताकि महीने दो महीने की छुट्टी में जब हम आएं तो वे हमें पूरा वक्त दे सकें। पर ऐसा हो कहां पाता था। वे शर्मिंदा हुई सी बचेखुचे वक्त में अपने शोध का काम पूरा करतीं। पर तब तक शायद हम भी उन किताबों को कुछ अपना चुके थे। लिहाजा मैं मां के बगल में बैठकर उन कविताओं को पढ़ने और रटने की कोशिश करती। इस क्रम में 'राम की शक्ति पूजा' ने आकर्षित कर लिया, वजह यह कि उसके पात्र पहचान वाले थे। कविता को रटने का काम मैंने भोलेभाले मन से शुरू किया था पर जल्द ही खुराफात सिर उठाने लगी और कविता में उपस्थित हनुमान का बल दल भी मुझे भयभीत न कर सके। हुआ यूं कि उन्हीं दिनों हजारीबाग वाले विद्यालय में अलग अलग कक्षाओं के बीच अंत्याक्षरी होनी थी। ठीक छुट्टियों के बाद यह सब शुरू होता। मुझे क्लास की दलनायिका जैसा भारी भरकम तगमा मिल गया। छुट्टियां शुरू होने के

पहले मेरे दल ने सारी सदस्य लड़कियों के बीच तीन चार वर्ण बांट लिए थे और उन्हीं वर्णों से कविताएं याद कर हमें वापस स्कूल लौटना था।

नियम यह था की 20 पंक्तियों से लंबी अगर कोई कविता हो तो उस कविता के बीच के किसी अंतरे को भी एक नई कविता के सम्मान से सुनाया जा सकता था। मुझे लगा कि 'राम की शक्ति पूजा' कविता से स्कूल में कोई परिचित न होगा। अगर मैंने वह कविता रट ली और उसके दो तीन अंतरों को सुनाने के बाद अंत में कोई ऐसा शब्द अपनी तरफ से लगा दिया, जिसके अंत में 'क्ष' या 'त्र' जैसे वर्ण आते, तो दूसरी तरफ का दल बड़ी आसानी से हार जाएगा। उन वर्णों से शुरू होने वाली कविताएं मिलनी मुश्किल थीं। इस कविता को अलग अलग अंतरे में अलगाकर कई बार सामने वाले के लिए ऐसे अवसर उत्पन्न किए जा सकते थे। इसी जोश में मैंने 'राम की शक्ति पूजा' रट ली। एक कठिन लंबी कविता क्या कंठस्थ हुई मुझे कविता रटने का चस्का लगा गया।

इस तरह बहुत सारे कतरब्यौत से लैस होकर बड़े उत्साह से मैं स्कूल पहुंची। अंत्याक्षरी शुरू हुई। मैं ऐसी भी अनाड़ी नहीं थी कि सबसे पहले तुरुप का इक्का चल दूं। लिहाजा 'राम की शक्ति पूजा' को मैं बचाकर रखना चाहती थी। 'रश्मिरथी' का बोलबाला था। उसके बहुत से तीर दोनों तरफ से चले। वीर रस से होते हुए 'रात आधी खींचकर मेरी हथेली एक उंगली से लिखा था प्यार तुमने' जैसे उस उम्र वाले सनसनी दुर्ग से भी कभी कभी हमारी अंत्याक्षरी टकरा आई। एक मौका आया जब मैंने रवि हुआ अस्त ज्योति के पत्र पर लिखा अमर की डोर थाम ली। मैं बोलने उठी तो कविता मुझे याद रह गई पर उद्देश्य बिसर गया। देवि ने पुष्प चुराने की जगह मेरी योजना से आखिर के 'क्ष' 'त्र' से समाप्त होने वाले वर्ण चुरा लिए और मैंने एक सही नोट पर अपनी बात समाप्त की। आखिर में हम जीते पर उस कविता से मैं नजरें चुराने लगी। लेकिन अंत नहीं था यह। बेशक शुरुआत थी।

मेरी बहन मुझसे ऊंची कक्षा में थी और उधर उसके खजाने से निकले 'लाई हूं फूलों का हास लोगी मोल लोगी मोल' ने रातोंरात स्कूल क्रश की हैसियत पा ली थी। मेस में, बाथरूम की कतार में, स्टडी आवर में हर तरफ लड़कियां फूलों का हास ही बेच रही थीं पर कोई बहन जैसी लोच से मोल नहीं लगा पा रहा था। बहरहाल, निराला, पंत प्रसाद, महादेवी, दिनकर का जीवन में एक धमक के साथ प्रवेश हुआ था।

उसी के समानांतर एक नया दरवाजा भी खुला। हाजीपुर वाले स्कूल में मेरी बहन बतौर नृत्यांगना प्रसिद्ध थी। जब मैं हजारीबाग आई तो पाया कि यहां वह नाटकों में झंडे लहरा रही थी। इस बात की घर में हमें जरा भी खबर न थी। इस स्कूल में अंतर आश्रम प्रतियोगिताओं का बड़ा प्रपंच था। नाच, लोकगीत, देशभक्ति गीत, वाद विवाद आदि तो थे ही, पर सबसे बढ़कर नाटकों का क्रेज था। मेरी बहन ट्रेजडी क्वीन की हैसियत से उस फलक पर मौजूद थी। वह मंच पर चढ़ती तो हम सब पहले सफेद शर्ट की बांह से और कालांतर में लोर झोर होकर स्कूल स्कर्ट से ताबड़तोड़ अपने आंसू पोंछने लगते। मुझ पर बैठे बिठाए बड़ा भार आ गया। अभी अभी पिछले दृश्य में किसी तरह नाच का अध्याय पूरा कर आई थी मैं। और अब यह नई चुनौती सामने थी। कोई तुलना न करते लोग, तो मुझे क्या दुख था! पर इस स्कूल में भी मेरे दाखिले के तुरत बाद मुझसे अपेक्षाएं पाल ली गईं। लेकिन मेरी किस्मत इस बार कुछ अच्छी साबित हुई थी। पहले नाटक में मुझे सलीम की भूमिका मिली जो बीमार था—मरणासन्न सा और जिसे पूरे वक्त सुंदर कपड़े पहनकर मंच के बीचोंबीच लगे राजसी पलंग पर लेटे रहना था। मां बाप की अथक दुआओं के बाद आखिर में उसकी आंखें खुलतीं

और जोधा बनी मेरी बहन खुशी से रोती हंसती आदि। देखा जाए तो यह भूमिका पिछले स्कूल के सालाना जलसे के मल्लाह वाले रोल जैसी ही थी, जिसमें बिना कुछ किए दिए पूरे वक्त स्टेज पर मौजूद रहना था। पर घाटा इस बार इस तरह था कि लेटे रहने के कारण किसी तस्वीर में शुमारी न हो सकती थी बस लेटे लेटे फील गुड होना संभव था कि शान राजसी है और नाटक का इतना सब प्रपंच मेरे गिरते स्वास्थ्य की वजह से ही था।

बहरहाल उसके आगे भी नियति बहुत बेशर्मी से अपनी नकल करने पर आमादा थी। इस बार भी ठीक वही वही हुआ। बहन की दसवीं की परीक्षा पास थी। उसके बैच को उस साल नाटक आदि से दूर रखने का फैसला हुआ था ताकि उनकी पढ़ाई में बाधा न आए। उधर स्कूल में नाटक के लिए नायिका की तलाश शुरू हुई। रविवार का दिन था और मैं दोपहर में चादर तानकर सो रही थी और मेरे तलवे उघरे थे। उसी वक्त हमारी मेट्रेन और हिंदी शिक्षिका पूनम दीदी, लड़कियों में भावी नायिका की तलाश करती आश्रम के चक्कर लगा रही थीं। उनके हाथों में भीष्म साहनी के *माधवी* नाटक की स्क्रिप्ट थी। उन्होंने मुझे जगाया और बुला लिया। इस तरह दोपहर की नींद से उठाकर बिना किसी अपराध के मुझे ठोंकपीट कर माधवी बना दिया गया।

उधर जब हम छुट्टियों में घर आए तो देखा *हंस* नाम की एक पत्रिका इधर उधर लहराती फिर रही है। । मां का शोध पूरा हो चुका था और अब ईर्ष्या या दोस्ती जो भी करनी थी उसके लिए उन दुबली पतली पत्रिकाओं का ही सहारा था। पिछली बार के अनुभव से लगा कि ईर्ष्या करने का कोई विशेष हासिल नहीं। यह भी बात थी कि मां के हाथों में किताबें होतीं तो वे सब औरतों से विशिष्ट लगतीं और हम मन ही मन फूल के कुप्पा हो जाते। इसलिए *हंस* से दोस्ती हो गई। बगैर किसी उम्मीद वाली दोस्ती क्योंकि पन्ने लाख उलट पुलट लें भीतर क्या लिखा है यह जानने की दिलचस्पी न जागी थी। पर वैसे भी निरर्थक उलटना अच्छा लगता था, वजह कि मां का सानिध्य मिलता था।

रेडिएशन के लिए हफ्ते में पांच दिन लगातार अस्पताल जाना होता। बहन दफ्तर से घड़ी घड़ी पर फोन करती और एक ही बात को अलग अलग संवादों की आड़ में छिपाकर पूछना चाहती, वही शाश्वत सवाल कि मैं कैसी थी उस वक्त। शाम में घर लौटकर वह देर रात तक मेरी मेडिकल रिपोर्ट पर शोध करती।

बहन को सब पता था। वह डॉक्टर के चेंबर के बाहर बैठकर हवा में नजरें टिकाए भविष्य पढ़ लेती थी। एक मरीज के भविष्य में बहुत कम ही विकल्प होते हैं। इसलिए उनके मामले में बातें जल्दी पढ़ ली जा सकती हैं, अगर आंखें अनुभवी हों। वह मेरा नाम पुकारे जाने पर मुझसे पहले कमरे में दाखिल होने की चेष्टा करती और निकलते वक्त कुछ बाद तक वहां रह लेना चाहती। वह मुझे दी गई जानकारी से हमेशा थोड़ा अधिक पा लेने की चाह में रहती। बल्कि वह डॉक्टर के पास की जानकारी से भी थोड़ा ज्यादा जान लेना चाहती। वह हर असंभव के लिए मुझे तैयार कर लेना चाहती और मेरी उस बात पर आसानी से राजी हो जाने के बाद खुद दूसरी तरफ मुंह फेर लेती। वह बचपन के उसी फ्रेम के इर्दगिर्द कहीं फ्रीज हो गई जहां आपसी धकेला धकेली में हम विपरीत दिशाओं में गिरे थे और संयोग से मेरा वाला रास्ता आग की लपटों से होकर जाता था। वह स्टोव वाली उसी पुरानी आंच में उंगली डालकर उस आंच से मुठभेड़ करना चाहती थी जिसने कभी मुझे जलाया था और जिसके कि बाद आंसू तक बहाने का अवसर नहीं मिला था। न मुझे न उसे।

मेरे पिता और बहन के संबंध बड़े उबड़खाबड़ थे। आदिकाल से दोनों में से कोई

मैदान में एक दूसरे के सामने होने पर झुकने को तैयार न होता। यह बात सबसे ज्यादा मां को उलझन में डालती और वे भुनभुनातीं और साथ ही दोनों की राशि वृश्चिक पर इस चिरस्थायी भिड़ंत का इल्जाम डालना न भूलतीं। मेरे खयाल में विवाद की मूल वजह यह थी कि बहन को आरंभ में ननिहाल का जबरदस्त लाड़ दुलाड़ मिला था। उसे वहां एक कौतुक का सा दर्जा हासिल हुआ था क्योंकि वह ननिहाल में हमारी पीढ़ी की पहली सदस्य थी। लिहाजा बचपन में वह इंसानी गोद से इतर रहना एक पल के लिए भी गवारा न करती और कुछ जिद्दी, कुछ तुनकमिजाज और ज्यादा शोख तबीयत में उसके आरंभिक बचपन को परिभाषित किया जा सकता था। हालांकि मैंने अपने होशमंद होने के बाद हमेशा उसे मेरी गलतियों पर पर्दा डालने वाली और मेरी वजह से स्कूल आदि में लज्जित होने पर भी इस बात का गुस्सा मुझ पर न निकालने वाली शख्स के रूप में पाया। पर पिता के हिसाब में वह जिद्दी और शोख ही थी। मेरी बहन की स्मृति इन सबसे भिन्न थी। वह बड़े हो चुकने पर गाहे बगाहे बचपन की एक घटना के लिए खुद को बहुत धिक्कारती थी जिसमें इंस्ट्रूमेंट बॉक्स के किसी औजार—स्केल या चांद आदि किसी को—तोड़ा उसने था, पर जब पिता ने जोर से पूछा तो उसने मेरा नाम ले लिया। फिर मुझसे पूछा गया तो मैंने भी अपने ही नाम ले लिया और पिट आई। मुझे इस घटना की कोई स्मृति नहीं थी पर अपने दम पर वह इस घटना को जिंदा रखने की कूबत रखती थी। उसकी याद वाली इस बात को मैं हमेशा संदेह से देखती आई थी और बार बार मैंने उससे कहना चाहा कि उसे उस घटना को सरियाकर याद करना चाहिए! मुझे पक्का यकीन था कि अगर यह घटना सच भी होगी तो अपना नाम मैंने बगैर सवाल सुने लिया होगा क्योंकि बचपन के घनघोर एकांत में भी अपनी कोई भोली भाली तस्वीर नहीं थी मेरे जेहन में। इसलिए मेरे तथाकथित भोलेपन को चिन्हित करना गुनाह ही था।

खैर, बड़ी संतान होने के फायदे हैं तो छोटी संतान होना भी कम नफे की बात नहीं। इस भोलेपन उलेपन का फायदा मुझे इसी छोटेपन की वजह से मिला और पिता मुझसे हमेशा से विशेष नरमदिली से पेश आते रहे। बहन ने मन मन उनके खिलाफ मोर्चा खोल लिया था और हमेशा उनके आदेश के खिलाफ ही कुछ करने की कोशिश करती। वह कभी अगर उनके कहे अनुसार कुछ करती भी तो देहभाषा ऐसी रहती कि जरूर पिता को लगता रहा होगा कि बेहतर था वह अवज्ञा ही करती। इस समीकरण ने कालांतर में बड़े उलटफेर किए। बहन हमेशा उनके खिलाफ जोर जोर से क्रांति करती रही और मैं दबे पैर चुपचाप उनके खिलाफ जाकर सीधे सीधे फैसला ही कर लिया करती। जैसे कि पढ़ाई लिखाई में विषय के चयन की बात। चूंकि मां पिता दोनों आर्ट्स के विद्यार्थी रहे, हम दोनों पर विज्ञान और गणित का दबा छिपा दवाब बना रहा।

बहन ने हमेशा पिता के सामने झनक पटक कर और उनकी गैर हाजिरी में खुलकर इसका विरोध किया पर पढ़ाई लिखाई के आखिरी छोर तक उसने विज्ञान का दामन न छोड़ा। मैं गणित में हमेशा एन केन प्रकारेन अव्वल नंबर लाती रही और आईआईटी के फॉर्म खरीदने के लिए मिले पैसे से चुपके से काशी हिंदू विश्वविद्यालय के आर्ट्स का फॉर्म भर आई। थोड़ा और आगे जाएं तो पढ़ाई का अध्याय जल्द लांघकर नौकरी कर ली जाए यह साध बहन से ही मुझे मिली। लेकिन हुआ क्या? वह क्रांति का बिगुल बजाती हुई पोस्ट ग्रेजुएट बन गई और मैंने स्नातक के बाद सीधे सीधे कोर्स की किताबों को प्रणाम कर घर बैठने का फैसला कर लिया और घर बैठकर नौकरी की तैयारी करने लगी। वह विद्रोह तो करती पर ऐन कदम उठाने के वक्त वह पिता के मोह में बंध जाती और मैं चालाकी से अपना काम

निकाल लेती। यानी उसकी आंच में घर भर के उलझे होने की बात का फायदा उठाकर मैंने हमेशा पिता को असली वाला झटका दिया, लेकिन इस सफाई और चालाकी से कि उनके कोप का शिकार हमेशा वही बनती आई।

पिता और बहन के बीच के तनाव में मैं बड़ा सहूलियती रुख अपनाती। जिधर की हवा होती मैं चुपचाप उसके पाले में सरक लेती। फिर भी मोटे तौर पर बहन के साथ ही मेरी गुटबंदी रहती। सबसे ज्यादा मुश्किल मां की होती और वह उन दोनों में संतुलन साधते हुए दुखी रहती। लेकिन इस संबंध को ताउम्र ऐसा एकरेखीय तो न होना था। एक बड़े अंतराल के बाद वक्त दूसरी करवट बैठ ही गया। मेरी बहन की प्रेग्नेंसी का सातवां आठवां महीना चल रहा था। वह ताजा ताजा मुंबई में बसी थी और उसकी पोस्टिंग मुंबई के सीमावर्ती इलाके के सुदूर इलाके में थी। मां और पिता मेरे साथ थे। वे दोनों मन ही मन उस वक्त उसके साथ रहने की ख्वाहिश रखते थे। तय हुआ कि मां ऐन डिलिवरी के वक्त वहां जाएंगी और पिता उस बीच के समय में वहां जाते। मेरी बहन बहुत श्रम करने का हौसला रखती थी और चाहती थी कि आने वाला बच्चा मां के भीतर रहते हुए एक श्रमिक के बच्चे का सा एहसास पाए। मुंबई में लोकल ट्रेन से और आगे फिर बस से एक मुश्किल यात्रा कर वह दफ्तर पहुंचती और उसने ठान लिया था कि आखिरी हफ्ते तक वह बैंक जाएगी। हुआ भी वही। सोमवार को बच्चे का जन्म हुआ और उसके दो दिन पहले वाले शनिवार तक वह दफ्तर जाती ही रही। बहरहाल, पिता जब वहां पहुंचे तो मां और मैं, मन ही मन कुछ आशंकित रहे। पर वे दोनों—बहन और पिता इंसान थे, असीम संभावनाओं वाले इंसान—ये दोनों ने साबित किया। पिता जो बहुत अच्छा खाना बनाना नहीं जानते थे, एक पक्के शेफ बन गए। पहले जब तक उनके भीतर कुछ झिझक थी वे फोन पर मां से बहन की पसंदीदा खाने की चीजों के नाम और उसे बनाने की विधि पूछते और सारा दिन वही सब बनाने में भिड़े रहते। फिर शाम में जब बहन के आने का वक्त आता वे मलाड स्टेशन पर जाकर उसकी लोकल ट्रेन के आने का इंतजार करने लगते। इस तरह एक रिश्ता मोहजाल को महीन बुनने की मुहिम पर लग गया। कुछ दूर तक विश्वास जागने पर पिता खुलकर उससे एक शाम पहले ही पूछने लग गए कि क्या सब खाना है उसे। वह भी उन्हें कोई वॉक ओवर न देती और बहुत ऊंचे ऊंचे लक्ष्य निर्धारित करती। इस तरह पिता मसालों से दोस्ती कर बैठे। अब हाल यह था कि घर में किसी को कुछ एकदम खास खाने की तलब होती है तो उनका ही आह्वान किया जाता।

बहन को जाने अंजाने हमेशा दूसरों के लिए ऊंचे लक्ष्य निर्धारित करने का चस्का लगा हुआ था और मेरा पूरा बचपन और कम बचपन उसकी नकल करने में तबाह हुआ। मैं हालांकि उसे शुरू से ही बराबरी का दर्जा देने की पक्षधर थी और मैंने कभी उसे 'आप' कहकर संबोधित नहीं किया। हम दोनों के मध्य शारीरिक हिंसा बहुत मात्रा में होती और विवाद सुलझाने में किसी की मदद लेना या मां पिता से एक दूसरे की शिकायत करना हमें भीरुता लगती। बल्कि जब हम ऐन मारपीट के बीच में होते और सहसा कोई आ जाता तो हम तत्काल अपने हाथ खींचकर सामान्य बन जाते। और उसके जाते ही हम हिंसा का पिछला छूटा सिरा थाम लेते। नतीजा, दोनों के चेहरे, गरदन आदि प्रतिपक्ष के नाखूनों के निशान से आच्छादित रहते। यह भी था कि एक जगह होने पर हफ्ते में पांच दिन के औसत में हमारे बीच बातचीत बंद रहती। बहुत जरूरी होता तो हम मां को माध्यम बनाकर संवाद कर लेते। और जैसे ही हमारी सुलह होती किसी नई मारपीट का मामला सामने आ जाता।

लेकिन उस दरमियान, इलाज की पूरी प्रक्रिया के दौरान मैं उसके पास ही रही और एक

पल के लिए भी हमारे बीच कोई विवाद या अबोला न आया। मैं मन में यही दुआ करती कि जल्द ही यह वक्त बीत जाए और हमारे संबंध फिर पुराने जैसे हो जाएं। बहरहाल, बहन घर की पहली सदस्य थी जिसे मैंने फोन पर अपनी बीमारी की सूचना दी थी। शाम का वक्त था। मैं पारस हॉस्पिटल से अपनी रिपोर्ट्स लेकर निकली थी और उसके सामने वाले ओवरब्रिज के नीचे खड़ी थी। मैंने फोन लगाया। वह दफ्तर में थी। बगैर किसी पृष्ठभूमि के मैंने उससे कहा कि मैं कैंसर के असर में आ गई थी। ब्रेस्ट कैंसर। उसने एक पल रुककर एक शब्द कहा—अच्छा। फिर उसने मुझसे पूछा कि मैं कहां थी उस वक्त? फिर उसने मुझे घर जाने की ताकीद दी और फोन रख दिया। मैं तो इस चालाकी में थी कि उस पर सारी चिंता का भार डालकर खुद थोड़ा निश्चिंत हो लूंगी पर उसने तो पत्ते ही न खोले अपने। फिर? मुझे बिलकुल याद नहीं आ पा रहा था कि मैं हॉस्पिटल पैदल आई थी या कार से और अब घर पैदल जाना था कि कार से और कार थी तो कहां पार्क थी आदि आदि। खैर, स्मरण और विस्मरण के हिंडोले पर सवार किसी तरह मैं अपने फ्लैट के नीचे पहुंच गई पर तनाव इतना बढ़ गया कि बहुत वक्त चुपचाप कार में बैठी रही। बहन यह कौन सा दांव चलने वाली थी! या कि चल ही चुकी थी? हुकुम का इक्का मेरे पास था कि उसके पास! न! संशय करना उचित नहीं। फिर मैंने बचपन से चालबाजी में पैने हुए अपने धारदार दिमाग को सरियाकर आह्वान किया और उसकी एक अधीनस्थ को फोन लगा दिया एक मासूम चारे के साथ कि बहन का फोन न लग रहा और वह देख आए कि वह दफ्तर में ही है न आदि। कितना भोथरा दांव! बहरहाल, उस लड़की ने फोन उठाते ही कहा कि बहन के पास कोई फोन आया था और वह बहुत दहाड़ मारकर रो रही थी। दहाड़ मारकर? यह तो हमारा तरीका न था। उसे सदमा खाकर भीतर भीतर घुलना था। ये दहाड़ मारकर क्यों रोने चली। मैंने तुरत फोन रख दिया।

तो क्या मेरी बहन मेरे सामने ही इतनी विशिष्ट बनती थी और मेरे सामने न होने पर वह दहाड़ मारकर रो लेने जितनी साधारण थी! मेरी आधी बीमारी तो उसके इस राज को जानकार ही ठीक हो गई। खैर, उसका अगला फोन आया तो उसकी आमफहमी के राजपाश होने वाली बात का मैंने कोई जिक्र न किया। वह तो क्या ही उस रोशनी में खुद को देखना चाहती दुबारे! आगे की रणनीति तय हुई जिसके तहत मुझे अगले दिन पिता के साथ उसके पास चले जाना था। वहां मां भी पहले से मौजूद थीं। और मां या पिता को तब तक कुछ न बताया जाना भी तय हुआ। अगले रोज शाम में हम पुणे पहुंचे। पुणे हवाई अड्डे से उसके घर तक पहुंचने में बमुश्किल 10 मिनट लगते थे। हमारे वहां आने की सूचना मां को न थी। जैसे ही फ्लाइट लैंड हुआ एक दूसरा दिलचस्प दृश्य घटित हुआ। बहन, मां के सामने जाकर खड़ी हो गई और उसने दो तीन सरल वाक्यों में घोषणा की कि मुझे कैंसर हुआ था और मैं 10 मिनट में घर पहुंचने वाली थी और आगे कि मां को जो भी शोक मनाना था, वे उसे इस बीच के वक्त में मना लें। यह कृपणता की हद थी, बहन खुद दफ्तर से लौटकर हाथ पैर धोने में आधे घंटे का वक्त लेती थी और मां को बमुश्किल 10 मिनट मिला था। पर उसकी कृपणता पर ध्यान किसका था! यहां तो मां ही बीस साबित हो गई थी। मां ने कहा कि उन्हें तो पता ही था कि अनिष्ट मेरी ही ताक में था! दस मिनट के लिए उन्हें मुख्य मंच मिला था पर वे पूरे वक्त को अपने पूर्वानुमान के आगे ठगे से खड़े रह जाने में खरच देने पर आमादा थीं। जब उन्हें मुकर्रर वक्त के खतम होते जाने का एहसास हुआ तब वे रोने चलीं पर आंखें अभी लाल पनीली हुई ही थीं कि मैंने डोरबेल बजा दी। बहन इस उत्साह में दरवाजा खोलने चली कि सिर्फ उसे ही मौका मिल पाया रोने धोने का, वह भी दहाड़ मारकर, होता भी क्यों

न ऐसा, बचपन से असली ट्रेजेडी क्वीन तो वही थी। मुझे खूब याद है कि हजारीबाग वाले स्कूल में मुझ पर कितना दवाब था नाटकों के मंचन के दौरान उसके जैसा क्लियर और क्लीन रोने का अभिनय करने का।

खैर, बचपन के बाद वाले दिनों में मैं न जाने कैसे अपने आप को उससे ज्यादा जिम्मेदार और कुछ कुछ होशियार भी समझने लगी। बैंक के दाखिले का इम्तिहान पटना में था। हम लोग परीक्षा देकर निकले थे और ऑटो से गायघाट आ रहे थे। वहां ऊपर पुल पर चढ़कर हमें हाजीपुर की बस पकड़ लेना था। ऊपर चढ़ने का एक शॉर्टकट रास्ता भी था जिसमें ऊंची सीढ़ियां तो थीं ही एक जगह कुछ कूदकर ऊपर चढ़ने का मामला भी आता था। उस जगह तक पहुंचने के पहले का वाकया है। ऑटो में रास्ते भर हम इस बात का मिलान करते रहे कि हमने किस सवाल का क्या जवाब चुना? सवाल वस्तुनिष्ठ थे और स्मृति के आधार पर हम उन सवालों के जवाब में सही गलत का अनुपात माप रहे थे। ऐसा खुलकर होने लगा कि हम दोनों अपनी अपनी कॉपियों में जो जवाब दर्ज कर आए थे वे आपस में अजनबी साबित होने लगे। मैंने, बल्कि यह कहें कि मेरी दबंगई में हमने यह मान लिया था कि उसकी कॉपी वाला सब अलग गलत था और मेरी कॉपी वाला सारा जुदा—सही। मेरा दिमाग गरम होने लगा। इसी क्रम में हम गायघाट वाले शॉर्टकट रास्ते तक पहुंच गए और जिस जगह पर छलांग लगाकर उस ओर तड़प जाना था उस जगह तक आते आते, बहन के गलत वाले खाते में आई बाढ़ से मेरे सब्र का बांध टूट फूट कर चकनाचूर हो गया और मैंने उससे कहा—मन करता है तुम्हें यहीं से नीचे धकेल दें।

बोल चुकने के बाद उस जगह से नीचे देखने पर मन कांप गया था। हम लगभग पुल के ऊपर थे और नीचे की जगह को वहां से देखने पर वैसी ही झुरझुरी जागी थी जैसा कि कुएं में झांकने से होता है। पर मन का कांपना, विश्वास के कांपने के मुकाबिल छोटा साबित हो जाने वाली चीज है क्या! एक दूसरे के प्रति वैसी तीखी शाब्दिक हिंसा आम बात थी पर वैसा मैंने क्यों कहा होगा? क्या वह मुझसे किसी चीज में पीछे छूट जाए ऐसी किसी कल्पना तक की मेरी तैयारी कभी नहीं थी! बहरहाल, जब परिणाम आए तब वह मुझसे बेहतर स्थान पाकर चुनी गई और बाद में हम दोनों के बीच बार बार इस बात का जिक्र मजाक की शक्ल में आया। पर उससे क्या? फिर से एक मौका आया। बैंक में प्रमोशन का कड़ा इम्तिहान था। मुझे पटना के एक सेंटर पर परीक्षा देना था और उसे मुंबई में। फिर हम दोनों परीक्षा दे चुकने पर एक दूसरे से फोन पर सही गलत का हिसाब लगाने लगे। इस बार फिर दोनों के जवाब खुलकर विजातीय निकालने लगे। मई की दोपहर थी। रविवार का दिन। लू चल रही थी और सड़क पर एक भी सवारी न थी। परीक्षा हॉल से मुख्य सड़क पर आने के लिए दस मिनट से ज्यादा वक्त तक मुझे पैदल चलना था। मैं पसीने से लोरझोर उस पर चीखती हुई चलती रही। जब परिणाम आया तो उसने भी अतीत को दोहराने में कॉपी पेस्ट का सहारा लिया। लेकिन यह सब परिणाम उरिणाम क्या मुझे कुछ सुधार पाने की कूबत रखता था? बिल्कुल न। मुझे जब भी इलहाम होता कि बहन कुछ कमतर साबित होने वाली भूमिका चुनने वाली है, मैं अपना संतुलन खो बैठती। बाद में होती रहूं बेवकूफ साबित, उससे क्या?

मैं मन मन खुद को उसका रक्षक मानना कहां छोड़ने वाली थी कभी। न आगे। न अतीत में कभी। जब मेरी बीए की परीक्षा समाप्त हो गई और मुझे काशी हिंदू विश्वविद्यालय से हमेशा के लिए लौटकर आना था, तब बहन मुझे लाने गई थी। इसके पीछे एक उद्देश्य यह भी था कि वह बनारस घूम लेगी। घूमना वगैरह तो क्या न हुआ पर एक शाम ऐसी घटना

हुई जो जेहन में सदैव के लिए बस गई। उन दिनों हम पर कढ़ाई सिलाई का जबरदस्त भूत सवार था। उस शाम हम गदौलिया के आसपास सस्ते थान वाले कपड़ों की खरीदारी में व्यस्त थे और हमें खयाल ही न रहा कि रात हो चुकी। जब होश आया हम फौरन वापस होने का उपक्रम करने लगे। दो एक खाली रिक्शे थे वहां, पर कोई भी उस वक्त लंका आने को तैयार न हुआ। स्थिति ज्यादा गंभीर हो सकती थी यह मैं भांप न पाई। बहन तो खैर शहर में नई थी ही। हम रिक्शे की तलाश में पैदल ही आगे बढ़ने लगे। आगे बढ़ने पर गली की रोशनी मद्धम पड़ती गई। अचानक मैंने लक्ष्य किया कि लुंगियों में मोटरसाइकिल पर सवार कुछ लोग हमारे आसपास मंडराने लगे। हालांकि वे कुछ दूरी बनाकर पीछा कर रहे थे पर अब भय कुछ ज्यादा खुले रूप में सामने आ गया। हम जहां तक गली में पहुंच चुके थे वहां से पीछे रोशनी वाले गदोलिया चौराहे तक जाना भी संभव न था।

तभी एक रिक्शा सामने से आता दिखा। मैंने रिक्शा वाले से पूछा पर उसने भी लंका चलने से इंकार कर दिया। मुझमें जाने कहां से शक्ति आ गई और मैंने रिक्शे को उसके हाथों से छीनकर मोड़ दिया और छलांग लगाकर उस पर सवार हो गई। तब तक बहन भी रिक्शे पर सवार हो गई थी। मेरे हाथ के पॉलिथिन में गदोलिया से खरीदी एक पीतल की मूर्ति थी। पॉलिथिन में छिपी उसी मूर्ति का नोक कोण रिक्शेवाले की पीठ से सटा दिया और उससे चलने को कहा। आगे उच्च स्वर में यह घोषणा भी की गई कि जो वह न चलता तो स्क्रिप्ट के मुताबिक उसकी पीठ पर सटायी बंदूक की सारी गोलियां उस पर दाग दी जातीं। इस सब ने बच्चे के मुंह से सुनाई जाती बालरस की कविता जैसा ही इफेक्ट पैदा किया होगा जरूर, पर आश्चर्य कि रिक्शेवाला रिक्शा हांकने लगा। अब मोटरसाइकिल वाले करीब आने लगे थे। अस्सी के पास तक यही सब आंखमिचौली चलती रही और मैं रिक्शावाले की पीठ पर बदहवासी में मूर्तिमय पॉलिथिन सटाए रही। अस्सी पार करते ही गली बहुत सुनसान हो गई। घबड़ाहट के मारे हमारी हालत खराब होने लगी। मैंने पैंतरा बदला और उसकी पीठ से बंदूक हटाकर 'भइया प्लीज रिक्शा तेज चलाओ' पर उतर आई। वह वाकई रिक्शा उड़ाने लगा। लंका आने के थोड़ा पहले वे मोटरसाइकिल सवार कहीं गुम हो गए। हद तो ये हुई कि रिक्शेवाले ने जैसे लंका पर रिक्शा रोका, मैंने पैसा निकालने के लिए उसी पॉलिथिन को उकट दिया। मूर्ति का सारा तामझाम बाहर था उकटा हुआ। पैसे निकल गए तो मैंने किराया कम करने के लिए उससे कुछ मोलजोल करना भी शुरू कर दिया। उफ!

वही बहन अब मुझे बचा लेना चाह रही थी। लेकिन मुझे होने क्या वाला था? कुछ भी नहीं। फिर वह मुझे किस चीज से बचा लेना चाह रही थी! उसका मेरे ऊपर से यकीन कुछ कम हो गया था या भरोसा अपने उरूज तक पहुंच गया था, जिसे थाहने के लिए मेरे सो जाने के बाद बार बार वह मेरे पास तक आती। मेरी नाक के आगे कुछ दूरी पर अपनी उंगलियां रखकर वह टोह लेती कि मुझे लगातार सांसें लेना याद तो था! या वह मेरी सांसों को अपनी उंगलियों पर महसूस कर मेरे भीतर बाकी ताप की आंच परखती रही होगी। सोते हुए यह सब महसूस करते जाने पर जाहिर है मुझे आंसुओं की तलब नहीं होती थी। और जरूरी नहीं कि मुस्कराहट भी हमेशा होंठों पर ही उगे। भीतर, कहीं डूबकर भी तो बगैर आंसू का सहारा लिए मुस्कराया जा सकता है।

उस दफे मानसून वक्त से कुछ पहले वजूद में आ गया था और लगभग रोज एक अछार पानी बरस ही जाता। रात की भी नींद बगैर बारिश पूरी ही न होती। पुणे शहर की उस गुलाबी छटा वाले अनुशासित हरेपन को देखकर अपने पुराने घर का पीला सा हरापन याद हो

आता। हाजीपुर वाले घर की भीतरी दीवारों का रंग हरा था। कैंपस बड़ा था और उसमें दो घर थे और एक कुआं भी था। कैंपस के दो गेट थे। कैंपस में प्रवेश करने के बाद दाहिनी तरफ चौड़ाई में एक घर था जो ठाकुर साहब के नाम से खुद को मशहूर कर देने वाले शख्स का घर था। नाम में पर्याप्त धोखा था और व्यक्तित्व में उससे ज्यादा छल था। हाजीपुर शहर में मेरे होश में जो सबसे नया और आधुनिक सिनेमाघर खुला था, उसमें ठाकुर साहब बतौर गेटकीपर कार्यरत थे। बेहतर यह कहना है कि वे मूलतः ठाकुरगिरी करते थे और सुबह के आठ बजे से रात के एक बजे तक पार्टटाइम में गेटकीपरी करते थे। उनकी काया बहुत छरहरी थी और वे साइकिल को ही ताउम्र अपनी मुख्य सवारी बनाए रहे। उन्हें ताड़ी और गांजे की बेतरतीब लत थी और गांव में उनकी सामाजिक भागीदारी बस इतनी भर थी कि वे होली में फाग का एक टेपरिकॉर्डर कांधे से लटकाए, घर घर घूम कर होली मिलन कर लेते थे। बाकी के दिनों में लोग उनसे और वे लोगों से बचते फिरते थे। कारण कि वे गजब के लड़ाका थे और फ्रीडम टू स्पीक के कट्टर ध्वजवाहक भी। लेकिन इन सबमें से किसी खूबी में ऐसी कूव्वत नहीं थी कि वह उनके जिक्र के साथ सामने आ जाने वाले चित्र की हैसियत से उपस्थित हो जाए। यह गौरव तो किसी और गुण को हासिल था। उनका सबसे चमकदार पक्ष वह था जब वे लकड़ी वाले झाड़ू के पीछे डंडा बांधकर अपने हिस्से के कैंपस की सफाई करते।

ठाकुर साहब के विस्तृत घर के अलावा उस कैंपस में जो दूसरा घर था वह हमारे बाबा के पुरखों का था। कालांतर में उस घर के दो टुकड़े हुए। बाबा और उनके भाई के बीच भीतर से वह घर दो भाग में बंट गया। पर बाहर से वह एक दिखता था। वह लंबा चौड़ा घर कैंपस में दाखिल होते ही नजर के ठीक सामने पड़ता था। ठाकुर साहब के घर के समानांतर और कैंपस में घुसते बाईं तरफ का जो हिस्सा था, वह हमारा दालान था और मेरे होशमंद बचपन से ही वह बाबा के रहने की जगह थी। कुल मिला जुलाकर अपनी विशालता और बाबा आदमीय भव्यता में वह कैंपस गांव भर की ईर्ष्या का कारण था। वजह यही कि गांव की तमाम खुटराकस प्रवृति वाली शक्तियां उस कैंपस के बीचोंबीच दीवार खड़ी करवा देने के जतन में मशगूल रहतीं। ऐसा नहीं था कि दोनों तरफ के लोग उकसते नहीं थे। लेकिन सबकी मिलीजुली या अलग अलग कोशिशों के आगे कैंपस के कोने में स्थित एक उपेक्षित से कुएं की मासूमियत वजनी साबित हो जाती और कैंपस के बीच दीवार न उठ पाती।

पड़ोस वाले ठाकुर साहब के पिता गुजर चुके थे। उनके पिता अपनी जवानी के दिनों में गांव के नवयुवकों के बीच बड़े लोकप्रिय थे। अपने जमाने में रेडियो पर समाचार सुनना और देश दुनिया की खबरों की विवेचना कुछ आधुनिक पुट के असर में सुनाना उनकी विशेषता थी। मेरे पिता भी उनके असर में ही बड़े हुए थे। उनके गुजर जाने के जमाने बाद जब हम थोड़े होशमंद हुए तब गांव के रंगमंच से ओझल हो चुके उस पात्र—विश्वनाथ भैया की कहानी अपने पिता के मुंह से सुन सुनकर मैंने उनके व्यक्तित्व की एक शानदार कल्पना कर ली थी, जिसका नुकसान प्रत्यक्षतः ठाकुर साहब को ही हुआ था। कारण कि घर के दरवाजे पर बैठकर गांजे के असर में गाहे बगाहे ली गई उनकी बेसुरी तान, विश्वनाथ भइया नामक उनके पिता की भव्य पृष्ठभूमि में खुलकर फूहड़ दिखने लगती।

ठाकुर साहब रोज सुबह घर के आगे पीछे जमकर झाड़ू लगाते। ठाकुर साहब मेरे बाबा को पटना बाबा कहकर पुकारते। इसकी वजह ये रही कि एक जमाने में मेरे बाबा हाजीपुर से पटना जाने वाले स्टीमरों के इंचार्ज थे और दिन भर में कम से कम दो मर्तबा पटना शहर की सरहद छू आने का गौरव उन्हें प्राप्त था। ठाकुर साहब और पटना बाबा की आपस में बहुत

छनती थी। इसकी एक वजह दोनों का गप्पी होना था। दूसरी वजह दोनों की अपनी छरहरी काया के प्रति सजगता थी। तीसरी वजह में कुछ प्रतिद्वंद्विता का पुट था। दोनों अपने अपने हिस्से के कैंपस को चमकाकर रखने के लिए प्रतिबद्ध थे और इस बात को साबित करने के लिए वे दोनों ही कई बार अतिशयोक्ति के शिकार हो जाया करते थे।

हमारे विशाल संयुक्त घर के बीचोंबीच दीवार थी और उस तरफ बाबा के बड़े भाई का परिवार रहता था। तेज संगीत का शौकीन परिवार। हमारे घर की छत खपरैल थी। पहले जमीन भी मिट्टी की थी जो हमारे देखते देखते पक्के की जमीन में तब्दील हुई जिस पर गिर जाने से चोट ज्यादा लगती थी। छत के खप्पर पर बहुत से जीव जंतुओं का वास था। कुछ जीवों को बगैर देखे मैंने उन्हें किस्सों में ऐसा देख लिया था कि वे सब जाने पहचाने लगते थे। सांप और बिच्छू—दो ऐसे किरदार थे जो दिखते तो गाहे बगाहे ही थे पर हमारी दिनचर्या में उन दोनों की उपस्थिति कद्दावर थी। बिच्छू को तो मैंने अपनी कल्पना में बचपन के दोस्त की तरह अपना लिया था। इसलिए जैसे ही स्कूल से निकलकर हम कॉलेज वगैरह की सरहद में दाखिल हुए, वह धीरे धीरे पीछे छूट गया। बनारस प्रसंग के बाद जब मुझे एकमुश्त घर में रहना पड़ा तब वह परिदृश्य से पूरी तरह लुप्त हो चुका था। अब हमें बस सांप से बचने की तैयारी रखनी थी। खासकर रातों में।

बिजली हमारे गांव में बहुत पहले ही आ गई थी। और वेस्टन कंपनी के कैप्टन उपश्रेणी का ब्लैक एंड व्हाइट टेलिविजन भी। इस टीवी को मूलत: मेरे चाचा ने खरीदा था। 1983 के आसपास की बात है। हम लोग उसी समय के आसपास नानाजी के समस्तीपुर वाले घर से निकलकर रहने के लिए हाजीपुर आ बसे थे। चाचा का परिवार दूसरे शहर में रहता था। वे बहुत सुखी संपन्न थे। उनका पेशागत स्टेटस हमेशा सस्पेंड या नॉन वर्किंग रहता और मेरे पिता उन्हें इस जोन से बाहर निकलवाने के लिए इधर उधर दौड़ा करते। हम सपरिवार उनके ओवरसियर होने को इंजीनियर होने की आभा में देखते आए थे। चाची, परिवार और समाज की परंपरा को सुंदर तरीके से निभा ले जाने वाली स्त्री थीं और उनके दो लड़के थे। एक बहन भी थीं जो सबसे बड़ी थीं और उनके संभावित ब्याह में सौगात में देने के लिए ही उस टेलिविजन की आमद हुई थी। वह कूट के एक विशालकाय डिब्बे में बंद रहता था। घर के एक कोने में एक विशालकाय कमरा था। उस कमरे की फर्श आजन्म मिट्टी की रही। वह कमरा घर में होते हुए भी दरअसल उस घर में न था। कुछ इस अंदाज में कि घर के स्मरण खाते के सबसे ताजा वाले संस्करण में भी उस घर के बाहर ताला लगा रहता था। काम पड़ने के वक्त 'दादीजी की कोठरी की चाबी' की हैसियत से उसकी चाबी को तयशुदा जगह से निकाला जाता और फिर काम पूरा होने पर कमरे को फौरन बंद कर दिया जाता। उस कोठरी का ताला भी आम से कुछ हटकर एक अलग सी जगह में लगता था। अमूमन घर के सभी दरवाजे, बीचोंबीच लगे लैच को बंद करने के बाद किसी गोलाकार ताले से बंद होते। लेकिन उस कोठरी पर ऊपर की तरफ एक जंजीरनुमा कड़ी थी जिसे पैर उचकाकर ऊपर लगे लोहे के हुक में फंसाना होता। फिर उसके बाद एक ताला लगाया जाता जोकि अपनी शक्ल में आयताकार था और उसके ऊपर अर्धवृत्ताकार कुंडी थी जिसे जंजीर लगे हुक में फंसा कर चाबी उमेठनी होती। मेरी मां अपने कुछ छोटे कद के कारण कभी उस कोठरी को बंद करने में सफल नहीं होतीं और मुझे भी उसे ठीक तरह बंद करने या खोलने के लिए कद के ठीकठाक बढ़ने तक का इंतजार करना पड़ा। बहरहाल, कोठरी में दादी का एक विशालकाय संदूक था। उसकी गहराई ऐसी थी कि सामान रखने या दिवाली के समय सफाई करने के लिए

बजाब्ता स्टूल पर चढ़कर संदूक के भीतर मुझे छलांग लगानी होती और फिर संतुलन बना लेने के बाद खड़े होने पर अपनी संपूर्ण लंबाई की आभा में मैं कंधे तक उसमें समाई होती। संदूक के दो कुंडे थे जिन पर कोठरी के ताले के से स्वरूप वाले दो छोटे ताले जड़े रहते।

बहरहाल उन दिनों—टीवी के आगमन वाले दिनों में, उसी कोठरी में चाचा की बेटी के ब्याह में दिये जाने वाले सामानों को जगह मिली थी। वेस्टन कैप्टन के अलावा भी तमाम छोटी बड़ी चीजें वहां जमा होती जा रही थीं। हालांकि उस कोठरी की सफाई पर दादी की सख्त नजर रहती, जाने कहां से चूहों ने वहां सेंधमारी की। चूहों की दिलचस्पी भी सबसे लुभाती चीज में ही हुई और वेस्टन कैप्टन का कूट कुतर दिया गया। यह भी शक था कि संभवत: तार आदि पर भी चूहों के दांतों के कच्चे निशान पाए गए थे। यह साक्षात हाहाकार था। इस दाग के साथ ब्याह के बाजार में उस टेलिविजन की हैसियत कुछ कम पाई गई। इधर रिश्ता तय न हो पा रहा था उधर रंगीन टीवी की दस्तक बाजार में हो गई थी। मिलाजुला कर दवाब बढ़ने लगा और जो फैसला हुआ वह सरासर हमारे हक में था। टीवी को इस्तेमाल के लिए दीवानेआम तक ले आया गया। वह ऐतिहासिक दिन था। बहुत मशक्कत के बाद एंटीना लगा। आंगन के बीचोंबीच एक लोहे के खंभे से उसे बांधा गया। बुधवार का दिन। आसमान, तारे की झिलमिल स्क्रीन पर दिखती रही। बहुत से लोग हमारे आंगन में जमा एंटीना से जूझते रहे और आखिरकार सब ठीक हुआ। अगले दिन शाम में 'बहू बेगम' नाम की हिंदी फिल्म का प्रसारण हुआ, जिसे देखने के लिए मेरे घर आंगन में जो कतार लगी उस दृश्य को दुबारे रामायण सीरियल आने के बाद ही दुहराया जा सका।

खैर, वह वेस्टन कैप्टन चार स्टैंडों पर चढ़ा, अपने पैरों पर खड़ी चीज के होने का सा अहसास देता था। वह भूरे रंग के दो शटरों के बीच खुलता था। उसके ऊपर दो एस्टेब्लाइजर रखे रहते। हाजीपुर में मैं जब तक रही वही हमारा टेलिविजन था। कालांतर में उसके कई गुण उजागर हुए। कभी उसकी आवाज चली जाती और जब आवाज आती तब दृश्य गायब हो जाता। बाद के वक्त में आवाज और दृश्य दोनों एक साथ उसके पर्दे पर कभी उपस्थित हुए ही नहीं। इस बात का हमें बड़ा फायदा मिला। हमारी कल्पनाशक्ति बड़ी प्रबल हो गई। कभी हम दृश्यों के आधार पर ही संभावित संवाद गढ़ लेते और फिर कभी डायलॉग्स के आधार पर विजुअल्स की कल्पना आसानी से कर लेते। इस तरह से बुद्धू बक्सा हमारे संदर्भ में बुद्धिमान बक्सा ही साबित हुआ। इस खेल में हम ऐसे रमकर बड़े हुए कि उस टीवी के छूटने के बाद मैंने सामान्य टीवी से मुंह फेर लिया।

बहरहाल बाद के वर्षों में उसकी दोनों ही शक्तियां जाती रहीं और वह पूरी तरह खामोश पड़ गया। पर उसे न तो उसकी जगह से हटाकर कोठरी में या कहीं और रख दिया गया न उसकी जगह कोई नया टीवी आया। उस वक्त तक गांव में बिजली की समस्या विकराल हो चुकी थी। ९० प्रतिशत जनता लग्गी फंसाकर बिजली का आनंद लेती और शाम ढलते ही बमुश्किल फिलामेंट भर रोशनी बचती। फिर दो स्टेब्लाइजर क्या दुकान के तमाम स्टेबलाइजर भी लगा दिये जाते तो वेस्टन कैप्टन चलने लायक खुराक न जुटा पाता। बहरहाल, उसके संन्यास ले चुकने के बाद एक चुटपुटिया ट्रांजिस्टर आया जो पहले वाले रेडियो से इस तरह अलग था कि टीवी के कुछ स्टेशन भी इसकी पकड़ में थे। वह हल्की फुल्की काया वाली चीज थी जिसके ढांचे को देखकर अनुमान लग जाता था कि यह कभी भी साथ छोड़ देने की कूव्वत रखता था। पर ऐसा हुआ नहीं और उसने साथ बहूबी निभाया। अपने टीवी की सख्त ट्रेनिंग में हम ऐसे निष्णात हो गए थे कि क्या फिल्में, क्या फुटबॉल और क्या टेनिस

के मैच, सब हम आवाज के सहारे ही ठीक ठीक देख पाते। रैकेट चलाने के साथ निकली खिलाड़ियों की चीख की आवाज से ही समझ लेते कि टेनिस की सर्विस किस खिलाड़ी की है और शटल किसके पाले में गिरकर किसे अंक दिलवा आई थी आदि आदि।

कम वोल्टेज का सामना करने के लिए हंड्रेड टेन, हंड्रेड एट्टी जैसे खतरनाक इरादों के पावर वाले बल्ब का इस्तेमाल होता पर सब बेकार था। लिहाजा शाम ढलते ही लैंप की सफाई और तेल भरने का जिम्मा मेरा था। लैंप की रोशनी में पढ़ने से मुझे दिक्कत इस तरह आती थी कि उसकी रोशनी आंखों पर सीधे सीधे पड़ती थी। इसलिए लैंप के शीशे के चारों क्लिप के ऊपर कूट का आवरण स्थापित कर दिया था मैंने। इस तरह रोशनी सिर्फ किताब पर जाती और आंखों पर जोर कम पड़ता।

मां दिन भर हमें सावधान करती चलती कि पढ़ने का ज्यादा से ज्यादा काम हम दिन में निबटा लें पर ऐसा होता कहां था! शाम चढ़ते लैंप की रोशनी के आसपास हमारी पढ़ाई लिखाई गुलजार हो जाती। सांप चूंकि कभी भी कहीं भी प्रकट हो सकता था, हम कमरे के खिड़की दरवाजे बंद कर अपनी कुर्सी पर बैठते। पैर जमीन पर न रहें इस बात का भी खास ख्याल रहता। अगर कभी बीच में हमें उठना होता तो टॉर्च से पहले जमीन पर रखी चप्पलों की शिनाख्त की जाती। यहां अजीब विरोधाभास भी था। गांव में सांप काटने से कोई भी मौत हुई हो ऐसा मामला प्रकाश में न आया था। यहां तक कि सांप ने किसी को डंस लिया हो यह तक मैंने नहीं सुना था। फिर आगे कि गांव भर के बच्चे स्त्रियां बगैर चप्पल पहने क्या रात क्या दिन, क्या घर क्या खेत—जहां मर्जी विचरण करते रहते थे। फिर हमने वैसी तैयारी क्यों कर रखी थी! क्या यह सच था कि सांप अब गांव में नहीं रहते थे बल्कि हमारी कल्पना में उनका नया बसेरा था। बहरहाल बंद कमरे और लैंप की गर्मी में हमारी आंखों से आंसू नहीं पसीना निकलता था। पर दवाब उस बात का नहीं था। असल दिक्कत इस बात की थी कि परीक्षा की तैयारी और कहानी की तैयारी में वक्त का संतुलन कैसे बनाया जाए। मैं आधे घंटे पढ़ती और आधे घंटे कहानी के नाम कर देती। शुक्र है कि वह लिखने का शुरुआती फेज था और उस वक्त कथानक और भाषा भी बगैर लागलपेट सामने आ जाती थी।

मेरे उस घर के कमरों की दीवारों का रंग हरा था। हम लोग उसके रंग को देखकर कुढ़ते पर जब भी रंगाई पुताई का वक्त आता तमाम दूसरे रंगों का विकल्प देख चुकने के बाद हम वापस उसी रंग पर राजी हो जाते। शायद इस वजह से कि कहीं न कहीं उसकी दीवारें कुएं की दीवारों जैसी लगतीं और हम मेढक बन जाने में कोई शर्मिंदगी महसूस नहीं करते। घर के बाहर के कैंपस वाला कुआं कुछ उपेक्षित था। उसमें पानी आदिकाल से कम ही था। उसमें झांकने से काई लगी हरी दीवार और नीचे का कुछ गंदलाया पानी दिखाई देता। मेरे बाबा उसके किनारे पर रस्सी लगी बाल्टियां रखते जिन्हें हम डोल कहते। बाबा मेरे, दिन भर में छह सात डोल पानी निकाल ही लेते। उसके अलावा कुएं का कोई उपयोग न था। वह ज्यादातर बैठने के लिए चबूतरे के रूप में उपयोग में आता था। पर कैंपस के सामने वाले दो हाथ चौड़े रास्ते के उस पार का पोखर हमेशा गुलजार रहता।

महीने में एक या दो के औसत से लाल पोखर में महाजाल लगता। इस बात का बड़ा तामझाम था। क्या दरबों से निकले फटे पुराने लोग, क्या सुखी संपन्न जनता—सब के सब सशरीर पोखर की ओर कूच कर जाते। उस जमावड़े में मछली खाने वाले और न खाने वाले दोनों शरीक रहते। यानि महाजाल को पूरे गांव का नैतिक समर्थन प्राप्त था। यह और बात है कि 60 से 70 फीसदी मौकों पर महाजाल का आयोजन फुसफुसा जाता और बहुत कम

मात्रा में मछलियां निकलतीं। सामूहिक साम दाम से बखरा लगता पर वह असफलता, अगले आयोजन का उत्साह धूमिल न कर पाती। पोखर का पानी किसी दृष्टि से लाल न था। लेकिन वह नीला भी नहीं था, न हरा ही था। वह बेरंगा था और इस तरह उसके किसी रोज लाल बन जाने की संभावना कायम थी। पर मेरा मानना था कि दुलार से उसका नाम लाल बन गया था। उसकी परिधि पर चारों तरफ गोल गोल घूमकर ही तो गांव बसा था हमारा। और गोद में जिसे जगह मिली हो वह लाल ही तो हुआ। पर इन सबसे अधिक वजन की एक वजह थी पोखर के पास—लाल साबित हो जाने के लिए। उस वजह को जानकार भी मैं उससे नजरें चुराती थी। नियति ने अपने सारे पत्ते उसी पोखर में छिपाए थे। लाल पान वाले सारे पत्ते उसके पानी में ही घुलेमिले थे। वही था जीवन की समस्त परीक्षाओं की धुरी। सारे संघर्ष का उत्स!

मेरा गांव मुख्यत: यादवों का गांव था और बीसेक घर क्षत्रियों के थे। हाजीपुर से मुजफ्फरपुर जा रहे मार्ग से बाईं तरफ मुड़ जाने से गांव की सरहद शुरू होती थी। वहां जनकधारी की पेड़ा दुकान थी। उस दुकान की चतुर्दिक बड़ी महिमा थी। हालांकि अपने मीठेपन के गुरूर में चूर वह पेड़ा हम दोनों बहनों को पसंद न था। पर उस मार्ग से गुजरने वाली सभी गाड़ियां वहां रुकती थीं। जनकधारी की दुकान से मेरे गांव की सरहद में दाखिल होते समय ही वहां एक ऊंचा प्रवेशद्वार था जिस पर 'यादव द्वार' लिखा था। उसके आगे गांव तक पहुंचने की कच्ची पक्की सड़क के बीच एक ऊंचा रेलवे ट्रैक पड़ता। उस ट्रैक के नीचे से होकर भी उस तरफ जाने का रास्ता बना था जिस पर पक्की लिखाई में किसी ने 'राजपूत द्वार' लिख दिया था। जाहिर है 'यादव द्वार' के सामने 'राजपूत द्वार' बौना प्रतीत होता था। यह किसका किया धरा था पता नहीं। मामला यादवों द्वारा मजाक उड़ा दिए जाने का था या बात यह थी कि राजपूतों ने अपने बल पर, छोटा मोटा जैसा भी सही, कम से कम एक द्वार जीत लिया था। भेद चाहे जो भी रहा हो, लेकिन इस बात पर या किसी भी बात पर, गांव में कोई स्पष्ट वैमनस्य नहीं देखा गया। खानपान, न्योता बैना दोनों तरफ के घरों के बीच खुलकर चलता था। लेकिन सब कुछ ऐसा भी पाक साफ नहीं रहा होगा जरूर। ऊपरी सतह के भीतर छल प्रपंच और संबंधों का बहुत विकृत जाल भी बुना हुआ था बेशक। और हम दोनों बहनों को किताब, टेनिस, फुटबॉल, क्रिकेट, सिलाई कढ़ाई और सबसे बढ़कर हॉस्टलों के निर्वासन में उलझाकर संभवत: मेरे मां पिता इसी सब से हमें पाक साफ दूर रखना चाह रहे थे। और इन सबमें वे सफल भी हुए थे, कम से कम हम अपने अभिनय से तो उन्हें ऐसे ही भ्रम में रखते रहे। भीतर भीतर एक अजीब किस्म की समझ का निर्माण चल रहा था हमारे अंदर और हम आश्चर्यजनक रूप से आकस्मिकता के लिए तैयार बच्चे थे। रिश्तों और तिकड़मों के उस अंडरटोन को पकड़ने में ऐसी माहिरी हो गई कि कब हम दो बहनों ने अपने माता पिता से अपनी भूमिका बदल ली पता ही न चला। इसलिए बनारस के बाद जब गांव में रहने का वक्त आया, सब कुछ बहुत आसान और सहज साबित हुआ। मैं अपनी चेतना को भरपूर खोलकर उसके रेशे रेशे को पढ़ लेने में जुट गई। लेकिन इस पढ़ पाने में मैं कभी सीधे सीधे गांव का हिस्सा न बनी। एक चुप सुराख के पीछे से देखने और अपनी कल्पना से उसे आगे पसारने का मामला था।

बचपन मेरा झूठ धोखे छल और इन सब मौकों की तलाश के मिलेजुले असर में फला फूला था। वह सब करते हुए मेरे मन पर जरा भी धिक्कार या भय या पश्चाताप के बादल नहीं रहते। यह सब एक चस्के की तरह था और देखा जाए तो आखिरी दृश्य में मेरे होठों पर फैली सुकूनदायक मुस्कान के सिवा इन सबका विशेष कुछ हासिल नहीं था। एक गैरजरूरी सी

दिलेरी जो नकारात्मक गुणों की जद तक जाती थी, मुझमें कूट कूटकर भरी थी। वैसे यह भी है कि पहले कूट देने के बाद फिर उसमें कुछ भी भर देने का मतलब ही क्या था! इसलिए मैं एक बेमतलब सी प्रक्रिया का शिकार भर थी। और दुख की बात यह कि मुझे इसका बराबर बोध था। कई बार मैं देखती रह जाती और लोग मेरी इस प्रतिभा से अपना काम बनाकर मेरे ऊपर एक वाक्य जड़कर चल निकलते थे। यह कुछ बाद की घटना थी जब मैं बीए फर्स्ट इयर में थी और काशी हिंदू विश्वविद्यालय में पढ़ती थी। मैं छुट्टियों में घर आई थी और एक रोज के लिए अपनी मौसी के घर गई थी। वे चाहती थीं कि मेरी बहन भी वहां आ सके तो अच्छा हो। बहन उस वक्त पटना के ही एक हॉस्टल में रहती थी, जहां के नियम सख्त थे। वह दो तीन दिन पहले ही उनके घर रहकर हॉस्टल लौटी थी और फिर दुबारे उसे अपने यहां बुलाने की बात मेट्रेन से करने में मौसी की जुबान चिपक रही थी। मैंने उनके सामने मौसी बनकर हॉस्टल की वार्डेन से बात की और बहुत आसानी से इजाजत ले ली। यह सब तो मेरे लिए बाएं हाथ का खेल था और इतनी सामान्य बात थी कि इसमें किसी बहादुरी वगैरह का कोई पुट हो सकता था ये एहसास तक न था। मौसी प्रसन्न हो गईं और अगला फोन मेरी मां को लगाकर मेरी तारीफ में कहने लग गईं कि मेरा दिमाग तेज समाधान ढूंढ़ लेता है, बस नजर रखनी होगी कि मैं गलत राह पर न बढ़ जाऊं।

और वे भविष्यवक्ता भी साबित हुईं क्योंकि आगे गलत राह ही तो थी, प्रतीक्षा में। और यह भी था कि मन ही मन उस पर बहुत आगे बढ़ भी चुकी थी मैं। यही वो वक्त था जब मुझे किताबें चुराने का चस्का लग गया था। पटना का पुस्तक मेला मेरी कल्पना में मुझे साल भर चुनौतियों से उकसाता रहता। उस जमाने में वह गांधी मैदान के खुले पसरे दयार में लगता था। दिसंबर का महीना। एक शॉल भर की ठंड। मैं कोशिश करती कि मोटी और वजनी किताबें चुराऊं। यह प्रक्रिया मगध महिला के पटना वाले हॉस्टल से लेकर बनारस के छात्रावासीय दिनों तक चली। पांच सालों में मैंने जमकर किताबें चुराईं। किताब चुराना कोई चुनौती नहीं थी क्योंकि मैं बहुत तसल्लीदायक और गंभीर चेहरे के साथ अपना काम करती। यह एक श्रमसाध्य काम था। एक फेरे में दो से तीन किताबें मैं अपने शॉल में भर पाती। फिर वे गांधी मैदान के ही दूसरे किनारे पर बने एक गुप्त ठिकाने पर रखी जातीं। फिर दूसरे फेरे की तैयारी होती। खैर चुराना बड़ा मुद्दा नहीं था। उन चुराई गई किताबों को घर की दिनचर्या में शामिल कराना चुनौती था। उन दिनों तो बचपन की तरह स्कूल जाने के लिए स्थायी रिक्शा भी नहीं था जिसकी गद्दी के नीचे उन किताबों को छिपाया जाता। इतनी किताबें खरीद सकूं उतने पैसे तो खैर थे नहीं, इसलिए यह विकल्प दृश्य में नहीं था कि खरीदकर लाई पुस्तकों की तर्ज पर उन्हें ससम्मान प्रवेश दिलाया जाए। लिहाजा एक दूसरा रास्ता अपनाया जाता। जी कड़ा करके मैं उन नई किताबों के ऊपर के कवर को आधा काट देती। पटना में अशोक राजपथ में ऐसी कई दुकानें थीं जहां कवर कटे मैगजीन और किताबें लगभग चौथाई दाम में मिलती थीं। उस वक्त *हंस* और *वर्तमान साहित्य* जैसी पत्रिकाएं मेरे घर में उन दुकानों से ही आती थीं। लिहाजा इन चुराई किताबों के कवर काटकर और थोड़ा मुरचुरा बनाकर मैं इन्हें घर में अधिकारपूर्ण दाखिला दिला देती। उसके बाद घर में प्रचलित रवायत के मुताबिक सारी किताबों पर मोटी जिल्द चढ़ाई जाती और मैं उन्हें सत्कार में खूब उलट पुलट कर पढ़ती। गजब का थ्रिल होता। जीवन बहुत सुंदर लगता। अब मैं किताबें बहुत कम पढ़ती हूं। अब मैं उन्हें देखती ज्यादा हूं और उदास हो जाती हूं।

बहरहाल, उस वक्त घर की खस्ता माली हालत बहुत खुलकर सामने आ गई थी। सिर्फ

एक चीज थी जिस पर इस बात का असर नहीं आने दिया गया था। वह थी हम दोनों बहनों की पढ़ाई। नए कपड़े आदि का हम दोनों को कोई शौक नहीं था। मां घर में हमारे कपड़े सिलतीं। हम दोनों बहनें जो अपने को बहुत काबिल फैशन डिजाइनर मानती थीं, मां के सिले कुर्ते पर धागे लेस आदि से महीन कलाकारी कर देतीं। जाहिर है मेरी बहन इन सबमें बहुत जहीन और महीन साबित होती थी। मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति कलाकार की नहीं थी। मैं बहुत तोड़फोड़ वाले आक्रामक रुआब में कलाकारी करती। कह सकते हैं कि कला मुझ पर एक आरोपित किस्म की चीज थी और उसे अपनाने में मैंने बहुत समय लिया। कॉलेज के हॉस्टल में रहकर मैं काफी पैसे बचाती। वैसे देखा जाए तो हमारा पढ़ाई खर्चा कुछ खास न था। घर से जो पैसे मिलते वे बिल्कुल गिने गुथे होते। सीधा हिसाब था—मेस का पैसा, बनारस आने जाने का किराया और एक बहुत छोटा हिस्सा आकस्मिकता का। मेस वाले आधे पैसे और आने जाने के मद वाले पूरे पैसे मैं बचा लेती। आना जाना तो खैर बगैर टिकट आसानी से हो जाता, मेस वाले पैसे बचाने के लिए कुछ श्रम करना होता। इसके लिए कमरे में खुद से खाना बनाना होता। हालांकि यह भी है और बहुत धमक में है कि रूम में खाना बनाने की वजह पैसे बचाना कम, हॉस्टल का नियम तोड़ना ज्यादा था। बीएचयू में हीटर जलाने की सख्त मनाही थी। इसलिए उस नियम को तो तोड़ ही डालना था। लिहाजा, मैंने हीटर बर्तन आदि सब अपनी एक दोस्त से उधार लिया और गृहस्थी जमा ली। मेरे जीवन में बहुत अनुशासन था और मैं ऐन ऊपर से नीचे तक नियम और अनुशासन का पुतला थी जरूर, पर मुझे खाली अपने बनाए नियम मानने की बाध्यता महसूस होती थी। दूसरों के बनाए नियमों का मेरे लिए बस ये ही महत्व था कि मुझे तोड़फोड़ के लिए पर्याप्त मात्रा में उकसाते रहें।

यह प्रवृति हर बार मुझसे अजीबो गरीब कुछ करवा जाती थी। हजारीबाग वाले स्कूल का एक वाकया याद आ रहा है। मेरे आश्रम का कमरा छत से लगा था और खिड़की के रास्ते छत पर जाया जा सकता था। छत पर पानी की टंकी थी। हमारे स्कूल के नियम कानून बड़े सख्त थे और छत पर सीधे रास्ते यानी सीढ़ियों से चढ़कर जाना भी मना था। लिहाजा मैंने अपने दोस्तों के साथ खिड़की के लोहे की छड़ों को हिलाते हिलाते अपनी जगह से निकाल लिया। अब उन्हें आसानी से खिड़की से निकाल लिया जा सकता था और इस तरह रातबिरात खिड़की के रास्ते छत पर जाकर टहल आना सुलभ हो गया। काम हो चुकने पर सारी छड़ों को अपनी जगह पर फिट कर दिया जाता। फिर क्या था। अब गर्मी की शाम में मैं सीधे रास्ते बाथरूम के नल से आने वाले पानी से नहाने की बजाए, एक जोखिम वाला रास्ता चुनती जिससे भरपूर मात्रा में नियमों की भी बलि साथ साथ चढ़ सके। मैं दो खाली बाल्टियां लेती। खिड़की के चार पांच छड़ निकालती। छत तक पहुंचती। फिर टंकी पर चढ़ जाती फिर एक बाल्टी को टंकी में डालकर उसमें से पानी निकलती। फिर दुबारे वही सब प्रक्रिया अपनाकर बाल्टी लिए दिये खिड़की के रास्ते कमरे में पहुंचती और उस पानी को ढोकर बाथरूम तक ले जाती। इतना सब हो चुकने के बाद ही वह पानी, स्नान जल बनने की पात्रता धारण कर पाता। इस तरह से देखा जाए तो पानी नहीं बल्कि साक्षात सनसनी से नहा लेने का विचार कोल्ड ड्रिंक के विज्ञापन में आने के बहुत पहले ही हमारे जीवन में जगह पा चुका था। सामान्य चीजों का रोमांच में अनुवाद करना सीखते हुए मेरी परवरिश हुई। बहरहाल, बनारस के हॉस्टल में बचाए गए पैसों को हम कौड़ियों के मोल उड़ा आते।

शहर का एक उपेक्षित सिनेमा हॉल था। वहां अन्य सिनेमाघरों की उतरन फिल्में लगती थीं। वह पटना के अशोक राजपथ वाले उन मैगजीन कॉर्नरों की हैसियत का किरदार

था जहां बस थोड़ा सब्र रखने के बाद चौथाई दाम में चीजें मिल जाती थीं। कवर काटे जाने वाले रस्म की भरपाई यहां इस तरह से होती कि आने वाली फिल्मों के ट्रेलरों से वंचित रहना पड़ता और फिल्में उनके बगैर ही सीधे सीधे शुरू हो जातीं। मेस वाले मद के बचे पैसे सीधे सीधे अभय सिनेमा की तिजोरी में जाते। हॉल के भीतर दाखिल होकर अपने बैठने की जगह खुद तलाशनी होती थी। उसकी पीछे की तरफ वाली कुछ तिरछाई की सीट हमारी पसंदीदा जगह थी। मैं और मेरी रूममेट जया, झटककर चलते हुए वहां तक पहुंचते और उस सीट पर कब्जा जमा लेते। अभी दो तीन रील किसी तरह गुजरती कि हम लोग उस प्रक्रिया की भूमिका तलाशना शुरू कर देते जिसके लिए दरअसल हम उतनी दूरी तय किया करते थे। थैले से ब्रेड निकलता और दो ब्रेड के बीच समोसा रखकर हम लोग भकोसने की तर्ज पर उसे खाना शुरू कर देते। हिचकी उठे तो उठे, चार ब्रेड और दो समोसे का अपना हिस्सा भरपूर तेजी और सफाई के साथ खत्म किया जाता। उसके बाद सिनेमा में कुछ भी हो, हमारा पैसा वसूल हो चुका होता। निकलते वक्त जरूर, टिकट खिड़की पर जाकर हम अगली फिल्म कौन सी लगाई जानी चाहिए, यह फरमाइश रख आते।

इसी किसी वक्त मैंने पहली कहानी लिखी। अनायास। बगैर प्रसंग। बगैर पूर्वाभास। बगैर पूर्वाभ्यास। छुट्टियों के बाद मैं घर से हॉस्टल लौटी थी। वहां जाकर पता चला कि मेरी रूममेट अगले दिन आने वाली थी। इस तरह से वह रात मुझे अकेले कमरे में गुजारनी थी। उस उम्र तक रात के समय अकेले रहना मेरा सबसे बड़ा भय था। ऐसा मौका जीवन में कभी आया भी न था। पर काल्पनिक भय ऐसा था कि मेरी सारी प्रचंडता और आक्रामकता हवा हो गई। मैंने सोचा कोई ऐसा काम करूं जिससे कि मेरा ध्यान भटक जाए और एकांत का अहसास विस्मृत हो जाए। इस तरह से किसी और मतलब को साधने के लिए पहली कहानी अस्तित्व में आई। हालांकि क्या सब कुछ इतना भी अनायास हुआ होगा या मन मन कहीं कहानी या कुछ भी लिखने की चाह पहले से कभी न कभी रही होगी? किसी काम में खुद को भटकाना था तो कहानी ही क्यों? क्या किताबों की बहुत सी चोरी और फिर बहुत सी सीनाजोरी के बाद अक्षरों का कर्ज सा चढ़ गया था। या भविष्य के किसी टुकड़े में तंग पॉकेट किसी लती पाठक को अपनी किताब के सम्मोहन से चोरी जैसा कारनामा दिखाने के लिए उकसाने की कोई चाह थी? और भी एक जीवित दृश्य है। दिवाली में घर की सफाई का कार्यक्रम पंद्रह दिन तो चलता ही चलता था। मैं किताब सुखाने का जिम्मा लेती और धूप में किताबें बिखेरकर हर साल *हंस* पत्रिका में छपी सारी लंबी कहानियों को एक बार से फिर पढ़ डालती। कार्तिक की तीखी धूप में बाल छितराए और पसीने से सराबोर हुए जुनून में उन कहानियों को पढ़ने की स्मृति ही मेरे लिए आज तक दिवाली का प्रोफाइल पिक्चर है। बहरहाल, जो भी वजह हो, मैंने उस रात भय के मुकाबिल मैदान में कहानी को उतारा यह बात जीवन की अधिक किस्मती बनकर आगे की जमीन पर छा गई। इस चयन का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि कहानीमय रात बगैर भय कटी और भोर के पास कहीं, जैसी तैसी कहानी पूरी हो गई। दूरगामी परिणाम भी खुद के हक में ही हुए कुछ।

यह आखिरी साल की बात थी। ग्रेजुएशन की परीक्षा पास करते करते मन में अराजक गतिविधियों के प्रति वैराग्य जाग गया। आर्थिक संघर्ष को अब और अनदेखा करना उचित न लगा। रातोंरात अपने पैर पर खड़े होने की सनक चढ़ गई। यह भी दिलचस्प है कि जिस अराजकता को अब मैं समाप्त करना चाहती थी उसके खात्मे की दिशा में जो किया, वह अब तक का सबसे आत्मघाती कदम बन जाने का माद्दा रखता था।

मेरे पिता चाहते थे कि मैं खूब गणित पढ़ूं और दूसरे तमाम विज्ञान के विषय भी पढ़ूं। बहन से भी उनकी यही अपेक्षाएं रही होंगी पर बहन और उनके संबंध बचपन से बहुत सहज न थे। पिता मेरे हक में सदैव पक्षपाती बने से दिखते थे। इसलिए जब बारहवीं के बाद चुपचाप मैं बीएचयू में आर्ट्स में एडमिशन का फॉर्म भर आई, तब पहली बार उन्हें मेरी तरफ से धक्का लगा और वे कुछ सकते में आ गए। खैर मैंने उन्हें अर्थशास्त्र, गणित और सांख्यिकी का कॉबिनेशन दिखाकर अपनी बात मनवा ली। यह और बात है कि दाखिले के बाद दौड़भाग करके मैंने गणित और सांख्यिकी को चलता रास्ता दिखाया और इतिहास और नागरिकशास्त्र पिछले दरवाजे से मेरे सहयोगी विषय बन गए।

अब जब ग्रेजुएशन पूरा हुआ तब बीएचयू या दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स से पोस्ट ग्रेजुएशन का विकल्प सामने था। मैं प्रवेशपरीक्षा समाप्त होने के बाद हाजीपुर लौट आई थी और नामांकन वाले पत्र घर आ गए थे। मैंने घोषणा कर दी कि अब आगे मुझे पढ़ना नहीं था, बल्कि घर से ही प्रतियोगिता परीक्षाओं की तैयारी करनी थी। मेरी मां तो अपनी संतानों की क्षमता पर एक अजीब से यकीन के साथ पैदा हुई जीव थीं इसलिए उन्हें मनाना मुश्किल न था। पर पिता खुलकर मुकाबले में आ गए। आज देखती हूं तो लगता है कोई भी प्रतिवाद करता ही। खासकर बनारस को ठुकराना तो अपाच्य था। सेंट्रल यूनिवर्सिटी की पढ़ाई का खर्चा सस्ता था और उसे किसी तरह जुटाया जा सकता था पर दुनिया से अलग थलग गांव में रहना और बगैर किसी संसाधन के नौकरी वाली प्रतियोगिताओं की तैयारी करना एक जोखिम भरा विकल्प था। लेकिन मुझमें न जाने कहां की शक्ति आ गई थी। एक तिल नहीं हिली मैं अपने निर्णय से। पर पिता ने भी उम्मीदें नहीं छोड़ीं। बनारस वाली ट्रेन साढ़े पांच बजे सुबह छूटती थी। कई हफ्तों तक रोज सुबह चार बजे मेरे घर के दरवाजे पर रिक्शा वाला आकर खड़ा हो जाता और पिता मुझे जगाने आते। पर वह सब उनकी तरफ का ढोंग ही रहा होगा। क्या वे न जानते थे कि उन दोनों को दी आजादी की जड़ें कैसी पुख्ता थीं और फैसले ले लेने के बाद उस पर यकीन रखना उन्हीं जड़ों पर उपजी शाखाएं तो थीं! बहरहाल, मैं बोरिया बिस्तर समेत गांव के जीवन में धुनी रमा चुकी थी। उस प्रकरण के बाद से नौकरी तक के बीच के एकाध साल जीवन की सबसे बड़ी पाठशाला साबित हुए।

कहानियों के एक के बाद एक लौटने और थोड़ा बहुत छपने का सिलसिला शुरू हो गया। मैं कोई नई कहानी लिखती तो एक फेहरिश्त बना लेती कि एक पत्रिका से लौटने के बाद उसे दूसरी किस पत्रिका में भेजना था। कोशिश रहती कि क्रम ऐसा तैयार हो कि एक बार में दो कहानियां एक जगह न जाने पाए। मैं कहानी लौटने के बाद शोक आदि में जरा भी वक्त न खरचती। लिफाफा फाड़ा, खेद वाला पत्र निकाला और नया अपनी तरफ का पत्र लगाकर दुबारे से सब कुछ एक नए लिफाफे के हवाले कर देती। जिन लिफाफों में कहानियां लौटतीं उन्हें भी मैं यूं ही फाड़कर नहीं फेंकती। उन लिफाफों की सादी जगह में अगली कहानी लिखी जाती। बहुत कतर ब्यौंत में जीवन चल रहा था। घर के काम, कहानी और परीक्षा की तैयारी इन तीनों की सिंफनी बड़ी मधुर थी। उधर नेपथ्य में गांव का रेशा रेशा खुला पड़ा था। जीवन भयानक ढंग से अनिश्चित था। इस हद तक कि एक साथ उस साल बहुत सी वेकेंसी निकली पर फॉर्म शुल्क और परीक्षा देने पटना आने जाने के पैसे बचाने के लिए बस एक ही फॉर्म भरा गया था—स्टेट बैंक का फॉर्म।

मेरी कहानियां छपतीं तो मैं रेलवे स्टेशन वाले स्टॉल पर खड़े होकर उसे पढ़ लेती। जब कभी किसी काम से कोई पटना जाता तो बीच के वक्त की सारी जरूरी पत्रिकाएं कवर कटी

शक्ल में घर आ जातीं। पिता के दोस्त हृदेश्वर जी एक बार पटना से 'तद्भव' नाम की एक नई पत्रिका लेकर आए थे। दाम चालीस रुपए। तीन दिन की मोहलत पर वह पत्रिका मांगकर घर लाई गई और उतने से अंतराल में घर में सबने उसे बारी बारी से उलट पुलटकर देखा और मैंने बस पता नोट कर लिया। एकाध दिन पहले ही मैंने एक कहानी लिखी थी जिसका शीर्षक था—'एक था बुझवन'। मैंने आनन फानन में उसे 'तद्भव' में भेज दी। कमाल यह था कि उसी द्रुत गति से उसकी स्वीकृति का पत्र भी आया और कहानी अगले अंक में छप गई। यह मेरी पहली तंदुरुस्त कहानी थी।

मैं नई कहानी का परिवार के बीच जोर जोर से पाठ करती। मां तो बहुत ज्यादा मुलायम पड़ जातीं पर पिता बड़े सख्त आलोचक साबित होते। बस उनके बहुत खुश होने की एक स्मृति है। 'एक था बुझवन' के ठीक बाद लिखी कहानी—'प्रतियोगी' को सुनकर वे बहुत खुश हुए थे और इनाम में मेरे लिए बाजार से गरमागरम समोसे लेकर आए थे।

पिता बचपन से मुझे कुछ ज्यादा दुलार करते। उनकी जब भी मुझ पर नाराज होने की बारी आती वे अपने को कुछ कमजोर बना लेते। कभी कभी उनकी यह अदा हास्यास्पद हो उठती। और इस तरह से वे घटनाएं भविष्य की स्मृति में अपने लिए जगह भी बना लेतीं। हम किन चीजों को याद रख लेते हैं? यहां सरवाइवल ऑफ फिटेस्ट वाला मामला नहीं होता। उस बात में या तो अप्रत्याशितता हो या अजीब साधारणता हो या वह किसी एक्सट्रीम भाव को जगा जाती हो। हाजीपुर के स्कूली दिनों में जब मेरी बहन हजारीबाग चली गई और मैं अकेली पड़ गई थी तब की एक स्मृति है। मैं अपनी किताब में छिपाकर किसी फिल्म की सचित्र डायलॉग वाली कहानी की किताब पढ़ रही थी। सुबह का समय था। स्कूल के लिए तैयार होने का वक्त। पिता आसपास ही थे। पर फिल्म की कहानी इतने दिलचस्प मोड़ पर थी कि यह जानते हुए भी कि जोखिम बहुत था, मैं पढ़ाई जारी रखने का लोभ रोक न पा रही थी। तब तक समय बहुत आगे निकल गया और होश आने पर मैं हड़बड़ाई सी नहाकर तैयार होने चली गई। इसी जल्दीबाजी में मैंने किताब को सही तरह से ठिकाने न लगाया और उसका सिरा कोर्स वाली किताब के पीछे से झांकता रह गया। जैसे ही मैंने स्कूल जाने को थैला उठाया पिता के चिल्लाने की आवाज आई। वे होश हवाश खोकर मुझे बेताल की किताब पढ़ने पर डांट रहे थे जबकि उस किताब के ऊपर फिल्म का नाम 'बेताब' लिखा था। जाहिर है बेताल पढ़ना, बेताब पढ़ने से कम बड़ा जुर्म था और बेताब पढ़कर डांट खाने की जगह बेताल पढ़कर डांट करवाना कम अपमानजनक था। मैं आज तक सोचती रह गई कि क्या पिता ने सच में पढ़ने में भूल की थी या मुझे कम शर्मिंदा करने के लिए जानबूझ कर खुद ही कुछ मूर्ख बन आए थे!

बैंक की प्रवेशपरीक्षा खत्म हो गई थी। परिणाम आने में कुछ वक्त लगता। परिणाम क्या होगा, उसके बारे में बहुत दावे के साथ कुछ कहा नहीं जा सकता था। एक था बुझवन 'तद्भव' में, धुआं कहां है 'हंस' में और 'उस शहर में चार लोग रहते थे' 'इंडिया टुडे वार्षिकी' में छप चुकी थी। इधर आर्थिक मोर्चे पर पानी सिर तक पहुंच गया था। हम दोनों बहन हाथ पर हाथ धरे अब नहीं रह सकते थे। लिहाजा एक दिन हम घर से निकल गए। निकले पहले, सोचा बाद में कि निकले क्यों थे या करना क्या था। बहरहाल, हमने एक रंगीन परचा छपवाया जिस पर हमारे कोचिंग स्कूल का विज्ञापन था! हजारीबाग वाले जिस स्कूल से हमारी दसवीं तक की पढ़ाई हुई थी, उसका बिहार में बड़ा क्रेज था और उसके दाखिले की कड़ी परीक्षा होती थी। हमने उसमें प्रवेश करने वाली परीक्षा के लिए लड़कियों

को तैयार करने की कोचिंग खोलने का विचार किया। उसमें हमें ज्यादा वक्त नहीं देना पड़ता और अपनी पढ़ाई के लिए वक्त भी निकल आता। दिक्कत यह थी कि हमारा घर हाजीपुर शहर से कुछ दूर के एक अपेक्षाकृत ज्यादा ग्रामीण इलाके में था और वहां तक पढ़ने के लिए कोई लड़कियों को भेजता नहीं। लिहाजा बीच शहर में एक छोटा सा कमरा भी किराए पर ले लिया गया जहां हम 3-4 घंटे पढ़ाकर वापस अपने घर लौट आते, यही योजना थी। अगले महीने की एक तारीख से यह सब शुरू होता। इस बीच बच्चे जुटाने के लिए हमारे पास छह सात दिन थे। हम दोनों बहनों ने सारे प्रमुख दफ्तरों और बड़ी कॉलोनियों में घर घर चक्कर लगाकर इसका प्रचार किया। बचे हुए वक्त में किराए वाले कमरे की खूब जमकर सफाई की गई और उसे शौक से सजाया संवारा गया। ऐसा लगा मानों हमारे हाथों में कोई खिलौना आ गया और हम उत्साह और पुलक से झूम उठे। गजब की एकता आ गई दोनों बहनों के बीच और हम इस हौसले में उफनने लगे कि अब जीवन को जो भी दांव फेंकना हो वह फेंकें। हमारी ऐसी तैयारी थी कि हम सारे प्रपंचों को अपने अंदाज में देख लेने वाले थे। घर घर घूमने के क्रम में हमें बहुत जगह से बच्चियों के नामांकन का आश्वासन मिला था और कुछ अभिभावकों ने तो बजाब्ता हमारे रजिस्टर में दाखिला भी करवाया था। हमसे एक तारीख तक का सफर काटे नहीं कट रहा था। लग रहा था जिंदगी का नया अध्याय बस अब खुलने ही वाला था।

बहरहाल, वह दिन आया। हम किराए वाले कमरे पर आकर बैठ गए। और बैठे रहे। शाम हो गई। हम उठ गए। बगैर एक दूसरे से कोई चर्चा किये हमने तामझाम उठाया और कमरा जिसने भाड़े पर दिया था उसके पास गए। वे सज्जन लोग थे। उन्होंने छह सात दिन के किराए के पैसे न लिए, सिर्फ चाबी ली। हम लोग शब्दहीन होकर घर लौट आए। कोई दुख कोई कष्ट कोई तकलीफ नहीं हुई। उस प्रसंग का फिर कभी घर में जिक्र न हुआ। पर उस वाकये ने हम दोनों बहनों पर एक सा ही असर किया। चित्त से पैसा उतर गया। वह आगे अब आए जाए, खुशी तो खैर कोई नहीं ही ले आ पाने वाला था अब वह अपने साथ कभी भी। उस घटना के लगभग दो से तीन महीने के भीतर हम बैंक में भर्ती हो गए थे और हमें शहर छोड़ना पड़ा। तबादला अलग अलग शहरों में होता रहा और फिर वह पता मन के भीतर एक नया गांव बनाने लग गया।

कोचिंग वाले प्रकरण और बैंक ज्वाइन करने के बीच वाले दो तीन महीने के अंतराल में 'प्रतियोगी' कहानी लिखी गई थी। दुलारी या उस जैसी स्त्री मेरे इको सिस्टम में साक्षात न थी, पर उस कहानी को लिखते समय ऐसा लगा जैसे अतीत वर्तमान भविष्य में कहीं न कहीं उसे मेरा अंश बनना था या मुझे ही उसका हिस्सा हो जाना था। उससे किसी न किसी ठौर पर मिल लेना तय ही था। बहरहाल, कहानी 'हंस' में स्वीकृत हुई। 'हंस' में प्रकाशन के एक महीने पहले वाले अंक में अगले अंक की रचनाओं की घोषणा की जाती थी। वहां तक, उस अंक तक, वह 'प्रतियोगी' थी। मैं उसके प्रकाशन के पहले जितनी उत्साहित थी वैसी खुशी न पहले किसी कहानी के समय हुई थी न बाद में ही कभी होने वाली थी। खूब इंतजार के बाद वह अंक हाथों में था और जैसे मैंने पन्ने पलटे, सर्द पड़ गई। 'टेकबे ट टेक न त गो' शीर्षक के साथ कहानी छपी थी। यह वाक्य कहानी का एक प्रमुख संवाद था। मेरा मन बिल्कुल सूख गया। अभी वह सब याद करते हुए वही वही, ठीक वही वही महसूस भी कर रही हूं दुबारे। वह सादी सी कहानी अपनी जीर्ण शीर्ण गरदन तानकर जिस बाजार के खिलाफ खड़ी थी, उसी बाजार का शिकार बन गई थी और एक चटपटे शीर्षक के साथ पाठकों को लुभाने

के लिए मैदान में उतार दी गई थी। इतनी जिंदा और तीव्र प्रतिक्रिया अपनी किसी चीज को लेकर कभी न हुई थी। मैं रात भर जार जार रोई। मैं रोने धोने वाली जीव नहीं थी। छीनकर अपनी चीज ले लेने वाली नस्ल थी मेरी। पर मन ऐसा कातर क्यों हो गया मालूम नहीं। मैंने राजेंद्र जी को प्रतिरोध भरा पत्र लिखा। जवाब आया था उनका। जवाब न, दरअसल सवाल था कि क्या मैं शीशे का कवच पहनकर साहित्य में आई थी कि इतनी सी बात से आहत हो गई। मैंने उन्हें लिखा पर शायद अपने आप को लिखा कि साहित्य में मैं दरअसल अपने सारे कवच उतार कर आई थी, ताकि घाव मेरे हिस्से के, मुझे ही लगें।

इति।

बाद में संग्रह में वह कहानी अपने नाम से छपी। पहली ही कहानी थी वह संग्रह की। लेकिन इस तमाम सब लेप प्रलेप के बाद भी इस प्रकरण ने अपनी सबसे पसंदीदा कहानी का स्मरण कर पुलक से भर उठने की खुशी मुझसे छीन ली। देखा जाए तो सांसारिक शब्दवलि में यह ऐसी कोई घटना नहीं पर दुनिया में बहुत सी संवेदनाएं बेमकसद चले तीरों पर ही दम तोड़ती हैं। आगे मैंने कोशिश की कि वह मेरी ही तकलीफ बनकर रहे। उसका असर मुझसे इतर कहीं न फैले।

मैं लगातार नौ वर्ष हॉस्टलों में गुजार कर आई थी। वहां दोस्तों के बीच रहते हुए गाहे बगाहे अमूर्त में चले जाने का मुझे चस्का सा लग गया था। हजारीबाग वाले स्कूल में अमूर्त तो क्या अदृश्य में जाने के लिए भी स्पेस बहुत था। वह स्कूल अंग्रेजों के जमाने में बच्चों का रिफॉरमेट्री स्कूल हुआ करता था। उसके पहले वहां स्वतंत्रता सैनानी कैद कर रखे जाते थे। स्कूल में कई मिथकीय असर वाले किस्से मशहूर थे। हम अपनी समझ से कभी वीर कुवंर सिंह को किसी दीवार के उस पार कुदवाते; कभी किसी पेड़ के नीचे उनसे स्वंत्रता संग्राम की मंत्रणा करवाते। स्कूल का परिसर विशाल था और वह तीन झील के किनारे बसा था। लेकिन उस जमाने में उसकी यह सब कोई भी खासियत हमें लुभा न पाती थी। छुट्टियां समाप्त होने के बाद वहां जाने में रोएं समेत पूरा वजूद रोता था।

खैर, उसी परिसर में कुछ खंडहरनुमा बंगले भी थे। एक राजा बंगला था जहां पुराना मेस हुआ करता था। पर मेरे समेत सभी लड़कियों की दिलचस्पी एक दूसरे बंगले में थी। वह था रानी बंगला। उसमें कई कमरे थे। साथ ही वहां पुराने किस्म के फर्नीचर थे और रानियों से जुड़े कई किस्से मौजूद थे। उस जगह पर रानियों के कई चूल्हे भी थे, जिनमें मेरी खास दिलचस्पी थी। वह बंगला चूंकि हमारे भीतर छिपे रानीभाव को पोषित करता था, संभवतः इसलिए उसका ऐसा आकर्षण था। मैं रविवार के दिन सुबह से वहीं अड्डा जमा देती। बार बार दुहराने की जरूरत नहीं कि उन दिनों मैं सिनेमा के भयानक असर में थी। उस समय हमारी पोशाकों में दुपट्टा आदि का तामझाम शामिल न था। जिस लड़की के पास दुपट्टा वाला कोई सूट होता उसे हम बड़ी हसरत से देखते। किसी दोस्त का दुपट्टा ओढ़, अपनी किताबें उठाकर मैं रानी बंगला के लिए कूच करती। वहां मैं इस तरह उसे लहराकर चलती कि वह किसी न किसी नक्काशीदार पुरानी आकृति में फंसे और मैं अगले दृश्य में अदा मारकर उसे निकाल लूं। सारा का सारा दिन मैं उसी एकांत में गुजार लेती और हफ्ते भर की ऊर्जा की खुराक जमा कर लेती।

लेकिन कभी कभी स्कूल प्रशासन से उधर जाने पर प्रतिबंध लग जाता। तब क्या हो? मैं किताबें उठाकर पेड़ की डाल पर बैठ जाती और उधर ही पूरा दिन निकाल लेती। पढ़ते हुए कुछ कौतुक बना रहे, इन सब के मूल में शायद यही बात थी। दोपहर और रात में सख्त

किस्म का स्टडी आवर होता जिसमें सभी को अपनी निर्धारित मेज कुर्सी पर बैठकर पढ़ना होता। इस दौरान बीच में उठकर कमरे में जाना प्रतिबंधित था। जाहिर है मैं छिप छिपकर कई बार कमरे में या किसी दोस्त के पास उठकर जाने के जोखिम वाले कौतुक करते हुए सारा वक्त निकाल देती। जैसे ही रात के साढ़े नौ बजते, सोने की सख्त मुहिम चलाई जाती। इसके आगे सबको बत्तियां बुझाकर सो ही जाना था। अब इस बिंदु के बाद मैं अपना प्रपंच चलाती। मैं मच्छरदानी के भीतर मोमबत्ती जला लेती और पढ़ने लग जाती। और भी बहुत किस्म किस्म की खिलाड़ियां थीं वहां। एक बार ऐसी ही किसी धाकड़ को मोमबत्ती जलाकर पढ़ते हुए नींद आ गई और मोमबत्ती के बिस्तर पर गिर जाने से आग लग गई। तबसे सबकी मोमबत्तियां जब्त हो गईं। तब रजाई के नीचे टॉर्च जलाकर कोर्स की किताब पढ़ने की रवायत शुरू हुई। कुल मिलाजुला कर नियम कानूनों के दांवपेंच आगे आगे, उनके तोड़ पीछे पीछे। उस सबके बाद मैं चेहरा मोहरा ऐसा गंभीर बना लेती कि आसानी से पकड़ में न आती। बहरहाल यह वक्त एकांत और जोखिम दोनों के प्रति ललक जगाता ही रहा। पर छल और धोखा भी व्यक्तित्व में घुल ही रहा था कुछ, जबकि स्कूल में बड़े ऊंचे आदर्श सिखाए जाते। स्कूल की मासूम सी दिखती लड़कियां दरअसल अपने आप में खुले हुए कठोर समाज का प्रतिरूप थीं और उसके बरक्स अपने पैर कैसे जमाने थे, इन सब का रियाजगाह साबित हुई थी वह जगह। और कमाल कि मैं पैंतरेबाजी में भी अच्छे नंबरों से पास हो रहा थी।

घर में मां की किताबों के सहारे पाए साहित्यिक ज्ञान का मैं अपने हिसाब से इस्तेमाल करती। हमारे आश्रमों के बीच नाटक की कड़ी प्रतियोगिता होती। मैं सिनेमा में थोड़ा साहित्य और थोड़ी कल्पना मिलाकर एक पनिआया नाटक लिख देती और उसे किसी बड़े लेखक की कृति बताकर उस नाटक के खेले जाने के पक्ष में बहुमत जुटा लेती। विशेषकर जयशंकर प्रसाद का बहुत नाम खराब किया मैंने। यह सब करते हुए मेरा मन जरा भी न कांपता और यही निश्चिंतता मुझे विश्वसनीय बना देती। उन सब चालबाजियों से भीतर ही भीतर कुछ बुरी चीजों से बहुत ज्यादा, कुछ अच्छा भी आ रहा था। मैं दरअसल बुराई को उल्लू बना रही थी और उसका अनुवाद अपने हक में इस तरह करती जा रही थी कि उसे कोई भनक तक न लगे।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय के भीतर का माहौल एक अलग तरह से उकसाने वाला था जिसमें अक्खड़पन वाली खामोश जिद की धार को पैना करने के तमाम अवसर थे। वहां के आखिरी वर्ष में जब एक रात डर से निबटने की जुगत में मैंने पहली कहानी लिखी तो कहानी पूरी होते न होते मैंने मन ही मन पहले श्रोता का चयन कर लिया था। यूं तो मेरी सारी सहेलियां हॉस्टल वाली थीं, पर मेरी एक दोस्त—प्रज्ञा, विश्वविद्यालय के परिसर में रहती थी और उसने कई दफे यह जिक्र किया था कि काशीनाथ जी उसके पड़ोस में रहते थे। इस तरह से उनका घर मेरे हॉस्टल से बमुश्किल पांच सौ मीटर के दायरे में स्थित था। मैंने प्रज्ञा से उनके घर का नंबर लिया और फोन लगा दिया।

दोपहर का वक्त था। टेलीफोन बूथ महिला महाविद्यालय के गेट में दाखिल होते ही ठीक दाहिनी तरफ स्थित था। बूथक्षेत्र से लगा ही वह इलाका था जिसे महिला महाविद्यालय के प्रेमी जोड़ों के तीर्थस्थल का सा दर्जा प्राप्त था। पीएमटी—यानि पिया मिलन ट्री का क्षेत्र। वह जगह शाम चढ़ने के साथ गुलजार हो जाती। कोटरों से निकलकर प्रेमी युगल वहां आ बैठते और फिर घंटों तक चलने वाली खुसुरफुसुर का सिलसिला शुरू हो जाता। एक निश्चित समय के बाद सीटी आदि बजाकर जोड़ियों को चेतावनी दी जाती कि मिलने का वक्त खतम होने वाला था और उन्हें विदा लेते वक्त के रस्मी संवादों की अदायगी शुरू कर देनी चाहिए।

वक्त खत्म हो जाने के बाद भी लोग प्रशासन उशासन की बात नहीं मानने वाले मूड पर उतारू हो जाते। तब हल्के लाठी चार्ज से मामले को प्रशासन के नियमों के हक में सुलझाया जाता। यह भी था कि उस मोर्चे पर पिट जाने वाले की शोहरत कुछ बढ़ ही जाती। लेकिन जैसा कि तीरथ तक पर रमन चमन सदैव समान रूप से नहीं रहती, दोपहर के वक्त पिया मिलन ट्री के इर्द गिर्द भी आम जगहों के हैसियत की वीरानी ही छाई रहती।

मैं अपनी दो क्लासों के बीच वाले वक्त में फोन लगाने आई थी। विशुद्धतः लैंडलाइन का जमाना था। मैंने छह सात अंकों वाला नंबर डायल किया। मेरी किस्मत में कभी कोई खोट न रही। फोन काशीनाथ जी ने ही उठाया। मैंने बहुत रियाज कर रखा डायलॉग बोल दिया। सिर्फ इतना भर कि यहीं पढ़ती हूं और मिलना चाहती हूं। जाहिर है असल पत्ते मैंने छिपाकर रखे थे। उन्होंने अपनी तरफ से सिर्फ स्नातक में मेरे विषय की जानकारी ली और अगले रविवार को सुबह ग्यारह बजे घर आ जाने को कहा। वह शुक्रवार था।

दो दिन बाद मैं रजिस्टर बांहों में दबाए उनके घर के सामने प्रकट हो गई। उनके गेट में दाखिल होने के पहले दूर से ही मुझे दिख गया कि सफेद कुर्ता पायजामा पहने वे लॉन में बैठे थे। मैंने आरंभ के औपचारिक एकाध वाक्यों के बाद रजिस्टर पलटा और तेज गति के समाचार के हौसले में शुरू हो गई। रजिस्टर के पन्ने पलट पलट कर मैं कहानी सुनाती गई, सामने वाले की इच्छा अनिच्छा से एकदम बेखबर। बहरहाल कहानी समाप्त हुई और मैंने बड़ी ललक में उन्हें देखा। वे सीधे उठकर घर के भीतर चले गए। कहानी के दौरान वे पान चबा रहे थे और मैं समझ गई कि वे पीक आदि फेंकने घर में गए हैं ताकि प्रतिक्रिया देने में गला साफ रहे। पर वे बहुत वक्त तक घर से न निकले। अब जाकर अपनी प्रतिभा पर थोड़ा थोड़ा संशय होना शुरू हुआ। वे निकले और उन्होंने पहला सवाल पूछा—"सिनेमा देखती हो?"

इस पंक्ति के बाद किसी प्रतिक्रिया के बगैर ही मुझे टूटकर चूर हो जाना था। आगे किसी बात का इंतजार करना बेमानी ही था। पर उन्होंने बड़ी कुशलता से मुझे बगैर ज्यादा ठेस लगने दिए, कुछ जमीनी राय सामने रखी। यह उनकी जादूगरी ही थी कि एक तरफ जहां वहां से लौटते हुए मुझे यह पता था कि बेहतरी का कोई शॉर्टकट नहीं, न उस रास्ते का कोई अंत ही है, वहीं दूसरी तरफ उस वापसी के रास्ते में मेरा उत्साह वैसा ही बना रहा जैसा जाने के समय था। उस कहानी में मैंने बहुत सुधार किया। प्रभाकर श्रोत्रिय के संपादन में 'वागर्थ' पत्रिका निकलती थी। मैंने कहानी को वहीं भेज दिया। किस्मत फेंटा कसकर फिर मैदान में आ गई। कहानी वहां स्वीकृत हुई और अगले अंक में छप भी गई। उसके ठीक अगले या अगले के अगले अंक में राजी सेठ जी की उस कहानी पर एक प्रतिक्रिया छपी। मैं साक्षात अवाक थी। काशीनाथ जी, प्रभाकर श्रोत्रिय जी और राजी सेठ जी—इन तीन बड़े लेखकों ने मुझे एकदम से कलम कागज की मुख्य सड़क पर ला खड़ा किया था। यह सब बहुत कम अंतराल के भीतर हुआ और मुझे साहित्य में संघर्ष का अनुभव न मिला। फिर कुछ कुछ संयोग ऐसे बने कि उस मुख्य सड़क पर मैं गति से बढ़ी और वही बात मुझे तकलीफ देने लगी। भीतर भीतर मुझे छोटा बनाने लगी। यहीं कहीं आसपास, मैंने अपने लिए ज्यादा, बहुत ज्यादा एकांत का चुनाव कर लिया।

रेडिएशन कक्ष के बाहर अपनी बारी की लगभग घंटे भर प्रतीक्षा करनी होती। मां के ही सान्निध्य में। यह एक दूसरा अस्पताल था। यहां हर तरह के कैंसर के मरीज रेडिएशन लेने आते थे। इस चरण तक पहुंचते पहुंचते लोग बहुत पस्त पड़ चुके होते। खतरनाक बीमारी से लड़ने के भी अलग अलग चरण होते हैं। आरंभिक चरणों में तकलीफ, आशंका और भय

के साथ साथ एक किस्म का थ्रिल भी होता है, गुदगुदी सी, उत्तेजना कि आपके पास हिम्मत और धैर्य दिखाने का बड़ा मौका था। पर जैसे जैसे वक्त बीतता जाता था एक किस्म की ऊब उस थ्रिल की जगह लेने लगी थी। शायद वजह यही थी या रेडिएशन कक्ष के दूर दूर तक तरंग दैर्ध्यों का ऐसा गहरा प्रभाव था कि उस वृत में होने पर बहुत सी निराशा घेर लेती थी। उस कमरे के बाहर बैठी मैं एकमुश्त अतीत में गाफिल हो जाती। कोई नियम नहीं था। न कोई तरतीब। बस स्मृति के पार स्मृति ही थी।

बहरहाल रेडिएशन कक्ष में घुसते एक नए खेल संसार में मेरा दाखिला हो गया। जब बड़े बड़े यंत्रों और सफेद सघन दीवारों के बीच मुझे अनावृत होकर लेटना पड़ा तब पहला ख्याल जो आया वह एक सूचना थी। मैं जीवन भर अपना पसंदीदा रंग खोजती रही और कितनी आसानी से मेरा सबसे पसंद का रंग सफेद साबित हो गया। और कमाल की बात कि मैं उस खोज को किसी के साथ साझा भी नहीं करना चाह रही थी। अपनी एक मुस्कान तक के साथ नहीं। उस आविष्कार को मेरे भीतर ही एक लंबे अरसे तक चहलकदमी करते जाना था।

आगे भी कुछ बातें थीं। वह आश्चर्यजनक रूप से आविष्कारों का दिन साबित हो गया। एकांत और आजादी के मिलेजुले मादक असर में अब तलक मैं जिन स्मृतियों को जमा करती आई थी और गाहे बगाहे खुलकर खर्च भी करती रही थी, उन सबने दरअसल मेरे बायोलॉजिकल शरीर पर कब्जा जमा लिया था। इसलिए जब शरीर के साथ कुछ हरकत होती तो दर्द न होता बल्कि एकांत, आजादी और स्मृति में से कोई फेंटा कसकर मैदान में आ जाता। मसलन जब पेट में जोलाडेक्स की मोटी नोंक वाली सुई घुसेड़ी जाती तो स्मृति अपने खजाने से उन तमाम मासूम कुत्तों को ला खड़ा करती जिनसे बचपन भर मुझे खेलने न दिया गया इस बात से डराकर कि पेट में चौदह या न जाने कितनी सुइयां पड़ेंगी। इस तरह से दर्द, शर्म, झिझक आदि आदि सब बड़े मंसूबे बांधकर आते जरूर, पर मुझ तक पहुंच न पाते। तो क्या मैं सीधे सीधे उस मिठाई की तरह थी कि जो शीशे के आवरण में बंद हो और मक्खी आदि उस पर सिर्फ मंडराए भर और कभी भी बैठ न पाए! शीशे का कवच! राजेंद्र यादव जी के जिक्र का शीशे का कवच! तो क्या मैं वाकई एक कवच के भीतर थी? यह बात तो छीलकर रख देने वाली थी और मेरी त्वचा इस बात की शुक्रगुजार हुई कि मेरे नाखून कभी लंबे पैने न रहे वरना तो उस एहसास पर संभव है मैं उसे कुछ दूर तक गहरे कुरेदती ही।

बहरहाल, त्वचा न सही पर अपने ख्याल को तो कुरेदा ही जा सकता था। यह एक और मजे की बात निकली कि त्वचा पर कुछ खटपिट करने के लिए उंगलियों को वहां तक ले जाना पड़ता और संभव है ऐसे में तकनीशियन 'अरे अरे हिल गईं' कहता हुआ दौड़ा चला आता, वहीं ख्याल के साथ मैं जो मर्जी करती डॉक्टर की बिल्कुल न हिलने वाली तसदीक की मर्यादा निभ जाती। खैर स्मृतियों में क्या कुछ साथ रह जाता है? जिनमें अपनेपन का स्पर्श ज्यादा हो या जिनमें अपमान की आंच विशेष हो या जिनमें अधूरेपन की भुलभुलइयां ज्यादा हों या जिनमें कुछ न हो, एक सादा सपाट पूर्णविराम हो। और स्मृति में क्या रहेगा यह नियम एक एक पर समान रूप में लागू होकर गणित के एक नियम जैसी ठस सी कोई चीज थी! न। इन सब नियम उयम को मेरी स्मृति तो न ही मानती होगी। किसी की भी स्मृति न मानती होगी। यह उन नियमों में बंधकर रहने वाली चीज होती तो विस्मृति के वजन पर आकर खड़ी हो पाती क्या! ठीक, उस सफेद कमरे में एक कुछ ऊंचे और ठंडे बिस्तर पर लेटे होने की अवस्था में, दर्ज होने वाली मेरी परिभाषा यह कहती थी कि स्मृति दरअसल अपनी थैली में वही सब कुछ रखती थी जिसे बाद में उसके लैब में ढंग से धोकर कुछ तस्वीरें बनाई जा

सकें। बहरहाल, मुझे बिस्तर से उठ जाने के संकेत दे दिए गए थे। अब आगे तसल्ली से कपड़े पहनते हुए मैं यह सोच सकती थी कि स्मृतियों से एकसार त्वचा को धूप धूल आदि से बचाने के लिए कपड़े जरूरी हैं। आह फिर से मेलो ड्रामा। स्मृति को धूप और धूल से नहीं बहुत दुनियादारी के बाजार से खतरा था। और कपड़े उपड़े पहनने से यह खतरा कम न होने वाला था। और फिर यह भी था कि खतरों से भय किसे था! बल्कि अगर स्मृतियां मेरे शरीर को निन्यानवे वर्षों की लीज पर लेने की इच्छा से आई थीं तो उन्हें बार बार जोखिमों के हवाले इस हद तक होना होगा कि कभी आसानी से भ्रम हो जाए कि मामला दरअसल जोखिमों को खुद के हवाले करने जैसा संगीन और रंगीन था।

अब अपने एक नए किस्म के शरीर के एहसास के साथ मैं थी। और उस लैब वाली परिभाषा पर गौर करना जरूरी था। वरना विस्मृति के भी पैंतरे कम नहीं थे। वह भी उतनी ही शिद्दत से पीछा करती है इंसान का। ट्रैफिक सिग्नल जैसी बार बार लगातार हाजिर जगह तक पर अचानक सामने आकर हैरान कर देने का माद्दा है उसमें। हर एक घटित को या तो इसके पाले में जाना है या उसके। स्मृति और विस्मृति के अलावा भी कोई तीसरा पाला होता होगा क्या! और अगर था तो वह नामकरण संस्कार से कैसे बच निकला? यह लैब वाले पिछले सवाल से ज्यादा उत्तेजक प्रश्न था और अस्पताल से घर जाने के रास्ते में गाड़ी चलाते हुए ऐसा लगा कि इस खयाल को लहरिया कट मारकर बगल से तेज निकल जाने के पहले, हॉर्न बजाकर रोक लिया जाए। विस्मृति और स्मृति के बीच वाली चीज ही एक लेखक का हासिल था। यह तीसरी चीज अपने लिए कोई रोशनी का घेरा नहीं चाहती थी। इसलिए कोई एक नाम पा लेने से यह साफ साफ बच निकली। इसमें एक दुनियावी खराबी थी लेकिन, यह अपनी छरहरी काया को लेकर बड़ी सजग थी और ऐसी चौकसी में रहती कि इंसान के दिमाग, मन, आत्मा इन सब भारी भरकम नाम वाली शै के बीच इसका बसेरा कहां है यह कोई बूझ न पाए। और फिर जब इतना सब कुछ गैरजरूरी जरूरी पहले से मौजूद था ही संसार में बूझने को, तब इसके लोकेशन को ट्रेस करने की क्या जिद की जाती भला। बस यही तसल्ली होती रहे कि यह तीसरी चीज है कहीं भीतर गहरे मौजूद, अपनी पूरी आवोहवा में।

अगला दिन जल्दी हो ही न रहा था। मैं बहुत उमंग में भर चुकी थी और उसी सफेद कमरे के उस बिस्तर तक जाने को ललचायी हुई थी। वह एक तरह से चिता का विपर्यय था। बहुत शीतल, लेकिन जमाने की जगह जलाने की ताव तो उसमें भी थी। वहां से जलते जाने पर धुआं नहीं उठता था, बल्कि विचार और स्मृति का रसायन ख्यालों को आसमान तक ले जाता था। वहां से आत्मा शरीर का साथ छोड़ अलग नहीं हो जाती थी, बल्कि आत्मा शरीर के भीतर और कहीं धंसती जाती थी। और अपने बेहतर समाते जाने से शरीर के भीतर खाली होते स्पेस में कुछ दूसरी जरूरी चीजों के समाने के लिए जगह भी बनाती जाती थी। यहां से आगे 'राम नाम सत्य है' जैसी ध्वनियां नहीं, बल्कि नाम के आगे ही सत्य की सरहद शुरू होती है जैसी कुछ फुसफुसाहटें थीं।

खैर वहां, उस बिस्तर वाली जगह पर बिछते ही मैं छूटी डोर से वाबस्ता हो गई। अनुवाद वाली बात। संवेदना के स्तर पर अलग अलग व्यक्तियों के यहां भिन्न तरीके में स्मृतियां काम करती हैं। स्मृतियां अपने काम के लायक बहुत सा कच्चा माल चुनती चलती हैं और बाद में पीड़ा, अपमान, पुलक, आह्लाद वाले ये नेगेटिव्स संवेदना के रसायन से धुलते जाते हैं। साफ हो चुकने के बाद वे चीजें ही स्मृतियों के शेल्फ में डिस्प्ले होती हैं। स्मृतियां, विस्मृति के दुर्ग में सेंध लगाकर कुछ अतिरिक्त नेगेटिव्स हमेशा चुरा ले आती हैं और अपने गोडाउन

में जमा करतो जाती हैं ताकि संवेदना निठल्ली न बैठी रहे, उन्हें काम मिलता रहे और डिस्प्ले वाला शेल्फ समृद्ध होता रहे। पर यह भी है कि सेंधमारी तो कभी विस्मृति के दुर्ग की तरफ से भी हुआ करती होगी। स्मृति के गोदामों और शेल्फ तक में की गई सेंधमारी। बहरहाल, स्मृति विस्मृति की पंचयत सुलझाते हुए मेरे उठने का संकेत हो गया। खेल खतम पैसा हजम।

पैसे में हजम हो जाने का गुण है पर खेल खतम क्यों हो। और एक खेल खतम हो तो उसकी आखिरी सांस के आसपास दूसरा शुरू क्यों न हो जाए। इन स्मृतियों में से कितना कुछ मेरे लेखन के काम आ पाता है? क्या स्मृतियों के शेल्फ में रखी सारी तस्वीरें, संवेदना को मांजकर साफ की गई चीजें, मेरे लिखने में शुमार हो ही जाती हैं? या लिखते वक्त विस्मरण के खाते से बगैर धुलीपुंछी कोई चीज भी वाइल्ड कार्ड एंट्री की हैसियत से रचना में दाखिल हो जाती है और स्मृति हतप्रभ देखती रह जाती है! क्या रचना करते वक्त लेखक, स्मृति विस्मृति और उन दोनों के बीच की छरहरी काया वाली चीज के बीच में से अपने काम की चीजों को चुनता है या कहानी के पात्र खुद चुनाव करने लग जाते हैं। सब एक दूसरे से गुंथे हुए सवाल थे पर मैं क्या ड्राइविंग सीट पात्रों को सौंपने जितनी उदार लेखक थी!

मैं घर तो पहुंच गई पर ये बातें मुझे चुनौती देने लगीं और लगा कि क्यों न एक बार अपने हाथ से पतवार छोड़कर पात्रों को सौंप दी जाए। वैसे यह सब इतना स्थूल होता है क्या कि आप ठीक ठीक चीन्ह सकें कि कब पतवार किसके हाथ में है? हो सके अतीत में भी मैं सिर्फ रचनाकार होने का भ्रम लिए फिर रही थी और दरअसल उस समय भी डोर किसी और के पास ही थी। यह मेरे लिए बड़ी हताशा का ज्ञान था। उदारता से जो चीज दूसरे को सौंपने चली थी वह मेरी कभी थी भी या नहीं यह संशय मुझे बेधने लगा। बात ऐसी बढ़ी कि उस रोज जब लिखने बैठी तो सब कुछ रुक गया। उपन्यास में नायिका वरा कुलकर्णी को इंटेरोगेशन के लिए बुडापेस्ट के पुलिस थाने ले जाया गया था और वह वहां पानी की मांग कर चुकी थी। इसके आगे पानी के साथ उसने क्या किया यह तक सोचने में मैं असफल रही।

वहीं उसी कमरे में तीन बच्चे एक सभ्य खेल को खुराफाती तरीके से खेल रहे थे। एक बच्चा—अक्षत, मेरे घर का था और केदार और सात्विका, उसके दो दोस्त थे जो रोज की तरह अपनी मंडली जमाए थे। उन दिनों किसी चैनल पर नए कलेवर में रामायण आ रहा था और वे तीनों एक दिन पहले के एपिसोड का कोई अंश दुहराते हुए धमाचौकड़ी मचा रहे थे। मुझे लगा कि इस दुविधा से निकलने के लिए उनकी शरण में जाना ही ठीक है। मेरी मिन्नतों के बावजूद वे अपने खेल में मुझे कोई रोल देने के लिए तैयार न थे जबकि रामायण में पात्रों का क्या अकाल था! खैर डील यह हुई कि वे मुझे पूंछ बनाने की एवज में अंगद बनने का अवसर दे सकते हैं। सामने अक्षत, केदार और सात्विका कांधे पर गुब्बारा ताने क्रमशः सुग्रीव, बाली और हनुमान की भूमिका में थे।

अब वानर की भूमिका मिलते ही, अंगद बन जाने की बात में एक झटके में विस्मृति के खेमे से एक वाइल्ड कार्ड एंट्री हुई और मुझे याद आया कि इंटर के दिनों में पटना के मगध महिला वाले हॉस्टल में स्वतंत्रता दिवस की तैयारियां चल रही थीं। हम हॉस्टल के बरामदे में बैठे झंडे के खंभे में रंगीन कागज लपेट रहे थे। उन दिनों उस इलाके के आस पास बंदरों का बहुत प्रकोप था। एहतियातन हॉस्टल का गेट हमेशा बंद ही रहता। कागज लपेटने का काम लगभग खत्म ही था और बाकी की सारी लड़कियां उठ चुकी थीं। मैं उस काम को फिनिशिंग टच देकर उठने ही वाली थी कि तभी किसी की असावधानी से गेट खुल गया और अचानक वहां से बंदर दाखिल हुआ। गेट से मेरी दूरी अच्छी खासी थी और मैं

आसानी से दो कदम की दूरी पर स्थित अपने कमरे तक भाग सकती थी। मैं उठी भी जरूर पर लड़खड़ा गई और मैंने भय से आंखें बंद कर लीं। अब जो होना था वह होकर गुजर ही जाए। लेकिन बहुत अरसे तक कुछ न हुआ या कोई आवाज न आई तो मैंने धीरे से आंखें खोलीं। देखती हूं कि मेरे बिल्कुल समीप बैठा था वह बंदर। हम दोनों की आंखें बस एक दूसरे में थीं। मैंने बिना कुछ महसूस किए या सोचे, दुबारे आंखें बंद कर लीं। कुछ वक्त बाद आंखें खुलीं तो कहीं कोई न था।

खेल भले बच्चों का हो पर इस तरह बीच राह रुककर इसी घटना को याद करने का क्या मतलब था? खैर सवाल का जिक्र बाद में, उस वक्त तो मुझे तत्काल खेल निकाला मिल गया। खासकर तब जब कि मेरे सौजन्य से तीनों के पास सूती दुपट्टे को लपेटकर बनाई गई सुडौल पूंछें आ गई थीं, मेरी एक भूल पर मुझे खेल निकाला देना उनके लिए भी आसान था। मैं उस मैदान से बाहर बैठकर सोचने लगी कि बंदर की आंखें जब मुझसे मिलीं तब क्या हुआ होगा? मेरी आंखें उसकी आंखों से दुगुनी तो रही होंगी डील डौल में। तब ऐसे में अपनी आंखों की माप से दुगुनी मात्रा में भय को सामने देखकर बंदर ने क्या सोचा होगा? मुझे उसकी आंखों में उस वक्त भी कुछ नहीं दिखा था। फिर अब याद करने से स्मरण आता भी क्या? चूंकि यह दृश्य सीधे सीधे विस्मरण के पाले से निकलकर आया था और संवेदना के रसायन में इसकी धुलाई नहीं हुई थी, मैंने उस स्थिर दृश्य को अपने तरीके से कुछ प्रोसेस करना चाहा। रचनाकार के हैसियत की मिलावट से देखते ही देखते बंदर की आंखों में पहले से विद्यमान क्रोध और कौतुक के शेड्स धुंधलाने लगे और विस्मय और करुणा उसका स्थान भरने लगीं। तो सामने भयभीत एक दूसरे जीव को देखकर जानवर तक ऐसे बदल सकते हैं और खाली इनसान ही था जो ऐसी घड़ी में अपनी आंखों में अमूमन पहले से उपस्थित भावों को ही गहराता जाता था!

रेडिएशन के इंतजारिया वक्त में मुझे मुख्य कक्ष के बाद वाले उपकक्ष के सामने वाली लॉबी में भी कुछ देर के लिए बैठना होता। यह एक लंबी यात्रा थी। अगल बगल बहुत से कराहते मरीज होते। शुरू के कुछ दिन मैं इस अतिरिक्त वाले समय में एक एक के पास जाकर हाल पूछती पर धीरे धीरे सवाल खत्म होने लगे। कारण कि जिज्ञासा भी चुकने लगी और कहीं न कहीं तकलीफ भी। लगता था संवेदना से इम्यून बनने की कोई भितरिया तैयारी चल रही थी। सबके पास जाकर तबीयत का ब्योरा लेना अश्लील भी था। क्योंकि मन तो यह जानता था कि चोर नजर से यह अपनी स्थिति को दूसरे की स्थिति से परखकर खुद के लिए तसल्ली जुटाने की कवायद थी। एक लकीर के बगल में बड़ी लकीर खींचने जैसा कुछ। हम कभी कभी अपने एकांत के आईने में कितने कम इंसान साबित हो जाते थे!

और यह सब तकलीफों का और 'यह छिन रहा वह छिन रहा' का बार बार खुद के आगे रोना भी क्या था! क्या सच में कोई तकलीफ थी या यह सब बाईस कैरेट शुद्धता का भार ढोता, ढोंग था। थोड़ी बहुत सहानुभूति या खुद के लिए बहादुरी का प्रमाणपत्र। विक्टम कार्ड नहीं कह सकते इसे ठीक ठीक, पर एक किस्म का मोराल बूस्टर कार्ड तो यह था ही। यह अदृश्य कार्ड—क्रेडिट, डेबिट कार्ड से भी ज्यादा काम का था और अब अस्तित्व में ही एकमेव हो गया था शायद। इसलिए एकांत में भी आप इसे सच मान बैठते थे और खुद के ही परम प्रशंसक होने जैसी दयनीयता आसानी से पा लेते थे। यह रोशनी, रेडिएशन के प्रकाश से ज्यादा मारक थी शर्तिया।

आजादी के स्वाद के लिए मुझे कोई संघर्ष नहीं करना पड़ा। मेरे माता पिता ने एकमुश्त

से लाकर सामने रख दिया सब कुछ। अब उसके आगे तात्पर्य उस आजादी का करना क्या था, यह उन्होंने नहीं बताया। कमजोर से कमजोर इशारे तक में नहीं बताया। जाहिर है पहले का कुछ आरंभिक समय तो उसे उलटपुलट कर कौतुक से देखने में निकल गया। फिर मैं उसे ख्यालमंद चांक में रखने लगी। ऐसा था कि खरचने से आजादी के जितने हिस्से का उपयोग किया जाता उससे कहीं ज्यादा मात्रा में वह उस जगह को वापस भर दिये जाने का इसरार करने लगती। मैं सचेत थी कि उसका होशमंद इस्तेमाल किया जाए। अपनी कल्पना में मैंने उसे एक सुडौल मटकेनुमा मर्तबान में रखा था। उसमें से कुछ भी निकाले जाने के बाद मैं आजादी वाले उस पात्र को ऊपर के ताखे पर रख देती। सनद रहे कि मेरे घर की दीवारें सरपट थीं। इसलिए घर की दीवारों पर उन ताखों के भार को ढोते जाने का कोई बोझ न था।

इस तरह सूझबूझ से पात्र की चीज को खरचते हुए मेरे पास बहुत स्वस्थ मात्रा में आजादी के कतरे बच गए। कई बार स्थितियां ऐसी बनीं, कई ऐसे पड़ाव आए, जहां रुककर जमाना और खासकर जमाने के युवा अपनी जेब में आजादी के सिक्के टटोलते हुए कुछ न कुछ खरीद ही लेते थे। उन पड़ावों का आकर्षण ऐसा था कि जिनकी जेब में आजादी के सिक्के नहीं होते वे उधार खाता लिखाकर ही उस चीज को मोल लेते। यह सब करते वक्त एक उम्मीद सी रहती कि कभी न कभी मां बाप जमाना, या तो अपने मन से मान जाएगा या वे ही कुछ आजादी कमा सकेंगे कि मोल ली हुई उन चीजों को सम्मान के साथ प्रस्तुत कर सकें। मैं बहुत सी आजादी के सिक्के खनकाती उस पड़ाव से भी बगैर कुछ मोल लिए ही निकल गई। मुझे बहुत सी आजादी के सुकून में भरकर अपनी खाली जेब में हाथ डाले, सीटियां बजाने जैसी बेफिक्री से वक्त के बीच से गुजर जाने का चस्का लग गया था। हां यह जरूर था कि अब तक मुझे सोच विचार कर आजादी के खजाने से चीजें खर्च करने की तमीज आ गई थी। इसलिए उसके काल्पनिक पात्र को मैं ताखे से उतार लाई थी। अब एहतियात, मेरी मज्जा में समा चुका था। इसलिए धीमे धीमे मैंने आजादी को पात्र से निकालकर अपने आसपास बिखेरना शुरू किया। जाहिर था एक रोज पात्र का सब कुछ बाहर आ जाता और फिर पात्र में मैं कोई पौधा लगाकर उसे हमेशा के लिए गमले का नाम दे देती। आसपास बिखरी आजादी अब हवा में उड़ियाने जैसी चुलबुली हो चुकी थी। कभी ऐसा समय भी आता ही जब उस जगह से मैं हट जाती और बस वह दृश्य अपनी खुशहाली में बचा रह जाता।

खामोश, सर्द, सफेद उस रेडियशन कक्ष में, जिसके हरे पर्दे भी दरअसल मुझे सफेद दिखने लगे थे, लेटने की शांति को क्या कहा जा सकता था? एकांत या अकेलापन? मेरे सामने सब्जी खरीदने का दृश्य आता था। मंडी में हाथ से चुनकर सब्जी खरीदने का दृश्य। छांट छांटकर चुनी जाती भिंडी या बैगन। तौल अगर कम पड़ जाए और तौलते समय बेचने वाला आपसे ज्यादा चालाक साबित हो जाए और आपकी चुनी चीज के बीच में सड़ा गला क्षतिग्रस्त कुछ घुसा दे और आप वह सब भी खरीद लें, फिर? आपके झोले के उस सब्जी समूह में आपकी चुनकर रखी हुई चीज एकांत हुई और नजर बचाकर सब्जी वाले की घुसाई बीच बीच की अवांछित वस्तु—अकेलापन। मैं कैसी उपमाओं पर उतर आई थी! यूं ही कुछ भी! यह जरूरी है कि एकांत हमेशा चयनित ही हो? अनायास मिले अकेलेपन को भी अगर स्वांग के हिस्से की तरह अपना लिया जाए तो वह एकांत में बदल जाने का ताव रखती है? यानी चुनकर अपनी इच्छा से न ली गई खामोशी भी अगर अपनाई जा सके तो वह एकांत का विस्तार बन जाती है!

जब भी जीवन से संघर्ष कम होने लगता तो मैं हरहाल कोशिश में जुट जाती कि घर्षण को वापस ल सकूं और इसके लिए एकांत की इफरात में जरूरत पड़ जाती। मेरे जैसा व्यक्ति क्यों लिखता है? और मेरे जैसा व्यक्ति क्या सच में लिखता है? इस घर्षण को बनाए रखने के लिए मैं जीवन से, वह जीवन अपना हो या दूसरे का हो, किसी के भी जीवन से, बहुत सा नकार चुनकर एकांत तक लाती और उसके सकारात्मक अनुवाद में जुट जाती। उस अनुवाद की हुई चीज को ही मैं अपनी रचना मान बैठती।

इस तरह लिखे जाने में अवदान सारा संघर्ष की उपस्थिति या कमी, नकार और एकांत का होता और मैं सिर्फ अनुवाद करने के कौशल पर रचना के नीचे अपना नाम लिखने की हकदारी पा लेती। मैं सोचती हूं कि अगर कभी उन तीनों ने या उनके साथ सम्मिलित रहे किसी अन्य ने भी, जिसे मैं उस अस्पताल के बिस्तर से ठीक याद नहीं कर पा रही थी, अपनी वाजिब श्रेयदारी मांग ली तो मैं क्या करती? इसके आगे वही हुआ जो होता आया था। मुझे उठा दिया गया था। अगले दिन तक के लिए। क्या रेडिएशन के पैंतालीस सेसंस एकमुश्त हो जाते तो मैं बेहतर सोच पाती! शायद नहीं। क्योंकि वक्त कम है और किसी समय घंटी बज सकती, यह अहसास ही हमेशा सार्थक और बेहतर काम करवा ले जाता आया था।

बहरहाल, गाड़ी चलाकर अस्पताल से घर तक आना भी उस दफे विस्तार का ही विस्तार बन गया था जहां सोच के सिरे को बखूबी थाम लिया जा सकता था। नकार किस वजन की चीज थी और मेरे वजूद पर उसका कैसा असर था। मान लें कि ऑनलाइन शॉपिंग के दौरान खूब जतन से और बहुत सा वक्त बर्बाद कर किसी चीज को चुनकर हम कार्ट में रख लेते हैं और जब खरीदने चलते हैं तब एकबारगी उस पर आउट ऑफ स्टॉक की इबारत उभर जाए या फिर ऐसा हो कि बहुत सपर कर कोई नाटक या सिनेमा देखना चाहें और थियेटर तक जाने पर वहां बुकिंग फुल का बोर्ड दिखे तो क्या हम बहुत जोर से शोक मनाने लगते हैं या देर तक असर वाली चोट ही खा लेते हैं? नहीं न। फिर? कदम कदम पर अजनबियों से नकार पा लेने वाली ट्रेनिंग में मंजकर तैयार हुआ हमारा मन, पहचान वालों से नकार पाकर ऐसी हाय तौबा क्यों करने लगता है। क्या इसके पीछे पहले से पाल रखी आस का खत्म हो जाना है या अपने मन की एक काल्पनिक स्थिति जिसमें नकार देने वाला मन ही मन या खुलकर हम पर हंस रहा होता है। अब तो मास्क के जमाने में उसका हंसना देख भी नहीं सकते। फिर क्या नकार के साइड इफेक्ट्स कम हो गए थे? ऐसा था भी कि नजदीकियों से मिलने वाली नकार दुख देती थी तो क्यों न सबको अजनबी बना लिया जाए! लेकिन नकार को कम ही कर देना था ऐसा क्यों? क्या मैं अपने हिस्से के नकार की टूटे केशों की तरह ही गिनती करती थी और उन्हें संभालकर ही रखती आई थी? हां शायद। मान लेना चाहिए। बगैर न नुकुर। और एक कमाल यह भी था कि इस 'न' में इंसानी पात्रों का कम, घटनाओं और वक्त जैसे चरित्र अभिनय वाले किरदारों का अधिक हाथ था। फिर, वक्त या घटनाएं भी पहचान वालीं और अजनबी होती हैं क्या? दो किस्म? और वक्त को भी अजनबी बनाया जा सकता था क्या, अपनी पहल पर?

यह जरूर हुआ कि उस दोपहर के बाद से जब भी मैं उपन्यास लिखना शुरू करती अपनी अनुवादकीय हैसियत का बराबर ख्याल आ जाता। यह एक अच्छी बात थी कि मेरे ऊपर से लेखकीय चश्मा उतर गया। और उसके बाद उपन्यास में कोई भी पात्र, कहानी को कहीं भी ले जाने को स्वतंत्र था। ड्राइविंग सीट की परवाह अब थी नहीं। मुझे बस अब उपन्यास के इस सफर में साथ रहना था। मेरी भूमिका कोई सी भी हो फर्क नहीं। इस अहसास ने मेरे

भीतर से सतर्कता और अधिकारबोध को उड़ा दिया और सब कुछ सुंदर हो गया।

लेकिन सुंदरता अक्सर अपने साथ तूफान लाती है। उपन्यास, आखिरी पड़ाव के ठीक पहले वाले चरम की ओर बढ़ रहा था और इधर मेरी तबीयत बिगड़नी शुरू हो गई। अचानक बहुत चक्कर आने लग गए और हॉट फ्लेशेज की आवृतियां बढ़ गईं। ऐसा लगा कि सब कुछ भूल, आगे बढ़कर अपना बहुत कमजोर पड़ जाना कबूल कर लूं और रेडिएशन कुछ दिनों के लिए रुकवा लूं। विचार, कैसे भी विचार, सवाल, कैसे भी सवाल, उपाय, कोई सा उपाय सूझ नहीं रहा था। मेरी बारी आने पर भीतर जाने के लिए मेरा नाम पुकारा जाता तो रेडिएशन टेबल तक पहुंचने में इतना श्रम लगता कि बीच राह ही सारे ख्याल स्वाहा हो जाते। यानी रेडिएशन की रोशनी में चमककर खिलने वाले विचार अब मेरी मद्धम तबीयत की आंच में जलने लग गए थे। उस अपनी लगभग मुंहलगी सी बन चुकी मेज पर लेटने के बाद तब दिमाग में एक ही बात चलने लगी कि अपना समय खत्म हो जाने के बाद वहां से उठकर बाहर तक कैसे जाऊंगी।

यह कैसा मोड़ आया था अकस्मात! क्या वक्त आ गया था कि मुझे उस कद्दावर पत्ते को रोशनी में ले आना चाहिए था? या कि हार जाने में ही कोई बुराई न थी! शक्ति नहीं थी शरीर में जरा भी, पर आंखें मूंदकर मैं उस हुकुम के इक्के को एक नजर तो देख ही लेना चाहने लगी। कैसा दिख जाने का माद्दा था उसमें? क्या वह बहुत ज्यादा ही स्याह था? मेरी पुतलियों के रंग से बढ़कर स्याह! वह अब मेरे पास था भी कि नहीं? क्या यह संभव था कि अतीत के किसी कमजोर मैदान में ही मैं उसे दांव पर लगा चुकी थी! आंखें मूंदूं या कि खोलूं, आगे पीछे बस कुछ आंसू ही बचे थे अब। और उनकी झिलमिल में स्याह देश और लाल पान के सारे पत्ते एकमेव हो रहे थे। अगर कोई खेल था भी सच में तो उसमें दो पाले थे भी या नहीं, अब यही बात संशय के दायरे में आ गई थी। क्या मैं आरंभ वाली सरहद के आगे से अकेली ही खेलती चली आ रही थी। यह चेतना ऐसी मारक थी कि अब आगे स्वस्थ होने के सिवा कोई चारा न था।

मेरे उघड़े मानस को ढंकने के लिए मेडिकल साइंस तत्पर हो गया। जांच में यह बात सामने आई कि जो कुछ चीजें हर भारतीय में कम पाई जाती हैं, वही मुझमें बहुत ज्यादा कम हो गई थीं और उनका स्तर तत्काल कुछ सम्मानजनक बना देने के लिए बाजार में कई इंजेक्शन मौजूद थे। विटामिन डी और बी की सुइयों के बाद तबीयत में कुछ सुधार हुआ पर ऐसा लगा मानों जो लिखा जा रहा था उससे साथ बिल्कुल छूट गया। उपन्यास ठप्प।

मेरे बचपन का एक लंबा वक्त एक खेल खेलते हुए गुजरा जिसका साझीदार दूसरा कोई न था। मैं रात में सोते वक्त इस खेल को कल्पना की मदद से खेलती। इसका प्रस्थान बिंदु इस दृश्य से होता कि किन्हीं शहीदाना स्थितियों में मेरी मौत हो गई है। अब इसके आगे मेरे प्रिय लोग कैसे प्रतिक्रिया देते इसी बात के इर्दगिर्द सारा खेल चलता। मैं एक एक कर सबकी भूमिका निभाती और कोशिश करती कि सबकी प्रतिक्रिया में भिन्नता कायम रहे ताकि बात एकरसता की शिकार न हो। यानी सबके सब दुखी हों पर अपने अपने ढंग से। इस तरह अपने हक में सबके आंसू इकट्ठा कर मैं बहुत अमीर महसूस करती। यह सब बहुत आगे तक चलता रहा पर आगे के अध्याय में अचानक बातें पलटने लगीं। भीतर एक किस्म की तबदीली आने लगी और कोई फिक्र करे तब कोफ्त होने लगती।

बहरहाल एक वैसे ही किसी रोज, दूसरी विधि से चिकित्सा दी जाने की बारी आई। मुझे दूसरे कमरे में ले जाया गया। वहां एक अपेक्षाकृत नीची मेज पर पहले के ही तामझाम में लेटना

था। एक मशीन, साइड लैंपनुमा चीज में फिट हुई सी शरीर के ठीक ऊपर रखी गई थी। उसी मशीन से निकलने वाली तरंगों से इलाज होना था। मैं निरावरण लेटी थी। तकनीशियन उस मशीन के ऐंगल को ठीक कर रहा था ताकि जब स्विच ऑन हो तब उसकी तरंगें ठीक जख्म वाले हिस्से पर पड़ें। वह अपने काम में कलाकार आदमी था। उसे परफेक्शन की बड़ी भूख थी। किसी को काम करते हुए तकते जाना एकाग्रता के दुर्ग में सेंध लगाने जैसा है। इसलिए मैंने चुपचाप उस मशीन को ताकते जाने में खुद को एकाग्र कर लिया। मशीन की गढ़न बहुत रुखड़ी थी और उसके ऊबड़ खाबड़ कट पर नजरें फिराने में मुझे मजा आने लगा। अकस्मात मन में यह कौंधा कि उस मशीन को मेरे सीने पर गिर जाना चाहिए। मेरी कल्पना में सम्मोहन का जो भी संभावित तरीका हो सकता था, मैं उस मशीन पर अपनी आखों से उसे आजमाने लगी। उस आमफहम मौके को मैंने अपने लिए एक बड़ी आजमाइश वाली घड़ी में तब्दील कर लिया। बात न तो खेल खेल में शुरू हुई थी न खेल खेल के बहनापे में उसे समाप्त होना था। इसलिए मेरे अंतस में छिपा सम्मोहन या उसके कुलगोत्र का जो भी कुछ था, सिर्फ और सिर्फ उस स्थिर मशीन से मुखातिब हो गया। मशीन गिरी, मशीन गिरी, मशीन गिरी। और मशीन वाकई गिर ही गई थी। चीख पेट के नीचे कहीं से उठी और कंठ के पार आकर वह उत्तेजना से भरे एक वाक्य में अनुवादित हो गई—देखा! मुझे पता था, पक्का पता था।

मेरे हिस्से की सामान्य वाली, वाक्य में बगैर अनुवादित चीख, उस तकनीशियन के मुंह से निकली। अनर्थ हो चुका था। मशीन, ठीक मेरे जख्म वाले हिस्से के ऊपर गिरी थी। वह मेरे सामने बहुत कातरता से गिड़गिड़ाने लगा—सॉरी मैडम सॉरी मैडम सॉरी मैडम...। मुझे चोट लगी ही नहीं थी, न निशान थे कोई चोट के। वह सुन नहीं रहा था आवेग में, जबकि मैं उससे एक साधारण वाक्य कह रही थी कि मैं जानती थी कि मशीन गिर जाएगी। वह बेतरह डर गया। मॉनिटर पर बाहर से देख रहे दूसरे तकनीशियन दौड़े आए। सब आए। लेकिन हुआ क्या था? कुछ नहीं। सब गए। काम फिर से चालू हुआ। मैंने आंखें बंद कर लीं।

मैं लाल पोखर दीघी के अपने घर में पहुंच गई थी। ये वे दिन थे जब मैं कहानियां गति से लिख रही थी और उस पते पर हफ्ते में चार दिन के औसत से पाठकों के पत्र आते थे। उन दिनों मैं घर से ही बैंक की परीक्षा की तैयारी भी कर रही थी। रोज दोपहर को मैं सो जाने का स्वांग करती। आंखें बंद कर मैं कल्पना करती कि डाकिया चिट्ठियां छांट रहा है। फिर वह डाकखाने से निकलकर अपनी साइकिल तक पहुंच रहा है, फिर वह साइकिल से जिला हाई स्कूल तक की दूरी तय कर रहा है फिर यादव द्वार से उसने ढलान का रास्ता पकड़ लिया है फिर वह रेलवे लाइन पार कर रहा है फिर वह बाएं मुड़ता है फिर दाहिने। फिर मेरे घर का गेट। फिर अहाता। फिर तीन सीढ़ियां फिर सात कदम और फिर वह घंटी बजा देता है। कई दफे ऐसा होता कि जैसे मैं सोचती वह घंटी बजा देता है, वाकई घंटी बज जाती और मैं उछलकर ओढ़ी गई चादर आदि के तामझाम को फेंक फांककर दरवाजा खोल देती। डाकिया आया होता! कई बार वह घंटी बजा देता है ऐसा सोचने के बाद कोई घंटी नहीं भी बजती। तब मैं कल्पना को थोड़ा रिवाइंड कर घर के गेट से एक बार फिर से सब कुछ शुरू करती। इस बार भी घंटी बजने की कल्पना वाले पल वह न आता तो फिर से एक चक्र। कभी वह बिल्कुल ही न आता तो मैं मन ही मन आठ नौ चक्कर लगा लेने के बाद झुंझलाकर जग जाती। कभी वह आता पर मेरी कल्पना की घड़ी से ताल नहीं मिला पाता तो मैं नाराज होकर पत्रों को देर तक हाथ न लगाती। इस तरह आह्वान कर किसी को बुला लेने की दुबली पतली कला मैं आदिकाल से जानती थी।

पर उस रोज एक भारी मशीन के जख्मी त्वचा पर साक्षात आ गिरने के बाद सिर्फ इसी कला की आजमाइश नहीं हुई थी बल्कि एक रुकी हुई धड़कन हिल गई थी और वह भहराकर दूसरी तमाम बीमार सोई धड़कनों पर गिरती चली गई। इस तरह से एकबारगी एक झटके से धड़कनें सांसें लेने लगीं। मेरे तलवे फड़फड़ाने लगे कि उपचार खत्म हो, मैं उठूं और दौड़ पड़ूं। ऐसा लगा कि कुछ ऐसा हो कि उपन्यास की उखड़ती सांसों को भी छाती पर लगे एक जोरदार धक्के से वापस अपनी लय में लाया जा सके। ऐसा ही हुआ कुछ और एकबारगी लगा कि एक उछाल में फंसा हुआ चक्का निकल गया।

कमरे से बाहर निकलते वक्त तक वह तकनीशियन माफी मांगता रहा और मुझे ताकीदें देता रहा कि उस वक्त मुझे दर्द नहीं था तो क्या, बाद में दर्द हो सकता था और दर्द उठने की स्थिति में मुझे क्या करना था आदि आदि। लेकिन मुझे उसकी बातें क्यों सुननी चाहिए थीं। जबकि मुझे पक्का पता था कि उस चोट से जो असर होने वाला था वह तो हो चुका, अब दुहराकर वह कोई असर दिखाने क्योंकर आएगा। मैं वापसी की जल्दी में थीं क्योंकि लिखने में जुट जाना था शीघ्र। निकलते निकलते जरूर मैंने उस यंत्र पर नजरें फेरी थीं जो न्यूटन के सेब की तरह गिर जाने का मौका सूंघने में माहिर था। लेकिन उसे इस बार देखकर मैं सोच में पड़ गई कि वह दरअसल में गिरा भी था या नहीं! नहीं ही गिरा था अगर वह, तो फिर तकनीशियन क्या कह रहा था। नहीं वह उस सब सोच का वक्त हरगिज नहीं था। मुझे उपन्यास वाले कागज कलम के तामझाम तक पहुंचना था। वहां कहानी में वरा कुलकर्णी एक आतंकवादी कैंप में थी और उसके साथ की स्त्रियां दरअसल कौन थीं इस पहचान के जाहिर होने का समय आ गया था!

जीवन पुरानी पटरी पर चल निकला था। पटरी, मेरे अतीत का सुंदर शब्द था हमेशा से। हाजीपुर वाले घर के पिछले हिस्से से रेलगाड़ी की पटरियां दिखती थीं। खेत में कटाई हो चुकी हो तो बहुत जोरदार ढंग से बढ़ चढ़ कर दिखती थीं पटरियां। उन पटरियों के रास्ते से शहर तक जाना मुझे मुख्य रास्ते से जाने से ज्यादा सुगम लगता। उस रास्ते में एक अनुशासन था। कदमों की माप का नियम। एक पटरी से दूसरी पटरी तक लगभग फांदने वाली चाल चलते हुए मैं खेल खेल में शहर तक पहुंच जाती। शहर का पहला पड़ाव था रेलवे स्टेशन का बुक स्टॉल। वहां तेजी से नजरें फिराकर हिंदी की तमाम पत्रिकाओं को उलट पुलट कर मैं अपना सामान्य ज्ञान दुरुस्त कर लेती थी। अमूमन पत्रिकाओं को खरीदने के लिए दो तीन महीने का इंतजार करना होता। उतने वक्त में वह चौथाई मूल्य में पटना के स्टॉल पर उपलब्ध हो जाती। अगर किसी पत्रिका में कहानी छपी होती तो उसका ताजातरीन अंक हाजीपुर वाले स्टॉल से खरीद लिया जाता पर उसके बाद वाले अंकों में जब कहानी पर प्रतिक्रिया वाला पत्र प्रकाशित होता तब स्थिति बड़ी मजेदार हो जाती। पत्रिका तत्काल खरीदनी नहीं थी। पर बगैर पत्रिका खरीदे भी पत्रों को बार बार पढ़ना था। इसलिए एक ही अंक के पन्ने पलटने रोज रोज अपने गांव से पटरियां लांघती हुई मैं स्टॉल तक जाती थी। कमाल कि हर बार वे छोटे छोटे पाठकीय पत्र नए अंदाज में अपना मायने खोलते चलते और उनकी झूम में वैसे ही पटरियों को लांघकर घर तक वापस जाने का रास्ता आसान हो जाता।

वह पता—लाल पोखर दीघी, हाजीपुर वाला पता, एक झटके में बिखर गया। मेरे हाथों से छिटक गया वह साफ साफ। ऐसा नहीं भी था, क्योंकि देखा जाए तो वह बार बार मुझसे छूटा ही था और उससे मेरा नाता कभी एकमुश्त नहीं बना। बीच के लगभग नौ वर्ष अलग अलग किस्म के हॉस्टलों में निकल गए और उसके बाद जब मैं पढ़ाई छोड़ छाड़ कर घर

बैठी, तब जाकर सही मायने में अपनी उस जगह से मेरा रिश्ता बन पाया था। इस दफे भी वक्त कम ही मिला मुझे, पर जो मिला वह जीवन भर साथ चलने के लिए पर्याप्त था। नौकरी शब्द में स्वाद बहुत था। इसलिए उस पते को छोड़ते हुए मुझे जरा भी दुख का अनुभव न हुआ। लेकिन जल्द ही इसने धीमे धीमे चढ़ने वाले नशे का सा ताव दिखाना शुरू किया। बैंक में प्रोबेशन वाला पहले का कुछ वक्त उस जगह के इर्दगिर्द के शहरों में गुजरा। उन दिनों में छह छह महीने पर तबादले होने थे इसलिए गृहस्थी बहुत कच्ची थी और भले मैं न जा पाऊं वहां, घर से कोई न कोई बहुत सी मेहंदी की पत्तियां और नींबू लेकर आता जरूर। पर जब वह भी वक्त बीत गया और एक जगह पर टिककर रहने की बारी आई तब उस पुराने पते ने असर दिखाना शुरू किया। खैर, उसके बाद मेरे पतों को बदलने का चस्का लग गया और मेरे खजाने में बहुत से लिफाफे जमा हो गए जिनकी टिकटों पर अलग अलग डाकखानों की पावती मुहरें दर्ज थीं। मुझे ऐसा लगा था कि बार बार जड़ें जब उखड़ेंगी घर की, तो तकलीफ होगी बहुत। पर ऐसा कुछ तो हुआ ही नहीं। पैकेर्स एंड मूवर्स के कारिंदों को 'अरे संभालकर उठाना' जैसी दुनियावी ताकीदों और कौन सा समान कहां जगह घेरेगा की वाचाल फिक्रमंदी के सिवा कोई खास खरोंच नहीं लगती थी अब जिंदगी में। इस तरह से यह बात साफ होने लगी कि अपनी जड़ अब एयर प्लांट की सी बेपरवाही का शिकार हो चुकी थी। इन सबमें कहीं अपने मन की ही कोई छिपी साजिश थी जिसने मेरे खजाने के लिफाफों पर सिर्फ मुहर वाली निशानी छोड़ दी थी और पते के रूप में दर्ज नए नए शब्दों पर चार अक्षर वाली उसी पुरानी इबारत को दर्ज कर दिया था। इस तरह अब हर फटे लिफाफों पर 'लाल पोखर दीघी हाजीपुर' की गोलमटोल घुमाई ही दर्ज थी। लेकिन यह भी एक अजूबा ही था कि उस पते पर बार बार लौटने की भी कोई कोशिश नहीं थी मेरी। ऐसा लगता रहा कि कोई उत्साह नहीं था कि उसे फिर से छू लूं। वह अपनी काई लगी दीवारों समेत मेरे भीतर अपना साम्राज्य पसार चुका था और एकांत में मैं अपने आपको उसका विस्तार बना लेती थी। इस तरह से मैं खुद एक जीते जागते पते में तब्दील हो चुकी थी, फर्क बस यह था कि यहां किसी एक डाकखाने की मुहर नहीं दर्ज थी। फटे हुए खाली लिफाफे जमा करना भी वैसे पीछे छूट चुका था क्योंकि अब खत कम आते थे। लोग, जमाने में तब्दील हो चुके लोग, अब कीबोर्ड से उकेरी इबारत को ही अपनी लिखावट मान बैठे थे और कभी अपनी कलम और कागज के सम्मिलित प्रयास से जन्मी चीज को देख अपरिचय में पड़े से आप ही चौंक पड़ते थे।

मैं जब भी कभी मद्धम पड़ती या लड़खड़ा जाती, मेरे भीतर बसा यह पता मुझे संभाल लेता। हालांकि इस संभालदारी की कीमत भी चालाकी से वसूलना इसकी रणनीति में शुमार होता और यह दबे पैर या कभी दादागिरी से मेरी हर कहानी में दाखिल हो जाता। मुझे कभी भय भी लगता था कि मेरे भीतर से निकलकर कहीं यह कहानियों के दस्तावेजों में कैद तो नहीं हो जाना चाह रहा था। बहुत संभव है कभी मैं अपने भीतर छिपे उस पते को वाकई के उस पते से मिलवाने ले ही जाऊं, लाल पोखर के किनारे, और तब फिर यह भी संभव था कि दरअसल का लाल पोखर और उसका आसपास, मेरे भीतर के लाल पोखर और उसके आसपास को देखकर उसी तरह चौंक उठे जैसे जमाने में तब्दील हो चुके लोग, जो कीबोर्ड से उपजी इबारत में अपनी लिखावट का अक्स देखने के अभ्यस्त हो चुके हैं, कभी अपनी ही हस्तलिपि को देखकर चौंकते हैं।

खैर तब वहां उस दृश्य में भी ज्यादा प्रत्याशितता नहीं थी। अपने नाम का कॉल आने के बाद

मैं ऐसे सुडौल कदमों से रेडिएशन कक्ष की ओर बढ़ने लगी कि लगा ही नहीं कि एक दिन बीते में कंपकंपाई तबीयत से वह रास्ता तय करती गई थी। जैसे ही मैं कमरे में दाखिल हुई सबसे पहले मेरी नजर उसी यंत्र पर गई। मिजाजपुर्सी की सी नजर से उसे देखा मैंने। उसे भी कोई खतरा था क्या? इंसान से मिलना, उस तरह औचक गिरकर मिलना किसी यंत्र के लिए कम सेहतमंद बात थी क्या? लेकिन वह तो वैसा ही था, अपनी जगह पर अडिग। मुझे उस बिस्तर पर लेटने के लिए तैयार होते वक्त यह खटका लगा कि एक रोज बीते सच में वैसा कुछ हुआ था क्या या वह कल्पना के घेरे की बात थी? बेड तक का रास्ता लांघते हुये मैं तकनीशियन की तरफ देखने से कतराती रही। उसकी आंखों में ही उस सवाल का ठीक ठीक जवाब छिपा होता कि कल जो हुआ वह खयाल था या हकीकत। क्या इंसान की अपनी हदें ऐसी लाचार होती हैं कि अपने साथ घटी किसी जिंदा घटना तक के यथार्थ होने का प्रमाण, गवाह की आंखों में तलाशता है! बिस्तर पर लेटते हुए मेरी आंखों में एक अप्रायोजित आंसू आ गया। मुझे उस वक्त उस आंसू का क्या करना था? यह किसी बात के अतीत या वर्तमान या कि भविष्य की किस घटना के हिस्से का आंसू था मालूम नहीं। उसके कुलगोत्र का विचार करने का वक्त नहीं था वह। उसके साथ क्या सुलूक किया जाए यह सोचने का भी नहीं। एक तेज रोशनी का घेरा जो मेरे चेहरे पर या कि मेरे खुले शरीर पर इस तरह से पड़ रहा था कि उसकी निगरानी में वह यंत्र मेरा ठीक ठीक इलाज कर पाए, उस रोशनी के घेरे में दहाड़ मारकर रो लेने के सिवा दुनिया में सुकून की कोई परिभाषा नहीं थी उस वक्त। ब्रेकडाउन। हां, ब्रेकडाउन ही सही। लेकिन उस वक्त तो कोई न रोके। मैं पूरी तसल्ली में थी। कोई न रोकता। सच में। कुछ वाक्य उलटा सीधा रो लेने के बाद मैं तैयार थी, फिर से दौड़ने के लिए।

मैं बहुत सुंदर और कलात्मक ढंग से रोने की लालसा में तबाह होती आई थी उम्र तलक। आईने के आगे इस तरह रोने का रियाज कि भौंहे सुंदर तिर्यक में विचलित हों। चेहरे की रेखाएं खुद को विचलित करें पर विकृत होने के लिए नहीं बल्कि एक बेध्य दृश्यबंध में बंध जाने के लिए। पर ऐसे रियाजों की परिणति एक अस्पतालीय बिस्तर पर आंख, नाक मुंह सबसे मिलजुल कर रोने में हुई थी। मैंने देखा नहीं, पर वह तकनीशियन जरूर हाथ बांधे छत की ओर ही देख रहा होगा इस शुक्रगुजारी में कि देरसवेर मुझे दर्द तो हुआ और वह आंसुओं के कर्ज में डूब जाने से साफ साफ बच गया। अधिकता में डूब जाना सदैव रिक्तता में डूब जाने से श्रेष्ठ है। वह या उस जैसा कोई भी मुझे चुप कराने न आया तो मैं खुद ही बांह और हथेली से गाल पर के सारे निशान पोंछने में लग गई। सारे आंसू जैसे मिटे मैंने एक टनकदार आवाज में कहा—शुरू कीजिए। वह फिर से यंत्र का एंगल ठीक कर बाहर चला गया। उसे बाहर वाले उपकक्ष तक जाकर मॉनिटर पर सारी प्रक्रिया की निगरानी करनी थी। उसने मशीन चला दी थी और कुछ आवाजों वाले डीलडौल में यंत्र मेरे ऊपर झुकने लगा। बहुत अपरिचित बहुत प्रोफेशनल बहुत मशीनी। मैं अमूमन ऐसे वक्त अपनी गरदन घुमाकर दूसरी तरफ दीवार की ओर देखने लगती थी। पर उस रोज आंखों की पुतलियां घुमाकर अपनी हद के आखिरी दम तक मैंने उसे देखा। देखती ही रही। बार बार। मेरा समय खतम हो गया था। जब मैं उठने चली तब वह तकनीशियन वहां आकार मशीन को दूसरे मरीज के लिए तैयार करने लगा था। मैं मुड़ी तो बहुत आहिस्ता आवाज आई उसकी—आप अब ठीक हैं न मैडम। मैं एक पल के लिए ठिठकी। लगा पीछे मुड़कर देखूं। पर मैं अब किसी जाल में नहीं फंसने वाली थी। कल्पना हो या कि हकीकत—जो भी हो, मैं जानती थी कि एक पोखर, एक छप्पर वाले घर और उसके पूरे आसपास को अपने भीतर समाने के बाद भी मेरे अंदर इतनी जगह तो बची

ही थी कि एक मशीन भी वहां मजे से रह सके।

उपन्यास का अंत अपने लिए रोशनी बना रहा था। लेकिन इसी मोड़ से अब तक के लिखे पर संशय होना शुरू हो गया। अंत के बिल्कुल करीब आकर लगने लगा कि लिखना रोक दिया जाए। इतने करीब पहुंचकर सब कुछ मिटा देना संभव था क्या? दर्ज हो चुकी इबारतें सिर्फ मशीनी स्क्रीन से ही मिटाकर साफ कर दी जा सकती थीं। बाकी न तो लिख चुके को पूरी तरह से जीवन से मिटाया जा सकता था न कागजों से। अगर मिटाने की ईमानदार कोशिशें की जातीं तब भी जीवन के मामले में वह विस्मृति के किसी कोने में दुबककर बैठ रहता और कागज के मामले में वह इरेजर से चिपकी रह गई रोशनाई के बारीक मैल की शक्ल में दर्ज हो आता। इसलिए अब मेरा पीछे लौटना संभव न था। या तो रुका जा सकता था या चल देना था।

वह दिन आ ही गया जब मैं आखिरी दफे रेडिएशन कक्ष की तरफ बढ़ रही थी। मैंने उस रास्ते के मानचित्र को मन ही मन रटने की हमेशा कोशिश की थी। कितने सीधे डेग, फिर कहां से किधर मुड़कर कितने कदम, फिर कपड़े बदलने की जगह, फिर वहां से कितने डेग में बेड का साम्राज्य। भावनाओं का आवेग एक सुंदर बात है। गाहे बगाहे और किसी भी जगह इसका प्रकट हो जाना और भी सुंदर बात है। मुझे लगा कभी भविष्य में मैं इस सफेद कमरे और इस बिस्तर और इस कठकरेज यंत्र और इन सबके बीच हाशिये में ही कहीं खड़े इस तकनीशियन को कोई खत लिखना चाहूंगी तो शुरुआत कहां से करूंगी। उन सब की भावनाओं को और खासकर अपनी भावनाओं को किन शब्दों से प्रकट किया जाता, सवाल यह नहीं था। प्रश्न यह था कि सबकी मिलीजुली या अलग अलग भावना या गैर भावना को किस शब्द से कोई ठेस नहीं लगती? स्मृति अपनी डिस्प्ले से एक सामान ले आई और मुझे लगा कि मैं ठठाकर हंस ही पड़ूंगी। बचपन में जब पिता डिक्टेशन लिखाते थे और जब मेरी लिखाई उनके वाचिक शब्दों की गति से तालमेल नहीं बैठा पाती, और जब मैं बीच के छूटे रह गए शब्दों को पिता से दुबारे पूछना जरूरी नहीं समझती थी, और जब कि मैं समझ में आने वाले दो शब्दों के बीच के तमाम नासमझ शब्दों को घसीटकर वाक्य पूरा कर देती थी, तब दरअसल, मैं एक लिपि का ईजाद ही कर रही थी, जिसमें शब्दों से ठेस लग जाने का खतरा कम था।

पहले की तयशुदा योजना के मुताबिक इलाज की प्रक्रिया पूरी हो गई थी। लेकिन यह सब दूसरे मरीजों के लिए था। मेरा मामला थोड़ा उलझा हुआ था इसलिए इक्कीस दिनों के अंतराल पर बारह आवृतियों में एक और भी प्रक्रिया पूरी होनी थी। हर दफे छह घंटे के हिसाब से मुझे छोटे मोटे किस्म की कीमो प्रक्रिया से दुबारे गुजरना था। बारह ऐसे फेरे और। उसके बाद पांच, सात, दस न जाने कितने वर्षों तक रोज दवाएं खानी थीं और कुछ अंतराल पर सुइयां भी लेते जाना था। पर दुख तकलीफ या रिक्तता की वजह ये सब बातें नहीं थीं। दरअसल आगे की सब प्रक्रिया सामान्य जीवन में वापस लौटकर पूरी की जा सकती थी। यानी अब अपने शहर लौटकर दीन दुनिया में वापस लौटा जा सकता था। और यह बात मुझे मुरझा दे रही थी।

मैं उस जीवन को, उस दिनचर्या को, सफेद दीवारों को, अशक्त चेहरों को, विलंबित कराहों को, स्मृति और विचार की सहज सुगम आवाजाही और उनके बीच जहां तहां उड़ियाते अपने टूटे केशों को...सब को ही खो देने वाली थी। मैं उस वक्त के गुजर चुकने पर दुखी थी। वह कशमकश, संघर्ष और सबसे बढ़कर इन सबका रचना में अनुवाद...मैं उस समय

को थामकर रख लेना चाहती थी। उपन्यास जैसा तैसा पूरा हो गया था। खुशी की जगह एक खालीपन था। ठगा हुआ सा एहसास। मुझे क्या कहना था पता नहीं जरा भी। कौन सा था मेरा बयान मालूम नहीं। सब मेरे सामने टुकड़े टुकड़े में पसरे थे। उन्हें समेट लेना था या दूर बैठकर देखना था कि ये टुकड़े किसी को चुभ जाते हैं क्या? मजा बरकरार रहना चाहिए था जीवन का किसी भी हाल में। पर मुझे क्या होता जा रहा था।

एक लंबे साक्षात्कार से निकलकर आई थी ऐसा लगा। उपन्यास लिखा जा चुका था पर यह लगने लगा कि यह शायद कभी छपने के मुकाम तक जाएगा नहीं। पन्ने पर लिखे घसीटे हुए अक्षरों को देखती थी तो लगता था कि वह कोई सुंदर चीज है। पर जब छपी इबारत में स्क्रीन पर उसकी ठस मौजूदगी को सरसरी नजर से देखती थी तो भय होने लगता। ऐसा लगता था जैसे उस समय का कोई टुकड़ा उसमें कैद होकर रह गया था। और शायद हाथ से लिखी चीज चूंकि पढ़ने में नहीं आती थी इसलिए उससे भय या खतरा नहीं महसूस होता था। अगर ऐसा था भी कि कोई जिंदा अनुभव उपन्यास में कैद हो ही गया था तो इसमें हर्ज क्या था।

आखिरी चेकअप के बाद डॉक्टर ने ताकीद की कि अगले पांच साल मेरे लिए बहुत संभाल वाले थे। बीमारी के लौटकर आने की संभावना आने वाले पांच वर्षों तक प्रबल थी। एक बार जब यह वक्त कट जाए तो फिर खतरा टल जाएगा, वह भी नहीं था। और यह सब सुनकर मैं बाहर से भीतर तक एक सुर में कांप गई थी। अब यह कौन सी फितरत है इंसान के भीतर छिपी कि मैं एक तरफ इस आशंका से भयभीत थी कि वह फेज लौटकर न आए और दूसरी तरफ यह वक्त कैसे फिसल गया देखते देखते, यह बात भी मन ही मन खाए जा रही थी। यानि मैं विशुद्धत: अपने जैसा ही व्यवहार कर रही थी। मुझे सब कुछ चाहिए था और दरअसल कुछ नहीं चाहिए था।

मन के भीतर शातिर बनने की ललक भी जागने लगी। अगले पांच साल खतरनाक साबित हो सकते थे और मैंने तो उस रोज उतावली में उपन्यास भर की मोहलत मांगी थी अपने लिए। और उपन्यास तो पूरा हो चुका। यानी? एक जो तीसरी कोई शक्ति थी जिससे मैंने कुछ मांगा भी और उसने दिया भी संभवत:, उसे चकमा देते जाने का खेल शुरू करने का वक्त आ गया था? इस भरम में रखना था उसे और खुद को भी कि उपन्यास पूरा हुआ ही नहीं!

कितना काइयां, कितना छोटा और कितना दयनीय था अपना अंतस। क्षण क्षण रूप बदलता। हर मौके को अपने हक में तब्दील करता। अस्पताल की छत मेरी कल्पना में अक्सर गिरिजाघर की छतों की शक्ल की होती थी। इबादत वहां अपने सबसे उत्कट रूप में मौजूद तो होती ही, वहां की दीवारें मन के लिए आईने की हैसियत में उपस्थित होतीं। उन दीवारों में अपना चेहरा कितना भी कड़वा क्यों न दिखे, खुद को जाने नहीं देना था। मैंने जरूर अपने दोनों हाथों में अपने आपको समेटा होगा। अतिनाटकीयता को जीवन से अलगाना अब असंभव था इसलिए तमाम मीनमेख समेत अपने को गले लगा लेना था। और संवादों के हेरेफेर में तो मैं आदिकाल से माहिर जीव थी। 'उपन्यास भर' के आगे 'तीन चार' जोड़ देना दाएं हाथ, बाएं हाथ, क्या—चुटकी से भी हायरार्की में नीचे किसी चीज के औकात की बात थी। यह 'राम की शक्तिपूजा' के किसी अंतरे के आखिर में क्ष त्र या ज्ञ से समाप्त होने वाले शब्दों को जोड़ देने जैसा ही कौतुक था। फिर क्या फिक्र।

वापसी का सफर शुरू हो चुका था। बहुत सारे कागज के टुकड़ों से पटा एक लिफाफा था मेरे पास। बहुत से केश से भरा एक दूसरा लिफाफा भी था। ये दोनों मेरे अगल बगल की कुर्सियों पर रखे थे। मैं एयरपोर्ट की कुर्सी पर बैठी थी। तलुवे पर नजर पड़ी। शरीर की उम्र

जब बढ़ती जाती है तो सारे हिस्से आयुदराज होते जाते हैं। पर तलुवों की आयु नहीं बढ़ी थी। वे बगैर झुर्री, बाटा के तीन से चार नंबर के चपल्लों में अटके आए थे। हजारीबाग के स्कूल की एक स्मृति सामने आ गई। हर रविवार की दोपहर मैं बिलानागा सो जाया करती थी। एक दोपहर कुछ शोर से मैं जागी तो देखा कि बहुत सी लड़कियां मुझे घेरे बैठी थीं। मैं हड़बड़ा कर जागी। सब मेरे तलुवे के आसपास जमा थीं। वे उनमें कुछ उपमाएं खोज रही थीं। मुझे भी उस दिन बस यही लगा कि तलुवे मेरे, शरीर के बाकी हिस्से से कुछ ऊंची हैसियत के थे जरूर। पर उस दिन के बाद से मुझे लगा कि तलुवों ने बढ़ना छोड़ दिया था।

उस दिन बहुत बरसों बाद अपने उस हिस्से पर एक निश्चिंत निगाह बेमकसद नहीं पड़ी थी। वही पुराना तलुवा उस वक्त बेतरह सूजा हुआ था। वह मेरे अपने किसी फुटवियर में न समा पाया था इसलिए दो तीन साइज बड़ी, एक पुरानी हवाई चप्पल मेरे पैरों में थी। इस तरह से एक सुंदर सजधज में वापसी का सफर संभव हो रहा था। कौन कहता रहा कि चलने का बोझ पैरों पर और फिर कहीं तलुवे पर हुआ करता था। वहां तो सूजने की कथा के सिवाए और चले होने के कोई दूसरे निशान न थे। इरेजर से लिपटे स्याही के मैल तक के निशान नहीं कोई। तो क्या पीछे का सारा चलना किसी डमी पैरों के सहारे संभव हुआ? अतीत की लकीरों के बगैर, बिना किसी पूर्वपीठिका के सहारे, आगे के रास्ते पर चलने के लिए कदमों की उस तैयारी पर—यथार्थ है कि कल्पना, ऐसे किसी सवाल को खड़ा करने का मौका न था वह। मैं एक जुनून में भरकर बहुत गहरी गहरी सांसें लेने लगी।

पर सांसें गहरी हों या छोटी, नजरें तो सिर्फ तलुवों पर ही टिकी थीं। बहुत सारी दवाइयों के मिलेजुले असर में दोहरे तिहरे कलेवर में सूजे तलुवों पर, जो वैसे ढीले चप्पल में भी समा न पा रहे थे। क्या हो कि ऐन हवाई जहाज में बोर्डिंग के वक्त इस पुरानी हवाई चप्पल का फीता टूट जाए! तत्काल मेरी उंगलियों ने पर्स में एक सेफ्टीपिन की शिनाख्त कर ली। उस पर उंगली पड़ते ही यकायक सब कुछ साफ हो गया। फिर? किसी सार्वजनिक सभ्य जगह पर अकेले बैठा कोई शख्स ठहाके लगाने लग जाए तो क्या हो? मैं भीतर तक गुदगुदा उठी, वाकई। सेफ्टीपिन की तुड़ीमुड़ी आकृति में सरलता थी। तो ऐसी सहज और आमफहम थी मेरे हुकुम के इक्के की शक्ल! और हुकुम का इक्का अपने चले जाने के लिए इसी मैदान की तलाश में था? जो भी था, उसका दीदार होते ही मुझे अहसास हो गया कि प्रश्नपत्र कितना आसान था। बस अपनी स्याही की तैयारी का जायजा ले लेना था, फिर कुछ भी रुकने न पाता। मुझे उठना पड़ा। तत्काल उठी मैं। बोर्डिंग की उद्घोषणा नहीं हुई थी। उठने का उद्देश्य कुछ और था। मैंने उस हवाई चप्पल में अपने तलुवों को संभाला और कागज का एक लिफाफा लेकर बढ़ी। अगले पल केशों वाला लिफाफा एयरपोर्ट के कूड़ेदान के हवाले हुआ और मैं वापस लौट रही थी। घर के साफ सुथरे कूड़ेदान में जाने से साफ साफ बचा लिए गए टूटे केशों को एक सार्वजनिक कूड़ेदान का रंगबिरंगा मोक्षगृह हासिल हुआ था।

सफर लंबा हो तो गैरजरूरी और जरूरी का भेद करना जरूरी होता होगा। ऐसा साफ साफ तो किसी ने न कहा था। पर अतीत के सारे पात्र संभवतः कहना यही चाह रहे थे। एयरपोर्ट पर मेरे काम लायक कुछ सुरीली आवाजों का शोर सा हुआ। मैंने कागज का दूसरा, और दरअसल इकलौता थैला, जिसमें कागज और शब्दों के घालमेल का कुछ वजन था, उठाया और चल पड़ी।

फिर सियरा तरकुल के नीचे

अनुपम ओझा

कविता, फिल्म और कथा साहित्य में समान रूप से सक्रिय अनुपम संप्रति स्वतंत्र लेखन कर रहे हैं।

मित्रमंडली के लोग उन्हें सियार या सियरा कहते हैं। पूरा नाम चित्रराज मिश्र है जिसे मिश्र जी संक्षेप में सी.आर. पंडित कहते हैं। हम लोग सुविधा की दृष्टि से चित्तू पंडित कहेंगे।

गांव में अचानक इनका अवतरण हुआ था। ये हाफ पैंट, हाफ शर्ट और बाईं कांख में बुश कंपनी का दो बैंड का रेडियो लेकर घूमते दिखाई देने लगे। इनके दाहिने हाथ की उंगुलियों में बीड़ी या सिगरेट भी अधछुपा रहता था। तब ये तेरह चौदह वर्ष के होंगे। उम्र बढ़ने के साथ ये उत्तरोत्तर प्रगति करते गए और बीड़ी से शुरू होने वाली यात्रा गांजा, अफीम, चरस आदि से होते हुए हेरोइन और स्मैक तक पहुंची।

गांव से ये कलकत्ता शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजे गए थे, जहां इनके बड़े पिताजी पंडित दुर्गा शंकर मिश्र संस्कृत के सम्मानित विद्वान और ज्योतिषाचार्य के रूप में प्रसिद्ध थे। उनको देखकर लगता है जैसे कोई वैदिक ब्राह्मण भटकता हुआ इस कालखंड में आ पहुंचा है। उनकी जीवनचर्या वैदिक रीति से निबद्ध है।

चित्तू पंडित ने उनके संसर्ग में पाणिनी के व्याकरण का आमूल अध्ययन किया। अनेक श्लोकों और चारिकाओं को कंठस्थ किया। चित्तू, मिश्र जी के निर्देशों का यथावत पालन कर रहे थे। आदरणीय पंडित दुर्गा शंकर मिश्र अपने संपूर्ण अध्यवसाय और ध्यान साधना के प्रतिफल को वहन करने योग्य मानस बनाने का प्रयत्न कर रहे थे कि पता नहीं कहां से दैव

दुर्योग आ टपका और चित्तू पंडित में आधुनिकता की झलकियां झांकने लगीं। आचार्य जी की अनुपस्थिति में चित्तू रेडियो पर मनभावन नगमे सुनने लगे। बाड़ी के पिछवाड़े छुपकर बीड़ी फूंकने लगे। पुराणों और व्याकरण की पुस्तकों में कामकथाओं का अनुशीलन करने लगे। साम, दाम तथा दंड द्वारा सुधार का हर प्रयत्न करने के बाद आचार्य जी ने चित्तू पंडित को गृहस्थाश्रम से निष्कासित कर दिया।

पहले पहले गांव के लोगों ने समझा कि पंडित जी मनबदलाव और मनबहलाव के लिए गांव आए हैं लेकिन धीरे धीरे लोगों ने कब तक जाना है, कब तक रहना है, पूछना बंद कर दिया। जिन माताओं, बहनों और पत्नियों ने अपने पुत्रों, भाइयों और पतियों के लिए गांव से कलेवा तैयार किया था, झोले और मुटरियां खोल दीं और गांव में प्रचारित हो गया कि चित्तू पंडित हमेशा के लिए गांव आ गए हैं। इस बीच चित्तू पंडित ने अपनी नागरिकता भी साबित कर दी थी। वे जुआरियों, नशेड़ियों, गपोड़ियों और छोकरियों के बीच प्रसिद्धि पा रहे थे। एक आधा झगड़ों टंटों में भी अपनी उग्र भूमिका दिखा चुके थे। सर्वोपरि उन्होंने गांव के संस्कृत स्कूल को टूटने से बचाकर समूचे गांव में ख्याति अर्जित कर ली। यह उनके कीर्तिपक्ष का सबसे उजला पहलू है। यह इतना उजला है कि वर्षों उनके व्यक्तित्व के काले, हरे और नारंगी पहलुओं को ढंकता रहा है। पंडित जी के स्वर्गवास के बाद उनके कीर्तिगायन में कविगण इसकी बढ़ा चढ़ाकर वर्णना करेंगे।

गांव में एक संस्कृत स्कूल है जो पिछले पचासेक साल से असंस्कृत अवस्था में था। स्कूल में सिर्फ एक प्रधानाचार्य की नियुक्ति हुई थी। अपर प्राइमरी के दो उपेक्षित और ध्वस्त कमरे संस्कृत उच्च विद्यालय के नाम से पंजीकृत थे। स्कूल हेडमास्टर साहब के पंजे में था और अभी तक पूर्णत: पंजीकृत नहीं हुआ था। गांधी जी ने संस्कृत के ज्ञान की अनिवार्यता पर जोर दिया था। चूंकि गांधी जी की कौपीनधारी काया और ऋषि माया में सबकी आस्था थी इसलिए उसके महत्व को मानने और समझने की कोशिशें शुरू हुईं। आस्था नाम्नी धेनु के थन के प्रथम धार के जन्मना अधिकारियों ने आधे मन से अन्य उच्च जातियों में देवभाषा का ज्ञान दान प्रारंभ किया और समय के साथ अन्यान्य जातियों में बंटता देखने के लिए विवश होते गए।

आजादी के बाद भारत में हर तरह की पैदावार बढ़ाने की कोशिश की गई और सबसे ज्यादा शिक्षित बेरोजगारों की संख्या बढ़ती गई। गांव में भी बी.ए. और एम.ए. अच्छी संख्या में टहलते हुए दिखाई देने लगे। वे घटिया दर्जे के कागजों पर टंकित और हस्ताक्षरित डिग्रियों पर प्लास्टिक कवर चढ़ाकर कई वर्षों तक नगर नगर नौकरी की तलाश में भटकते रहे। प्लास्टिक कवर के भीतर भी जब डिग्रियां सड़कर चूर चूर होने के कगार पर पहुंच गईं, तो उन लोगों ने गांव में ही कुछ कर डालने का निश्चय किया। पुरानी किताबों में लिखा गया है कि सबसे कठिन काम है निश्चय करना। निश्चय के दृढ़ होते ही अपने आप रास्ते बनते जाते हैं। बेरोजगारों ने गांव के पुराने स्कूल के उद्धार का व्रत लिया।

हेडमास्टर साहब सीधे और दयालु व्यक्ति थे। पिछले पचासेक साल से जजमनिका कराते कराते ऊब चुके थे। उनके हृदय में भी गांव के कुछ बच्चों को पढ़ा देने की इच्छा बलवती हो उठी। अपर प्राइमरी के उपेक्षित कमरों में कुछ बेंचें और कुर्सियां डाल दी गईं। दरवाजों पर बांस के किवाड़ लगा दिये गए। थोड़ी सी तकलीफ उन जानवरों को हुई जो धूप और बारिश से बचने के लिए इन कमरों में आश्रय लिया करते थे और थोड़ी ज्यादा तकलीफ उन प्रेमीवृंदों को हुई जो अंधेरे और एकांत का लाभ उठाने इन कमरों में जाया करते थे।

स्कूल शुरू हो गया। रजिस्टर मेंटेन होने लगा। आवेदन, प्रतिवेदन भेजे जाने लगे।

स्कूल की मंजूरी के लिए राज्य स्तरीय प्रयत्न होने लगे। एक जाड़े की सुबह जबकि गांव के लोग किकुरते कांपते लोटा उठाकर बधार की तरफ जा रहे थे, राजधानी से एक परीक्षक गांव में आ धमका। स्कूल के रजिस्टर में पढ़ाने वाले बेरोजगारों में से कुछ दतुअन कर रहे थे। कुछ लोटा उठाकर मर मैदान के लिए बधार की तरफ निकले थे। कुछ रजाई में दुबके थे। सिर्फ अंग्रेजी के शिक्षक श्री धनार्जन राय नियमित व्यायाम के लिए बगीचे में निकले हुए थे। उन्होंने ही गोरोचन त्रिपुंडधारी ब्राह्मण को सुबह सुबह गांव में प्रवेश करते हुए देखा था। नजदीक आने पर पता ठिकाना पूछा था। पथ बदलकर जल्दी से घर पहुंचे थे और पैंट शर्ट पर टाई बांधकर दौड़ते हुए हेडमास्टर साहब के घर की ओर चले। चौखट के बाहर कभी कदम नहीं रखने वाली उनकी पत्नी दौड़कर गली में आ गई और उन्हें आवाज देकर रोका। राय साहब माजरा समझ नहीं पाए और झुंझलाते हुए पीछे लौट आए। पत्नी ने पैंट से बाहर निकलकर झूलता हुआ लंगोट का पुच्छल्ला उनके हाथ में थमा दिया। विहंगम दृश्य था। गले में नीली टाई झूल रही थी और पीछे महाबीरी लंगोट का पुच्छल्ला! पूर्वी पश्चिमी संस्कृति का लाजवाब तालमेल सजीव हो उठा था। मगर इस तालमेल में से पूर्वी संस्कृति को उन्होंने पश्चिमी संस्कृति की पैंट में अच्छी तरह छुपा दिया और हांफते भागते हेडमास्टर साहब के घर पहुंचे।

यह तो संयोग था कि हेडमास्टर साहब गेट पर ही मिल गए। वे पतरा पोथी उठाकर सत्यनारायण भगवान की कथा कहने जा रहे थे। धोती कुर्ता उन्होंने पहन ही रखा था। रास्ते में सभी शिक्षकों को इत्तला देते हुए वे लोग स्कूल पहुंचे। इधर इन लोगों ने स्कूल का ऑफिस खोला, उधर परीक्षक महोदय स्कूल में पधारे। आधे घंटे के भीतर बाकी शिक्षक और स्कूल का चपरासी भी पहुंच गया। सारे संयोग अच्छे थे क्योंकि चपरासी के रूप में नियुक्त लल्लन प्रसाद उस दिन घोड़े का पेट खराब होने के चलते टट्टू लेकर नहीं निकला था।

दुकान से पेड़ा बर्फी, समोसा आदि मंगाया गया। शर्बत घोला जा रहा था। गणित के शिक्षक ने उदारता के साथ अपने छोटे भाई के तिलक समारोह का बचा हुआ केसर गुलाब मंगवाकर शर्बत में घोलवा दिया था। सारा वातावरण काफी सुमधुर था और इरादा इसी माधुर्यमय माहौल में परीक्षक को टरका देने का था। स्कूल के पीछे बंसवार में खड़े होकर दस पांच देने दिलाने की भी योजना बन गई थी मगर परीक्षक के रूप में आए हुए पंडितजी ऐसे वैसे नहीं दिख रहे थे। वे हेडमास्टर साहब के पुराने परिचित और आदर के पात्र थे। नए शिक्षकों की नजर में वे बड़े विद्वान और सदाचारी तथा भीतरघाघ थे। उन्होंने विद्यार्थियों के विषय में पूछा। स्कूल में घंटा तो दिख रहा था मगर विद्यार्थी वृंद का कहीं पता नहीं था। अब शिक्षकों के दिमाग में घंटा बजने लगा। धनार्जन राय ने लपककर मामला संभाल लिया। उन्होंने बताया कि आज के दिन हमारे गांव के एक स्वतंत्रता सेनानी का देहावसान हो गया है। इसलिए छुट्टी कर दी गई।

परीक्षक एकदम से घंखई पर उतर आया। अच्छा! किसका? किसके घर के थे? कहां मृत्यु हुई? क्या बीमारी थी? आदि प्रश्नों का धनार्जन राय ने एक ही वाक्य में समाधान कर दिया कि वे अपने बेटे के साथ चिकमंगलूर में रह रहे थे। राष्ट्र की दुर्दशा की चिंता में उनका हार्ट फेल हो गया। गणित के शिक्षक के अनुसार पंडितवा इस पर भी नहीं माना। कहने लगा कि कम से कम एक छात्र को बुलाओ। उसकी बौद्धिक परीक्षा लूंगा। आखिर पता तो चले कि आप लोगों ने क्या पढ़ाया है? रजिस्ट्रांकित अदेह छात्रों की तलाश में शिक्षकगण गांव में और आसपास के गांवों में दौड़ पड़े।

बनगांव दस हजार की आबादी वाला एक औसतन बड़ा गांव है। गांव में लगभग हर

जाति के लोग रहते हैं। जातीय बहुलता के आधार पर मुहल्लों के नाम रख दिये गए हैं। जैसे धोबिया टोला, बरिया टोला, बभना टोला, रजपुतवा टोला आदि। शिक्षकगण टोले टोले में विद्यार्थियों को टटोल रहे थे। धर्नाजन राय कलवारी टोला में चित्तू पंडित से टकरा गए। चित्तू पंडित गांजा की पिनक में हवा हो रहे थे। घबराए हुए मास्टर साहब की टक्कर लगी तो उन्हें लगा कि किसी सांड़ ने टक्कर मारा है। वे मिट्टी की पुरानी दीवार से टकराए। दीवार से भरभराकर उनके ऊपर मिट्टी झड़ी तो धुआंभरी आंखों से जितना दिखाई दे रहा था वह भी दिखना बंद हो गया। उठकर वे नाक की सीध में लपके। धनार्जन राय ने लपककर पकड़ा और हाथ जोड़कर क्षमायाचना की मुद्रा में खड़े हो गए, "माफ कीजिएगा पंडी जी। घबराहट में आपसे टकरा गया।" उन्होंने कहा।

आंखें मिचमिचाकर चित्तू पंडित ने सामने खड़ी भक्तिपूर्ण विनीत मुद्रा को देखा तो उनके भीतर का संस्कृतज्ञाता ब्राह्मण जाग उठा, "कोई बात नहीं जजमान! आयुष्मान् भव! आयुष्मान् भव! शुभम् भवति कल्याणम्! शुभम् भवति कल्याणम्! मगर आप इस प्रकार चिंताकुल क्यों हैं?"

ऐसे शुद्ध संस्कृत शब्दों को सुनकर धनार्जन राय की आत्मा प्रसन्नता से नंगी होकर यूरेका यूरेका कहकर चीखने लगी। उस प्रसन्नता का ग्राफ उनके चेहरे पर उभरा और उन्होंने झुककर चित्तू पंडित के पांव पकड़ लिए, "पंडी जी! आप ही हमें बचा सकते हैं।"

मामला समझने के बाद चित्तू पंडित ने अभयदान दे दिया। उस समय वे वेदव्यास से भी शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार हो जाते। झूमते हुए चित्तू स्कूल में पहुंचे। पंडित जी को साष्टांग दंडवत् किया। भूमि पर वे तब तक लेटे रहे जब तक पंडित जी ने 'उठो वत्स! उठो!' नहीं कह दिया। उठने में देरी से मास्टर लोग घबरा गए कि कहीं चित्तू गांजा के नशे में सो न गए हों। किंतु वे उठ खड़े हुए। पंडित जी ने *रघुवंश* महाकाव्यम् से एक श्लोक सुनाने के लिए कहा। यही वह पहला ग्रंथ था जिसके प्रथम भाग को चित्तू ने 'रटंत विद्या, लपटंत कुश्ती' सूत्र के आलोक में कंठस्थ किया था। उनके मुखार छिद्र से श्लोकों का फव्वारा फूट पड़ा।

पंडित जी ने *लघुसिद्धांत कौमुदी* से सूत्र सुनाने के लिए कहा। सूत्र पर सूत्र सूत्रवत निकलने लगे।

पंडित जी गद्गद् हो गए। उल्टे पांव पटना गए और स्कूल की मंजूरी का कागज आगे बढ़ाकर, पुख्ता कर के ही वापस अपने घर गए। गद्गद् कंठ से हेडमास्टर साहब ने स्कूल के इतिहास में चित्तू का नाम सोने के अक्षरों में लिखने की बात कही। तिग्गी चौधरी ने कहा कि स्कूल की अपनी बिल्डिंग बनने के बाद चित्तू पंडित का नाम संगमरमर पर लिखवाया जाएगा कि इसी लड़के ने स्कूल की लाज बचाई। लल्लन चपरासी ने कहा कि न हो तो तब तक कूट पर ही लिखकर लटका दिया जाए। बात आई गई हो गई। इस घटना ने नियुक्त बेरोजगारों के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन किया।

स्कूल में इतिहास और समाजशास्त्र के शिक्षक के रूप में नियुक्त श्री कमल जी पांडेय ने दो साल पहले एम.ए की पढ़ाई समाप्त की थी। उनकी सारी पढ़ाई गंगा के उस पार बलिया शहर में हुई। वे गांव से बलिया आते जाते रहते थे। जहां ज्यादा जरूरत हो, वे वहीं ठहर जाते थे। जैसे इम्तिहान आ गया तो बलिया में ठहर गए। खेत पटाना हुआ तो गांव चले आए। इस प्रकार गांव की खेती और कॉलेज की पढ़ाई दोनों निपटाने के बाद दो साल तक उन्होंने नौकरी के लिए आवेदनपत्र भी पोस्ट किये और नाहक पोस्टल विभाग को हलकान किया। अपने विषय में सत्य का ज्ञान होते ही इन्होंने ईंट भट्ठा खोल लिया था और दिन दूना, रात चौगुना

प्रगति करने लगे। इसी बीच स्कूल के उद्धार का प्रस्ताव आया। हेडमास्टर साहब से दूर की रिश्तेदारी का लाभ उठाकर ये शिक्षक के रूप में नामांकित हो गए। इनके साथ ही संस्कृत के शिक्षक के रूप में इनके बालसखा उत्तानपाद उपाध्याय रजिस्ट्रांकित हुए। तुलनात्मक रूप से ये दोनों शिक्षक युवा थे, उत्साही थी। अभी अभी पढ़कर निकले थे। पढ़ने में जो तकलीफ हुई, उसे पढ़ाकर निकालना चाहते थे। हाथ में रूल, जेब में कलम और बीस तीस पचास विद्यार्थियों को अपने इशारों पर उठाने बैठाने की बलवती कुंठा से पीड़ित थे।

गणित के शिक्षक के रूप में नियुक्त तिग्गी चौधरी पिछले पंद्रह वर्ष से खेती कर रहे थे। न जाने किस सन् में उन्होंने बी.एससी. किया था। सबसे ज्यादा कठिनाई तो उनकी डिग्री खोजने में हुई। वे इस तरह की चीजें अपनी आजी को संभालकर रखने के लिए दिया करते थे। पांच वर्ष पहले उनका स्वर्गवास हो गया था और दस वर्ष पहले से तिग्गी चौधरी डिग्री वगैरह से वीतराग हो गए थे। आजी की मृत्यु के बाद उनके उपयोगी सामान बांटबूट दिये गए थे। अत: तिग्गी चौधरी की डिग्री की खोज नाइयों, कहारों, पुरोहितों, रिश्तेदारों, घूरे टीलों आदि पर होने के बाद अचानक एक पुरानी हंड़िया में वह मिल गई। डिग्री एक पोलिथीन में लपेटकर रखी गई थी। उस हंड़िया में आजी के चांदी और सोने के कंगन और चंद रुपए भी मिले जिन्हें पांच वर्ष पहले बुरी तरह तलाश किया गया था। इसे एक अच्छा संयोग माना गया। सर्टिफिकेट में उनका नाम वटुकनाथ चौधरी है। इस अच्छे भले नाम से तिग्गी बन जाने की भी एक दास्तान है मगर वह फिर कभी...।

अंग्रेजी के शिक्षक के रूप में नियुक्त धनार्जन राय ने दस साल पहले अंग्रेजी से बी.ए. किया था। वे एम.ए. करके बर्नाड शॉ पर पी-एच.डी. करना चाहते थे किंतु पिता के असहयोग से क्षुब्ध होकर उन्होंने जनरल स्टोर खोल लिया। उन्हें लगा कि इस तरह से शिक्षक की नौकरी से अवकाशप्राप्त पिता का अपमान कर सकेंगे। हुआ इसका उल्टा! अब तक पिता के पेंशन के पैसों से राशन खरीदा जाता था, अब जनरल स्टोर से उठाकर आने लगा। दिन भर में तीन चार बंडल बीड़ी मंगाकर पिताजी अपने दोस्तों पर फूंकने की अय्याशी करने लगे। घबराकर उन्होंने धंधा बदल दिया। गांव छोड़कर तुपकाडीह चले गए। वहां चार पांच वर्षों तक कोयला, रेलवे लाइन बिछाने आदि इत्यादि किस्म की ठेकेदारी करने के बाद पिछले दो साल से बलिया श्मशान घाट पर जंगली लकड़ियां सप्लाई कर रहे थे। पिछले चार छ: महीने से उन्होंने यह काम भी बंद कर दिया था और गांव में स्थायी निवास करते हुए स्वास्थ्य लाभ ले रहे थे। वे प्रतिदिन सुबह सौ सपाट और दो सौ दंड पेल दिया करते थे। उनके गले के नीचे पीछे की तरफ एक मांस की मेड़ उभर आई थी। लगता था जैसे मस्तिष्क और सुषुम्ना के बीच की जेब्रालाइन/रोडब्रेकर हो। वे सुबह जब अपने पालतू बैल के साथ बधार की ओर निकलते तो तर्कशास्त्र का एक तर्क प्रत्यक्ष सामने दिखाई देने लगता था—माया ने जीव को बांधा है कि जीव माया के बंधन में है?

सभी शिक्षकों ने अपनी दिनचर्या में भारी परिवर्तन किया। वे रोज स्कूल आने लगे। गलियों गलियों, दरवाजे दरवाजे घूमकर विद्यार्थी ढूंढे जाने लगे। तीन चार छात्र फंस गए जिनका या तो कहीं प्रवेश नहीं हुआ था या जिन्होंने तीन चार वर्ष पहले से पढ़ाई से संन्यास ले लिया था मगर डिग्री के लालच में संस्कृत स्कूल में फॉर्म अप्लाई करने के लिए पट गए। विद्यार्थी भी आने लगे थे। विद्यार्थी और शिक्षकगण जो कल तक चौपाल में अगल बगल बैठकर ताश खेला करते थे, अब लुकाछिपी से सूर्ती फांक रहे थे।

एक दिन धनार्जन राय दो विवाहेच्छु कन्याओं को छात्रा बनाकर स्कूल में ले आए।

अब तो लगा कि स्कूल की अनिश्चितता का अहिरावण मारा ही जाएगा। झुंड के झुंड छात्र स्कूल की तरफ वैसे ही आकर्षित होने लगे जैसे फूलों की तरफ मधुमक्खियां।

सभी शिक्षक नियमित हो गए और ठोक बजाकर विद्यार्थियों को नियमित कर दिया गया मगर चपरासी के रूप में नियुक्त लल्लन प्रसाद एक्कावानी छोड़कर मुफ्त की चपरासीगीरी करने को तैयार नहीं था। मरता क्या न करता। शिक्षकों ने अपनी अपनी जेब से निकालकर लल्लन प्रसाद को पौने तीन सौ रुपए महीना देना तय किया। वैसे तो लल्लन प्रसाद पांच सौ से कम में तैयार नहीं हो रहा था मगर शनिवार और रविवार को इक्का चला लेने की छूट के साथ सौदा पौने तीन सौ पर टूट गया।

स्कूल चल निकला। जगह जगह के रिजेक्टेड छात्र वहां नामांकित हो गए। विवाहेच्छु लड़कियां चूल्हा चौका छोड़कर ज्ञान प्राप्त करने स्कूल की तरफ दौड़ पड़ीं। अभी उनकी हथेलियों से हल्दी और मसाले की गंध धुली भी नहीं थी कि मध्यमा प्रथम वर्ष का इम्तिहान सिर पर आ गया। टेस्ट की उत्तरपुस्तिकाएं जांचते हुए तिग्गी मास्टर ने कहा कि इनसे लहसुन और जीरे की गंध आ रही है। और कि ये मोदी की दुकान से खरीदे गए सामान का हिसाब तो ठीक से लगा नहीं सकती हैं, गणित के सवाल क्या हल करेंगी?

मध्यमा प्रथम वर्ष से फाइनल तक का रास्ता काफी मनोरंजक, रोमांचक, आह्लादक और चित्र विचित्र घटनाओं से भरपूर था। स्कूल में क्लर्क के पद पर नियुक्त किंतु हिंदी साहित्य पढ़ाने के शौकीन परमेश्वर प्रसाद ने एक बीघा ऊसर जमीन स्कूल के लिए दान कर दी। कुछ श्रद्धालुओं से चंदा उगाहकर उस जमीन के एक खंड पर चार पांच कमरों के लिए कच्ची जोड़ाई की दीवारें खड़ी कर दी गईं। दीवारों पर छत डालने का काम काफी महंगा था अत: उसके लिए समय का इंतजार किया जाने लगा।

चूंकि पहले ही बैच में कन्याओं की संख्या बढ़ती जा रही थी और दस गुणे आठ के दोनों कमरों का आकार यथावत था इसलिए एक ही बैच में दो वर्ग बनाए गए—छात्र वर्ग और छात्रा वर्ग। हालांकि विद्यार्थियों की संख्या अभी इतनी नहीं थी कि उन्हें एक साथ बैठने में असुविधा हो लेकिन धनार्जन राय के विचार से लिंग निर्णय के आधार पर वर्ग विभाजन जरूरी था। उनका तर्क था कि यहां वहां से पोटकर छात्र बनाए गए लफंगों के चरित्र और जुबान का भरोसा नहीं किया जा सकता है। उनमें से कई दस दस मिनट पर सुर्ती ठोकते रहते हैं। ये और बात है कि शिक्षकगण भी उन्हीं से सूर्ती मांगकर खाते थे। सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पारित हुआ कि स्त्री लिंगों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए और बेवजह कोई टंटा हो जाने पर स्कूल को होने वाली क्षति से बचने के लिए पुलिंगों को अलग पढ़ाया जाए। इस वर्ग विभाजन की खबर कस्तूरी की सुगंधि की तरह गांवों के कोने कोने में फैल गई। इस खबर ने अनेक अभिभावकों को उत्साहित किया और स्कूल में कन्याओं की आमद बढ़ गई।

छात्रगण जो अब तक जुआ शराब, गांजा भांग, लड़कियों, महिलाओं, प्रौढ़ाओं, कचरी खेसारी, ईख, भूसा, गाय, बैल, भैंस, पाड़ा पाड़ी, बछिया बछरू, टेंगरी मंगरू में रुचिपूर्वक समय व्यतीत किया करते थे, वे स्कूल की बंद चारदीवारी में पाणिनी के व्याकरण में लिंग विचार पढ़ने और सूत्र तथा श्लोक रटने के लिए तैयार हो गए तो इसका मुख्य कारण यह था कि इसी बहाने उन्हें सुदर्शना कन्याओं को बहुत पास से घूरने, देखने और कभी कभी छू जाने के अलौकिक आनंद का लालच था।

मुखिया जी के हाथों स्कूल के भावी भवन का शिलान्यास करवा दिया गया हालांकि वहां कोई शिला नहीं थी। दीवारों पर छत डालने के लिए काफी सारे शिलाखंडों की जरूरत

थी जिसके लिए किसी श्रद्धालु शिलाखंड व्यापारी की तलाश होने लगी। छात्रगण सुबह सुबह शिलान्यास स्थल पर प्रार्थना करने आया करते थे। वर्ग विभाजन के बाद छात्रों को शिलान्यास स्थल पर और छात्राओं को अपर प्राइमरी में संयुक्त संस्कृत स्कूल के कमरों में बैठाया जाने लगा।

इन दोनों स्कूलों के बीच में सौ घर का एक टोला था जिसमें यादव और कुर्मी जाति के खेतिहर और जोतिहर किसान रहते थे। शिलान्यास स्थल की दाहिनी तरफ प्राचीन मिडल स्कूल था और बगल में सदियों पुराना पोखरा। दो चलते हुए स्कूलों के बीच यह शिलान्यास स्थल किसी सुदूर भविष्य के अधूरे वर्तमान जैसा लगता था। रंगीन मिजाज के छोकरों को यहां बैठना सजा से कम नहीं लगता था। उन लोगों का मानना था कि स्कूल में एडमिशन कराकर उनके साथ दगा किया गया।

दस बजे के आसपास शिलान्यास स्थल पर स्कूल के सभी विद्यार्थी, शिक्षक तथा एकमात्र चपरासी लल्लन प्रसाद उपस्थित होते। सभी प्रार्थना में शामिल होते। लल्लन अपने सिर पर एक कुर्सी और रजिस्टर भी लेकर आते थे। रजिस्टर और एक शिक्षक वहीं रह जाते और शेष सभी वापस लौट जाते थे। एक पीरियड से दूसरे पीरियड के खाली समय में छात्रगण सूर्ती फांकते, दीवारों पर चढ़कर छुआ छू खेलते या जमीन पर बैठकर ऊसर की घास नोचते रहते थे। बैठने के लिए महुआ के पेड़ के नीचे एकमात्र कुर्सी रखी रहती थी जो शिक्षक के लिए आरक्षित थी। छात्रों को बेंच तो दूर, कुशासन, चटाई या बोरा, दरी भी उपलब्ध नहीं था। उन्हें धूप से भी बचना था, धूल से बचने के लिए घासवाली जमीन भी खोजनी थी और पढ़ाई भी करनी थी।

बेकार से विद्यार्थी बनने के बाद पहली बार वे खुले में आ गए थे। वह भी एक ऐसी जगह पर जहां से गत दिनों के (जुआ, नशा, चोरी, छिनैती और खेती किसानी के) साथी स्वतंत्रतापूर्वक आते जाते दिखाई देते। मध्यमा प्रथम वर्ष की टेस्ट परीक्षा उनके प्रवेश के तीसरे महीने में हो गई थी और यही वह समय था जब वे अपने पिछले अतीत से कटकर एक प्रतिष्ठित दुनिया में प्रवेश कर गए थे। दस गुणे आठ की कक्षाओं में बैठकर वे अपनी पिछली दुनिया से अलग हो गए थे, कुछ ऊपर उठ गए थे। जिंदगी ने उनकी कमर में ज्ञान की रस्सी बांधकर उन्हें वापस उन्हीं रास्तों के किनारों पर ला पटका था। वे तकलीफ में थे। तकलीफ ने आक्रोश को जन्म दिया। आक्रोश में वे विद्रोह कर बैठे। विद्रोह गलत दिशा में चला गया। शिक्षकों की अनुपस्थिति में एकमात्र कुर्सी पर बैठने के लिए झंझटें होती रहती थीं। एक दिन एक छात्र ने कुर्सी को उठाकर एक छिल्ले गड्ढे में रख दिया। बांस की लंबी पीली छड़ी को कुर्सी के पाए के पास कीचड़ में खोंस दिया। गणित के शिक्षक तिग्गी चौधरी ने जब यह नजारा देखा तो उनका पारा चढ़ गया। छात्रों ने कहा कि गड्ढे के किनारे घास भी घनी है और महुए की छाया भी, आप कुर्सी पर बैठ जाइए, हम लोग घास पर बैठ जाते हैं। टखने भर पानी में कुर्सी मुंह चिढ़ाती खड़ी थी। चौधरी जी आगबबूला हो गए। वो लातों घूसों से छात्रों पर पिल पड़े। जब हाथों में दर्द हो गया तो छड़ी उठाने के लिए गड्ढे की तरफ लपके। छड़ी जरा गहरे धंसी थी, उसे खींचने में खुद खिंच गए और कीचड़ पानी से सराबोर हो गए। इस घटना ने छात्रों की छवि को और भी दागदार बना दिया। फिर भी छात्राओं का साहचर्य छोड़कर महुए के पेड़ के नीचे दिनभर बैठकर खुले वितान को खाली आंखों से तकना उन्हें नागवार लग रहा था।

लल्लन से बौद्धिक मशवरा लेने के बाद उन लोगों ने तय किया कि शिक्षकों के सामने

बात रखी जाए। बात रखने के लिए चित्तू पंडित को चुना गया। बात कुछ इस प्रकार से रखनी थी कि शिक्षकों को यह न लगे कि छात्र छात्राओं के साथ के इच्छुक हैं। तकलीफ तो कन्याओं को भी थी क्योंकि छात्रों के सान्निध्य में ही उन्हें पढ़ाई की ऊब से मुक्ति मिलती थी। हालांकि छात्रों के साथ बैठने पर वे आपस में बहुत खुलकर आपसी बातें नहीं कर पाती थीं मगर उसके लिए तो और भी अवसर थे। छात्रों की चुहलबाजियां, शिक्षकों पर किये गए व्यंग्य उनको अच्छे लगते थे। उनकी अधखुली मुस्कानों से छात्रों का कलेजा जब ठंडा होता था तो उन्हें भी ठंडक मिलती थी। जिस समाज में एक लड़की किसी लड़के से बात करते हुए मुस्करा दे तो 'पट गई, पट गई' का गगनभेदी शोर मच जाता है, वहां एक साथ दिन भर बैठे रहना बहुत बड़ा सुख था। छात्राएं भी वही चाहती थीं, जो छात्र चाहते थे मगर वे खुलकर कह नहीं सकती थीं। वे इसकी मांग नहीं कर सकती थीं क्योंकि स्कूल में वे डिग्री हासिल करने आईं थीं जो उनकी मांग भरवाने में शीघ्र सहायक थी। इस तरह की कोई भी मांग उन्हें बदनाम कर सकती थी।

चित्तू पंडित ने सीधे सादे सदाचारी संस्कृत शिक्षक (जो रिश्ते में उनके मौसा लगते थे) श्री उतानपाद उपाध्याय के सामने बात रख दी। मजमून कुछ इस प्रकार था—मौसा जी! इतनी दूर तक आप लोगों को चलकर पढ़ाने आना पड़ता है। यहां धूप और लू भी लगती है। आने जाने में समय भी खराब होता है और कि संस्कृत स्कूल के छात्रों को इस तरह पेड़ के नीचे बैठकर पढ़ना अच्छा लगता है क्या? मौसा जी ने बात सीधे सादे हेडमास्टर साहब तक पहुंचाई। बात मान ली गई। दूसरे दिन सभी छात्र और छात्राएं एक ही कमरे में बैठे हुए पाए गए। अंग्रेजी के शिक्षक श्री धनार्जन राय को यह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने चुन चुनकर लड़कों की अंग्रेजी में दोष निकालना शुरू किया। लड़कों के अच्छे कपड़ों की तुलना में उनकी अंग्रेजी बदतर थी। धनार्जन राय अपने लेक्चर में खादी और भारतीयता के महत्व पर काफी शब्द जिआन किया करते थे। उनसे प्रभावित होकर एक दिन चित्तू पंडित के नेतृत्व में चार छात्र धोती कुर्ता पहनकर आए, मगर यह बात भी मास्टर साहब को अच्छी नहीं लगी। दरअसल जबसे मध्यमा अंतिम वर्ष (दसवीं) की छात्राओं के पीछे की टेबुलों पर ये लफंगे आकर बैठने लगे थे, उन्हें इनकी कोई भी बात अच्छी नहीं लगती थी।

एक दिन धनार्जन राय ने चित्तू पंडित के दो तीन मित्रों का कॉलर पकड़कर, झोंटा झुलाकर, छड़ी डंडे से नहीं मुक्के से पीठ पर, सीने पर प्रहार किया। वे पीटते जा रहे थे और एक ही वाक्य दुहराते जा रहे थे—पहनेंगे अंग्रेजी ड्रेस और एबीसीडी का भी ज्ञान नहीं। स्टाइलिस्ट कपड़ों के लिए दो तीन महीनों में लेंडुकी प्रसाद कई बार पिट चुके थे। उस दिन भी सबसे ज्यादा वे ही अपमानित किये गए। बाहर निकलकर लेंडुकी ने चित्तू को भड़काया और अपनी योजना में भागीदार बनाया। दूसरे दिन स्कूल में अंडरवियर पहनकर आना तय हुआ। घर से वे लोग सामान्य कपड़ों में निकले। स्कूल के पास की बंसवार में पैंट खोलकर छुपा दिया और चारखाने की अंडरवियर में संस्कृत विद्यालय की तरफ चले। धनार्जन राय क्लास ले रहे थे। चित्तू पंडित की हिम्मत जवाब दे गई। वे मर मैदान (शौचक्रिया) के बहाने भाग खड़े हुए किंतु टखने से जांघों तक भालू के बालों जैसे रोंये वाले चित्तू पंडित को देख लिया गया था। लेंडुकी अकेले क्लास में घुस गया। पढ़ाने की धुन में मास्टर साहब का ध्यान ही नहीं गया कि उसने क्या पहन रखा है। लड़के लड़कियों की दबी हंसी ने जब उनका ध्यान खींचा तो वे आगबबूला हो गए।

लेंडुकी बहस पर उतर आया, "अब आप कहते हैं कि पैंट शर्ट विदेशी ड्रेस है तो

पाजामा भी विदेशी है। धोती मेरे पास है नहीं। अब आप कहेंगे कि यह अंडरवियर भी विदेशी है तो कल से लंगोट पहनकर आऊंगा।" लेंडुकी को क्लास से बाहर निकाल दिया गया। चित्तू पंडित बंसवार में उसका इंतजार कर रहे थे। उसने उनकी कायरता को धिक्कारा! अपने पांवों पर उगे बालों की तरफ इशारा करते हुए उन्होंने बताया कि उन्हें बालों के चलते लड़कियों के सामने जाने में शर्म आई। तो चित्तू पंडित को शर्म भी आती है! इतनी कम उम्र में इतने घने बालों के पीछे उनके पिता का एक रेजर शहीद हुआ था। पांवों, हाथों कांखों, पेट, छाती, दाढ़ी मूंछ आदि के साथ शरीर के कुछ गुप्त उदग्र अंगों पर भी रेजर चलाया था। आखिरी कार्यक्रम के समय पिता ने रंगे हाथों पकड़ लिया था और रेजर उठाकर गड्ढे में और चित्तू पंडित को नाली में पटक दिया था। यह घटना दो वर्ष पहले घटी थी। बहरहाल दूसरे दिन असभ्यता, अनुशासनविहीनता, बदमाशी, गुंडई आदि का आरोप लगाकर हमेशा के लिए कक्षा को औरत मर्द में विभाजित कर दिया गया।

पहला बैच निकलने के साथ ही स्कूल अघोषित रूप से गर्ल्स स्कूल में परिवर्तित होने लगा। वहां से मध्यमा की डिग्रियां लेने के बाद लड़कियां अपने पति पक्ष पर आगे की पढ़ाई के लिए निर्भर होती थीं। एक तरह से संस्कृत स्कूल कन्याओं के लिए वैवाहिक योग्यता का प्रमाणपत्रदाता बन गया। छात्रगण आसपास के गांवों और कस्बों के संपन्न स्कूलों में पढ़ना पसंद करते थे। लड़कियां पढ़ना भी चाहें तो एक गांव से दूसरे गांव में खेतों के रास्ते पैदल जाकर शिक्षा प्राप्त करने की इजाजत उन्हें नहीं मिल सकती थी। संस्कृत स्कूल से पहले इस गांव में रहकर शिक्षा प्राप्त करने वाली लड़कियों की अंतिम डिग्री सातवीं कक्षा की हुआ करती थी। भला हो उन नवयुवकों का कि जब विवाह के लिए पढ़ी लिखी कन्याओं की मांग बढ़ी और कम से कम मैट्रिक पास अनिवार्य माना जाने लगा तो उन लोगों ने यह स्कूल खोल दिया। वरना इस गांव की लड़कियां विवाह के बाजार में काफी मंदी हो गई होतीं। बेशक उन जीवित या परलोकवासी बुजुर्गों की आत्माएं जरूर कष्ट पा रही होंगी जिन्होंने आजादी के इतने सालों बाद भी इस गांव में स्कूल कॉलेज को नहीं आने दिया था और जिनके अनुसार लड़कियों को पत्र लिखना आ जाए, बस काफी है। अन्य स्कूलों से निष्कासित, निलंबित, अपाहिज, मूढ़मति छात्र ही संस्कृत स्कूल में पढ़ने आते। वैसे भी झरबेरियों का बीज बोकर दूध या अमृत से भी सींचा जाए तो रसभरियां नहीं पैदा होंगी।

अगर आपके पास दसवीं की डिग्री है तो बिहार और उत्तर प्रदेश में कई ऐसे विश्वविद्यालय हैं जो आपको आगे की डिग्रियां देने के लिए खोले गए हैं। बालिकाएं और बालवृंद चंद रुपए खर्च कर इन्हीं संस्थानों से आचार्य और डॉक्टरेट तक प्राप्त कर लेते हैं। मगर चित्तू पंडित नियमित छात्र बनकर एक संस्कृत विश्वविद्यालय में दाखिल हुए। वहां वे पढ़ाई के साथ जजमनिका भी करवा लेते थे। छुट्टियों में आते हुए छात्रावास के पंखे, रेगुलेटर, बल्ब, बाल्टी, कूकर आदि भी उठाए लाते थे। आखिरी वर्षों में उन्होंने लायब्रेरी में डाका डाला और ज्ञान की गठरियां पीठ पर, सिर पर, कंधे पर लादे हुए गांव पहुंचे थे। गांव में चित्तू पंडित ने खेती करते हुए, सरकारी राशन का डीलरशिप करते हुए और अनेकानेक कन्याओं से प्रेम करते हुए अनेक कारनामे किये। लेकिन फिर कभी...

अभी चित्तू पंडित के काफी बुरे दिन चल रहे थे। मध्यमा का रिजल्ट आ चुका था। वे प्रथम क्षेणी से पास हो चुके थे। इस खुशी का मालपुआ घर में बनकर समाप्त हो चुका था। इसी बीच उनके पिता मिलिट्री से स्वैच्छिक अवकाश प्राप्त कर गांव आ चुके थे। उनके पिता श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र काफी सीधे स्वभाव के व्यक्ति हैं। लक्ष्मी नारायण को भी आचार्य

दुर्गाशंकर मिश्र ने शिक्षित करने का प्रयत्न किया था मगर उन्हीं के शब्दों में, "कलकत्ता ले जाकर दुर्गा कितना भी कोशिश किये कि लछिमिया को पढ़ा दें, मगर नहीं पढ़ना था मुझे तो नहीं ही पढ़ा!" इतना कहकर वे हो हो हो हो करके हंस पड़ते हैं जैसे बहुत वीरता का काम किया हो। वे सरल, सच्चे और निष्कलुष चरित्र के व्यक्ति हैं। गांव आने के बाद प्रॉविडेंट फंड निकालने के लिए उन्होंने बैंक में खाता खोला। जोश में ऐसा हस्ताक्षर कर दिया कि बाद में उसकी नकल ही नहीं कर पाए। पैसा आकर खाते में जमा हो गया मगर निकालने का हर प्रयत्न करने के बाद वे असंतुलित हो गए। चित्तू पंडित के शब्दों में वे चपरासी से मैनेजर तक सबकी दाढ़ी छूकर पैसा निकलवा देने की चिरौरी कर चुके थे।

रोज सुबह पासबुक और झोला लेकर लक्ष्मी पंडित बैंक जा पहुंचते। उनको देखते ही बैंक में घबराहट फैल जाती। चपरासी से मैनेजर तक उनको जायज रास्ते बता बताकर थक चुके थे। जाने क्या उनके मन में समा गया था कि ये सभी रास्ते भटकाने वाले हैं और पैसा तो अब बैंक वालों की कृपा से ही हाथ में आएगा। बहरहाल, चित्तू पंडित के सहयोग से उनका पैसा तो निकल गया मगर वे सामयिक रूप से चिड़चिड़े हो गए। गांववाले मनबहलाव के लिए हमेशा ही ऐसे अवसरों की तलाश में रहते हैं। आग में घी डालना और लपटें देखकर आनंदित होना गांव के बालसुलभ मन का एक हिस्सा है।

लोगों ने बढ़ा चढ़ाकर चित्तू के चरित्र दोष का उनके सामने वर्णन किया। पंडित जी चित्तू पंडित को देखते ही बिदकने लगे। जब न तब हाथ भी छोड़ देते थे। गुस्से में चित्तू ने एक दिन वह बात भी कह दी जो दोनों के दिलों में दफ्न थी और लक्ष्मी पंडित तो कब का भूल चुके थे। वह बात गांव में हंसी की लहर की तरह फैल गई और पंडित जी चित्तू के स्थायी शत्रु हो गए। गांव के लोग वही बात कहकर उन्हें चिढ़ाने भी लगे। कोई उन्हें सामान्य नजर से भी देखता तो उन्हें लगता कि मन में वह वही बात बोल रहा है। चित्तू उन्हें देखते ही मुस्करा देते और पंडित जी का तेवर चित्त हो जाता। वे गुस्से में फेन फेंकते हुए कहते, "तुम्हीं जानते हो आं...आं...। पाल पोसकर बड़ा कर दिया तो बड़ी बड़ी बात बोलते हो..."

चित्तू कन्नी काटकर निकल जाते। वैसे भी उनको यह कहना नहीं चाहिए था कि भारत पाकिस्तान की लड़ाई में लक्ष्मी पंडित ने एक मूंगफली वाले को गोली मार दी थी और लूज मोशन का बहाना बनाकर घर भाग आए थे। अपने पिता की बहादुरी पर प्रश्नचिह्न लगाना अनुचित ही नहीं, अशोभनीय है। मगर चित्तू पंडित बेशर्मी से यह सबको बताते चलते थे कि जब कैप्टन ने फायर कहा तो ये पीछे घूम गए और उसका मुंह देखने लगे। कैप्टन इन पर ध्यान दिये बिना दुबारा फायर बोला तो घबराकर इन्होंने अपने ही देश के एक मूंगफली वाले पर गोली चला दी। दो तीन वर्ष पहले किसी कमजोर भावुक क्षण में लक्ष्मी पंडित ने चित्तू को नीम के पेड़ के नीचे रात में रोते हुए यह बात बताई थी। तब चित्तू उनके प्रिय पुत्र हुआ करते थे। भावावेश उतरने के बाद पंडित जी को लगा कि लड़के के मुंह से बात कहीं इधर उधर न हो जाए इसलिए किसी से न कहने की गांठ बंधवा ली थी।

चित्तू पंडित के ये काफी बुरे दिन थे। स्कूल से संबंध समाप्त हो गया था। पिता की उपस्थिति के कारण अन्यान्य सामाजिक गतिविधियां बाधित हो रही थीं। इसी बीच गर्मी की छुट्टियों में बड़े पिताजी पंडित दुर्गाशंकर मिश्र गांव आ गए। इनसे पूरा परिवार कंपता था। आचार्य जी एक कृपण कायस्थ परिवार में यज्ञ करवाने के निमित्त आए थे। यज्ञ के लिए ग्यारह ब्राह्मणों की जरूरत थी। आचार्य जी ने एक ब्राह्मण के रूप में चित्तू पंडित को नामांकित कर दिया। यज्ञ, पूजा पाठ आदि का चित्तू को पुराभ्यास था। वे उच्च कंठ से श्लोकादि का पाठ

करते थे, किंतु प्रतिदिन दक्षिणा प्राप्त करने के समय निराश हो जाते थे। उन पर बदचलनी का आरोप लगाकर घरवाले दक्षिणा की रकम ऐंठ लेते थे।

कायस्थ अत्यंत कृपण था। यज्ञ का विधान कुछ ऐसा था कि ब्राह्मणों को एक ही समय अन्न ग्रहण करना था। सुबह से शाम तक वैदिक मंत्रों को लाउड स्पीकर पर चिग्घाड़ने के बाद तर माल उड़ाने का मौका आता था। दिन भर फलाहार, दुग्धाहार, चाय शर्बत आदि तरल और वायवीय तत्वों के सहारे गुजारना था। पहले दिन तो कायस्थ ने बराबर सेवा की। रात्रिभोज (जो सूर्यास्त से पहले ही हो जाता था) में पूड़ी पकवान, दही मिठाई की समुचित व्यवस्था थी लेकिन दूसरे ही दिन व्यंजनों में भारी कटौती हो गई। तीसरे दिन तो सूखी रोटी और लौकी की सब्जी सामने आ गई। दक्षिणा में भी काफी गिरावट आ गई। ब्राह्मणजन कुनमुनाने लगे। अंतिम दिन पूर्णाहुति करवाते हुए आचार्य जी उसकी कृपणता से खिन्न होकर हत्थे से उखड़ गए। पूर्णाहुति के मंत्र बोलते हुए वे बीच में अपना गुस्सा भी गालियों के साथ लाउड स्पीकर पर प्रसारित करते जाते थे। जैसे—आनो भद्राहा स्वस्तिन: इंद्रो बृद्धश्रवाहा, इसी में संयुक्त पंक्ति होती थी, अरे! काष्ठमउगड़ी कायस्थ! पूर्णाहुति के समय ऋत्विज् को खिन्न न कर, तुझे पुण्य नहीं प्राप्त होगा। इसके बाद ॐ स्वस्तिन: पूषा विश्ववेदाहा...आदि आदि।

यज्ञ के बाद पंडितों ने इसी बात पर संतोष किया कि कुछ तो आया, वरना अब तो शादी विवाह के अवसरों को छोड़कर कौन पूजा पाठ, यज्ञ करवाता है। वैसे भी इधर के वर्षों में गांवों में पूजा पाठ, तंत्र मंत्र, योग अभिचार व्यावसायिक दृष्टि से काफी कम हो गया है और महानगरों में इसके लिए काफी बड़ा बाजार खुलता चला गया है। कायस्थ भी कलकत्तावासी ही था। गांव में आकर यज्ञ करने के पीछे क्या रहस्य था यह न किसी ने पूछा न किसी को पता चला।

आचार्य जी की जीवनपद्धति वैदिक रीति में निबद्ध थी। एक दिन संध्यापाठ के बाद नीम के पेड़ के नीचे पद्मासन में बैठकर शाम के समय घर पर ही बने रहने को विवश सामने तिपाई पर बैठे चित्तू पंडित से आचार्य जी ने कहा, "यदि तुमने मेरे निर्देशों का पालन किया होता, वैदिक रीति से जीवनयापन करना स्वीकार किया होता तो आज भारत के एक ख्यात पंडित होते।" चित्तू समझ गए कि चित्त में कायस्थ पर उमड़े हुए क्रोध को चित्तू पर उतारा जा रहा है। गांजा की पिनक में इस बात को खास भाव न देते हुए प्रत्युत्तर दिया, "अगर मैं उन्नीस सौ इकहत्तर से पहले पैदा हो गया होता तो भारत पाकिस्तान का युद्ध देख लेता। बड़े पिताजी! होता वही है जो होना होता है।" आचार्य जी खिलखिलाकर हंस पड़े। चित्तू के प्रत्युत्पन्नमतित्व से वे खिल उठे। उन्होंने कहा, "जा, तुझे इतना सिखा दिया है कि तू भूखा नहीं मरेगा।"

चित्तू ने सोचा कि इसका भी जवाब दें, मसलन: 'जिस प्रभु ने मुंह चीरा है, भोजन का प्रबंध भी वही करता है', 'जिसने सिर दिया है, विवेक और ज्ञान भी वही देता है', 'कोई किसी को क्या सिखाएगा और क्या खिलाएगा' लेकिन आचार्य जी के खंड़ाऊ के विषय में सोचकर वे चुप रह गए। ऐसी बहसों से चित्तू पंडित को आए दिन दो चार होना पड़ता था। उनके बड़े भाई निरंकार मिश्र जिनको मित्रगण निरंकारी बाबा कहा करते थे, का घर में बड़ा सम्मानपूर्ण स्थान था। वह व्यावहारिक और कूटनीतिज्ञ था। जबकि भांग आदि के सेवनादि में वह चित्तू पंडित से कई कदम आगे था। निरंकारी बाबा ने एक गायक के रूप में छवि बनाने का प्रयत्न किया, प्रसिद्ध लोकगायक का अपने मुहल्ले में एकमात्र स्थान बना भी लिया और इस प्रकार महत्वाकांक्षा की संतुष्टि के बाद समाज को हास्य व्यंग्यपूर्वक देखते हुए जीवनयापन करने

लगे। मगर चित्तू पंडित की महत्वाकांक्षाएं सीने में उफान ले रही थीं।

एक दिन लक्ष्मी पंडित और निरंकारी बाबा ने चित्तू को दौड़ा दौड़ाकर पीटा। चित्तू घर से आंगन में और खंभे के पीछे से निकलकर सामने खंड़ (आंगन का छोटा बगीचा, आंगनबाड़ी) में भागे। दीवार फांदकर वे गांव में गुम हो गए। यह स्पष्ट नहीं हुआ कि चित्तू पंडित को क्यों पीटा गया? स्वयं चित्तू पंडित के सामने भी यह स्पष्ट नहीं था। उन्होंने ग्राम गृह त्याग का निश्चय किया।

सदियों से गांवों के देश भारत में एक मान्यता प्रचलित थी—उत्तम खेती, मध्यम वाणिज्य, अधम चाकरी, भीख निदान। कालांतर में यह मान्यता डगमगाने लगी और सन् चालीस तक आते आते उत्तम चाकरी, मध्यम वाणिज्य अधम खेती और भीख निदान हो गया। किसानों ने अपनी अगली पीढ़ियों को शिक्षालयों और कार्यालयों की तरफ ठेलठाल कर अग्रसारित कर दिया। सन् चालीस से आज तक, जिन्हें नौकरी नहीं मिल पाती है, वे ही गांव में बने रहने को मजबूर होते हैं। गांव में रहकर वे खेती मजदूरी करते हैं या दुकान खोल लेते हैं। यदि खेती मजदूरी में लगते हैं तो तीस साल की उम्र में बूढ़े हो जाते हैं और निरंतर एक विचित्र किस्म के बुढ़ापे की तस्वीर बनते चले जाते हैं। अगर दुकान में बैठ गए तो तीस साल की उम्र में तोंद निकल आती है और आगे फूलती ही जाती है।

यह उत्तम अधम का फर्क अंग्रेजों के और आधुनिकता के आने के चलते आया। इसका जिम्मेदार पिकासो है जो विक्टोरियन काल की चित्रकला को नकारते हुए आधुनिकता लेकर आया। हालांकि उसने चित्रकला में आधुनिकता का आविष्कार किया मगर उसका प्रभाव भारत के किसानों पर बहुत गहरा पड़ा। मजबूरन खेती करने वाले किसान पैंतीस साल की उम्र तक तंबाकू खाकर दांत गंवा देते हैं। जिससे गालों की चमड़ी मुंह में धंस जाती है। पेट सटक जाता है। छाती की हड्डियां उभर आती हैं। सिर पर चंद बचे बालों की जड़ों से ढेर सारा सरसो तेल प्रवाहित करते हुए वे हाथ में हंसिया, कुदाल, खुर्पी हल, खांची बोरा, शीशी जार आदि लेकर रियलिस्टिक एप्रोच की आधुनिक कलाकृति का मॉडल बन गांव की पंकिल गलियों और कंकरील पगडंडियों पर नंगे पांव घूमते रहते हैं। निश्चित रूप से इनकी इस दशा का दोषी पिकासो है; इस देश की सरकार नहीं जो कृषि को उद्योग का दर्जा नहीं देती।

चित्तू पंडित शिक्षा की अनुपयोगिता के विषय में किसी भी ग्रामीण युवा से ज्यादा जानते थे किंतु उत्तर भारत के किसी भी निकम्मे और बैठे ठाले नौजवान की तरह कक्षा दर कक्षा, विषय दर विषय पढ़ाई करते जाने के सिवा उनके पास भी कोई चारा नहीं था। चढ़ती जवानी को आनंदपूर्ण बनाने और वक्त काटने के लिए बनारस, पटना, इलाहाबाद जैसे शहरों में अनेक विश्वविद्यालय खोले गए हैं। युवक चावल, दाल और चंद रुपयों के पारिवारिक अनुदान पर अपनी जवानी निकाल देते हैं। इस दौरान कुछ की दहेज की रकम बढ़ जाती है। कुछ नेताओं के पिछलग्गू बन जाते हैं। कुछ हर तरह से निराश होकर लौट जाते हैं और शिक्षापद्धति की निरर्थकता को सदेह साबित करते रहते हैं।

बहरहाल! आपने यह मुहावरा तो सुना ही होगा—बाण आप गए, नौ हाथ का पगहा भी ले गए। इसको इस प्रकार समझिये कि बाण जब भी जाते हैं, नौ हाथ का पगहा जरूर ले जाते हैं।

तो निज चरित्र की विचित्रताओं में रुचि लेने वाले एक कनिष्ठ छात्र को पंडित जी ने पीटा और संस्कृत विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त करने वाराणसी पहुंचे। वहां उनको उत्तरमध्यमा में प्रवेश मिल गया। कहीं भी प्रवेश उनको बहुत ही आसानी से मिल जाता था क्योंकि वाणी,

प्रस्तुति और आधारभूत ज्ञान में वे माहिर थे। किंतु उस स्थान को बड़ी ही कठिनाई से त्यागते थे और पुन: प्रवेश के लिए द्वार बंद हो जाता था। यों वाराणसी में असली नकली मिलाकर लगभग एक दर्जन संस्कृत विश्वविद्यालय हैं, वैसे में कहीं न कहीं प्रवेश हो ही जाता। इनमें से अधिसंख्य विश्वविद्यालयों के छात्र सिर्फ परीक्षाओं के समय सेंटर पर हाथ में गाइड, कुंजी और किताबें लिए दिखते हैं। पूरे वर्ष भर रजिस्टर में उनका नाम चलता रहता है। इस दौरान छात्रगण अपने बाकी के धंधों में लगे रहते हैं।

परीक्षास्थल पर छात्रों को देखकर आप समझ सकते हैं कि शिक्षा और खासतौर से प्रौढ़ शिक्षा के विषय में पूर्वांचल में कितनी जागरूकता है, भले ही सरकारी आंकड़ा चाहे जो बता रहा हो। कोई दो दिन के लिए अपनी किराने की दुकान अपने साले को सौंपकर परीक्षा देने आया है, किसी ने नई मिलती ठेकेदारी का परीक्षा के लिए त्याग सा कर दिया है, किसी ने अपने बच्चों को अपनी बहन को सौंप दिया है और कूद पड़ी हैं उत्तर मध्यमा और आचार्य, शास्त्री के परीक्षायुद्ध में तमाम हर हथियार के साथ, किसी के पतिदेव परीक्षा दे रहे हैं और वे बगल में बैठकर बच्चे को बहला रही हैं। बड़ा ही शैक्षणिक और जागरूक माहौल रहता है।

चित्तू पंडित ने यह सब रास्ते नहीं अपनाए। वे संस्कृत विश्वविद्यालय में दाखिल हुए। पंडित जी को वहां छात्रावास में एक कमरा मिला। कमरे में बल्ब, पंखा, हीटर आदि विद्युत यंत्र यथास्थान मिले। पुस्तक आदि वस्तुएं रखने के लिए दीवार में बनी हुई अलमारी मिली। गैलरी मिली, छत मिली। महीने भर के राशन के साथ तेल तियना के लिए अलग से पैसे मिलते थे। पंडित जी ने सोचा कि खाली समय में दो चार घर जजमनिका कर लेने से दम गांजा का दाम निकल जाएगा। खाली समय का पंडित जी ने अच्छा उपयोग सोचा क्योंकि सबसे ज्यादा उनके पास खाली समय ही था।

पहले ग्राहक के रूप में पड़ोस का बनिया फंसा जिसकी दुकान पर पंडित जी कभी कभार राशन पताई और अक्सर बीड़ी सिगरेट दियासलाई खरीदने जाया करते थे। वैसे वास्तव में बनिया नहीं बनियाइन फंसी जो दुकान के पिछले दरवाजे से अपना सुंदर मुख हमेशा प्रदर्शित करती रहती थी। सत्यनारायण भगवान की कथा पंडित जी ने इतने आडंबरपूर्ण ढंग से विधिपूर्वक कही कि बनिया दंपति चमत्कृत हो गया। बनिया उनकी अन्यान्य प्रतिभाओं के विषय में जिज्ञासु हो गया। उसे न जाने कहां से प्रेरणा हो गई कि पंडित जी पुत्रदान यज्ञ का अभिचार करना जानते हैं। चित्तू पंडित के न न करने पर उसका विश्वास और भी जड़ पकड़ता गया। पंडित जी ने अभिचार और अभिसार दोनों के सहयोग से पुत्रदान किया और यहीं से उनको धर्माडंबर की कुंजी मिल गई। वे पुत्रदानी के रूप में संतानहीन महिलाओं में प्रसिद्ध होने लगे। सेठानी पंडित जी को भगवान बराबर पूजती थी। यह बात गली के लफंगों को चुभने लगी जो काफी अरसे से उधर दृष्टि रखे हुए थे। पंडित जी वेद पुराण की कहानियां सुनाने के सिलसिले में नियोग प्रथा और ऋतुगमन आदि के विषय में संक्षिप्त टिप्पणियों और पौराणिक घटनाओं के आलोक में महिलाओं के कान फूंक दिया करते थे। छात्रावास के निकटवर्ती मुहल्ले में पंडित जी ख्यात होने लगे। उधर पंडित जी विश्वविद्यालय की राजनीति में बराबर रुचि ले रहे थे और गंजेड़ियों की अखिल भारतीय मंडली के अध्यक्ष घोषित हो गए थे।

चित्तू का विश्वविद्यालय के किसी विशेष नेता या राजनीतिक पार्टी से न तो लगाव था न अलगाव था। उनके लिए सभी जजमान थे। लगभग हर दल के मुखिया उनसे मशवरा लेने आया करते थे। जो भी आता पंडित जी के लिए एक पुड़िया गांजा जरूर लेकर आता था। वे सभी को समान भाव से वैचारिक सहयोग दिया करते थे। उनका कमरा विश्वविद्यालय की

राजनीति का थिंक टैंक था। विश्वविद्यालय के बाहर उनकी प्रसिद्धि का क्षेत्र निकटवर्ती मुहल्ले की महिलाओं तक सीमित था। एक दिन गली के लखेरों ने पंडित जी को घेरा और धमकाया। सबके मुंह में गले तक पान भरा हुआ था। एक अजीब सी भावमुद्रा बनाकर उन सबने बुरी तरह से बुरे बुरे परिणाम सुझाये। यह सारा घटनाक्रम पान की दुकान पर परोक्ष शैली में हो रहा था इसलिए पंडित जी ने सोचा कि हो सकता है ये आपस में ही बात कर रहे हों और पान की दुकान पर तो ऐसे ही लोग एक भीड़ की शक्ल में दिखने लगते हैं।

अगला दृश्य कुछ इस प्रकार घटित हुआ। सेठानी के घर से पूजा कराकर पंडित जी बाहर निकले और गली के मोड़ पर पान की दुकान पर जा खड़े हुए। पान की दुकान पर उस वक्त वे एकमात्र ग्राहक थे। अकस्मात आठ दस ग्राहकनुमा गुंडे आ गए। वे दुकान पर अर्ध चंद्राकार खड़े हो गए। दुकान से सटे हुए पंडित जी उनके बीच आ गए। समूह में आपस में बातें होने लगीं।

"का हो, पंडितवा बहुत तरमाल उड़ावत है।"

पुच! पुचऽऽऽ आक थू...।

"का बतायें गुरु, सुना है लंगोट का भी ढीला है।"

"दबा कै लेत हो गुरु!"

"एक दिन एकै टंगरिया तोड़ देहल जाव।"

"नाही गुरू। एकै तीन नमर कोठरी में ले चला जाव।"

ये सारी बातें किसी पंडित के बारे में हो रही थीं। अब ये एक चित्तू ही पंडित तो हैं नहीं, सो उन्होंने इसे अपने पर नहीं लिया। इस कान से सुना, उस कान से उड़ा दिया। मगर मन में एक खटका लगा हुआ था। बातचीत का मुख्य चरित्र कहीं मैं ही तो नहीं! अगले बृहस्पतिवार को कथा बांचकर और तरमाल उड़ाकर, दान दक्षिणा से लैस होकर जजमान के आंगन से निकलते हुए देहरी पर रुककर दाहिना हाथ उठाकर काल्पनिक पुष्पवर्षा करते हुए बनिया दंपति को सुखी रहो जजमान, फलो फूलो जजमान, शुभम् भवति कल्याणम् आदि कहकर पान घुलाते हुए जब गली में उतरे तो उनको गली कुछ ज्यादा ही सुनसान लगी। मुंह में भरी पान की पीक को बगल की दीवार पर पिचकारी की तरह फेंककर वे क्षण भर अपने मॉडर्न आर्ट को निहारते रहे। पान की धाराओं से पीली दीवार पर खुद ब खुद रेखाकृतियां बनती जा रही थीं। पंडित जी को पानरस की धाराओं से एक नारी देह की आकृति बनती जान पड़ी। आकृति सेठानी से काफी मिलती जुलती थी। पंडित जी ने वक्र हुए होठों की नाली में भर आए पानरस को सुक् से सोख लिया और गली का मुआयना करने लगे।

उन्होंने इस छोर से उस छोर तक गली पर एक सरसरी निगाह डाली। एक संयुक्त पतली गली से एक बूढ़ा सांड़ डोलता हुआ बाहर निकला। उसके पीछे एक दढ़ियल टीकाधारी नौजवान प्रगट हुआ। उसने पंडित जी को जिस नजर से देखा उसमें उन्हें खतरे की गंध मिली। नौजवान तेज चाल से गली पार कर गया। गली के आखिरी सिरे पर बच्चू की पान की दुकान के पास चित्तू पंडित को कुछ हलचल दिखी। वे सावधान हो गए। वहां वही मंडली नजर आई जिसने पिछले दिनों पंडित जी को परोक्ष रूप से धमकाया था। पंडित जी ने छाना में मिली पूड़ी मिठाई को अंगोछे की गांठ खोलकर सांड़ के सामने डाल दिया। मन ही मन महादेव को गुहराया और चंदन घिसने की छोटी पटिया, शंख और चंदन की लकड़ी के साथ चबूतरे से पत्थर का एक नोकीला टुकड़ा उठाकर अंगोछे के छोर में एक साथ बांध लिया। उनका हथियार तैयार हो गया। यह एक शुद्ध शाकाहारी, कर्मकांडयुक्त, ब्राह्मण अस्त्र था जिसने

पंडित जी की अनेक मौकों पर, अनेक विकट स्थितियों में रक्षा की थी।

अंगोछे के दूसरे छोर को कलाई और हथेली में लपेटकर उन्होंने गोल गोल घुमाना शुरू किया।

दूसरे छोर पर बंधा हुआ भार हवा में चक्राकर घूमने लगा। पान की दुकान पर खड़े लफंगों का सारा ध्यान इस क्रियाविधि पर केंद्रित हो गया। कुछ समय के लिए वे भूल गए कि वे पंडित जी की कुटाई करने के लिए जुटे हैं। पान की गुमटी के नीचे से एक मरियल कुत्ता निकलकर चित्तू पंडित की दिशा में लपका। उसका लक्ष्य पंडित जी नहीं थे, बल्कि वह छाना था जिसे सांड़ अकेला उड़ाये जा रहा था। ज्योंही कुत्ता पंडित जी के पास से गुजरा, पंडित जी ने अंगोछास्त्र को उसको मुंह के पास हवा में लहरा दिया। छाना की सुगंधि से मुग्ध, लक्ष्यसिद्ध कुत्ता इस अप्रत्याशित आक्रमण से भयवश चीख उठा और कांय कांय करता भाग खड़ा हुआ। लफंगों का गोल गोल घूमता दिमाग अनार की तरह फूटकर बिखर गया और इसी बीच पंडित जी संस्कृत विश्वविद्यालय में लपक लिए।

छात्रावास में पहुंचकर उन्होंने राहत की सांस ली। अपने गणों को बुलाया। समस्या को सप्रसंग व्याख्या सहित सुनाया। मित्रगण बीच बीच में टीका सहित टिप्पणियां करते रहे। काक और भुषुंडी उपनाम वाले दो दूतों का चयन किया गया। पंडित जी ने कहा कि पवन वेग से जाकर लफंगों के सरदार का पता करो और हो सके तो समझौता वार्ता के लिए साथ लेकर आओ। काक और भुषुंडी ने चिलम का एक जबरदस्त दम खींचा और इंजन की तरह मुंह से भक भक धुआं छोड़ते हुए लक्ष्य की तरफ चल पड़े। पंडित जी अशांत थे। वे अपने कक्ष के बाहर बरामदे में हरी ऊनी शॉल ओढ़कर बैठे हुए थे। वे चिंता, परेशानी या भय की अवस्था में, जाड़ा गर्मी या बरसात किसी भी मौसम में हरे रंग की ऊनी शॉल ओढ़ लिया करते थे। उनका मानना था कि हरा एक शांत रंग है जो मनोभावों को शांत करने में मदद पहुंचाता है। आवेगों से उत्पन्न ताप को नियंत्रित कर शीतलता प्रदान करता है।

मित्रों के बीच एक आठ इंच लंबी फॉरनर चिलम मंथर गति से घूम रही थी। फॉरनर वह इसलिए कही जाती थी क्योंकि उसके साथ एक विदेशी की स्मृतियां जुड़ी हुई थीं। वह गंगा के उस पार रेत पर बनी थी। उस पार की रेत पर चिलम बनाने की आसान टेकनीक जान लेने के बाद पंडित जी ने बेगारी के दिनों में चिलम बनाकर भी विदेशियों को बेचा था। वह काफी आसान काम था और पंडित जी के लिए लाभप्रद भी। इसके लिए लकड़ी का एक खंड जो एक तरफ नुकीला और दूसरी तरफ गोलाई में चौड़ा होता जाए, एकमात्र यंत्र है। एक छड़ी को छीलकर पंडित जी ने यंत्र का आविष्कार कर लिया। सुबह सुबह वे छड़ी लेकर टहलने निकलते और उस पार निबटने नहाने के बहाने नाविक को धूम्रपान के रूप में किराया देते जा पहुंचते। छड़ी यंत्र के छोर पर गंगा की गीली मिट्टी को चिलमाकृति में ढालते और रेत पर सूखने के लिए डाल देते। अच्छी तरह सूख जाने पर कमरे में लाकर चाकू से नोक पलक संवारते और हीटर पर पकाकर गलियों में और घाटों पर बेचने के लिए विदेशियों के पीछे लग जाते थे।

पंडित जी को अगर रंगों का उपयोग करना आता तो वे अपनी चिलम की होलसेल दुकान खोलकर बैठ गए होते। नशेबाज विदेशियों की पहचान में कभी कभी वे गलती कर जाया करते थे। भला हो उस ऑस्ट्रेलियन का जिसने बनारस की गलियों में मरखैल सांड़ की तरह इनको इतना दौड़ाया कि इन्होंने धंधा ही बदल दिया। वह घाट पर अपनी प्रेमिका के साथ बैठा हुआ था। उसकी लाल आंखें देखकर ये उसको पक्का नसेड़ी समझ बैठे और

एकदम पीछे ही पड़ गए। यह तो इनको काफी बाद में समझ आया कि उसकी आंखें लाल नहीं गुलाबी थीं और वे नशे के चलते नहीं, बगल में बैठी प्रेमिका के हुस्न की खुमारी में रंग बदल गई थीं। हालांकि यह भी कितना सच है, कहा नहीं जा सकता। हो सकता है उसे आंखों का कोई रोग हो। यह फॉरनर चिलम जब भी सामने आती, पंडित जी को वह ऑस्ट्रेलियन याद आता। परिणामस्वरूप नशा उन्हें चढ़ता ही नहीं था या फिर काफी तेज चढ़ जाता था। पंडित जी छोटी या मझोली चिलम से पीना पसंद करते थे लेकिन भक्तों की संख्या अधिक होने पर फॉरनर चिलम को ही बाहर निकाला जाता था। मंडली में आज एक नए सदस्य ने प्रवेश पाया था। वह सकुचा रहा था। उसे चिलम थामने की कला नहीं आती थी। एक मंजा खिलाड़ी उसे अपने हाथों से पिला रहा था।

पंडित जी चिंतामग्न थे और नए रंगरूट से ध्यान हटा लेते थे। कोई और समय होता तो चित्तू पंडित गंजेड़ियों के अखिल भारतीय संगठन के अध्यक्ष पद से एक संक्षिप्त भाषण पेल चुके होते। बात गांजा भांग के आध्यात्मिक और शास्त्रीय महत्व की फुटकर टिप्पणियों से शुरू होती और अंत लड़के के अपराधबोध से मुक्ति, निर्लज्जता के उदय और चिलम को एक ही फूंक में सुलगा देने की दीक्षा के साथ होता। वक्तव्य एक छोटे से प्रश्न से शुरू होता, "क्या तुम्हें दम लगाते हुए शर्म आ रही है? क्या यह एक नीच और घटिया दर्जे का काम है? पातक कर्म है? अगर तुम्हें ऐसा लग रहा है तो चिलम को हाथ मत लगाओ।" इतना कहकर पंडित जी एक पॉज लेते। चेहरों पर शब्दों के प्रभाव को परखते और एक जोरदार दम लगाकर शब्दों और धुएं को एकमेक करते हुए बात आगे जारी करते। ऐसा लगता जैसे शब्द धुएं में लिपटकर निकल रहे हैं या धुआं ही शब्दमय हो गया है। वे कुछ कांखते हुए से बोलते जिससे बात और भी प्रभावी हो जाती थी, "बच्चे। यह शिव का प्रसाद है! उर्ध्व गमन की चेष्टा है। सत्व की साधना है। कुंडलिनी जागरण का प्रयत्न है। यदि पाप भावना से पियोगे तो खड्ड में गिरोगे और हमें भी बदनाम करोगे। शायद तुम्हें पता नहीं कि इसी मंडली में बैठकर कितने ही आई.ए.एस., पी.सी.एस., इंजीनियर, डॉक्टर, प्रोफेसर बने हैं। तुम्हें ज्ञात नहीं 'अभागस' में कितने ही ऊंचे पदाधिकारी और नेता राजनेता शामिल हैं। यदि तुम उन्मुक्त चेतना के व्यक्ति हो, परम चेतन, परमानंद को प्राप्त करना चाहते हो तो इस ताजा भरी हुई चिलम को एक फूंक में लहका दो।"

ऐसे उत्साहजनक शब्दों से वे कइयों को बर्बाद कर चुके थे। दीक्षा के दौर का चिलम नए रंगरूट को शुरू और समाप्त करना पड़ता था। पंडित जी हाथ में चिलम थामकर भाषण देते और उद्‌बोधन वाक्य के साथ रंगरूट को पकड़ा देते। अंत में रंगरूट को ही आखिरी कश लगाकर राख झाड़ने के लिए दिया जाता था। यदि वह राख झाड़कर चिलम को उलट देता तो पंडित जी मुस्कराते हुए एक मीठी झिड़की देते और उसे सही विधि बताते, "राख झाड़ने के बाद लकड़ी से ठेलकर चिलम के गले में फंसी गोली बाहर निकालो। चिलम को शंख की तरह फूंककर अच्छी तरह साफ कर लो। गोली को वापस डालो और साफी नामक छोटे से कपड़े को जो फिल्टर के लिए प्रयुक्त होता है ऊपर से चिलम में ठूंस दो। यह चिलम शिव का प्रतीक है। इसे नंगा नहीं रखते।" राख से पंडित जी सबके माथे पर टीका लगाते और दीक्षा का समापन हो जाता।

मगर पंडित जी इस समय खुद को ही नंगा होता हुआ महसूस कर रहे थे। उनकी इज्जत आबरू पर खतरे की तरह मंडरा रहे थे वे लफंगे जो गले गले तक पान की पीक भरे हुए उनको नंगा करने के फिराक में विश्वविद्यालय के आसपास घूम रहे थे। अल्पवय से ही

पंडित जी को ऐसी स्थितियों का सामना करने के अनेक अवसर मिले थे इसलिए परेशान होने के बावजूद उन्हें उबर जाने का विश्वास था।

अंधेरा हो चला था और छात्रावास के प्रांगण में ट्यूबलाइट्स जल गए थे। पंडित जी के कमरे में बल्ब जल रहा था मगर लॉबी में अंधेरा ही रहने दिया गया था। अंधेरा विचार करने में मदद पहुंचाता है, ऐसा पंडित जी का विचार था। नया रंगरूट लड़खड़ाते कदमों से चलने को हुआ। पंडित जी ने उसे घुड़क दिया, "गांजा पीकर आधे घंटे तक हिलते नहीं हैं।" लड़का आधा झुककर चौकी पर हथेली टिकाते हुए 'पढ़ना है' टाइप कोई वाक्य भुनभुनाया। 'और चार घंटे तक पढ़ते नहीं हैं', पंडित जी ने आगे कहा। लड़का फसककर बैठ गया। मंडली के सभी गण नशे की तरंग में थे। काक और भुषुंडी अभी तक लौटकर नहीं आए थे। चित्तू पंडित को पूरा विश्वास था कि वे कोई न कोई समाधान करके ही लौटेंगे। फिर भी उस समय वे लोगों से घिरे रहना चाहते थे।

पंडित जी को अपने किये कर्म पर कोई पछतावा नहीं था। कामदेव की मार से कौन बच सका है। मदन वाण से पीड़ित ऋषियों महर्षियों और देवी देवताओं की लंबी सूची उनको जुबानी याद थी। बेशक वे चिंतित और दुखी थे। लॉबी में पसरे मौन को तोड़ते हुए उन्होंने मानवमात्र की ईर्ष्या वृत्ति पर सोदाहरण बोलना शुरू किया। आखिर उन लखेरों को इनसे क्या तकलीफ थी? पुरुषों में कटुता और ईर्ष्यावृत्ति ज्यादा होती है इसीलिए मिल बांटकर संसार का उपभोग करने की जगह ये मारकाट मचाये रहते हैं। प्रकृति ने पुरुष को किसलिए उत्पन्न किया? अपने उपभोग के लिए। और पुरुष है कि हम हमारा, हम ज्यादा के झगड़े में उलझ पड़ा। पंडित जी ने सांख्य दर्शन के आलोक में पुरुष प्रकृति की जबरदस्त व्याख्या की और अंतत: पुरुष को धिक्कारते हुए चौकी और दीवार के बीच की जगह में गले का बलगम उगल दिया।

गला साफ कर चिलम का एक कश लगाकर उन्होंने उपसंहार किया, "प्रकृति को भोगना चाहते हो तो पुरुष बनो! भैरव बनो, भैरवियां आएंगी। फर्स्ट डिजर्व देन डिजायर...", अंग्रेजी का जुमला खास प्रभावकारी साबित हुआ। उत्साहित होकर एक गंजेड़ी ने पैंट की भीतरी जेब में छुपाया हुआ गांजा निकाला और मलना शुरू किया। पंडित जी एक सिगरेट से तंबाकू झाड़ने लगे। आधा तंबाकू उन्होंने गांजा में मिलाने के लिए दे दिया और आधे में थोड़ा गांजा मिलाकर सिगरेट के खाली टोंटे में भरने लगे। सिगरेट बनाकर उन्होंने नए रंगरूट को थमाया और कहा, "अभी तुम बालक हो। अभी पूर्ण प्रकृति का उपभोग नहीं कर सकते। इसलिए छोटे छोटे कश लगाते हुए इस श्वेत दंडिका से काम चलाओ।"

माहौल में चुप्पी छाई हुई थी। बहुत वाचाल मित्र भी आज चुप थे। पंडित जी ने मूंज की रस्सी का एक सड़ा हुआ टुकड़ा जेब से निकाला और एक की तरफ उछाल दिया। संपोले की तरह लहराते रज्जुखंड को उसने हवा में ही लोक लिया और खूब भरी चिलम के ऊपर रखने वाले अंगारे के लिए उसको गोल कर गुल बनाने लगा। गुल बनाने के लिए रस्सी के एक छोर पर ढीली सी गांठ लगाई जाती है और उसी गांठ के पोल में रस्सी को बुनते चले जाते हैं। मुरैठा या पगड़ी की तरह की एक आकृति बन जाती है। उसे आग में डाल दिया जाता है और उसी अंगारे को चिलम पर रख दिया जाता है। उस लड़के ने गुल बनाकर उसे ठंडे नंगे हीटर पर रख दिया और स्विच ऑन कर दिया। भला हो विश्वविद्यालय का जिसने हीटर जलाने की छूट दे रखी है।

चिलम हाथ में लेकर चित्तू पंडित ने अपना प्रिय मंत्र दुहराया—"*बम बम महादेव*

बाबा, दम लगे तो आजा।

जय जय जय महाकाली, भेजो दूध की छाली, थाली भर भर छाली। ससुरा नइहर का भूत, दुत दुत दुत! उस पार का भूत उस पार जाए। खाये पीये इ टोला, हांड़ी टोये ऊ टोला। हर हर महादेव!"

चिलम पर भीगी हुई साफी लपेटकर उन्होंने अभी होठों से सटाया ही था कि छात्रावास के प्रांगण में काक और भुषुंडी लखेरों के सरदार के साथ आते दिखे। चित्तू उनका इंतजार करने लगे। सीढ़ी चढ़कर जब वे लॉबी में आ गए तो पंडित जी उठ खड़े हुए। उन्होंने चिलम बगलगीर को थमाया और चादर संभालने लगे। आने वालों के प्रसन्न मुखों को देखकर पंडित जी समझ गए कि मामला सलट गया है। दोनों जनों ने हाथ मिलाया। परिचय पता हुआ और गलतफहमियां समाप्त हो गईं। वे लोग अपने क्षेत्र में घुस आए पंडित जी को कोई विजातीय समझ बैठे थे, जो संस्कृत से पढ़ाई कर पुरोहितगीरी करने लगा था। ये जानकर कि ये भी अपने ही जात बिरादर के हैं, बात खत्म हो गई। पंडित जी का काला रंग इस तरह के भ्रमोत्पादन में सहायक हुआ करता था। तब तक चिलम बुझ चुकी थी। दुबारा मूंज का गुल बनाया गया। गांजे में लौंग मिलाई गई और सबने तहे धुआं से शिवजी को याद फरमाया। अचानक पट की ध्वनि हुई और पाया गया कि नया रंगरूट चौकी से नीचे गिरकर चित्त हो चुका है। कुछ लोग पानी और खटाई, अंचार, नीबू आदि से उसके उपचार में लग गए।

लखेरों का अगहर जिसे लोग झंडू नाम से जानते थे, उसको विदा करने के लिए पंडित जी उठे। हिकारत से नए रंगरूट की तरफ देखकर उन्होंने कहा, "गुद्दी में दम नहीं है और चले हैं ससुर दम लगाने।"

पंडित जी की सहजता और तेज लौट आए थे फिर भी एक डेढ़ सप्ताह तक वे कम ही बाहर निकला करते थे। बनिया के घर में पूजा करवाना उन्होंने कम कर दिया था। मगर पड़ोस में फैली ख्याति से वे बच नहीं सकते थे। इधर वे हाथ भी देखने लगे थे। ज्योतिष की पुस्तकें उनके बिस्तर पर पड़ी रहती थीं। अपने बारे में एक जबरदस्त अफवाह उन्होंने फैलाई थी कि भृगुसंहिता की फोटोप्रतिलिपि एक कापालिक से उन्हें प्राप्त हो गई है।

अनपढ़ महिलाओं में उनकी ख्याति बढ़ती चली जा रही थी। जहां जहां उन्होंने पुत्रदान किया था वहां देवता सरीखे पूजे जाते थे। उनके मित्रों के बीच यह काफी बहस का विषय था कि पंडित जी पुत्रदान मंत्रबल से करते हैं कि यंत्रबल से। पंडित जी उसके उत्तर में मुस्करा दिया करते थे। कुंजी और किताबें सामने देखकर पंडित जी परीक्षाएं भी उत्तीर्ण करते गए। शास्त्री का इम्तिहान देने के बाद फिर से वही प्रश्न सामने आ खड़ा हुआ—अब क्या?

अब यानी आचार्य (एम.ए.)। अब यानी पीएच.डी.। अब यानी लॉ। अब यानी बी.जे.। अब यानी बी.एड.। अब यानी यू.जी.सी.। अब यानी कुछ नहीं। पंडित जी ने कुछ नहीं को पसंद किया। उपरोक्त कुछ भी करने के लिए वास्तव में पढ़ना पड़ता और यह उन्हें गवारा न था। जजमनिका से वे ठीकठाक पैसे बना चुके थे। उन्होंने तय किया कि गांव में ही जाकर कुछ करेंगे। जिस छात्र को वे गांव से पोटकर लाये थे, वह काफी तेजस्वी निकला। यू.जी. सी. परीक्षा उत्तीर्ण कर जाने के बाद वह निकट के एक गांव में इंटर कॉलेज में शिक्षक हो गया था और पाणिनी व्याकरण में लिंग विचार पर शोध कर रहा था।

पंडित जी के मन में गांव के प्रति एक अबूझ और अनोखा आकर्षण था। गांव के मोह या प्रेम से वे शायद ही कभी मुक्त हो पाएं। पश्चिम के मनोवैज्ञानिक इसे नॉस्टेल्जिया कह सकते हैं परंतु पंडित जी इसे *'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसि'* कहा करते थे।

वे जब बहुत खुश होते थे तो उनको गांव की याद आती थी और जब उदास होते थे तब भी। सामान्य स्थितियों में वे तात्कालिक गतिविधियों में डूबे रहते थे। वैसे उदास होना पंडित जी की फितरत में नहीं था। उनका मानना था कि उदास होना ईश्वर का अपमान करना है क्योंकि मनुष्य को जिस भी स्थिति में वह रखता है, वह उसके भले के लिए ही होता है। थोड़ी सी भी खुशी मिलती थी तो चित्तू पंडित उसके दाने अपने गांव की जमीन पर बिखेर देने के लिए चंचल हो जाते थे और इस समय तो उनके पास कुछ रुपए पैसे भी थे। शास्त्री की डिग्री हाथ में आ चुकी थ्री जिस पर चित्तू ने प्लास्टिक का कवर चढ़वा दिया था। गांव जाने की तैयारी हो चुकी थी।

जिस सुबह पंडित जी विश्वविद्यालय छोड़ने वाले थे, उसकी पिछली शाम में उनके सभी नए पुराने मित्र उनके कमरे में जुटे थे। काक और भुषुंडी खाना बनाने में लगे थे। अस्ताचल गामी सूर्य का लाल गोला खिड़की से कमरे में झांकता हुआ प्रतीत हो रहा था। फॉरनर चिलम में गांजा भरा जा रहा था और हीटर पर से सब्जी की देगची हटाकर गुल सुलगाया जा रहा था। मंडली में एक नया रंगरूट शामिल हुआ था जिसकी उम्र मुश्किल से अठारह उन्नीस साल रही होगी। रंगरूट शेरो शायरी का शौकीन था और पंडित जी उसे दीक्षित करते हुए मिर्जा गालिब के एक शेर की व्याख्या कर रहे थे। पंडित जी ने वक्तव्य को प्रामाणिक बनाने के लिए नुक्तों और वर्तनी का भरपूर ध्यान रखते हुए गालिब का एक शेर सुनाया—

हजारों ख़्वाहिशें ऐसी, कि हर ख़्वाहिश प दम निकले,
बहुत निकले मिरे अरमान, लेकिन फिर भी कम निकले।

चित्तू बता रहे थे कि यह शेर मिर्जा गालिब ने गांजे का दम लगाते हुए लिखा था। 'दम निकले! हर ख्वाहिश पे दम निकले।' यानी दम लगाते ही सारी ख्वाहिशें निकल जाती हैं और चित्त एकाग्र होकर ब्रह्म में विलीन हो जाता है। पंडित जी ने शेर की ऐसी तैसी करके रख दिया। फिर उन्होंने बताया—देखो बंधु! यह वह समय था जब गालिब को अंग्रेजों ने हर तरह से तंग कर दिया था। रियासत छीन ली और वजीफा पाने की तमाम कोशिशों के बाद मिर्जा साहब थककर चूर हो चुके थे। उनके पास मदिरा खरीदने तक के पैसे नहीं रह गए थे। उधार मिलना भी बंद हो गया था। उन्होंने एक शेर कहा :

कर्ज की पीते थे मय, लेकिन समझते थे कि हां
रंग लाएगी हमारी फाकामस्ती, एक दिन।

तो फाकामस्ती से कोई रंग तो नहीं आया, उल्टे जिंदगी बेरंग लिफाफा हो गई थी। तभी अपने शाही नौकर की सलाह पर उन्होंने गांजा पीना शुरू किया। चित्तू ने दम लगाकर नाक मुंह से धुंआ उलगते हुए बात को जारी रखा, "और आप गौर फरमाना! गालिब साहब के दीवान में हजारों ख्वाहिशें वाली गजल के बाद की गजलों में जो कसाव है, वह पहले की गजलों में नहीं दिखता।" उन्होंने नए रंगरूट की तरफ आंखें फाड़कर देखते हुए पूछा, "इसका क्या कारण है?" इस सवाल ने धुएं और भाषण के नशे में ऊभचूभ हो रही मंडली को तनिक विचलित कर दिया। प्रभाव और प्रवाह का जादू टूटता सा लगा। क्षण भर की चुप्पी के बाद चित्तू ने दुहराया, "बताओ? इसका क्या कारण है?" नए रंगरूट ने कहा, "गांजा!" "हां, बिल्कुल सही! गांजा ही एकमात्र ऐसा नशा है जो चेतना को उर्ध्वगामी बनाता है।" पंडित जी ने गालिब के अनेकानेक शेरों का उद्धरण देते हुए उनकी चिलममय व्याख्या कर डाली। उन्होंने पुनः गालिब का एक शेर पढ़ा :

दीवानगी से, दोश प जुन्नार भी नहीं

उन्होंने बताया कि पक्के गंजेड़ी जात बिरादरी की परवाह नहीं करते हैं। मिर्जा गालिब के अनुसार वह ब्राह्मण हो और उसके कंधे पर जुन्नार अर्थात जनेउ न हो, कोई फर्क नहीं पड़ता लेकिन उसकी जेब में एक तार यानी मूज की एक रस्सी भी न हो तो गलत बात है। उन्होंने अगला शेर पढ़ा—

इस सादगी पे कौन न मर जाए अय खुदा!
लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं!

पंडित जी ने बताया कि जब दस गंजेड़ी दम लगाने बैठते हैं तो धुआं खींचने की होड़ में एक संग्राम जैसा माहौल छिड़ जाता है। यह संग्राम तलवार से नहीं, सादगी अर्थात साफी से जीतना होता है। यह संग्राम किसी को हानि पहुंचाने के लिए नहीं बल्कि अपनी अपनी चेतना के उर्ध्वगमन के लिए छिड़ता है। प्रत्येक धूम्रयोद्धा को अपनी निजी साफी रखनी चाहिए। साफी को सादा और स्वच्छ होना चाहिए।

चित्तू पंडित ने गांजा के आलोक में गजल की व्याकरणिक व्याख्या कर डाली। उन्होंने बताया कि चिलम के पहले कश को मतले का शेर समझो। मतला यानी भावोदय। पहले कश में आग की लपट निकलनी चाहिए। गजल का पहला शेर ऐसा होना चाहिए जो सुनने वालों के दिलों में आग लगा दे और आंखों में चमक पैदा कर दे। चिलम के आखिरी कश के बाद लगता है काश थोड़ा और गांजा होता यानी फिर से चिलम भरी जाए यानी मक्ते का शेर ऐसा होना चाहिए जिसको सुनकर फिर से गजल पढ़ने या सुनने का मन हो जाए। माहौल इरशाद इरशाद की ध्वनियों से गूंज उठे। पंडित जी ने रदीफ, काफिया मीटर आदि की भी धुआंमय व्याख्याएं कीं। उन्होंने कश की लंबाई और तुकों तथा लय पर अच्छा खासा समय दिया। नया रंगरूट पूरी तरह से चित्तू पंडित के सम्मोहन की गिरफ्त में था। पंडित जी ने उत्कृष्ट ज्ञान के रंग बिरंगे सिरींज में नशे के निकृष्ट द्रव को नौजवान के दिलोदिमाग में अच्छी तरह उतार दिया था। अब वह इस जकड़ से कभी नहीं छूटने वाला था। पिछले बीस सालों में शायद इन्हीं की तरह के ज्ञानियों ने उत्तर भारत की जवानी की नसों में नशे को घोलने की महती और अग्रणी भूमिका निभाई है।

काक और भुषुंडी हीटर पर खाना बना चुके थे। खाना खाने के बाद सभी रात के एक बजे विश्वविद्यालय की लायब्रेरी की तरफ चल पड़े। जो काम वे करने और करवाने जा रहे थे उसके लिए किसी के मन में कोई हिचकिचाहट न बची रहे इसलिए पंडित जी ने एक संक्षिप्त वक्तव्य दे डाला। उन्होंने कहा, "जो काम हम करने जा रहे हैं, उसके लिए किसी के मन में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। बेशक काम हम गलत तरीके से करने जा रहे हैं, मगर काम गलत नहीं करने जा रहे हैं। जो काम हम करने जा रहे हैं इसकी शुरुआत काफी पहले एक समर्थ शिक्षक के हाथों हो चुकी है। वैसे भी गंदगी हमेशा ऊपर से शुरू होती है और तल में बैठती चली जाती है। घूसखोरी प्रधानमंत्री कार्यालय से शुरू हुई और नीचे तक जा पहुंची..." क्षणभर रुककर उन्होंने वक्तव्य के प्रभाव का आकलन किया फिर बात जारी रखी, "डेढ़ दशक पहले तक संस्कृत विश्वविद्यालय का पुस्तकालय और संग्रहालय पूरी दुनिया में अनोखा माना जाता था मगर उक्त शिक्षक महोदय, आचार्यप्रवर जो कालांतर में विभागाध्यक्ष और कुलपति हो गए थे, ने संग्रहालय से ऐतिहासिक महत्व की मूर्तियों और पुस्तकालय से पुस्तकों तथा पांडुलिपियों को रात के अंधेरे में उठाकर अपने घर में भरना और विदेशों में बेचना शुरू किया। वह सिलसिला किसी न किसी रूप में आज भी जारी है। कम

से कम हम इन पुस्तकों का उपयोग स्वयं करेंगे या हमारे परिवारजन करेंगे। देश की संपदा देश में ही रहेगी।" सबने पंडित जी की बातों का मौन मुखर समर्थन किया। आगे का काम बहुत आसानी से हो गया। डुप्लीकेट चाबियां पहले से बनवाकर रखी गई थीं। छात्रावास में बंटवारे का काम सूर्योदय से पहले संपन्न कर लिया गया।

सूर्योदय होने तक पंडित जी प्रस्थान कर गए। छुट्टियों में छात्रावास से घर जाते हुए वे छात्रावास के पंखे, रेगुलेटर, बल्ब, बाल्टी आदि उठाए लाते थे। आखिरी वर्ष में उन्होंने पुस्तकालय में डाका डाला था और ज्ञान की गठरियां पीठ पर, सिर पर, कंधों पर लादे हुए गांव पहुंचे। घर में उनका जबरदस्त स्वागत हुआ। कहां वे श्रीसत्यनारायण कथा की पोथी, गरुणपुराण, शंख और चंदन के साथ चंद कपड़े लेकर निकले थे और लौटे थे इफरात मालामात, ढेर सारे रुपयों के साथ शास्त्री की डिग्री भी लेकर। दो चार दस दिन तो स्वागत समारोह जैसे माहौल में निकल गया फिर धीरे धीरे घर और गांव के सलाहकार टाइप लोग मुंह खोलने लगे। बी.एड. कर लिया होता तो अच्छा होता। कहीं शिक्षक लग जाते। चित्तू पंडित को सलाह और सलाहकार टाइप लोगों से बहुत चिढ़ थी। यहां सभी दूसरों की फिक्र में परेशान रहते हैं। इस देश में जहां बेरोजगारी की समस्या खाली चिलम की तरह मुंह फाड़े भांय भांय कर रही है, वहां एक नौजवान अपनी शांत और महत्वाकांक्षाविहीन जिंदगी गुजारना चाहे तो लोग पीछे ही पड़ जाएंगे। महीना दो महीना संस्मरण सुनाने में निकल गए। टेंट से काफी सारे रुपए पीने पिलाने में निकल गए। चित्तू के मन में कुछ करने, कुछ कर गुजरने के विचार तेजी से चल रहे थे।

छात्रावास और काशी में बिताये उन्मुक्त दिन भी कचोटते रहते थे। घर की परिस्थितियां भी काफी बदल चुकी थीं। चित्तू के अग्रज निरंकारी बाबा दिल्ली में एक गहनों की दुकान पर सहायक विक्रेता के पद पर नियुक्त हो गए थे। वे शनिवार की शाम में दुकान के बगल के हनुमान मंदिर में गाकर अपनी गायकी की महत्वकांक्षा को भी संतुष्ट कर लिया करते। लगे हाथ भक्तों का मनोरंजन भी हो जाता था और पंडित जी जन तथा जनेश्वर की सेवा का पुण्यलाभ भी प्राप्त कर लेते थे। लक्ष्मी बाबा शिलांग में एक बंद पड़ी फैक्टरी में दरबान नियुक्त हो गए थे। खोमचेवाले को गोली मारने वाली बात और बैंक में हस्ताक्षर वाली बात लोग लगभग बिसरा बैठे थे। लक्ष्मी शंकर मिश्र छठे छमासे होली दिवाली में गांव आते थे, दो चार दिन रुककर चले जाते थे। चित्तू पंडित के प्रति वे वीतराग हो गए थे। चित्तू के बड़े पिताजी पंडित दुर्गाशंकर मिश्र काफी अरसे से गांव नहीं आए थे। वे कलकत्ता की एक प्रसिद्ध पत्रिका में साप्ताहिक भविष्यफल लिखने में व्यस्त हो गए थे। उनके गांव आने की संभावना थी। चित्तू उनके गांव आने से पहले किसी धनोत्पादक कार्य में व्यस्त हो जाना चाहते थे।

गांव पर रहने वाले पतुकी चाचा बदस्तूर गांव पर रह रहे थे और खेती किसानी, गाय गोरू, घर दालान, हीत नाता, नेवता हंकारी, बायन पेहान की महती जिम्मेदारियां निभा रहे थे। पतुकी मिट्टी के छोटे घड़े को कहा जाता है। पतुकी नामधारी मिट्टी का बर्तन रसोई में नमक या तेल रखने के काम आता है। पतुकी चाचा के मुख का आकार, पेट और नितंब के उभार छोटे घड़ों जैसे थे। जाने किस खल बुद्धि ने साम्यता के आधार पर उनका यह उपनाम रख छोड़ा था। आचार्य पंडित दुर्गाशंकर मिश्र, पं. लक्ष्मीशंकर मिश्र, पतुकी मिश्र (अपना असली नाम संभवत: वे भी भूल चुके हैं) तथा सबसे छोटे झंडील मिश्र जो मोहनिया के हाईस्कूल में समाजशास्त्र पढ़ाया करते थे, पतुकी चाचा को छोड़कर, सभी शिक्षित, विवाहित और बहरवासूं थे। जाने किन कारणों से वे अविवाहित रह गए? राम जाने सच्चाई क्या है पर पड़ोस के प्रसिद्ध

बिअहकटवा कुंडीनाथ तिवारी को इसके लिए जिम्मेदार कहा जाता है।

तब पतुकी चाचा नए नए जवान हो रहे थे। होठों पर मूंछों के कल्ले फूट रहे थे और चाचा बोरोलिन क्रीम जेब में लेकर चला करते थे। तब कुंडीनाथ तिवारी नए नए किशोर हुए थे और शहरों में आए चालू फैशन के लिहाज से दाएं कान में छोटी सी बाली पहने हुए थे। कुंडीनाथ अचानक गांव में प्रगट हुए थे। एक दिन कानोंकान गांव भर में खबर फैल गई कि कूंड़ी (कुंडी) के बाबूजी की नौकरी छूट गई। परिवार समेत गांव आ गए। अब यहीं रहेंगे। खेतीबारी संभारेंगे। जजमनिका जगाएंगे। कुंडीनाथ के पिता पटना में एक सेठ के निजी राम मंदिर की देखरेख किया करते थे। मंदी की हालत में खर्च कम करने के लिए उसने तिवारी जी को मंदिर से कार्यमुक्त कर दिया था। कुंडी पटना के बोरिंग केनाल रोड में उसी मंदिर के आसपास किशोर हुए थे। उन्होंने पिछले ग्यारह साल में पटना के किसी भी सिनेमा हॉल में लगने वाली किसी भी फिल्म को पहले दिन, पहले शो में ही देखा था। वे अभिनय के शौकीन थे और हीरो हीरोइनों, कॉमेडियनों आदि के नृत्य कौशल और लोकनृत्यों को मिलाकर एक अजूबा नृत्य किया करते थे। वे गर्दन को गोल गोल और आगे पीछे कबूतर की तरह हिला सकते थे। उनके आगमन के बाद कुछ दिनों तक गांव वाले उनकी कान की बाली के विषय में जिज्ञासु बने रहे।

गांव में एक बारात आई थी जिसमें चांद बिजली का नाच आया था। चांद और बिजली दोनों बहनें थीं। ये पहले चाईं ओझा की पार्टी में थीं। भिखारी ठाकुर यथार्थवादी धारा के जन्मदाता और पुरोधा थे तो चाईं ओझा नौटंकी और भाड़ के सामयिक व्यावसायिक रूप के सिरमौर। वे बी.ए. पास थे। बेरोजगार बैठे थे। एक दिन क्रोधवश उनके पिता ने कह दिया कि कोई काम नहीं मिल रहा है तो नाच ही खोल लो और उन्होंने वही कर दिखाया। उनकी मंडली में चालीस से ज्यादा रक्कासा थीं। चांद और बिजली उनकी प्रिय नर्तकी की बेटियां थीं। चाईं ओझा के देहावसान के बाद पार्टी दो भाग में बंट गई। एक का मेठ रामचंद्र नर्तक हुआ और दूसरे दल को चांद बिजली चला रही थीं। यह नौटंकी भाड़ का चरम काल था क्योंकि उसके कुछ ही वर्ष बाद बोलता सिनेमा और टेलीविजन, वीडियो ने उन्हें लुप्तप्राय कर दिया।

उस रात बिजली रानी की चमक से महफिल चौंधियायी हुई थी कि अचानक एक नौजवान स्टेज पर प्रगट हुआ। बिजली की एक एक अदा की नकल देख बाराती तालियों से पंडाल को गड़गड़ाने लगे। बिजली को थमना पड़ा और जैसे पल भर को महफिल की सांस थम गई। बारात के अंधेरे कोने से आवाज आई—रांडा बाबा की जय! जय! महफिल ने जय जयकार किया—जै जै। उसी दिन से रंडी को नृत्य में परास्त करने वाले कुंडीनाथ तिवारी का नाम जगत विख्यात रांडा बाबा हो गया। कानोंकान खबर सुनी गई कि पतुकी चाचा का ही काम था। न्यूज कन्फर्म नहीं थी। उस गांव में कोई भी न्यूज कभी कन्फर्म नहीं होती थी क्योंकि वहां का सूत्र सिद्धांत था 'मुंह पर बोलब ना, पीछे छोड़ब ना'।

कुंडी किशोरावस्था में गोलमटोल और चिकने थे। गांव से जाने वाली और गांव में आने वाली हर बारात में वे दिखने लगे। एक बारात में जबकि सारे बाराती सो गए थे, पतुकी चाचा बगल में सोये कुंडी को नींद में अपना तकिया समझ बैठे और भूलवश गोद में दबा लिया। नींद में ही उनके वस्त्र को मसनद की खोल समझकर खोलने लगे। कुंडी जग गए थे और इस अनजानी गतिविधि को गलत समझ बैठे। उन्होंने जहांतहां निढाल सोये पड़े बारातियों की नींद को अपनी पतली आवाज में संबोधित करते हुए ऐलान किया कि पतुकी ने जब मेरा नाम बदल दिया तब मैं चुप रहा किंतु अब जो करने की इसने कोशिश की है तो मैं प्रतिज्ञा करता

हूं कि इस जनम में इसके हाड़े हल्दी नहीं लगने दूंगी। कुंडी अंधेरी रात में ही पांव पटकते हुए गांव चले आए। अधजागे, जागे बारातियों ने सुना और सुबह तक बात बारात में फैल गई। पतुकी चाचा ने हंस हंसकर इसे मजाक का रूप दे दिया। पब्लिक ने हंसकर उड़ा दिया। किसी ने नहीं सोचा था कि इसका इतना दीर्घगामी परिणाम निकलेगा। यहीं से आसपास के गांवों में कुशल नर्तक और पुरोहित के रूप में प्रसिद्ध कुंडीनाथ को शादी में बाधाएं उत्पन्न करने का चस्का लगा। पतुकी की शादी के लिए आए हर तिलकहरू को उन्होंने येनकेन प्रकारेण भड़का दिया। पतुकी चाचा की विवाह की उम्र निकल गई।

एक बार तो वरेच्छा की रस्म भी अदा हो गई थी। तिलक के पैसे भी घर आ गए थे। किंतु कुंडी इस बार भी कन्यापक्ष वालों को भड़काने में कामयाब हो गए। कन्यापक्ष वाले तिलक का पैसा वापस मांगने लगे, नहीं लौटाने की स्थिति में पतुकी के छोटे भाई झंडील से शादी करने की जिद पर अड़ गए। वे काका, मामा, फूफा, साला किसी से या किसी के परिवार के युवक, बाल, वृद्ध यानी किसी से शादी करने के लिए तैयार थे पतुकी को छोड़कर। काफी हील हुज्जत के बाद हुआ यही। वरेच्छा पतुकी की हुई और शादी झंडील की करनी पड़ी। उसके बाद आज तक कोई तिलकहरू चढ़ा ही नहीं। कन्यापक्ष को कुंडीनाथ अनेकानेक तर्कों से भड़का दिया करते थे। उनका अचूक ब्रह्मास्त्र था कि पतुकी को एक ही अंडकोश है। वे संतान उत्पन्न ही नहीं कर सकते हैं। कोई भी यह कैसे कहता कि अपना पैंट खोलकर दिखाओ।

पतुकी चाचा पैंतालिस पचास के पेटे में होंगे। सिर के अधिकांश हिस्से निर्लोम हो गए हैं। निरंकारी और चित्तू जवान हो चले हैं। दुर्गा पंडित के पुत्रों की शादी हो चुकी है मगर पतुकी चाचा की तृष्णा मरी नहीं है। आएदिन खल वृत्ति गंवार जन तिलकहरुओं के सामने उनको दूल्हे के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। माया विवश पतुकी चाचा अनायास उपहास का पात्र बन जाते हैं। पिता के भाइयों में सिर्फ पतुकी चाचा ही चित्तू के साथ खुलकर स्नेह भाव व्यक्त किया करते थे, "का रे! इतना कलकत्ता बनारस घूमता है। चाचा के लिए एक ठो कनिया नहीं ला सकता।" अपने मजाक पर चाचा स्वयं हंस पड़ते थे। चित्तू चाचा के प्रति करुणाद्र और मित्र भावाद्र रहा करते थे। पतुकी चाचा अक्सर महिलाओं को हसरत भरी निगाहों से देखा करते थे। सहानुभूति के बावजूद चित्तू पतुकी चाचा के लिए कुछ कर नहीं पा रहे थे। जर जजमनिका पतुकी चाचा ही संभालते थे।

एक मृत्युभोज में पूड़ी बुनिया खाकर चाचा भतीजा अभी अभी लौटे थे और दम लगाकर नीम के पेड़ के नीचे अगल बगल की खाटों पर लेटे थे। चित्तू पंडित के मन में एक ऐसा विचार कौंध गया कि उनको इस वक्त छात्रावास में नहीं होने का काफी अफसोस हुआ। वे उठकर खाट पर पालथी मारकर बैठ गए। दिन में वे चुराई गई पुस्तकों में से मनोविज्ञान की एक मोटी पुस्तक उलटपुलट रहे थे। बात उसी पुस्तक से संदर्भित थी। विचार एक क्रम में सजने लगे। उन्हें काक और भुषुंडी, झंडू और अपने सभी प्रबुद्ध मित्र याद आए। उन्हें अपने विचारों को प्रक्षेपित करने के लिए योग्य मस्तिष्कों की जरूरत महसूस हुई। बुद्ध को भी ज्ञान प्राप्त करने के बाद पांच विद्वान शिष्यों की जरूरत महसूस हुई थी। बुद्ध को वटवृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त हुआ था और चित्तू को नीमवृक्ष के नीचे। उन्होंने बगल की खाट पर सोये पतुकी चाचा की तरफ देखा। चाचा एकदम नाकारा और व्यर्थ नजर आए। उनका मुंह खुला हुआ था और नाक से खर्राटे की फर्राटेदार ध्वनि निकल रही थी। वे कोठरी में चले आए। लालटेन जलाई और मनोविज्ञान की पुस्तक निकालकर गेश्टाल्ट मनोविज्ञान के विषय में पढ़ने लगे।

पढ़ने से उनकी समझ में [illegible] यही बात आई कि गेश्टाल्टी समूहवादी थे। उन्होंने सोचा कि गंजेड़ी भी समूहवादी होते हैं। उन्होंने गंजेड़ी के लिए एक नए शब्द का आविष्कार किया—गेश्टाल्टी।

संयोग से चिलम के लिए एक नए शब्द की संरचना पहले ही कर डाली थी। एक दिन चार पांच गेश्टाल्टी गांव से दूर एक नए उगते बगीचे में जमे हुए थे। असावधानीवश मिट्टी की चिलम फूट गई। वहां चिलम का सबस्टीट्यूट ढूंढा जाने लगा। पपीते के एक डंठल समेत भूमि पतित पत्ते की तरफ चित्तू का ध्यान गया। पपीते की डंठल चिलम की तरह ही भीतर से खोखली होती है। पंडित जी ने उसे छील तराशकर चिलम में बदल दिया और उसके लिए एक नया शब्द दिया 'कलदुम'। कलदुम क्यों? चौंककर पूछने वाले को उन्होंने बताया कि असली कल यानी मशीन या यंत्र तो चिलम है मगर यह उसकी जगह पर काम चला रहा है इसलिए यह उसकी दुम यानी पूंछ हुआ। कालांतर में यही नाम चिलम के लिए प्रयुक्त होने लगा था।

विश्वविद्यालय त्यागने से पहले पंडित जी ने काक को 'अभागस' का अध्यक्ष पद हस्तांतरित कर दिया था। उन्होंने काक को एक विस्तृत पत्र में तत्व, तात्विक, कलदुम और गेश्टाल्टी शब्दों की संदर्भित व्याख्या करते हुए अखिल भारतीय गंजेड़ी संघ का नाम बदलकर अखिल भारतीय गेश्टाल्टी संघ कर देने का निर्देश दिया। उन्होंने लिखा कि सिर्फ फुल फार्म बदल रहा है। सुबह सुबह पत्र को डाकपेटी के हवाले कर पंडित जी अपने दैनिक कार्यक्रमों पर विचार करने लगे। गांव में उनकी पुरानी मित्रमंडली अनुप्राणित हो चुकी थी। वे सुबह से शाम तक गायन वादन, कन्या अवलोकन, बधार भ्रमण, बाजार परिभ्रमण और इन सबके दौरान धूम्रपान, मदिरापान आदि में व्यस्त रहते थे। इतनी व्यस्तता के बावजूद उन्हें चैन नहीं था। वे कुछ करना चाहते थे मगर सूझ नहीं रहा था।

संस्कृत विद्यालय को संस्तुति मिल गई थी। अपना खाकर वर्षों तक जो शिक्षक औरों को ज्ञान बांट रहे थे, चलती राह से पकड़कर ज्ञान धकेल दिया करते थे, वे ही अब सरकार का खाकर ज्ञान देने से मुकर गए थे।

शिलान्यास स्थल पर जहां कच्ची जोड़ाई से चार कमरों की ईंट की दीवारें खड़ी की गई थीं, वहां अब सिर्फ शिला रह गई थी। दीवारों की ईंट आसपड़ोस वाले उठा ले गए थे। न जाने कैसे कमर भर लंबाई और दो हाथ चौड़ाई में दीवार बची रह गई थी। ईंटों की दरारों से घासफूस उग आए थे। आसपास बेपनाह जंगली पौधे उगे हुए थे। कांटकूस, खरपतवार के बीच दीवार उन्हीं का एक हिस्सा नजर आ रही थी। दरारों में उगी वनस्पतियों और ईंटों पर छाई काई से उसे मुश्किल से ही दीवार के रूप में पहचाना जा सकता था। आवारा वनस्पतियों के बीच यह किसी इतिहास की आवारगी जैसी लग रही थी। शिलान्यास स्थल अब भूली बिसरी बात हो गया था। प्रार्थना भी अब अपर प्राइमरी के प्रांगण में ही हो जाया करती थी। उस खंडित दीवार को देखकर बलपूर्वक यह अनुमान लगाया जा सकता था कि यहां कोई घरनुमा रहा होगा। ईंट उठाने वालों ने उतना क्यों छोड़ दिया? क्या उतनी भर शर्म अभी बाकी थी?

जब चार कोठरियों की दीवारें उठाई गईं थी तब तमाम मीटिंगें, भाषण और बतकहियां हुई थीं। गांव से और शहरों में बसे भाई बंधुओं से चंदा मांगकर दीवारों पर छत डालने की योजना बनी थी। छुट्टियों में और बीच बीच में छुट्टियां लेकर धनार्जन राय चंदा इकट्ठा करने जाया भी करते थे। सुना जाता है कि लाख रुपए से ज्यादा उन्होंने इकट्ठा कर लिया था। धनार्जन राय के पिताजी मिडल स्कूल के हेडमास्टर पद से अवकाश प्राप्त किये थे। वे भी धनार्जन राय की तरह ही भावुक और विद्धान शिक्षक थे। उन्होंने भी स्कूल की चारदीवारी

उठवाने और लायब्रेरी तथा प्रयोगशाला बनवाने के लिए एक समय में काफी चंदा इकट्ठा किया था। आजकल गठिया के मरीज के रूप में दरवाजे पर पड़े रहते हैं। गांव का बच्चा बच्चा जानता है कि वे बहुत अच्छे शिक्षक थे। *रामचरितमानस* में सीता बनवास का प्रसंग पढ़ाते हुए भाव विह्वल होकर रोने लगते थे। निराला की *भिक्षुक* की दो पंक्तियों के बाद ही उनकी आंखों से गंगा यमुना बहने लगती थी। मगर गांव का बच्चा बच्चा यह भी जानता है कि स्कूल के लिए चंदा उगाहकर वे दबा गए। कुछ लोगों ने धनार्जन राय के चंदा मांगने को भी धन बटोरने की खानदानी परंपरा के अनुकूल कहा किंतु शिक्षक समूह को ध्यान में रखकर खुलकर विरोध नहीं कर पाए।

धनार्जन राय अकेले ही धन डकार गए कि सभी में बराबर बराबर बंटवारा हुआ, इसका किसी को पता नहीं। वैसे किसी शिक्षक ने कभी इस प्रसंग की चर्चा नहीं की। कुछ वर्ष बाद धनार्जन राय ने कॉलेज बनवाने के लिए चंदा बटोरना शुरू किया। कॉलेज कमेटी के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, खजांची, सेक्रेटरी सभी पदों पर अपने घर के सदस्यों को नियुक्त किया। गांव में इसका जबरदस्त विरोध हुआ। राय साहब टस से मस नहीं हुए और लगातार पांच वर्ष तक विभिन्न शहरों में चंदा मांगते रहे फिर दो तीन वर्ष तक चुप हो गए।

जिस वक्त यह कहानी लिखी जा रही है, मुझे पूरी उम्मीद है कि राय साहब विभिन्न शहरों में नौकरी करने वाले गांव के लोगों और उनके रिश्तेदारों के पास घूम रहे होंगे।

संस्कृत स्कूल में सभी शिक्षक स्वस्थ प्रसन्न थे। तिग्गी मास्टर सुबह सुबह गणित के सूत्रों की तरह जानवरों के लिए चारा छपटी काटकर स्कूल जाते थे और गणित के सूत्रों को दिनभर चारा छपटी की तरह काटकर वापस घर लौट आते थे। बटुकनाथ चौधरी से तिग्गी बन जाने के पीछे एक छोटी सी घटना थी। मास्टर साहब अपनी जवानी के दिनों में ताश खेलने के शौकीन थे मगर अक्सर हार जाया करते थे। दीवाली की एक रात तिग्गी के तिरेल से वे भारी रकम जीत गए। तब से इनका नाम तिग्गी पड़ गया। ताश जुआ खेलना तो उन्होंने कब का छोड़ दिया मगर इस नाम से पीछा नहीं छुड़ा पाए।

सुख के आधिक्य से उत्तानपाद की तोंद लटक आई थी। वे धनार्जन राय के कसरती शरीर और पालतू बैल से तीव्र ईर्ष्या करते थे। सोकन नामक वह बड़ी बड़ी आंखों और नुकीली सींग वाला बैल इनको देखते ही सींग पिजाने लगता था। कमलनाथ पांडेय ने सीमेंट, छरिया, कड़िया कुंडी, पटरा किवाड़, जंगला रोशनदान की होलसेल रेट पर खुदरा दुकान खोल दी थी। दुकान से बचे हुए समय का स्कूल में और स्कूल से बचे हुए समय का दुकान में उपयोग कर लिया करते थे। अक्सर ग्राहक आकर चलती कक्षा में मास्टर साहब से एक किलो सीमेंट चलकर तौल देने का आग्रह करते पाए जाते थे और छात्र दुकान में पहुंचकर कम से कम गेस चैप्टर्स पूरा पढ़ा देने का निवेदन करते पाए जाते थे।

प्रिंसिपल साहब जजमनिका और सोने से बचे हुए समय को स्कूल में लगा दिया करते थे। पिछले कई वर्षों से छात्रों को वैदिक मंत्र 'आनो भद्राहा स्वस्तिन: इंद्रो वृद्धश्रवाहा' रटाकर प्रगतिपथ पर आगे बढ़ाये चले जा रहे थे। स्कूल में छात्र नाममात्र के थे। ज्यादातर छात्राएं ही थीं। इधर के गांवों में पिछले दस बारह वर्षों में विवाह के लिए पढ़ी लिखी लड़कियों की मांग बढ़ गई थी। वैसे में यह स्कूल कामयाब साबित हुआ था।

चितू पंडित को मास्टरी से चिढ़ थी वरना शास्त्री की डिग्री और लंठई के बल पर वे संस्कृत स्कूल में शिक्षक की नौकरी हासिल कर लेते। उन्हें शिक्षकों की स्वतंत्रता निरानंद जान पड़ती थी। वे ज्यादा से ज्यादा अपनी आजादी का प्रयोग चारा काटने, खेत पटाने, दुकान

चलाने, जजमनिका करने, बच्चों को पढ़ाने या गप्प करने में कर सकते थे। वे चित्तू की तरह ताश जुआ खेलने, तात्विक होने, नौटंकी देखने, झगड़ा मारपीट करने, लड़कियों को घूरने, चोरी डाका डालने में नहीं कर सकते थे। चित्तू को अपनी आजादी प्रिय थी।

एक दिन तात्विक होने के बाद स्वतंत्रतापूर्वक बधार में घूमते चित्तू पंडित को एक बिजली का तार खंभे से टूटकर गिरा हुआ दिखा। एक सिरा खंभे पर अटका हुआ था। चित्तू पंडित ने माहौल बनाया। बिजली के शॉकर से कोई मर जाए इसके पहले तार को काट लेना जरूरी समझा गया। तार को जोड़ देना कतई जरूरी नहीं समझा गया क्योंकि जोड़ने के लिए बिजली मिस्त्री की जरूरत थी जो चार कोस दूर कस्बे में रहता था मगर काटने के लिए चित्तू पंडित ही काफी थे। गांव से पिलास मंगाकर चित्तू पंडित ने तार काट दिया। कटे हुए तार का क्या किया जाए? इस प्रश्न का हल चित्तू के एक मित्र ने सुझाया। तकरीबन सौ मीटर लंबे तार को एक बोरे में भरकर कस्बे के कबाड़ी बाजार में बेच दिया गया।

छः महीने के भीतर गांव की तरफ बिजली ले आने वाले अधिकतर खंभे नंगे हो चुके थे। गांव में बिजली से चलने वाली आटा चक्कियां बंद हो गई थीं। घरों से जाता चक्की की ध्वनियां उठने लगी थीं। डीजल और पेट्रोल की चर्चाएं होने लगी थीं। किरोसिन तेल का जमाना लौट आया था। पुरानी ढिबरियों को ढूंढ़कर उनमें तेल बाती भर दिया गया था। लालटेनें झाड़ पोंछकर चमका दी गई थीं।

तार चोरों के बारे में कई तरह के अनुमान लगाये जाते थे। हालांकि सबसे ज्यादा एक सशस्त्र गिरोह की चर्चा थी जो जीप में सवार होकर रात में आते थे और तार काटते थे। कुछ लोग दबे स्वर में चित्तू पंडित के गेश्टाल्टी गिरोह का नाम लेते थे लेकिन खुलकर कोई कुछ कह नहीं पा रहा था। जिस समय में वे लोग तार काटते थे उस समय कोई भी ताल बधार की ओर निकलने की हिम्मत नहीं कर सकता था। सारा कार्यक्रम रात ग्यारह के बाद संपन्न होता था। चित्तू पंडित एक जीप किराए पर ले लिया करते थे। जीपवाला भी हिस्सेदार था। एक बार वह दूर की सवारी लेकर गया था। चित्तू पंडित ने एक अजनबी जीपवाले को किराए पर ले लिया। ऐसा वे कई बार अपने मित्र जीपवाले की अनुपस्थिति में कर चुके थे। मगर इस बार चूक हो गई। जीपवाला एक अवकाशप्राप्त सैन्य अधिकारी था। बोरे में भरे तार सहित वह गाड़ी को चोर बाजार ले जाने की जगह थाने में घुसा ले गया। पतुकी चाचा को किसी ने खबर दी कि चित्तू अपने तीन चार साथियों के साथ हाजत में बंद हैं। चाचा दौड़ते भागते स्टेशन आए। बजाय थाना जाने के वे ट्रेन पकड़कर मोहनिया चले गए। मोहनिया में सीधे झंडील जी के स्कूल पहुंचे। संयोग से दारोगा झंडील जी का सहपाठी निकला। इसलिए चित्तू पंडित एंड पार्टी को निकाल ले आए।

रास्ते भर कोई किसी से कुछ नहीं बोला। सबको उम्मीद थी कि नैतिकता में घोर आस्था रखने वाले झंडील जी चीखेंगे, भर्त्सना करेंगे। पतुकी चाचा भी चुपचाप चले आ रहे थे। रास्ते में एक जगह सब लोगों ने जलपान किया। पतुकी चाचा की चुप्पी से तो कोई फर्क नहीं पड़ता था मगर झंडील चाचा की चुप्पी तूफान से पहले का सन्नाटा लगती थी। बगीचे में बैठकर दुपहरिया काटते लोगों ने दूर बधार में पगडंडियों पर आते लोगों को देखकर अनुमान लगा लिया कि हो न हो झंडील ने चित्तू को हाजत से छुड़ा लिया। बगीचे से कुछ लोग दल के पीछे लग लिए। दुआर पर पहले से ही कुछ लोग दल के आने का इंतजार कर रहे थे और चित्तू की आजी से दुखम् सुखम् कर रहे थे।

दल के पहुंचते ही भीड़ लग गई। गांव की एकरस जिंदगी में कोई भी एक घटना

उत्तेजना, जिज्ञासा और स्फूर्णा उत्पन्न कर सकती है। यह तो काफी बड़ी घटना थी। पूरा गांव इनके कर्मों पर थू थू कर रहा था। आजी इन्हें देखकर रोती हुई घर चली गईं। पतुकी चाचा नीम के पेड़ के नीचे चौकी पर थकेहारे से बैठ गए और अंगोछे से मुंह पर हवा करने लगे। लोगबाग इधर उधर खड़े और बैठे थे।

कुंडीनाथ तत्परता के साथ बाल्टी में पानी भरकर ले आए और पतुकी चाचा के पास रख दिया। घर के भीतर से एक बच्चा स्टील के प्लेट में गुड़ और पीतल के लोटे में पानी लेकर आया। पतुकी चाचा हाथ मुंह धोने लगे।

झंडील जी घर के भीतर चले गए थे। उन्होंने आंगन के चांपाकल से पानी चलाकर हाथ मुंह धोया। पानी पिया और खाट पर पांव रखकर कुछ सोचने लगे। चित्तू पंडित भीतरी अपराधबोध के खिंचाव और बाहरी नजरों के उपहासजनक दबाव से कोशिश करके भी उबर नहीं पा रहे थे। वे चौकी पर बैठते बैठते अचानक चवों के बल जमीन पर बैठ गए। पांवों के पास की जमीन को वे इस तरह देख रहे थे जैसे नजरों से ही छेद कर देंगे। लेकिन जब वे सिर उठाते थे तो उनकी नजरों में तेज नहीं, तकलीफ दिखाई देती थी।

वातावरण में कुछ होने वाला है, शीर्षक सुगबुगाहट थी।

पंडित झंडील तेजी से दरवाजे पर आए। एक क्षण उन्होंने भीड़ और चित्तू को देखा। चित्तू गुड़ खाकर लोटे से पानी पी रहे थे। पंडित झंडील मिश्र तेजी से घर के भीतर गए और तुरंत उधर से कुएं से डोल खींचने वाली मोटी रस्सी लेकर वापस आए। जमीन पर बैठे चित्तू पंडित को पांखुर में हाथ लगाकर झकझोर दिया। चित्तू पंडित निर्वीय, निस्तेज, निर्भार की तरह उठ खड़े हुए। उन्होंने एक आत्मदयात्मक मुस्कान के साथ आसपास देखा। छतों के खोखे और रेलिंगों रोशनदानों से आसपास की महिलाएं और लड़कियां, बच्चे और वृद्धाएं भी यह तमाशा देख रही थीं। पंडित झंडील मिश्र ने चित्तू पंडित के सीने पर तलहत्थी से प्रहार किया। वे पीछे की तरफ लुढ़के और नीम के तने से जा टकराए। पंडित झंडील मिश्र ने उन्हें पेड़ से बांध दिया और सपासप लकुटी चलाने लगे। चित्तू सिर झुकाये पिटे जा रहे थे।

पंडित झंडील मिश्र को नाटकों का बहुत शौक था। हाल ही में उन्होंने अपने स्कूल में औरंगजेब नाटक करवाया था। अभी तक नाटक के संवाद और चरित्र उनके सिर पर हावी थे। वे लकुटी को तलवार की तरह हवा में लहराते हुए सप्तम स्वर में चिग्घाड़े, "गद्दार! तूने खानदान की इज्जत को नेस्तनाबूद कर दिया!" यह शब्द नेस्तनाबूद ग्रामीणों ने पहली बार सुना। वे अर्थ तो नहीं समझ पाए मगर इस शब्द की अनोखी बनावट और उच्चारण से अचंभित हो गए। "क्या तू चोरी के सिवा कुछ नहीं कर सकता है?" उन्होंने स्वर की उसी ऊंचाई से पूछा और लकुटी सपसपाते रहे। इस बार स्कूल के कार्यक्रम में झंडील जी ने इको वाला स्पीकर लगवा रखा था। उनके अपने बोले संवाद उनके दिमाग में इको हो रहे थे। वे अगला संवाद बोलने ही जा रहे थे जिसमें चुन चुनकर उर्दू के अल्फाज बिठाए गए थे कि चित्तू पंडित दबे स्वर में बोल पड़े, "नहीं कर सकता।"

झंडील जी के हाथ रुक गए। उन्होंने अचरज से फटती आंखों से देखते हुए फेन फेंकते होठों को चियारकर यह प्रश्न किया, "तू चोरी के अलावा..." स्वर में थकावट थी और वाक्य अधूरा रह गया।

"जी नहीं!" चित्तू का स्वर थोड़ा ऊंचा हो गया, "आप लोगों ने छोड़ा ही क्या है करने के लिए।" चित्तू के पिटे मुंह से यह वाक्य फिसल गया। "हम लोगों ने?" पंडित झंडील चकित विस्मित थे। "हां आप लोगों ने!" अब चित्तू के दहाड़ने की बारी थी। सारा आलम

चौंक गया था। चित्तू बोले, "आजादी के बाद आप लोगों को एक साफ सुथरा देश मिला था। मगर सिर्फ तीन युवा पीढ़ियों ने उसे हर तरह से खंगाल दिया। आप लोगों ने संघर्ष और विद्रोह की जगह समझौते का रास्ता अपनाया और हम लोगों के लिए वह भी नहीं छोड़ा।"

"और तुम विद्रोह कर रहे हो? आंय!" झंडील जी ढीले पड़ते जा रहे थे। उनका छड़ीवाला हाथ नीचे झुक गया था। छड़ी जमीन छू रही थी।

"मालूम नहीं।" चित्तू ने इतनी जोर से कहा कि सचमुच ईको होने लगा।

"मालूम नहीं! शास्त्री की डिग्री लेकर तुम कहीं शिक्षक नहीं लग सकते थे?" झंडील जी ने कहा, "आंय! बोलो?"

जनता इस चाचा भतीजा संवाद का मजा ले रही थी। झंडील जी के गांव से चले जाने के बाद गांव में नाटकों की प्रस्तुति कम हो गई थी। अब तो सिर्फ नवरात्र में एक दो नाटक हो जाया करते थे। झंडील जी के छात्र जीवन में हर मौके पर एक न एक नाटक का आयोजन होता ही रहता था। जनता काफी अरसे बाद अंगद रावण संवाद को मन ही मन याद कर रही थी। क्षण भर चित्तू सिर झुकाये खड़े रहे। चाचा ने चारों तरफ विजय भाव से देखा। उन्हें उम्मीद नहीं थी कि चित्तू अब कुछ बोलेंगे। वे कुछ उपदेश देकर उपसंहार करने के मूड में थे कि चित्तू बोल पड़े, "चाचा जी! आप बुरा मत मानिएगा। आप तो पढ़ाई में काफी टॉपर छात्र थे। नौकरी मिलने में चार साल का समय क्यों लगा?"

झंडील बगलें झांकने लगे।

"आप ही की तरह अधिकारियों के तलवे चाटकर और नेताओं की चमचागिरी कर मैं नौकरी कर लूं और गर्व से गुरु शिष्य परंपरा का निर्वाह करूं? और इस रास्ते कितने लोगों को काम मिल जाएगा?"

झंडील का चेहरा क्रोध और अपमानबोध से लाल हो गया। गुस्से में वे कोठरी की तरफ लपके। वहां से भुजाली उठाकर चित्तू पंडित को काट डालने के लिए दौड़े। लगा कि रावण अंगद को मार गिराएगा। लोगों ने बीचबचाव किया। चित्तू को खोलकर भगा दिया गया। पंडित झंडील ने कभी चित्तू का मुंह नहीं देखने की कसम खाई और वापस मोहनिया चले गए।

वैसे तो चित्तू को कृषि से कोई अनुराग नहीं मगर खेतों में भटकना उन्हें आनंदित करता है। पिटने के बाद से रात दस बजे तक बधार में भटकते और सोच विचार करते रहे जबकि शाम सात बजे ही इनकी कृपा से आजकल गांव में रात हो जाती थी। चित्तू रात दस बजे तक नहीं लौटे तो घर में लोगों की चिंता बढ़ गई। सामान्यतया गांवों में लोग शाम के सात आठ बजे तक रात का भोजन धकेलकर सो जाते हैं। बिजली रहने पर नौ दस बजे तक चहलपहल रहती थी। अचानक बिजलीविहीन हो जाने से गांव वापस अंधकारयुग में चला गया था।

पतुकी चाचा चित्तू पंडित को ढूंढ़कर घर ले आए। चित्तू ने दादी के चरण पकड़कर क्षमायाचना की और कान पकड़कर सुधर जाने की प्रतिज्ञा की। उसके बाद डटकर फुटेहरी दही, चोखा और घी का सेवन किया और दम लगाकर नीम के पेड़ के नीचे खाट पर पसर गए। इस प्रकार की क्षमायाचना चित्तू बचपन से अब तक न जाने कितनी बार कर चुके थे लेकिन इस बार वे वाकई अपराधबोध से भरते जा रहे थे। चित्तू पंडित जनता जनार्दन की आंखों में सम्मान, जिज्ञासा, हास्य और आतंक देखने के आदी थे। व्यंग्य नहीं! गांव के जानवरों तक की आंखों में उन्हें चुभता हुआ व्यंग्य नजर आने लगा था। पुरोहित का अर्थ होता है पुर का हित करने वाला। गांव का हितचिंतक। ऐसे ऊंचे पंडित परिवार में ऐसा कुलबोरन! गांव को अंधकार में डुबा दिया!

नीक नहीं किये पंडी जी! पंपसेट, आटाचक्की सब बंद करवाकर पूरा गांव को दलिद्दर बना दिये।

पूरा गांव चित्तू पर थू थू कर रहा था। वे कोई ऐसा काम करना चाहते थे जिससे गांव में उनकी प्रतिष्ठा फिर बहाल हो जाए।

चित्तू पंडित ने सोचने समझने के बाद कुछ दिनों के लिए गांव छोड़ देना ही बेहतर डिसाइड किया। गांव छोड़ने से पहले मित्रों के माध्यम से उन्होंने बी.डी.ओ. ऑफिस में एक आवेदन डलवाया जिसमें निवेदन करवाया कि उनके गांव तक बिजली लाने वाले खंभों पर से चोरों ने तार काट लिया है। श्रीमान से नम्र निवेदन है कि कृपया उन खंभों पर तार डालने में विलंब न किया जाए। आवेदनपत्र में विस्तारपूर्वक बिजली के अभाव में होने वाली हानियों का जीवंत वर्णन किया गया था। किस प्रकार पंपसेट नहीं चलने से फसलों पर और बल्ब नहीं जलने से छात्रों पर उसका बुरा असर पड़ रहा था और यह देश के भविष्य के लिए कितना बुरा था आदि इत्यादि।

सबसे ज्यादा बुरा असर चौपाल में बिजली के लट्टू की रोशनी में सुखपूर्वक ताश खेलने वालों पर पड़ा, मगर इसका चित्तू ने आवेदन में जिक्र नहीं किया। वह आवेदन भी वजनहीन होने के चलते अनेकानेक आवेदनों की तरह फाइल में दबता गया लेकिन उसकी फोटो प्रतिलिपि कई वर्ष बाद चित्तू पंडित को फिर से गांव में स्थापित करने में काम आएगी इसका किसी भी नर देहधारी को कहां पता था? तत्काल चित्तू का गांव में रहना दुखदायी था। तमाम नजरें उन्हें हिकारत, भय और क्रोध के भाव से देखने लगी थीं। आसपास की जिन कन्याओं या महिलाओं पर वे कोमल निगाहें फिराया करते थे, सरेआम पिट जाने के बाद उनकी नजर में खजुआए कुत्ते जैसे हो गए थे।

मिलिट्री से छुट्टी में आए अपने मित्र लेटिअई से सलाह मशवरा करने के बाद उन्होंने कलकत्ता जाने का निश्चय किया। लेटिअई की छुट्टी तीन दिन बाद समाप्त हो रही थी। आजकल शिलांग में पोस्टिंग है।

साथ निकल चलने की गुपचुप योजना बन गई। भविष्य के गर्भ में छुपे हुए इस सत्य को भला कौन जान सकता था कि जिस आवेदन को चित्तू बी.डी.ओ. ऑफिस में धूल खाने को छोड़कर जा रहे थे, उसकी फोटो कॉपी जिसे उन्होंने आजी को संभालकर रखने के लिए दी है, वह पतले कागज का एक टुकड़ा यह साबित करने में काम आएगा कि चित्तू को एक साजिश के तहत आर्म्स दिखाकर फंसा दिया गया था।

गांव में व्यक्ति व्यक्ति के नाम के साथ एक उपनाम लगा मिलता है। उपनाम इतना प्रसिद्ध हो जाता है कि अक्सर लोग असली नाम भूल ही जाते हैं। आपको इस गांव में कैनेडी, जॉर्ज बुश, क्लिंटन, ख्रुश्चेव, लेनिन, जिया उल हक, सद्दाम हुसैन सभी मिल जाएंगे। आप पाएंगे कि जिनका नाम कैनेडी है वे एक मैली गंजी और फटी लुंगी पहनकर हल लिए खेत की तरफ जा रहे हैं। जिनका नाम क्लिंटन है वे नंगे बदन मात्र लंगोट धारण किये हुए भैंस चरा रहे हैं। इस तरह के नामकरण से इस गांव की राजनीतिक जागरूकता का पता चलता है। आज भी बी.बी.सी. न्यूज सुनने और राजनीतिक बहसों में उलझे लोगों की संख्या काफी है।

नाम रखने की दूसरी परंपरा के अंतर्गत किसी ओछी वस्तु का नाम किसी व्यक्ति पर आरोपित कर दिया जाता है। खपड़ा, घइला, ढकनी, छुरछुरी, लेंडुकी, बानर, आन्हर आदि या फिर स्वभाव से मेल मिलाता साधु, विद्यार्थी, मुनी जी, रंगीला गुरु आदि। रंगीला गुरु को छोड़कर उपरोक्त सभी नाम चित्तू की गेश्टाल्टी मंडली के सदस्यों के थे। स्वयं चित्तू सियरा

पुकारे जाते थे। उनकी मंडली के एक एक व्यक्ति का चित्रण किया जाए तो एक एक ग्रंथ लिखा जा सकता है। संक्षेप में सिर्फ इतना ही कि गांव की एक एक गली में एक एक, दो दो, तीन तीन और कहीं चार चार चित्तू पंडित के हमअक्ल टहलते दिखाई दे सकते हैं। एक चित्तू के गांव छोड़ने से गांव की सेहत पर बहुत फर्क नहीं पड़ने वाला था। न ही रंगीला गुरु का तोपा कोलियरी में अब वह रुतबा रह गया था जिसके बल पर सैकड़ों बेरोजगारों को कोल फील्ड में उन्होंने सर्विस दिला दी थी।

रंगीला गुरु पतुकी चाचा के सहपाठी थे। लंबा चौड़ा शरीर। चीते जैसी चाल। कड़कदार आवाज। मोटी गल गोछियों पर रह रहकर हथेलियां फिराते पैदायशी रंगबाज! अठारह साल तक गांव में रहे। आसपास के गांवों में आजतक उनके सामने सीधे तनकर खड़े होने की किसी में हिम्मत नहीं। कोलियरी में एक दरबान के रूप में घुस गए मगर एक दिन भी दरबान का काम नहीं किया। अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से जल्द ही जननेता बन गए। खदानों में और कार्यालयों में कर्मचारियों, मजदूरों की जरूरत आई तो इन्होंने मौके का लाभ उठाया और अपने गांव सहित आसपास के गांवों से भी आवारा नौजवानों को झाड़ बुहारकर ले गए। कम से कम दस साल के लिए रंगीला बाबा ने गांव को और क्षेत्र को अशांत होने से बचा लिया। उन्हीं दस सालों में कोलियरी का क्या हुआ, अलग चिंता का विषय है। रंगीला बाबा संगीत के शौकीन हैं और ढोलक बजाने के लिए विख्यात हैं। कोल फील्ड के बड़े अधिकारी उनके लिए श्रद्धापूर्वक गांजा की पुड़िया ले आते हैं। उनसे लोग डरते भी हैं और उन्हें सम्मान भी देते हैं। वे सचमुच एक रंगबाज हैं। असली रंगबाज! चित्तू की पीढ़ी में बहुतों ने उनकी तरह रंगबाज बनने के सपने देखे। लेटिअई और लेंड़ुकी ने गलगोछियां भी रख लिया मगर सफल नहीं हुए। लेटिअई फौज में चले गए और लेंड़ुकी मैट्रिक पास कर कचहरी में ताईद लग गए।

आम के एक खास प्रकार को लेटिअई कहते हैं। आम आकार में छोटा और गोल होता है। यह सेनुरिहा आम का चचेरा भाई है। इसका भी छिलका पतला होता है और गुठली बड़ी होती है। बालकराम त्रिपाठी को बचपन में यह आम बहुत प्रिय था। वे बाजार में अक्सर अपने पिता से इसे खरीद देने की जिद करते पाए जाते थे। तब से उनका नाम लेटिअई पड़ गया। फौज में पिछले दस साल से वे नौकरी कर रहे हैं जहां उनका नाम बालकराम त्रिपाठी दर्ज है मगर गांव में वे यथावत लेटिअई बने हुए हैं। लेंड़ुकी का असली नाम नारायण स्वामी था। कचहरी में ताईद की नौकरी करने के बावजूद वे गांव में पेशकार साहब बुलाये जाते हैं। हालांकि ज्यादातर लोग उनको पुराने उपनाम से ही बुलाते हैं। स्वामी जी चढ़ती जवानी में कब्जियत के शिकार हो गए थे। तीन दिन तक शौचक्रिया अवरुद्ध रही। उनकी आजी ईश्वर से प्रार्थना किया करती थीं कि हे भगवान! नारायण को कम से कम एक लेंड़ुकी निकले कि उसका तनमन शांत हो! चौथे दिन भगवान ने उनकी प्रार्थना सुन ली और नारायण ने एक छोटी सी लेंड़ुकी के रूप में मलत्याग किया। विशेषज्ञों ने ध्यानपूर्वक लेंड़ुकी का सूक्ष्म अवलोकन करने के बाद बताया कि पेट में किसी प्रकार का कीड़ा पतंगा नहीं है बल्कि गैस है। गैस के चलते ही उसका रंग काला पड़ गया था। शायद ही किसी का मल इतना प्रसिद्ध और प्रदर्शित हुआ हो। तब से बेचारे उस नाम को ढो रहे हैं। चित्तू पंडित के ये दो मित्र सरकारी नौकरी में थे। बाकी सब उन्हीं की तरह गैर सरकारी ढंग से सक्रिय थे।

गांव है सो गढ़ है। पूरा का पूरा गांव एक घर की तरह होता है। छोटी से छोटी बात गांव के कोने कोने में फैल जाती है। गांव से बाहर निकलकर आप जितने बड़े और चाहे जो हो जाइए मगर गांव में आपको वही बने रहना होगा जो आप थे वरना गांव आपसे नजर फेर

लेगा। गांव से बाहर निकलकर आप सुखी और संपन्न हो गए हैं तो गांव आपको हसरत भरी निगाहों से देखेगा लेकिन यदि आप गांव का भला करना चाहेंगे, तो भी आप से नजर फेर लेगा। किसी हालत में गांव अपने आप में कोई परिवर्तन नहीं चाहता। वह नएपन से घबराता है। जो है, जैसे है, सब ठीक है।

आजादी के बाद और चित्तू से पहले अनेक युवा पीढ़ियां इस गांव से निकल चुकी हैं। पिछली पीढ़ियों ने कुछ करने, कुछ बनने के बाद गांव के लिए कुछ करने की कोशिशें कीं, मगर नाकाम रहे। गांव में आकर कोई विकास या सुधार की बातें करे, यह गांव की मानसिकता को कबूल नहीं है। पढ़े लिखे लोगों के विषय में आम अवधारणा है कि ज्यादा पढ़ने लिखने से इनका दिमाग खराब हो गया है। ऐसे खराब दिमाग वाले कमपढ़ या अनपढ़ विद्वानों का सामना करने में हमेशा ही परास्त हुए।

पहली युवा पीढ़ी अंग्रेजों के जमाने में उनकी चाकरी करती हुई जवान हुई। पिता पीढ़ी ने ऊपरी कमाई, घूसखोरी और कालाबाजारी के ऐसे ऐसे गुर सिखाये कि आज वे सभी सुख और संपन्नता के साथ देश को बेचने के कारोबार में सरकारी और गैर सरकारी तरीकों से लगे हुए हैं। अपवादों की बात नहीं कर रहे हैं, वे तो हर पीढ़ी में होते हैं। दूसरी और तीसरी युवा पीढ़ी थोड़ी आदर्शवादी निकली। इस पर वामपंथ, प्रगतिशीलता, जे.पी. मूवमेंट, नक्सलबाड़ी, सिनेमा, साहित्य, कला आदि के प्रभाव पड़े। इस पीढ़ी ने प्रेमचंद, रेणु, शिवप्रसाद सिंह और श्रीलाल शुक्ल आदि को पढ़ा और गांव के बारे में सच्चे मन से चिंतित हुए। इन लोगों को गांव ने ऐसा दौड़ाया कि होली दीवाली में भी आना भूल गए। जो पढ़े लिखे थे, जैसे तैसे नौकरियां करने में लग गए। जो कम पढ़े लिखे थे और कसरती शरीर के मालिक थे वे सेना और पुलिस में चले गए। जो अपने आप को किसी काम का नहीं साबित कर देते थे, वही गांव में रहकर कुछ करते धरते थे। पिछले पांच दशक से भारत की सरकार हर कोशिश करके थक गई थी कि लाज बचाने भर का विकास इस गांव में चला आए। पिछले पांच दशक से बनगांव ने थाना, ब्लॉक, हॉस्पिटल, हाई स्कूल, कॉलेज, गर्ल्स कॉलेज, सड़क, पुस्तकालय यानी किसी भी विकास को गांव का सीवान नहीं लांघने दिया था।

शिक्षा की स्थिति बद से बदतर होती गई थी। अपर प्राइमरी स्कूल का भवन किसी भी दिन ढह सकता था। किसी भी कक्षा में दरवाजे खिड़कियां सही सलामत नहीं थे। शाम तक बच्चे कक्षाओं में बोराबोरी बिछाकर पढ़ते थे। शाम से सुबह तक के लिए आसपास वाले उनमें पशुओं को बांध जाते थे। बरसात में छत इस कदर टपकती थी कि बच्चे बाहर निकलकर पेड़ों के तने के पास आसरा लिया करते थे। मिडल स्कूल में तीन कमरे थे। जिनमें से एक कार्यालय सह प्रिंसिपल साहब के आवास के रूप में काम आता था। स्कूल की छत पर इतना अधिक खर पतवार उगा था कि दूर से देखने पर किसी ऐतिहासिक भवन का खंडहर नजर आता था। संस्कृत स्कूल यथावत अपर प्राइमरी के दो उपेक्षित कमरों में चल रहा था। लोग शिलान्यास स्थल को भूल ही गए थे।

चित्तू गांव में रहना चाहते थे मगर खेती, दुकानदारी, दलाली, मास्टरी आदि कार्य उनको मनहूस लगते थे। वे कुछ अलग हटकर करना चाहते थे। समाज में विशेष सम्मानित कार्यों जैसे उच्चकोटि की रंगबाजी, लौंडेबाजी, या डकैती में भी वे स्वयं को अयोग्य पाते थे। रंगबाजी में उनकी थोड़ी बहुत रुचि थी लेकिन अब तक उसका दौर कमजोर पड़ गया था। रंगबाज लोग आमतौर से कबूतरबाज, रंडीबाज और लौंडेबाज होने के साथ संगीत और नृत्य तथा नशा आदि के शौकीन होते हैं। इसके लिए इफरात पैसों की जरूरत होती है। नाच नौटंकी

की जगह वीडियो, बोलता सिनेमा के आ जाने से महफिलों का माहौल नहीं रह गया था। डकैती की जगह स्मगलिंग और अपहरण ने ले लिया था। खुलेआम समाज में अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन करने वाले रंगबाज काफी कम रह गए थे। अत: एक दिन ठेकुआ अचार, कुछ कपड़े, बचे हुए रुपए और ढेर सारा आशीर्वाद लेकर चित्तू पंडित कलकत्ता प्रस्थान कर गए।

रास्ते में चित्तू को कलकत्ता में बिताए बचपन के वे दिन याद आ रहे थे जब वे लंबी चुटिया रखे मुहल्ले के बच्चों के बीच हास्य का पात्र बन घूमते रहते थे। जब वे पाणिनीकृत *लघुसिद्धांत कौमुदी* का आमूल अध्ययन करने पर तुले थे।

बनारस में जजमनिका, लायब्रेरी में डाका और बिजली के तारों की चोरी से चित्तू पंडित बहुत बचा नहीं पाए थे। अधिकतर पैसा अय्याशी में खर्च हो गया था। इधर दस एक सालों से गांव में मदिरा का धारासार प्रवाह बहने लगा था। भांग और गांजा जैसे पारंपरिक नशे सस्ते थे। भांग तो सर्वस्वीकृत था और गांजा किंचित तिरस्कृत होने के बावजूद अस्वीकृत नहीं था। अब तो हेरोइन और स्मैक के लिए भी बाजार बन गया था। छिपकली की पूंछ जलाकर पीने वाले भी इक्केदुक्के दिखने लगे थे। आए दिन नशे से मरने और पागल होने की खबरें मिलती थीं।

शराब का गांव में प्रवेश बहुत आयुर्वेदिक तरीके से हुआ। यह नीम हकीम डॉक्टरों की डिस्पेंसरी में मृत संजीवनी सुरा के रूप में आया; जो थकान, बदहजमी, ब्लडप्रेशर आदि दूर करने के निमित्त आया। इसमें सोलह से बीस प्रतिशत अल्कोहल होता है। इसे डाबर ने निर्मित किया है। दीवारों पर एक बॉडीबिल्डर की तस्वीर के साथ इसका प्रचार जगह जगह दिखने लगा। कुछ लोगों ने इसका औषधि की तरह प्रयोग किया और ज्यादा लोगों ने इसे मदिरा के रूप में अपनाया। यह तब भी और आज भी काफी सस्ता है। इसके पीछे पाउच में लाल और सफेद ठर्रा बिकने लगा। इन दोनों के आगमन के काफी पहले से मिलिट्री वालों के द्वारा लाई जाने वाली रम और व्हिस्की की बोतलें तो सिर्फ संपन्न लोग ही खरीद पाते हैं। मगर ये तीन सर्वजन सुलभ थे। बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय। फिर तो पहलवान की तस्वीर सिर्फ पोस्टर में रह गई और गांव में दुबले पतले, मरे मरे से शराबियों की संख्या बढ़ती गई।

चित्तू पंडित भी हड्डियों का ढांचा लेकर कलकत्ता जा रहे थे। जैसे जैसे गाड़ी हावड़ा की तरफ बढ़ रही थी, पंडित जी को पुरानी यादें घेर रही थीं। उन्हें लाल खपरैल वाली अपनी बाड़ी याद आ रही थी। बाड़ी क्या थी—एक कमरा, एक रसोईघर और एक बारादरी जिसमें पंडित दुर्गाशंकर संध्यापूजन किया करते थे और चित्तू किसी जमाने में अष्टाध्यायी का अभ्यास किया करते थे। काश! निर्मल वर्मा को इस लाल खपरैल वाली बाड़ी के भीतर के जीवन के बारे में पता होता तो *लाल टीन की छत* के बाद लाल खपरैल वाली बाड़ी भी जरूर लिखते। मगर अफसोस! न तो चित्तू पंडित कभी निर्मल वर्मा से मिलने गए न ही निर्मल वर्मा को उनसे मिलने की जरूरत हुई।

पंडित जी बारादरी में चौकी पर पूजा करने के बाद नीचे बिछी चटाई पर सूर्य नमस्कार कर रहे थे। वे सूर्य नमस्कार के सातवें चरण में थे। सातवें चरण में एक पांव आगे ठुढ्ढी के पास और दूसरा पीछे की तरफ खिंचा रहता है, गर्दन छाती से ऊपर की ओर तनी रहती है और शरीर पंजों के बल टिका रहता है। ठीक इसी समय में यात्रा से थके मांदे चित्तू एयरबैग और कपड़े के झोले समेत प्रगट हुए। पंडित दुर्गाशंकर चित्तू को देखते ही समझ गए कि वह अपने पातक कर्म का फल भुगतकर शरण में आया है। शरण में आए हुए सर्प को भी आश्रय दिया जाता है, ऐसा सोचकर चित्तू को बांह पकड़ ठठराकर निकाल बाहर करने के विचार का उन्होंने त्याग कर दिया। पंडित जी ने सूर्य नमस्कार पूरा किया और संस्कृत महाविद्यालय

जाने की तैयारी में लग गए। चित्तू ने उनका चरणस्पर्श किया और बारादरी में भीगे कबूतर की तरह थरथराते हुए खड़े रहे। पंडित जी ने न आशीर्वाद दिया, न ही आने का कारण पूछा।

एयर बैग कंधे पर, कपड़े का झोला हाथ में थामे चित्तू खड़े के खड़े थे। पंडिताइन रसोई से बाहर पानी लेने आईं और चित्तू को देखते ही ममतालु हो गईं। कब आए बेटवा? खड़े क्यों हो? पंडितानी ने चित्तू के हाथ पांव धुलाये और घर के भीतर ले गईं। पंडित जी कलेवा करके महाविद्यालय चले गए। चित्तू की व्यथा कथा सुनने के बाद चाची जिन्हें चित्तू बड़ी मां कहा करते थे, अश्रु विगलित हो गईं। उन्होंने पंडित जी के कठोर मन को चित्तू के प्रति सदय करने का प्रयत्न किया।

पं. दुर्गाशंकर मिश्र को दो पुत्रियां थीं जो विवाह के बाद अपनी ससुराल में सुखी थीं। उन्होंने चित्तू को पुत्रवत अपनाने का प्रयत्न किया था किंतु चित्तू के चारित्रिक स्खलन से उनका मन फट गया था। बड़ी मां के सहयोग से चित्तू ने पंडित जी का मन जीत लेने का निश्चय किया। पंडित जी के जगने से पहले ही वे बिस्तर छोड़ देते थे। उनकी चौकी और बारादरी को स्वच्छ कर देते थे। पंडित जी जब पूजा करने आते थे तो नहा धोकर धोती लपेटे चित्तू पास में खड़े मिलते थे। एक दिन पंडित जी का मन पसीज गया। पूजा के लिए चंदन रगड़कर उन्होंने चित्तू को पास बुलाया। मंत्र के साथ चित्तू के ललाट को चंदन चर्चित किया और पूजापाठ में लग गए। यह सिलसिला एक सप्ताह तक चला। दिन में चित्तू अपने लिए काम ढूंढने निकला करते थे। पंडितानी पंडित जी को चित्तू के लिए कुछ करने के लिए प्रेरित करती रहती थीं। बड़ी मां का चित्तू के प्रति हमेशा से प्रेम था। हालांकि पंडित जी चित्तू के बिगड़ने के कारणों में इस स्नेहभाव को प्रमुख गिनाया करते थे।

बचपन में चित्तू को अकारण बाड़ी से बाहर निकलने की आज्ञा नहीं थी। दिन भर जब मुहल्ले के लड़के कबड्डी, गोली और पतंगबाजी का खेल खेलते रहते थे, चित्तू *रघुवंश* महाकाव्यम् के श्लोक रटा करते थे। चित्तू पंडित को वे सारे शब्द जो बच्चों की मंडली से तितलियों की तरह उड़कर इनकी बाड़ी की तरफ आते थे, ज्यादा आकर्षक लगते थे। पंडित जी 'रटंत विद्या, लपटंत कुश्ती' का मंत्र इन्हें अक्सर सुनाया करते थे। इन्हें रटंत विद्या की जगह बच्चों की लपटंत कुश्ती ज्यादा आकर्षित करती थी, जो दिन भर में दो चार बार हो ही जाती थी। बड़ी मां ने ही इन्हें दिन रात श्लोक रटने की सजानुमा पढ़ाई से मुक्ति दिलाई थी और घंटा दो घंटा खेलने की आज्ञा पारित हो गई थी। पहले दिन तो इनकी चुटिया ही बच्चों के आकर्षण का केंद्र बन गई। बड़ी मां ने ही इसका भी समाधान किया। खेलने जाते समय इनको लाल रंग की एक गोल टोपी पहना दिया करती थीं। जिसके पीले रिबन इनकी ठुड्डी के नीचे बंधे रहते थे। चुटिया न रखी जाए ऐसा प्रस्ताव रखना भी आग के तूफान को आमंत्रित करने जैसा था।

चित्तू काम की तलाश में बेहाल थे। बचपन के मित्रों में से किसी का अतापता नहीं था। बड़ी मां ने चित्तू को टिंडई की याद दिलाई। टिंडई किसी फैक्टरी में काम करता था और बेलिया हाट में बीवी बच्चों के साथ रहता था। टिंडई चित्तू का लंगोटिया यार और गुरु था। उसी ने चित्तू को सर्वप्रथम मस्तराम लिखित किसी कामोत्तेजक पुस्तक के चंद पन्ने पढ़वाये थे, जिसमें रमिया नामक किसी नौकरानी और मालचंद नामक किसी सेठ के यौन संबंधों का चित्रमय वर्णन था। उसी के संसर्ग में इनको पता चला कि संस्कृत व्याकरण की मोटी पुस्तकें पढ़कर सिर्फ पोंगा पंडित ही बना जा सकता है जबकि दुनियादारी सिखाने वाली पुस्तकें आज भी वर्जित मानी जाती हैं। दुनियादारी के अगले चरणों में उन्होंने बहुत कुछ सीखा। कल्पना

और प्रयत्न से हस्तलाघव से ही भरपूर आनंद पाया जा सकता है, इस सत्य का प्रायोगिक ज्ञान उसी ने कराया था। बड़े पिताजी मुहल्ले के चेंगड़ों के साथ इनका खेलना पसंद नहीं करते थे। उनको भय था कि चित्तू कहीं कुत्सित संस्कारों की चपेट में न आ आएं। मगर बागडोर हाथ से छूट चुकी थी। चित्तू मुहल्ले के सह खिलाड़ियों के साथ मस्त मगन हो रम चुके थे। किंतु उनके अध्यवसाय में कोई कमी न देखकर पंडित जी आश्वस्त रहने लगे।

जिस गली में बच्चे खेलते थे उसमें कई घरों और कोठरियों के दरवाजे खुलते थे। एक कोठरी में रहने वाले एक चाचा नई नई शादी करके दुल्हन लाये थे। वे निकट की किसी फैक्टरी में काम करते थे और दोपहर में खाने चले आते थे। चाचा दुल्हनिया के साथ क्या करते हैं, यह जिज्ञासा मस्तराम वाचक बालकों को परेशान किये जा रही थी। खिड़की और दरवाजे की झिरी में झांकने पर डांट पड़ी और उन्हें मजबूती के साथ बंद रखा जाने लगा। बालक उदास हो गए थे। टिंडई ने 'ऑपरेशन नई दुल्हनिया' की कमान संभाली थी और एक उपाय ढूंढ निकाला था। उस मास्टर प्लान को याद कर आज भी चित्तू पंडित की बांछें खिल जाती हैं। टिंडई एक नुकीला पेचकस ले आया था। इसका क्या होने वाला है, उसने सबको समझाया और काम शुरू हो गया।

चाचा की कोठरी का दरवाजा काफी पुराने जमाने का था। उस पर बेलबूटे खूबसूरती से आंके गए थे। मधुमक्खी का पंख तराशने के लिए लकड़ी को जिस जगह छीला गया था, वहां किवाड़ अपेक्षाकृत ज्यादा पतला था। उसी कमजोर बिंदु पर पेचकस घुमाकर टिंडई ने ऑपरेशन का आरंभ किया। खेलने के क्रम में कोई न कोई दरवाजे के पास पहुंच जाता और उसी बिंदु पर पेचकस नचा देता। पंद्रह दिनों में दरवाजे के आरपार सूराख हो गया जिसमें से आसानी से आंख सटाकर भीतर का नजारा लिया जा सकता था। सहकारिता, सहयोग और भाईचारा का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हुए चित्तू पंडित के मित्रगण उसी सूक्ष्म विवर से बायस्कोप का आनंद लिया करते थे।

मित्रों ने एक और नजारा ढूंढ निकाला था। धर्मतल्ला के इस पुराने मुहल्ले में मकान, मालिकों की हैसियत के अनुपात में छोटे बड़े और ऊंचे नीचे थे। एक सेठ ने अगल बगल तीन पंचमंजिली इमारतें बनावाई थीं और फ्लैट्स बेच दिये थे। इमारतों की पिछली दीवारों के त्रिकोण से एक आंगननुमा बना जाता था। नीचे से ऊपर देखने पर आसमान एक नीली पतंग जैसा दिखता था। छत से नीचे देखने पर एक सुरंग का अहसास होता था। उस तिकोने आंगन में एक निचले फ्लैट का पिछला दरवाजा खुलता था। उस आंगन में एक नल था। दीवारों में कीलें ठोंककर रस्सियां बांध दी गई थीं जिन पर निचले फ्लैट के वासियों के कपड़े झूलते रहते थे। महिलाएं उन्मुक्त, नि:शंक भाव से नल का उपयोग किया करती थीं। एक दिन छत पर खेलते एक बालक को वह स्नान दृश्य दिख गया। फिर तो सभी रेलिंगों से चिपककर स्नान दृश्य का आनंद लिया करते थे। काश! विद्यापति को भविष्य के स्नान दृश्य का अनुमान होता तो उनके काव्य में कुछ और आयाम जुड़ गए होते। अगर उस बालक में विद्यापति जैसी प्रतिभा होती तो श्रृंगार का एक आधुनिक कवि भाषा को मिल गया होता। इन दोनों दृश्यों में कुछ कठिनाइयां थीं। पहले दृश्य को बायोस्कोप की तरह सिर्फ एक ही आदमी एक समय में देख सकता था और दूसरे में कल्पना का आधिक्य होता था। वस्तुएं लांग शॉट में थीं। उन्हें क्लोज शॉट और क्लोज अप में ले आने के लिए टिंडई एक दूरबीन खरीद लाया। छत पर दूरबीन घुमाते हुए एक शाम एक ऐसा नजारा हाथ लगा कि इन लोगों की आंखें धन्य धन्य हो गईं।

इन्हीं दिनों चित्तू ज्योतिष का भी अध्ययन कर रहे थे। शाम के समय वे नक्षत्रों का

अध्ययन करने के लिए छत पर निकल आते थे। एक दिन पंडित जी छत पर आ गए। चित्तू को तन्मय अवस्था में दूरबीन से सटे देखकर पंडित जी ने समझा कि बालक खूब ध्यानपूर्वक ग्रहों नक्षत्रों को पहचानने में लगा है। पंडित जी को अपने पीछे खड़ा पाकर चित्तू हड़बड़ा गए।

"किस नक्षत्र को देख रहे थे?" पंडित जी ने मधुर कंठ से पूछा।

"जी! शतभिषा और रोहिणी को।"

"अच्छा! जरा मैं भी देखूं!" पंडित जी ने जब उस दिशा में दूरबीन को घुमाया जिधर चित्तू ध्यानस्थ थे तो छी: छी: कर उठे। एक फ्लैट की खुली खिड़की के भीतर एक व्यक्ति टेबुल लैंप जलाकर एक स्त्री के गुप्तांग से रोमावलियों की रेजर से मनोयोगपूर्वक सफाई कर रहा था।

"यह पामर ऐसा प्रतिदिन करता है?" उन्होंने पूछा।

"जी!" चित्तू के मुंह से निकला।

"और प्रतिदिन आप लोग समत झरोखा बैठकर जग का मुजरा लेते हैं।" चित्तू के पास कोई जवाब नहीं था।

पंडित जी ने दूरबीन घुमाकर दूर फेंक दिया और चित्तू को पीटते हुए घर ले गए।

यह शाम चित्तू के जीवन में काफी परिवर्तनकारी साबित हुई। बड़े पिताजी ने क्रोधावेश में चित्तू की सारी पुस्तकों को उलटपुलट दिया था। इस क्रम में उनका क्रोध शांत होने की जगह आसमान चढ़ता गया क्योंकि लगभग हर मोटी पुस्तक से मस्तराम की एक पतली किताब बाहर निकल आई। शिवपुराण से तो चार पांच निकल आईं। किताबों के पीछे वह लघु ट्रांजिस्टर भी बरामद हो गया जिस पर मनभावन नगमे सुनने की शिकायतें पड़ोसियों से मिलती रहती थीं। इन बातों को यादकर चित्तू का मन विषाद से भर गया।

प्रात:काल वे तत्परतापूर्वक चौकी ढाबा धोकर, धोती लपेटकर खड़े थे। पंडित जी पूजनोपरांत शवासन किया करते थे। शवासन के बाद व्यालू (नाश्ता) करते हुए उन्होंने कहा, "शास्त्री की डिग्री की छाया प्रतिलिपि और एक आवेदनपत्र मेरे महाविद्यालय में जमा कर दो। मैं कोशिश करूंगा; एक व्याकरण के शिक्षक की जगह खाली हुई है।"

चित्तू असमंजस में पड़ गए। वे किसी भी हाल में शिक्षक नहीं बनना चाहते थे। शिक्षक का जीवन उन्हें नीरस जान पड़ता था। वह शिक्षा और शिक्षक की महिमा थी कि बचपन में उन्हें अपने माता पिता से बिछड़ना पड़ा। चित्तू उसी दिन टिंडई से मिलने चले गए। टिंडई ने काफी गर्मजोशी से उनका स्वागत किया। उसने जेनरेटर के लिए पार्ट्स और केबुल बनाने वाली एक फैक्टरी में काम दिलवा दिया। दो महीने तक काम करने के बाद उनकी समझ में आया कि डेढ़ हजार रुपए माहवारी से उनका कुछ नहीं होने वाला। उन्होंने आय के अन्य स्रोतों के बारे में सोचना शुरू किया।

बड़े पिताजी को यह काम पसंद नहीं था। वे भन्नाते रहते थे। चित्तू बोरिया बिस्तर समेट बेलियाहाट आ गए और टिंडई के पड़ोस में एक कमरा किराए पर ले लिया। एक दिन फैक्टरी के कबाड़ की तरफ चित्तू का ध्यान गया। वहां पीतल के अनुपयोगी खंड पड़े थे। चित्तू ने कुछ टुकड़े उठाकर दीवार के बाहर घूरे पर फेंक दिया। शाम को पीतल के टुकड़े उठाकर बाजार में बेच आए। एक माह में उन्होंने चार पांच हजार रुपए जमा लिए। इन महीनों में वे कलकत्ता में काम करने वाले अपने गांव के लोगों से मिलते भी रहते थे।

आबकारी पुलिस विभाग में काम करने वाले गर्जन बाबा चित्तू को काफी पसंद करते थे। विभाग के द्वारा पकड़े गए अवैध शराब और गांजा आदि भी गर्जन बाबा चित्तू को उपहार

में दिया करते थे। हालांकि दोनों व्यक्तियों में उम्र का काफी बड़ा फासला था मगर गर्जन बाबा उनको यार, यारवा आदि पुकारा करते थे। चित्तू उनको बाबा कहते थे। गर्जन बाबा ने चित्तू को आभूषणों की एक दुकान में काम दिलवा दिया। फैक्टरी में केबुल ढोने से यह ज्यादा इज्जतदार काम था। पगार भी पांच सौ रुपए ज्यादा थी। जल्द ही चित्तू पुराने सेल्समैनों के दोस्त हो गए। रोज गल्ले से चार पांच सौ की चोरी होती थी। पैसे आपस में बंट जाते थे। चित्तू के हिस्से भी सौ पचास आ जाता था।

जीवन काफी शांत सुखी हो गया था। मालिक ने दुकान के ऊपर ही चित्तू को एक कमरा दे दिया था। आसपास के अनेक कमरों में अनेक परिवार रहते थे। बड़े पिताजी के साथ कुछ दिन रह लेने से उनके संस्कार चमक गए थे। उनकी चमक वे बनाए हुए थे। सुबह सुबह पूजा पाठ, ध्यान, शुद्धतापूर्वक भोजन निर्माण आदि से आसपास के परिवार काफी प्रभावित दिखने लगे। दुकान की सफाई के बाद सुबह में चित्तू दुकान की भी पूजा कर दिया करते थे। वे अब एक शांत और सुखी जिंदगी गुजार देने का निश्चय करने लगे थे। उन्होंने शादी करने का भी मन बनाना शुरू कर दिया था। ग्रहों नक्षत्रों को शायद चित्तू के चित्त की शांति कबूल नहीं थी। इस सुखद जीवन का अभी तीन महीना ही बीता था कि एक दिन सेठ ने उनको अपने पास बुलाया। सामने बैठाकर तजवीजती निगाहों से उन्हें परखा। ऐसा लग रहा था जैसे वह इंसान को नहीं खरीदने के लिए कटहल देख रहा हो। पंडित जी सकपका गए।

"पंडित जी!" सेठ ने संबोधित किया।

"जी!" चित्तू सावधान हुए। उनके दोनों कान खरगोश के कानों की तरह तन गए। कहीं गल्ले से चोरी वाली बात तो नहीं खुल गई? या किसी महिला ग्राहक ने शिकायत तो नहीं कर दी?

"पंडित जी! आप तो शास्त्री हो। पढ़े लिखे विद्वान हो।" इतना कहकर सेठ रुका। पंडित जी का दिमाग तेजी से चलने लगा। यह आगे क्या बोलेगा और क्या बोलेगा तो क्या उत्तर दूंगा, वे सोचने लगे। आगे यह बोलेगा कि इतना पढ़ लिखकर यहां क्यों चाकरी कर रहे हो? आप को तो कहीं शिक्षक लग जाना चाहिए।

लेकिन सेठ ने ऐसा कुछ नहीं कहा। उसने कहा, "पंडित जी! कृपाकर आप 'गो हत्या बंद हो' इस विषय पर एक निबंध लिख दीजिए।"

पंडित जी की सांस में सांस आई। उन्होंने ये भी नहीं पूछा कि निबंध कितने पेज का चाहिए, क्यों चाहिए आदि इत्यादि। सेठ ने कागज कलम दिया और कहा कि अपनी कोठरी में ही बैठकर लिख दीजिए और शाम को लेकर आइए। पंडित जी काफी मशक्कत करते रहे मगर 'गो हत्या बंद हो' के बाद कोई वाक्य उनके दिमाग में आ ही नहीं रहा था। तीन साढ़े तीन बजे उन्होंने चिलम फूंका तब जाकर कुछ सूझा। इन दिनों चित्तू समय से पीने लगे थे। एक चिलम सुबह, एक चिलम शाम लेकिन उस दिन उन्होंने क्रम भंग किया।

'धर्म की जय हो, अधर्म का नाश हो, प्राणियों में सद्भाव हो, गो हत्या बंद हो।' इसके बाद गाय पर छठी क्लास में लिखा निबंध उन्होंने टीप दिया, 'गाय के चार पैर, दो सींग, एक थन होता है। गाय दूध, गोबर और पेशाब देती है। गोबर से घर लीपा जाता है तथा गोहरी गोयंठा बनता है। गोहरी जलावन के काम आता है। खास तौर से लिट्टी बाटी उस पर काफी अच्छी बनती है। गाय के दूध से दही, मक्खन, छेना, खोवा, घी आदि बनता है। गाय के पेशाब को गोमूत्र कहा जाता है जो अत्यंत पवित्र तथा रोग निरोधक होता है। गाय को हिंदू माता मानते हैं और पूजते हैं। अत: गो हत्या बंद होनी चाहिए।' इस तरह के वाक्यों से उन्होंने

पांच पन्ने भर दिये।

सेठ ने देखा तो बाग बाग हो गया। चित्तू ने समझा कि जान छूटी मगर यहीं उनकी जान फंस गई। सेठ ने कहा कि पंडित जी आप गो हत्या बंद हो, इस विषय पर एक पुस्तक ही लिख डालो।

"सामग्री कहां मिलेगी सेठ जी?" चित्तू ने कन्नी काटकर निकलने की कोशिश की।

सामग्री की कोई कमी नहीं है पंडित जी। आप मेरे साथ चलिए। समय से पहले ही दुकान बढ़ाकर सेठ पंडित जी को अपनी गाड़ी में बिठाकर घर ले गया। (सेठ लोग दुकान बंद नहीं करते, अगले दिन की ओर बढ़ा देते हैं) एक विशाल भवन में वह अकेला अपनी जवान नौकरानी के साथ रहता था। सेठ ने चित्तू को एक कमरे में ले जाकर खड़ा किया। तीन चार अलमारियों में सिर्फ गाय और हिंदू धर्म से संबंधित हिंदी, गुजराती, बांग्ला और अंग्रेजी भाषाओं में किताबें भरी थीं।

"पंडित जी! अब आपको दुकान में बैठने की जरूरत नहीं! आप सुबह यहां चले आइए और मेरे आने तक लिखते रहिए।" सेठ ने मुस्कराते हुए कहा।

दूसरे दिन सुबह सुबह चित्तू सेठ के विशाल भवन के भव्य कक्ष में मोटी मोटी किताबों के बीच उत्तेजित से खड़े थे। दुकान की तरफ जाने से पहले सेठ अपनी नौकरानी को नाम से पुकारकर पंडित जी की सेवा का निर्देश दे गया था। नौकरानी का नाम सुनकर चित्तू पंडित की बचपन की स्मृतियां जाग्रत हो गईं।

रमिया! वे कंटकित हो गए। उन्हें लगा कि इन मोटी पुस्तकों में जरूर कुछ विशेष साहित्य छुपा होगा। सूक्ष्मता से परीक्षण करने के बाद उन्होंने पाया कि दो अलमारियों की दो दराजें तालाबंद हैं। एक तार के सहारे उनको खोलते ही काम कथाओं और चित्रों का जखीरा हाथ लगा। चित्तू गद्गद् हो गए। सेठ के पास देवताओं, नेताओं, अभिनेताओं, तारिकाओं, बाबाओं और नग्न कन्याओं के चित्रों के अलग अलग संग्रह थे। एक दिन मौज में आकर सबमें से कुछ चित्र निकालकर पंडित जी ने ताश के पत्ते की तरह फेंट दिया और यह नवीन संस्करण किताबों के बीच छुपा दिया।

कुछ दिन चित्तू को यह काम काफी आनंददायी लगा। दो चार किताबों से टीपकर पंडित जी दो चार पन्ने भर देते थे और आराम से सोफे पर पसरकर सोते रहते थे। सुबह में एक नंबर का नाश्ता और दोपहर में भोजन भी मुफ्त का मिल रहा था, मगर ऊपरी आमदनी बंद हो गई थी। चित्तू प्रकृति के संकेत को समझ गए थे कि वह उन्हें विश्राम देना चाहती है। विगत प्रेम प्रसंगों की हानिकारक स्मृतियां रमिया की तरफ आकर्षित होने से उन्हें रोक देती थीं। मगर चार पेज लिखने, खाने और सोने मात्र की एकरस क्रिया से वे ऊब रहे थे और किसी भी दिन दुर्घटना हो सकती थी। हालांकि वे आनंदित थे लेकिन उनका केतु में शनि चल रहा था इसलिए कुछ न कुछ गड़बड़ होने का खटका लगा रहता था। किताब लिखने की आड़ में उनसे करवाया क्या जा रहा है, यह पंडित जी को महीना बीतते न बीतते समझ में आ गया था। सेठ दुराचारी था इसीलिए उसका परिवार उसको छोड़कर अलग रहने लगा था। नौकरानी दिखावे की नौकरानी थी। वह वास्तव में उसकी पलंगरानी थी। मगर बूढ़े सेठ के अतिरिक्त उसका एक अन्य प्रेमी भी था। जैसे पात्र में वस्तु की अनुपस्थिति में हवा उपस्थित हो जाती है, वैसे ही सेठ के घर से निकलते ही नौकरानी का यार वायुवेग से उपस्थित हो जाता था।

पंडित जी की उपस्थिति से दो प्रेमियों के मिलन में खलल पड़ गया था और सेठ यही चाहता था।

तथाकथित नौकरानी ने अपने यार से सेठ के महल के बाहर मिलने का रास्ता अपनाया। बाहर निकलते हुए चित्तू को निर्देश दे जाती कि अगर सेठ का फोन आए तो कह दीजिएगा कि रमिया बाथरूम में है। पंडित जी ने भी बाहर निकलने का यही रास्ता अपनाया। फोन यदि चित्तू उठाते तो सेठ रमिया के बारे में पूछता और रमिया उठाती तो चित्तू के बारे में। पंडित जी इस काम से बोर होने लगे थे। एक दिन और उन्होंने सुबह शाम का नियम तोड़कर दोपहर में तत्व लिया। तत्व ग्रहण करते ही उनकी चेतना जागरूक हो गई। पहला विचार आया कि क्यों न डनलप के गद्दे पर गुदाज बदन का आनंद लिया जाए। किंतु दूसरे विचार ने इसे खारिज कर दिया। बनारस में सेठानी प्रकरण की यादें ताजा हो गईं और उन्हें अपना निश्चय याद आया कि यहां वे सिर्फ पैसा बनाने के लिए आए हैं। फिर एक और विचार आया जो क्रम से तीसरे नंबर पर था। तीसरे विचार ने पहले भय उत्पन्न किया फिर एक निर्णय पर पहुंचा दिया। मामला प्रेम प्रकरण का है। अनजाने वे दो प्रेमियों के बीच दीवार बन गए हैं। प्रेम अंधा होता है। किसी दिन क्रोधवश रमिया के प्रेमी ने पेट में रामपुरी चाकू उतार दिया तो कुंआरे ही यमलोक चले जाएंगे। और तो और कुंआरे मरने पर देह की कम दुर्गति नहीं होती है। कुंआरे मरने पर शवदाह से पहले गुदाद्वार में हल्दी का टूसा ठूंस देने की रस्म है ताकि अगले जन्म में हाड़े हल्दी लगे। चित्तू को कुंआरे रहने से ऐतराज नहीं था मगर मरणोपरांत के इस कर्मकांड के वे सख्त खिलाफ थे। उन्होंने पुस्तक नहीं लिखने का फैसला किया।

दूसरे दिन पंडित जी दुकान में पहुंचे।

सेठ टीकमचंद इन्हें देखते ही चौंक गया, "पंडित जी! आप यहां क्या कर रहे हैं? आप घर जाइए! पुस्तक लिखिये।"

"सेठ जी! यह पुस्तक लिखने का काम मुझसे नहीं होगा।"

"क्यों? आप तो..."

"वो सब ठीक है। मगर किताब लिखवाना है तो एक हजार पगार बढ़ा दीजिए।"

सेठ बिदक गया, "आपका दिमाग तो सही है? इतना पैसा तो यू.जी.सी. भी नहीं देती।"

"यू.जी.सी. काफी रुपए देती है।" चित्तू बोले।

"थिसिस लिखने के लिए..." सेठ ने टहोका।

"हां, थिसिस लिखने के लिए, रखेल की रखवाली करने के लिए नहीं!" पंडित जी तमककर बोल गए।

सेठ का चेहरा नीला पीला और लाल हो गया। कर्मचारियों के सामने सेठ नंगा हो गया था।

सेठ चीख पड़ा, "निकालो इस हरामखोर को यहां से!"

"ऐसे ही निकाल दोगे?" पंडित जी ने सोचा समझा प्रश्न किया।

"इसको दो महीने की पगार दो और अभी बाहर करो। आज शाम तक कोठरी खाली करवा लो!" सेठ क्रोध से कांपने लगा।

चित्तू पंडित भी मंजे खिलाड़ी की तरह इस स्थिति के लिए पूरी तरह तैयार थे। सेठ और कर्मचारियों को आश्चर्य हुआ कि अभी तक चित्तू का चेहरा विवर्ण नहीं हुआ। वे सेठ से माफी मांगने की जगह मोहिनी मुस्कान बिखेरते हुए सबको घूम घूमकर देख रहे थे।

"सेठ!" चित्तू ने शांत स्वर में संबोधित किया, "दो महीने का नहीं! पिछले चार साल की पगार तुम्हारे पास है। पिछले चार साल से तुम्हारे यहां काम कर रहा हूं और तुमने पगार नहीं दिया।" अब चौंकने की बारी सेठ की थी। क्रोधवश मुंह से झाग फेंकते हुए टीकमचंद न जाने क्या क्या बोलते रहे। चित्तू मुस्कराते हुए अपनी कोठरी में चले गए।

सेठ गर्जन बाबा के पास गया। गर्जन बाबा चित्तू से मिले। चित्तू ने सारी परिस्थितियां बताईं और गर्जन बाबा से थोड़ा किनारा कर लेने का आग्रह किया। रखेल की बात से गर्जन बाबा सेठ से बिदक गए। उन्होंने मामले से अपने आप को बाहर कर लिया। रो गाकर सेठ ने दो साल की पगार दी। जोड़ गांठकर चित्तू के पास तीस पैंतीस हजार रुपए इकट्ठा हो गए। चित्तू ने सोचा कि इस बार गांव चलकर कोई सम्मानजनक धंधा करेंगे। गांव पर ही जमेंगे और शादी करेंगे।

कलकत्ता छोड़ने से पहले चित्तू मां काली को प्रणाम करने गए। चलते हुए उन्होंने महानगर कलकत्ता को, बंगाल की खाड़ी को, गर्जन बाबा को, बड़े पिताजी को, टिंडई को, सेठ टीकमचंद को मन ही मन कोटिशः धन्यवाद दिया और जनता एक्सप्रेस की तीसरी श्रेणी में बोरिया बिस्तर समेत घुस लिए।

डुमरांव स्टेशन पर उतरकर चित्तू ने इक्का किराए पर लिया और गांव की ओर चल पड़े।

बचपन से अब तक चित्तू की सारी कोशिश गांव पर बने रहने की थी। वे बचपन में गांव छोड़ना नहीं चाहते थे। वे गांव की प्राथमिक पाठशाला में ही पढ़ना चाहते थे। मगर शिक्षा के नाम पर उनका बचपन उनसे छीन लिया गया था। उस छोटी उम्र में भी गांव की प्राथमिक पाठशाला के पक्ष में उन्होंने अनेक तर्क दिये थे।

गांव के कितने ही उच्च पदों पर कार्यरत नामी गिरामी लोग उसी पाठशाला के छात्र रहे थे। उनमें से कई गांव आने पर अपनी यादें ताजा करने के लिए पाठशाला में आया करते थे। मगर जब चित्तू उस पाठशाला की पहली कक्षा के छात्र हुए तब वह पाठशाला कम गोशाला ज्यादा हो गई थी।

चित्तू अब युवा थे और अपना निर्णय स्वयं ले सकते थे। गांव उन्हें काफी व्यक्तिगत कारणों से प्रिय था। मैथिली शरण गुप्त को गांव लटकती लौकियों के चलते प्रिय था। कवि नागार्जुन अपने तरौनी गांव को अपनी खास अनुभूतियों के चलते याद करते हैं। चित्तू पंडित को गांव इसलिए प्रिय था क्योंकि वहां तत्व बहुत सस्ता मिलता था। हालांकि यह सिर्फ एक कारण था। रास्ते में एक जगह इक्का रोककर चित्तू तात्विक हो चुके थे। डुमरांव स्टेशन से चित्तू का गांव, बनगांव, चार कोस की दूरी पर स्थित था। नया भोजपुर, काजीपुर आदि गांव रास्ते में आते थे। काजीपुर गांव की बस्ती से बाहर निकलने पर हरियाली का एक सागर दिखता है। जिसके दूसरे छोर पर बनगांव स्थित है।

चित्तू का इक्का जब गांव के खेतों से गुजरने लगा तो उनकी नजरें बरबस बिजली के खंभों की तरफ उठ गईं। उठीं और टंगीं रह गईं क्योंकि खंभों पर तार दिख रहे थे। यह भ्रम तो नहीं! परखने के लिए चित्तू ने आंखें मलकर देखा। फिर भी विश्वास नहीं हुआ तो इक्केवान से पूछा।

"पंडित जी! आपै की किरपा से तार आया है और आपै पूछ रहे हो?" इक्कावान मसखरी समझकर बोला। चित्तू को लगा कि वह व्यंग्य कर रहा है। गांव में लोग अभी भूले नहीं हैं। चित्तू को लौटने का पछतावा होने लगा। गांव के कुछ लोग कच्ची सड़क पर आते दिखे। चित्तू ने धूप से बचने के लिए अंगोछे से मुंह और सिर ढंक लिया। इक्के को रास्ता देने के लिए लोग सड़क के किनारे खड़े हो गए। गौर से देखने पर उन लोगों ने पंडित जी को पहचान लिया और काफी गर्मजोशी से स्वागत किया। चित्तू पंडित और भी संकुचित हो गए।

चित्तू पंडित के पीठ पीछे उनके गेश्टाल्टी मित्रों ने ताईद लेंडुकी प्रसाद के नेतृत्व में प्रयत्न किया था और गांव में बिजली वापस ले आए थे। आवेदनकर्ताओं में सर्वोपरि चित्तू

का नाम था। जिस दिन [illegible] बांधा जाने लगा, उसी दिन से यह प्रचारित किया जाने लगा कि चित्तू अपने मित्रों के साथ बधार में घूम रहे थे। जब उन लोगों ने चोरों को तार काटते देखा तो उसका विरोध किया और लड़ पड़े। चोर संख्या में ज्यादा थे और पुलिस से उनकी मिलीभगत थी। चोरों ने इन्हीं लोगों को पकड़कर पुलिस के हवाले कर दिया।

इस कहानी की सर्जना और प्रसार के साथ चित्तू अपने अनजाने हीरो हो चुके थे। इसका उनको पता ही नहीं था। वे मुंह छुपाकर गांव में प्रवेश कर जाना चाहते थे और गांव वाले कंधों पर उठाकर ले जाने के लिए उनकी राह देख रहे थे।

क्या था इस गांव में जो चित्तू बार बार यहां आकर बसने की कोशिश कर रहे थे? यह गांव भी उत्तर भारत के अन्य गांवों की तरह एक कृषि प्रधान गांव था। एक जड़ा गांव जिसमें लगभग हर जाति के लोग रहते थे। जिसके चारों और आम, महुआ, जामुन और कटहल के घने उपवन थे। जो कालांतर में क्षीण होते चले गए थे। जहां बांध बंधने से पहले लगभग हर साल बाढ़ आती थी और गंगा का पानी बस्ती को चारों ओर से घेर लेता था। इस गांव ने भी अपने स्वर्णकाल का समापन देखा था, जब गांव से बाहर निकलकर लोग नौकरियों और व्यापार में व्यस्त होते चले गए थे और गांव को भूलने लगे थे।

वर्षों से एकतरफा निर्यात करने वाले गांव में अवकाश प्राप्त कर कुछ लोग वापस आने लगे थे। इनमें से अधिकतर लोग अपनी बाकी जिंदगी पुरानी यादों के सहारे चैन से बिताना चाहते थे। मगर प्रो. गणाधीश महापात्र जैसे लोगों को आश्चर्य होता था कि इस कंप्यूटर एज में गांव का स्कूल इस बदतर अवस्था में है। यहां विज्ञान की पढ़ाई के लिए प्रयोगशाला का किसी ने नाम तक नहीं सुना। सुना भी तो उसमें क्या क्या होता है यह न सुना न जाना, न जानने की कोशिश की। घोर आश्चर्य! और इसी शीर्षक से प्रो. साहब अपना ललित निबंध लिखने में व्यस्त हो गए। इस निबंध में उन्होंने वर्णन किया कि गांव में आने पर उनको किन किन चीजों पर घोर आश्चर्य हुआ।

घर के लोगों ने चित्तू का प्रसन्नता के साथ स्वागत किया। वे छोटे बड़े सबके लिए कुछ न कुछ लेकर आए थे। बनारस में जजमनिका की कमाई को गांव में पिछली बार पानी की तरह बहाकर चित्तू समझ चुके थे कि अगर पैसा बचाना है तो किसी ढंग के काम में पैसा फंसाना होगा। पतुकी चाचा वर्षों से खेत में एक पंपसेट लगा देने का निवेदन कर रहे थे। उन्हें दूसरों के पंपसेट से अपना खेत पटाना पड़ता था और इसमें अक्सर मुश्किलें आती थीं। पंपसेट से अपने खेत तक पानी ले जाने के लिए दूसरे के खेतों में नाली खोदनी पड़ती थी और कभी कभार इसको लेकर झंझटें भी हो जाती थीं। कच्ची नाली से खेत पटाना वैसे भी काफी मेहनत का काम है। अक्सर नाली फूट जाती है और बीच में ही किसी दूसरे का खेत पटाने लगती है। जब तक पानी पटाना है, दौड़ भागकर मेड़ बांधते रहना पड़ता है। वैसे भी आधा घंटा तो नाली के भीगने में ही लग जाता है। इसके अलावा जब चाहो तब नहीं पटा सकते। नंबर लगाना पड़ता है। कभी कभी नंबर आने तक खेत का काफी नुकसान हो चुका रहता है।

चित्तू ने पतुकी चाचा के लिए दस हॉर्सपावर का पंपसेट खरीद दिया। उद्घाटन के दिन सत्यनारायण भगवान की पूजा करवाई गई और बताशा बंटा। इस घटना ने ग्रामीणों में उत्साह, ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा को जन्म दिया। कुंडीनाथ ने मन ही मन तय किया कि साल भीतर वे भी पंपसेट डालकर मानेंगे। आस पड़ोस के खेतवाले खुश हुए कि उनको अब पानी काफी नजदीक से मिल जाएगा। उद्घाटन के दिन पतुकी चाचा ने अपना खेत इतने उत्साह के साथ पटाया कि गेहूं के सारे बीज बहकर पड़ोसी के खेत में चले गए। खेत की दुबारा

बुवाई करवानी पड़ी। पतुकी चाचा में सामयिक रूप से अति उत्साह और अहंभाव का जन्म हो गया मगर जल्द ही कुंडीनाथ ने इसको ठंडा कर दिया।

दो बीघा खेत बेचकर कुंडीनाथ ने एक पंपसेट डलवाया और एक ट्रैक्टर भी खरीद लिया। पतुकी चाचा के पंपसेट के बारे में प्रचारित करवा दिया गया कि उनके मशीन में कलमदोजी है। और कि वे मशीन में हेरफेर कर उसे धीमा कर देते हैं जिससे खेत पटाने में ज्यादा समय लगता है। कुंडीनाथ के ट्रैक्टर के बारे में हल्ला हो गया कि एक ही जुताई में खेत की दो फीट मिट्टी उलट देता है। दूसरों के ट्रैक्टर की तीन जुताई के बराबर कुंडीनाथ की एक जुताई है।

पंपसेट के साथ न सिर्फ खेतों में बल्कि पतुकी चाचा के जीवन में हरियाली छा गई। उन्होंने अपने पंपसेट पर नहाने के इच्छुक पुरुषों को मना कर दिया था। गांव के काफी नजदीक होने के चलते महिलाओं के बीच नहाने और कपड़े धोने के लिए वह काफी उत्तम और सुविधाजनक स्थान के रूप में ख्यात हो गया। जल विहार का दृश्यानंद प्राप्त करते हुए पतुकी चाचा काफी मस्त मगन जीवनयापन करने लगे।

चित्तू को चैन नहीं पड़ रहा था। उन्हें कोई ऐसा काम चाहिए था जिसमें पैसा फंसाकर निश्चिंत हो सकें।

गांव में स्थायी रूप से निवास करने वालों के पास नकद मोटे पैसों का अभाव होता है। गेहूं की रोटी, चावल, दाल और आलू प्याज की सब्जी तो किसी हाल में मिल जाया करती है, मगर ऐश करने लायक पैसे का अभाव रहता है। ऐसे में बाहर नौकरी करने वाले लोगों का वे तीज त्योहार में इंतजार करते रहते हैं। ऐसे बहरवासूं का कुछ ही दिनों में आंसू निकलवाकर वे किसी अन्य का इंतजार करने लगते हैं। चित्तू पंडित जब गांव पहुंचे थे तब गालों पर रक्तिम आभा थी। एक महीने के भीतर उनकी काठी सूख गई थी। वे पैसा बचाने का उपाय सोच रहे थे और रोज ब रोज पैसा हाथ से खिसकता जा रहा था। उनके गेश्टाल्टी मित्रों को पता था कि तत्व का तीसरा कलदुम फूंकने के बाद चित्तू मूड में आ जाते हैं। धुएं से फूलकर उनका दिल काफी बड़ा हो जाता है और वे कुबेर के समानधर्मा हो जाते हैं। उसके बाद मछली मुर्गा मदिरा आदि के आदेश पारित होने लगते हैं। जो चित्तू पहले दौर के धूम्रपान के लिए पैसा देते हुए जेब टटोलते थे कि यार पैसा नहीं है, वही तीसरे दौर के बाद भीतर की अंटी से सौ टकिया पर सौ टकिया निकालकर फेंकने लगते थे।

चित्तू के ग्रह नक्षत्र कुछ अच्छे चल रहे थे इसीलिए उनका सैनिक मित्र लेटिअई उन्हीं दिनों गांव आ पहुंचा। चित्तू की दिनचर्या का गहराई से अध्ययन और विश्लेषण करने के बाद लेटिअई निष्कर्ष पर पहुंचे कि चित्तू अनुशासनविहीन हो गए हैं। फौज ने लेटिअई को काफी अनुशासित कर दिया था। वरना गांव पर रहते हुए वे अनुशासन भंग करने वालों के सेसर सरताज हुआ करते थे। वह चढ़ती जवानी का समय था जब आठवीं में फेल हो जाने के बाद लेटिअई पढ़ाई से संन्यास ले चुके थे और जिले का नामी रंगबाज बनने का सपना देख रहे थे। उन्हें तरह तरह के कट्टे रखने का शौक था। लेंड़ुकी प्रसाद की मां आज तक उस लोहे की फूंकनी को खोजती रहती थीं जिसका लेटिअई के नेतृत्व में कट्टा बनाने के लिए उपयोग किया जा चुका था।

संस्कृत विद्यालय में पोटकर बनाए गए छात्रों में लेटिअई अग्रणी थे। हालांकि उसी डिग्री की बदौलत उन्हें फौज में नौकरी मिल गई। गांव में हल्ला था कि पाकिस्तान की घुसपैठ रोकने में उनकी जबरदस्त भूमिका रही है। उन्होंने अकेले ही एक घुसपैठिये दस्ते को खदेड़कर सीमा पार करा दिया था। जबकि सच्चाई यह थी कि संस्कृत से मध्यमा की डिग्री

के बल पर उन्हें फौजी छावनी में पुजारी की भूमिका मिली थी। वे चेंजर हारमोनियम पर सुबह शाम भजन गाते हुए फौज में पंद्रह साल बिताकर घर वापस आ गए थे। उन्होंने एक भी गोली नहीं चलाई मगर गांव के इतिहास में अमर हो गए। उनसे संबंधित कहानियां कारगिल युद्ध, कश्मीर विवाद और श्रीलंका आदि से जुड़ी घटनाओं को आधार बनाकर प्रचारित की गई थीं। सबसे खूबी की बात ये थी कि इसमें से एक भी कहानी उनकी बनाई हुई नहीं थी, वे भी इनके श्रोता ही थे।

चित्तू पंडित को नियंत्रित, नियमित और राष्ट्रहित में कार्यशील करने के लिए लेटिअई प्रयत्नशील हो गए। उन्होंने एक अच्छा सा काम भी ढूंढ निकाला। अल्ताफ नामक एक मुसलमान कारीगर को सरकारी कोटा मिल रहा था किंतु वह अकेले डीलरशिप लेने में असमर्थ था। उसे पैसा लगाने वाले एक पार्टनर की जरूरत थी। चित्तू पंडित अल्ताफ के पार्टनर हो गए। सरकारी राशन की डीलरशिप शुरू हो गई। बचत ही बचत का धंधा था। महीने में दो एक बार चीनी और किरोसिन तेल बांटना होता था वह भी राशनकार्ड पर नियत मात्रा से कम। साथ ही मोमबत्ती, दियासलाई, गेहूं, चावल जैसी चीजें भी सरकारी राशन में बंटती हैं, इसका गांव वालों को पता ही नहीं था। चित्तू पंडित की बन आई। गांव भर में घूम घूमकर उन्होंने प्रचार कर रखा था कि डीलर और लीडर में थोड़े से हेरफेर का अंतर है। लीडर सिर्फ वादे करता है, मीठी मीठी बातें कर जनता को तेल लगा चलता बनता है जबकि डीलर ठोस चीनी और तरल तेल वितरित करता है।

आमदनी के साथ चित्तू पंडित के जीवन के हर पहलू में परिवर्तन दिखने लगा। देशी की जगह रम और व्हिस्की ने ले ली। इन्हीं दिनों चित्तू कबूतरी नामक एक कन्या के प्रेम में पड़ गए। कन्या की आर्थिक आमदनी का स्रोत यह प्रेम व्यापार ही था। चित्तू पंडित की दुकान का तेल चीनी ऐसी अनेकानेक प्रेमिकाओं पर खर्च होने लगा। पंडित जी हर महीने किसी न किसी प्रेमिका के साथ कस्बे के एक डॉक्टर के पास जाने लगे। ऐसे ही, तफरीह के लिए। डॉक्टर उनका दोस्त था न! डॉक्टर की डिस्पेंसरी एक दस गुणे आठ के कटरे में थी। कटरे के बीच में एक हरा पर्दा लटका हुआ था। परदे के उस पर ऑपरेशन टेबुल था और इस पार टेबुल कुर्सी। कुर्सी पर बैठकर चित्तू जगत का मुजरा लेते रहते थे और परदे के उस पार उनकी प्रेमिका प्रेम परिणति भुगत रही होती थी। वैसे माहिर डॉक्टरों की कमी गांव में भी नहीं थी मगर चित्तू का जब यह धंधा ही हो गया था तो गांव से बाहर जाना ही उन्होंने ठीक समझा था। उनकी प्रेमिकाओं में गरीब, मेहनतकश छोटी जाति की लड़कियां और बड़ी जाति के गरीब परिवारों की लड़कियां शामिल थीं।

गांव में एक न एक घर अचानक चकलाघर के रूप में चलने लगता था। ऐसा अक्सर उन परिवारों में होता था जिनका आर्थिक स्रोत कमजोर होता जाता था या लड़कियां स्वभाववश वैसा हो जाती थीं। कबूतरी भी एक ऐसे ही परिवार से थी जिसमें पिता ने पुत्र उत्पन्न करने के लिए निर्विरोध (बिना निरोध) दस वर्ष तक प्रयत्न किया और अंतत: पुत्र पैदा करके ही माने। लेकिन तब तक सात कन्याएं अवतरित हो चुकी थीं। सीमित आर्थिक स्रोत के चलते बेटियों का लालनपालन ठीक से करना संभव नहीं था। कबूतरी उस क्रम में पांचवीं संतान थी। ऊपर से चार बहनें भी इसी रास्ते चलकर कपड़े और श्रृंगार प्रसाधन खरीदती हुई विवाहित होकर अपनी अपनी ससुराल जा चुकी थीं।

इन्हीं दिनों गांव में एक बाबा का आगमन हुआ। बाबा ने गीता पर प्रवचन देकर गांव वालों को मोहना शुरू किया। बाबा संस्कृत विश्वविद्यालय से आचार्य की मानद उपाधि लेकर

आए थे। बाबा के लिए गांव वालों ने एक कुटिया बनवा दी। शुरू में तो बाबा ने हर प्रकार के लोगों का तहेदिल स्वागत किया। बाद में छोटी और बड़ी जाति में भेदभाव करने लगे। बड़ी जाति में भी जो जनेऊ नहीं पहनते थे, बाबा उनको खंड़ाऊ लेकर दौड़ाने लगे। बाबा ने संध्यापूजन, ध्यान आदि की दीक्षा देनी शुरू की। गांव के तमाम गुंडे बाबा के पट्ट शिष्य हो गए। उन लोगों ने बाबा के निर्देशन में एक दल का निर्माण किया। दल का प्रत्यक्ष उद्देश्य गांव का विकास था। सबसे पहले दल ने गांव की गलियों और नालियों की सफाई की। सफाई के दौरान बाबा ने पूरे गांव का अध्ययन किया और छोटी जाति तथा मुसलमानों की सफाई का मास्टर प्लान बना लिया।

चित्तू पंडित दल के महत्वपूर्ण सदस्य थे। वे संध्यापूजन करने लगे। मोटा यज्ञोपवीत धारण करने लगे। गीता के उपदेश तक तो वे बाबा के समर्थन में थे मगर आगे की कार्रवाई उनके गले नहीं उतरती थी।

जिस बगीचे में बाबा की कुटिया डली थी, उसमें पाकड़ के एक पुराने पेड़ पर वर्षों से गिद्धों का निवास था। बाबा ने अपने भक्तों से फायर करवाकर गिद्धों को उड़वा दिया। बगीचे में एक हैंड पंप था जिस पर छोटी बड़ी सभी जाति के लोग और पशु पक्षी अपनी प्यास बुझाया करते थे। बाबा ने छोटी जाति के लोगों के लिए उसका स्पर्श निषिद्ध कर दिया। हेठार का यह गांव, बनगांव, अपनी सदियों पुरानी गति से चल रहा था जिसमें साधु फकीर, नेता और नोकरिहा आते जाते रहते थे। सदियों से इस गांव में लोग मिल जुलकर रहते आ रहे थे। लोग अपनी जातियों और धर्मों के साथ एक मानवीय सदाशयता से रह रहे थे। चौपाल में और बगीचों में एक दूसरे की जातियों का मखौल उड़ाकर लोग विवाह छोड़कर बाकी सभी मामलों में जातिवाद की निरर्थकता को समझ चुके थे। यह नया परिवर्तन लोगों के गले नहीं उतर रहा था।

गांव के एक शिक्षक और लोककवि ने जिंदगी भर की कमाई से मकान बनवाया। शिक्षक महोदय को ताजमहल से काफी प्रेम था। उन्होंने आंगन में चारों तरफ सीमेंट का ढलवा रोशनदान लगवा रखा था जिस पर ताजमहल बना था। शिक्षक महोदय बाबा को खुशी खुशी घर ले आए।

आंगन में प्रवेश करते ही बाबा चीख उठे, "का हो रामरतन! अपने घर में मस्जिद लगवा रखा है?"

"यह मस्जिद नहीं है बाबा। यह ताजमहल है। यह तो संसार के हर घर में है। हर घर एक ताजमहल है बाबा।" कविवर ने काफी विनम्रता से समझाया।

बाबा आगबबूला हो उठे। उन्होंने आंगन में पांव धुलवाने से इंकार कर दिया। गांव के लफंगों के दबाव में रामरतन जी ने बाबा के सामने ही सारे के सारे ताजमहल फोड़ दिये तब जाकर बाबा ने आंगन में अपने पवित्र पांवों को धुलवाया।

बाबा गांव के अल्पसंख्यक मुसलमानों के खिलाफ माहौल बनाने लगे। वे एक राजनीतिक पार्टी से जुड़े थे और आने वाले चुनाव के लिए वोट बैंक बनाने आए थे। सदियों से गांव के हिंदू मुसलमान इस कदर जुड़े हुए थे कि इतिहास की किसी घटना या घटनाओं की दुहाई देकर उनको दो टुकड़ों में बांटना आसान नहीं था। हिंदुओं के शादी विवाह, रस्मो रिवाज में मुसलमान पंडाल लगाते हैं। सिंदूर और चूड़ियां बनाते हैं। बनगांव में आज भी ईद और होली दोनों मिलकर मनाते हैं। राजनीतिक जहर अभी वहां तक नहीं पहुंचा है।

चित्तू पंडित बाबा के परम भक्त हो गए थे। अल्ताफ के लिए यह काफी कष्ट का

विषय था। एक दिन उसने चित्तू को समझाया कि गरीब का धर्म सिर्फ रोटी है। बाबा गांववालों को गरमाकर अपनी रोटी सेंकने आए हैं। उनका किसी धर्म से कोई लेना देना नहीं। बाबा के बहकावे में एक भयानक दुर्घटना घटने जा रही है। आसपास के गांवों में जहां सदियों से कोई फसाद नहीं हुआ, दंगा भड़क जाएगा। हिंदू मुसलमान से शुरू होने वाला टंटा, छोटी जाति बड़ी जाति फिर बड़ी जातियों में भी छोटे बड़े का झगड़ा यानी पूरा माहौल खूनी हो जाएगा। गुंडों की बन आएगी। अल्ताफ ने समझाया कि आप तो गांव से निकलकर डुमरांव स्टेशन नहीं पहुंच पाएंगे क्योंकि रास्ते में मुसलमानों के दो गांव पड़ते हैं। पंडित जी! आप तो हमारे साथ एक थाली में खाते रहे! आप ने तो कभी छोटे बड़े, ऊंच नीच में भेद नहीं किया! अब आपको क्या हो रहा है? पंडित जी चाहे जो थे, गुंडा तो कतई नहीं थे। उन्होंने गौर किया तो गांव के सभी छंटे हुए गुंडे ही बाबा को अतिप्रिय थे।

बाबा के भक्तों की संख्या बढ़ गई थी। बीस पच्चीस भक्त हमेशा घेरे रहते थे। दिन भर प्रसाद की थालियां गृहिणियां सजाकर भेजती रहती थीं। गीता से शुरू होने वाला प्रवचन हिंदुत्व पर आकर अटक गया था। एक ऐसे हिंदुत्व की बात होने लगी थी जिसमें से अधिकतर हिंदू जातियां भी बाहर हो जाती थीं।

बाबा भक्तों की संख्या से मदांध हो गए थे। अब उनके साथ उठने बैठने वाले ही हिंदू थे। शेष सभी पतित थे। अधिकांश ब्राह्मण परिवार भी उनकी हिंदू की व्याख्या के बाहर थे। मिश्री माखन के भोग से मरखैल सांड़ की तरह खुर पटकते बाबा किसी भी बात पर, किसी पर क्रोधित हो जाते थे।

एक दिन गोंड़ जाति के एक लकड़हारे को चांपाकल पर पानी पीने से रोकने के लिए गालियां देने लगे। प्रत्युत्तर में उसने भी गालियां दी। बाबा भड़क उठे। वे लाठी उठाकर मारने के लिए दौड़े। उसने भी ताजा कटे आम के पेड़ का चैला उठा लिया। बाबा बीस फीट की दूरी पर ही रुक गए। मुंह से फेन फेंकते हुए, चीखते गलियाते रहे। लकड़हारा चैला उठाए अपने घर चला गया। गांव का मुखिया, जो पिछले पच्चीस साल से मुखिया बना हुआ था क्योंकि राज्य में पंचायत का चुनाव ही नहीं हुआ था, बहुत नाराज हुआ। मुखिया ने जब चुनाव लड़ा था तब चित्तू पंडित बालक थे और मुखिया तीस साल का युवा था। बाबा को मुखिया और सरपंच का अलग अलग समर्थन प्राप्त था। दोनों एक दूसरे के प्रच्छन्न विरोधी थे।

सरपंच श्रमिक जातियों के बीच लोकप्रिय था और मुखिया उच्च जाति के लोगों के बीच ज्यादा उठते बैठते थे। बाबा के अपमान को मुखिया ने पूरे गांव का अपमान माना। उच्च जाति के कुछ राजनीतिज्ञों के साथ मुखिया गांव में ताजा ताजा लौटे प्रोफेसर गणाधीश महापात्र के पास मशवरा लेने गया। प्रो. साहब विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के विभागाध्यक्ष पद से अवकाश प्राप्त किये थे। वे अंग्रेजी, हिंदी, भोजपुरी, उर्दू तथा संस्कृत में ललित निबंध, गीत और काव्य रचा करते थे। वे देश भर की लघु पत्रिकाओं और लेखकों को लंबे लंबे पत्र लिखकर हलकान करने के लिए ख्यात थे। ध्यानपूर्वक समस्या सुनने के बाद उन्होंने एक अन्य समस्या सामने रख दी।

प्रो. साहब चार पांच दिन पहले सवेरे सवेरे उसी चांपाकल पर हाथ धो रहे थे कि बाबा पीछे आकर खड़े हो गए। उन्होंने बड़े प्रेम से प्रो. साहब को चाय पीने के लिए आमंत्रित किया। प्रो. साहब ने बताया कि वे बिना ब्रश किये चाय नहीं पीते हैं। बाबा जिद पर अड़ गए। प्रो. साहब नहीं माने तो बाबा भड़क गए। उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। प्रो. साहब के पीछे पीछे बाबा ने शास्त्रार्थ के लिए निमंत्रणपत्र भेजवाया था। प्रो. साहब ने सड़े हुए पीले क.गज

का एक पन्ना सबके सामने रख दिया। सबसे ऊपर ॐ नमः शिवाय और शीर्षक की जगह ललकार, लिखने के बाद बाबा ने प्रोफेसर को भद्दी भद्दी गालियां देते हुए गीता पर शास्त्रार्थ के लिए ललकारा था। प्रो. ने बताया कि उनकी ललकार में वर्तनी की जो अनेकशः त्रुटियां हैं उन्हें सुधारकर मैंने वापस भेज दिया है कि पहले वर्तनी ठीक करो, बहस बाद में करना।

बाबा को अच्छी तरह से अहसास था कि गांव में सत्ता और शक्ति हासिल करने के इच्छुक चंद लफंगे ही उनके साथ हैं। शेष सारा गांव उनसे तनिक दूर ही है। एक दो बौद्धिकों को छोड़कर कोई उनको भाव नहीं दे रहा था। ये भी सामयिक रूप से ही उनके प्रभाव में आए थे और अब दामन बचा रहे थे। बाबा ने उनको परास्त कर अपने अनुकूल बना लेने के लिए शास्त्रार्थ जैसा प्राचीन शस्त्र उठाया जो चिटपुटिया पटाखा साबित हुआ।

एक अवकाशप्राप्त इंजीनियर ने गीता पर शास्त्रार्थ कर उन्हें बुरी तरह से परास्त किया था। बाबा ने पराजय के क्रोधवश डंडा उठा लिया था। बाबा ने प्रच्छन्न रूप से अपना गुणगान करने के लिए गुरु चालीसा की रचना की थी और छपवाकर शिष्यों में बंटवाया था। आहत कवि रामरतन ने 'बाबा बीसा' की रचना की थी जिसमें बाबा की तुलना बीस नखवाले एक कुक्कुर से की गई थी।

प्रो. गणाधीश महापात्र के दरवाजे पर शाम को नए पुराने मित्र जुटने लगे थे, जिनमें अधिकतर अवकाशप्राप्त लोग थे। गांव के कुछ उत्साही युवा भी थे जो काव्य साहित्य में आनंद लेते थे। कवि रामरतन ने वहीं पर बीसा का पहला पाठ किया था। मुखिया को प्रोफेसर से किसी प्रकार के नैतिक समर्थन की आशा नहीं दिखी। उसने लकड़हारे से खुद ही निबटने का फैसला किया। दल समेत लकड़हारे के घर पहुंचा। बात बात में बात बिगड़ गई। किसी ने उस पर हाथ छोड़ दिया। किसी ने उसके घर के सामने के सरकारी चांपाकल का हैंडल मूड़ा खोल लिया। मुखिया का कहना था कि जब तुम्हारे घर के आगे सरकारी कल लगवा ही दिया गया है तो तू बाबा के कल पर क्या करने गया? लकड़हारे का कहना था कि वह भी सरकारी कल है।

मुखिया जी के दल में कुछ ऐसे पढ़े लिखे लोग भी शामिल थे जिनको किसी भी प्रकार कहीं भी काम नहीं मिला था। मुखिया जी के अघोषित मंत्री बी.ए., बी.एड., एल.एल.बी. कमेसरनाथ ने बात को बिगड़ने से रोकने की कोशिश की। उन्होंने अपनी पतली आवाज में चीखकर सबको शांत रहने के लिए कहा और लड़कियों जैसी कोमल कलाइयों को हवा में उठाकर मुद्रा बनाई। पता नहीं लकड़हारे को क्या हुआ कि उसने पलटकर उच्चजातीय कमेसरनाथ के मुंह पर एक घूंसा जड़ दिया। कमेसर का भेनास फूट गया। काफी मजमा लग गया। लोगों ने बीच बचाव किया। बाबा ने इसे जातीय झगड़े में बदलने के लिए रंग बांधना शुरू किया। गांव के इतिहासविदों ने कहा कि गांव के इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ। गुट निरपेक्ष इतिहासविदों ने बताया कि ऐसा अनेक बार हुआ है मगर इस तरह रंग नहीं बांधा गया।

लेंडुकी प्रसाद कवि रामरतन के पुत्र थे। जब उनके आंगन में ताजमहल तोड़े जा रहे थे, तब वे बक्सर कचहरी में थे। बाद में बाबा से बहस करने गए। उन्होंने एक छोटा सा प्रश्न किया, "ईश्वर और अल्लाह में क्या भेद है? मुझे समझा दीजिए।"

बाबा क्रोधित हो गए। उनको उठकर चले जाने का आदेश दिया।

लेंडुकी प्रसाद ने अपने कवि पिता की कविता की कुछ पंक्तियों का भावार्थ सुनाया और उठकर चले आए—

क्रोधी होकर सैनिक तो दिखते हो

लेकिन संन्यासी नहीं!
नहीं तुम...! किस दल के हो?
क्या है तेरा नाम? जाति क्या है तेरी?...मानव हो?
या राजनीतिक अश्वमेघ के मानव पशु?
क्या है आखिर भेद ईश्वर अल्लाह में?
मानव मानव के बीच दरारें क्यों पूरते हो?
निर्भय नहीं और भले तुम संन्यासी!
बीच प्रवचन चिहुंक जाते हो!
क्यों डरते हो?

बाबा अपनी मंडली समेत सन्न रह गए थे। उनके हिट लिस्ट में प्रोफेसर के बाद लेंडुकी प्रसाद ही थे।

जब लकड़हारे का दमन हो रहा था उस समय लेंडुकी प्रसाद चित्तू पंडित के साथ डॉ. पीर अली अंसारी की डिस्पेंसरी में बैठे हुए थे। चित्तू पिछली कई मुलाकातों से डॉ. अंसारी को मृत संजीवनी सुरा रखने की सलाह देते आ रहे थे। इसमें बहुत फायदा है। बनगांव में डॉ. अंसारी एकमात्र ऐसे डॉक्टर हैं जिन्हें इलाज करना आता है। जो बीमार का रक्तशोषण नहीं करते हैं। डॉ. साहब चित्तू की सलाह को मजाक समझकर टाल जाते थे जबकि चित्तू मृत संजीवनी रखने वाले एकमात्र नीम हकीम सोनरा डॉक्टर का एक प्रतिद्वंदी पैदा करना चाहते थे।

सोनरा डॉक्टर चढ़ती जवानी में दूध का धंधा करने के लिए रांची गए थे। धंधा चल नहीं पाया तो किसी डॉक्टर के यहां ट्रेनी कंपाउंडर लग गए। गांव आकर डॉक्टर हो गए। कुछ लोग गांव से शिक्षा प्राप्त करने के लिए निकलते हैं और देश के कॉलेजों, विश्वविद्यालयों से गुजरते हुए विदेशों में उच्च शिक्षा और मानद उपाधियां प्राप्त करते हैं। कुछ लोग नगर से गांव आकर भयानक व्याधियां समाप्त करते हैं। सोनरा डॉक्टर तो कभी कभी व्याधि के साथ बिंधे हुए को भी समाप्त कर देते थे। इस देश में जहां शिक्षित डॉक्टर नगरों में काम की तलाश में भटकते हैं, वहां कंपाउंडर से डॉक्टर बने नीम हकीम गांवों में जनसेवा करते घूम रहे हैं। ये डॉक्टर बिना किसी औपचारिक शिक्षा के अपने उत्तराधिकारियों को प्रैक्टिस करा उत्तरवादायित्व सौंप देते थे। जॉर्ज प्रथम, द्वितीय की तरह सोनरा डॉक्टर के मैट्रिक फेल बेटों का डॉक्टर बनकर घूमना चित्तू को कबूल नहीं था। मगर वे उसका कुछ बिगाड़ नहीं पा रहे थे। वैसे भी सोनरा डॉक्टर मृत संजीवनी सुरा के पंजीकृत विक्रेता के रूप में ज्यादा ख्यात थे। चित्तू पंडित बेंच पर नितंबों के नीचे रखा अंगोछा उठाकर चलने ही वाले थे कि कमेसर नाथ नाक से खून टपकाते हुए उपस्थित हुए। उनके पीछे आंखोंदेखा हाल बयान करने वालों की भीड़ थी। ये वे लोग थे जिन्हें प्रशिक्षित करके खोजी पत्रकार के रूप में व्यस्त कर दिया जाए तो किसी भी घटना को परत दर परत उखाड़कर रख देंगे और हिंदी अखबारों की बिक्री बढ़ा देंगे। यदि इन्हें जासूस के रूप में नियुक्त कर दिया जाए तो किसी भी देश के मिनट मिनट की खबर हमारे खाते में होगी। मगर अफसोस! भारत की सरकार इनके महत्व को नहीं समझती और इन्हें गांव की गलियों में बिललाने के लिए छोड़ दिया है। आस पड़ोस की खबरें सूंघकर ही इन्हें संतोष करना पड़ता है।

उस दिन गांव के मौखिक अखबार की हेडलाइन थी : लकड़हारे ने कमेसर नाथ का भेनास फोड़ दिया।

डॉ. अंसारी कमेसरनाथ का इलाज करते रहे, उस दौरान घटना कई मुखों से, कई

कोणों से ब्योरेवार प्रसारित की जाती रही। चित्तू चिंचित हो गए। उनको अल्ताफ की बात में सत्य की झलकियां मिलने लगीं।

बाबा ने चूंकि संन्यासी चोला पहन रखा था अत: खुलकर विरोध करना किसी के लिए संभव नहीं हो रहा था।

रात दस बजे तक मुखिया सदल बल बाबा से विचार विमर्श करते रहे और रात ग्यारह के बाद सरपंच अपनी मंडली के साथ आ बैठे। सरपंच के दल में छोटी और बड़ी सभी जातियों के चोर, डकैत, छिनतई और अपहरणकर्ता थे। गांव के दबंग लोगों से वे मेल बनाए रहते थे और उनके गण अपने काम में संलग्न रहते थे।

बाबा की कुटिया में एक खूनी युद्ध की भूमिका बन गई थी। चित्तू पंडित को एक एक बात की खबर थी। पिछली समूची रात उन्होंने बाबा की सेवा में बिताई थी। दोनों दल चित्तू पंडित के प्रति निशंक थे। उनके लिए वे एक निरीह बाभन मात्र थे। बाभन बछिया!

सुबह सुबह चित्तू गांव के गुट निरपेक्ष दबंग खेतिहर मेघनाद ओझा से मशवरा करने गए। मेघनाद ओझा का घर एक पुराने पोखरे के किनारे था। पोखरे की गहराई के अनुपात में घर काफी ऊंचाई पर था। वहां से जोर से आवाज देने पर गांव में काफी दूर तक सुनाई पड़ता था। चित्तू का परिवार दादा परदादा के जमाने से मेघनाद के घर में पुरोहिताई करवाता चला आ रहा था। उनको ओझा जी से काफी उम्मीद थी। चित्तू पंडित इस घटना को यहीं रोक देना चाहते थे। साथ ही वे बाबा को ससम्मान गांव से विदा करा देने का प्रस्ताव लेकर आए थे। ओझा जी के तर्कों से पता चला कि वे मुखिया सापेक्ष हो चुके हैं। बात बात में बात बढ़ गई।

चित्तू आपा खो बैठे।

वे चौकी से उठकर खड़े हो गए और कमर से तनिक झुककर क्रोधपूर्ण शब्दों की बौछार करने लगे, "बाबा में ऐसा क्या है कि आप जैसे सुधीजन उस पर लट्टू हुए जा रहे हैं। वह संस्कृत विश्वविद्यालय का आचार्य है तो मैं भी शास्त्री हूं। आचार्यत्व का यही अर्थ है कि जिस तिस को शास्त्रार्थ के लिए ललकारते रहो? ज्ञान क्या यही सिखाता है कि एक दुखी और शांत गांव में खूनी खेल रच दो?"

मेघनाद ओझा के द्वार का विस्तार तालाब के किनारे तक था जहां दो वटवृक्षों की छाया में किसान मजदूर सुस्ताया करते थे। लोगों को अपनी तरफ देखते देखकर चित्तू पंडित ने बचा खुचा आपा भी खो दिया। वे चीख उठे, "ऐसे कपटी का कपालभंजन कर देना चाहिए!"

खोजी पत्रकारों ने घंटे भर के भीतर पूरे गांव में यह बात पहुंचा दी। अगले दो घंटे में तीन सौ लोगों ने चित्तू से इस बाबत पूछताछ कर डाली। पूछने का अंदाज कुछ इस प्रकार होता था पंडित जी! हमें तो विश्वास नहीं हुआ कि आपने ऐसी बात कही होगी? है न! चित्तू संजीदा होकर जवाब देते, "मैंने ऐसा कहा है और देर सबेर ऐसा ही होगा।"

मुखिया, मेघनाद तथा कुछ और चुनिंदा लोगों के साथ चित्तू के पास पहुंचे। प्रभुतासंपन्न ग्रामीणों को आश्चर्य हो रहा था कि गांजा भांग पीकर एक किनारे रहने वाला बाभन बछिया क्या खाकर दबंग लोगों से पंगा ले रहा है। इसे तो पुरोहित होने के चलते ही निरीह और तटस्थ रहना चाहिए।

परंपरा के ठेकेदारों की पूरी कोशिश थी कि गांव की संस्कृति में कोई परिवर्तन नहीं आए। गांव पांच सौ साल पुराना गांव बना रहे। राजा और रंक अपनी अपनी स्थिति में बने रहें। कोई नीचे जाए तो चला जाए मगर कोई ऊपर न आए। समानता की तो बात ही नहीं सोचनी थी। समानता तो सिर्फ धर्म कर्म पूजा पाठ और कर्मकांड तक सीमित थी। 'हममें

तुममें खड़ग खंभ में, सबमें व्यापे राम ...। इसके बाद तुम छोटे मैं बड़ा। मुखिया ने चित्तू पंडित को समझाने की कोशिश की। पहले उन्होंने ब्राह्मणवाद की दुहाई देकर उनको लपेटना चाहा। बाद में समझाने के ढंग में धमकी का रंग मिलाकर बतियाने लगे। धमकी उस पहलू की तरफ थी जिधर चित्तू की राशन की दुकान थी। दुकान का संबंध सरकार से था और सरकार का मुखिया से था।

मुखिया के जाते ही चित्तू ताईद लेंड़की प्रसाद को लेकर लकड़हारे के घर की तरफ चले। वह अपने घर के बाहर खाट पर नंगे बदन बैठा था। हाथ पांव, मुंह नाक, पीठ छाती आदि पर उसने हल्दी चूने से आड़ी तिरछी, अर्द्ध चंद्राकार, गोलाकार आकृतियां बना रखी थीं। चित्तू को देखते ही वह स्वागत करने के लिए उठ खड़ा हुआ। चांपाकल का हैंडल अभी तक एक किनारे पड़ा हुआ था। लोग पुराने कुएं से पानी भर रहे थे। झगड़े के समय कोई उसकी एक आरी और टांगा भी उठा ले गया था। चित्तू पंडित ने उसे शीशे में उतारा और अंचल जाकर उससे एफ.आई.आर. दर्ज करवा दिया। शाम तक शिड्यूल कास्ट के व्यक्ति को सताने के अभियोग के तहत मुखिया जी हाजत में बंद हो चुके थे। बाबा रात नौ बजे कुटिया से निकलकर भाग खड़े हुए। किसी ने उनको देख लिया और गांव में हल्ला हो गया। सरपंच के लोग उनको वापस ले आए। सात दिन तक मुखिया जी हाजत में बंद रहे। इन्हीं सात दिनों में सरपंच ने बाबा को अपने खांचे में उतार लिया। बिहार में किसी भी समय पंचायत का चुनाव हो सकता था और सरपंच बाबा की उपयोगिता समझ रहे थे।

पच्चीस साल की मुखियागीरी में मुखिया जी के जीवन की यह सबसे बड़ी दुर्घटना थी। जब वे चुनाव लड़े तब तीस साल के युवा थे, जब हाजत में बंद हुए तब पचपन साल के प्रौढ़ थे। तब उनका मकान मिट्टी का था, अब पक्का मकान आसपास की जमीन को हड़पते हुए काफी लंबाई चौड़ाई में फैला था। इन पच्चीस सालों में विकास के नाम पर कुछ भी इस गांव में नहीं आया था। आजादी के कुछ वर्षों बाद इस गांव में बिजली और पोस्ट ऑफिस का आगमन हुआ था, जो बरकरार थे।

विकास के लिए रास्ते की जरूरत थी। रास्ते के लिए जमीन की जरूरत थी। जमीन किसानों के पास थी। किसान मुखिया और सरपंच के पास थे। चकबंदी न लागू हुई थी, न लागू होने की संभावना है। खेतों का पुराना बंटवारा इस प्रकार हुआ था कि जिधर से भी सड़क निकालो बीच में किसी न किसी अड़ंगेबाज की जमीन आ ही जाती थी। कभी मुखिया दल से, कभी सरपंच दल से पिछले पच्चीस वर्ष से संघर्ष चलाया जा रहा था कि चाहे जो हो इस गांव में सड़क न आए। सड़क के आते ही ब्लॉक, थाना, कॉलेज आदि आ जाएंगे। इनके साथ ऑफिसर, दारोगा, शिक्षक आदि आ जाएंगे फिर हमको कौन पूछेगा?

मुखिया अपमान का बदला लेगा इसका अहसास चित्तू सहित सबको हो चुका था। चित्तू ने बाबा के दरबार में बैठना छोड़ दिया था। ये बाबा भी देश के अन्य बाबाओं की तरह ही अन्न ग्रहण नहीं करते थे। वे दूध दही या इन्हीं से बने पदार्थ खाते थे। उनके मुखमंडल से तपस्या का तेज फूटता रहता था। वे ब्रह्मचर्य पर काफी लंबे व्याख्यान दिया करते थे। एक दिन उन्होंने अरहर के एक घने खेत में एक घसगढ़िन के साथ अपना तेजोमय ब्रह्मचर्य तोड़ने का प्रयत्न किया और निष्फल हो गए। घसगढ़िन ने गांव में बता देने की धमकी दी तो बाबा डर गए। डरकर भाग गए।

सरपंच ने प्रचार करवाना शुरू किया कि बाबा रमता जोगी हैं, वे एक ठौर पर कितने दिन टिकेंगे?

बाबा प्रतिदिन दोपहर में बच्चों को शिक्षित किया करते थे। उनके जाने के बाद एक दो बच्चों ने बताया कि बाबा लिंगोपासना का सजीव अभ्यास कराने की कोशिश करते थे। बाबा बनगांव से भागकर तीस कोस दूर सोनबरसा गांव में गए। वहां जल्दी ही उनकी कलई खुल गई। रात के अंधेरे में कुछ युवकों ने उनको बुरी तरह से पीटा।

बाबा हमेशा के लिए भोजपुर क्षेत्र से लुप्त हो गए। भोजपुर चाहे जितना हठी, विकास विरोधी, रूढ़िवादी आदि है मगर धर्माडंबर के लिए अच्छा मैदान नहीं है, ऐसा सोचकर बाबाओं को निर्यात करने वाली राजनीतिक पार्टी विचारमग्न हो गई। बाबा के संघर्षों को ध्यान में रखते हुए पार्टी ने उनको गुजरात के किसी नगर में भेज दिया जहां गीता पर प्रवचन देकर वे लाखों रुपए पीट रहे हैं।

बाबा के भागने का सर्वाधिक दुख सरपंच को हुआ। उनकी एक गाय का समूचा दूध बाबा की सेवा में जाता था। अभी वे बाबा से राजनीतिक लाभ ले भी नहीं पाए थे कि बाबा नदारद हो गए। सरपंच ने चित्तू को मुखिया विरोधी मानकर अपनी तरफ फोड़ने का प्रयत्न किया मगर नाकाम हो गए। चित्तू को अपनी गेश्टाल्टी मंडली से बाहर की दुनिया में खास रुचि नहीं थी। मुखिया के खिलाफ वे रिएक्शन में एक्शन ले बैठे थे और अब घबरा गए थे। मुखिया के हाजत से छूटकर आने के दूसरे ही दिन चित्तू का पंपसेट चोरी हो गया। सप्ताह भर के भीतर सरकारी राशन दो नंबर में बेचने का अभियोग लगाकर डीलरशीप बंद कर दी गई। लोग अटकलें लगा रहे थे, मगर ज्यादातर एकमत थे कि मुखिया ने ही ऐसा करवाया है। यह तो काफी बाद में पता चला कि पंपसेट सरपंच ने उठवाया था ताकि चित्तू मुखिया के खिलाफ और खखुआ कर लग जाएं और डीलरशिप मेघनाद ओझा की शिकायत पर बंद हुई थी। चित्तू पंडित बेहाल हो गए थे और उनकी नशाखोरी का दौर बढ़ गया था। कबूतरी शादी करके ससुराल जा चुकी थी और अन्य प्रेमिकाएं किसी पैसेवाले को तलाश करने लगी थीं।

एक दिन लेंडुकी प्रसाद ने समझाने की कोशिश की। उनके घंटे भर के व्याख्यान का निष्कर्ष था कि शराब ही पीना है तो अच्छी शराब पीओ। पाउच पीकर क्यों कलेजा बर्बाद करते हो? चित्तू पंडित ने कुछ पंक्तियों में संक्षिप्त उत्तर दिया, "अच्छी शराब पीने के लिए अच्छा पैसा भी चाहिए। बड़ा आदमी बनने के लिए बड़ा पैसा भी होना जरूरी है।"

लेंडुकी प्रसाद उनके जवाब से अवाक रह गए।

चित्तू ने पंपसेट की चोरी का एफ.आई.आर. दर्ज करवा दिया था। दो चार सप्ताह तक डीलरशिप जारी करवाने के लिए जिला मुख्यालय के चक्कर लगाते रहे मगर खस्ता होती आर्थिक स्थिति ने उनके पांव उखाड़ दिये। डीलरशिप का कागज उन्होंने लेंडुकी प्रसाद को बेच दिया और गांव से बाहर निकलने की तैयारी करने लगे।

गांव में पतुकी चाचा के लिए नया पंपसेट खरीद दिया गया। पंपसेट के लिए पक्की जोड़ाई की कोठरी बना दी गई। लोहे का फाटक लगा दिया गया। चाचा नहाते और खेत पटाते हुए आनंदपूर्वक जीवन बिता रहे हैं। महिलाओं, कन्याओं के सिवा सिर्फ कुंडीनाथ को उनके पंपसेट पर नहाने धोने की इजाजत है। कुंडी पतुकी चाचा के प्रति काफी सदय हो गए हैं और इस उम्र में उनकी शादी कराने के लिए प्रयत्नशील हो गए हैं।

अपर प्राइमरी स्कूल की दो कक्षाओं के कमरे ढह गए हैं। उनके पुनर्निर्माण के लिए भी धनार्जन राय चंदा उगाह रहे हैं। साल दो साल पर संस्कृत स्कूल के शिक्षकों को इकट्ठे तनख्वाह मिल जाती है। इसका फायदा ये होता है कि शिक्षकगण फिजूलखर्ची से बच जाते हैं और मकान दुकान, शादी विवाह में अच्छा पैसा खर्च कर पाते हैं। गांव में बच गए बेरोजगारों

में से कुछ ने एक कोचिंग सेंटर खोल दिया है, जहां पहली से दसवीं तक की पढ़ाई होती है। पढ़ाने वाले नौजवानों ने मुश्किल से मैट्रिक, इंटर और बी.ए./बी.एससी. की डिग्रियां हासिल की हैं। अपर प्राइमरी और मिडल स्कूल में सिर्फ वही छात्र जाते हैं जो कोचिंग सेंटर की फीस नहीं अदा कर सकते।

बचे बेरोजगारों में से कुछ धंधे कारोबार और खेती में लग गए हैं। कुछ ने गांजा की स्मगलिंग शुरू कर दी है। कुछ ने देशी शराब बनाने का कुटीर उद्योग शुरू कर दिया है। गांधी जी के कुटीर उद्योग को इन्होंने इसी रूप में अपनाया है। लेंड़ुकी प्रसाद ने बक्सर में कचहरी के पास ही एक प्लॉट खरीदकर दो कमरे बनवा लिए हैं। वे पत्नी बच्चों के साथ वहीं निवास करने लगे हैं। यदा कदा माता पिता से मिलने गांव आते रहते हैं।

लेटिअई माता पिता की सेवा करने के लिए फौज से अवकाश प्राप्त कर गांव आ गए हैं। उन्होंने एक दोनाली बंदूक खरीद ली है और कृषिकार्य में जुट गए हैं। वे मुखिया का चुनाव लड़ने की तैयारी कर रहे हैं। पच्चीस तीस साल बाद बिहार में पंचायत का चुनाव होने वाला है। मुखिया सरपंच की गतिविधियां तेज हो गई हैं।

सुना है कि भारत की सरकार प्रयत्नशील है कि गांवों तक विकास पहुंचा दिया जाए। उधर गांव प्रयत्नशील हैं कि कुछ भी हो जाए गुरु इस ससुरे को नहीं आने देना है। सब अपनी अपनी जगह प्रयत्नशील है, कौन किस मकाम पर पहुंचेगा यह तो आने वाला वक्त ही बताएगा।

चित्तू ने गांव की धरती पर किशोरावस्था में चरण रखा था। दो दशकों के संघर्ष के बाद गांव में कोई भी धंधा रोजगार नहीं करने के निर्णय पर पहुंचे थे। एक सुबह जनता एक्सप्रेस में सवार होकर वापस कलकत्ता की ओर निकल पड़े। रास्ते में इनकी मुलाकात एक संन्यासी से हो गई। संन्यासी इनके संस्कृत ज्ञान से प्रभावित हो गया। तीसरी श्रेणी के फर्श पर साथ साथ गांजा फूंकते हुए दोनों काफी अच्छे मित्र हो गए। कलकत्ता में संन्यासी ने इनकी मुलाकात एक स्वामी जी से करवा दी। स्वामी जी ने संक्षिप्त साक्षात्कार लेने के बाद चित्तू को नया नाम दिया स्वामी आनंद चैतन्य! उन्होंने चित्तू को अतीत का चोला उतार फेंकने का उपदेश दिया।

चित्तू को समय ने हर प्रकार से खंगाल दिया था। वे निराशा के चरम पर थे। महीनों तक चित्तू श्रद्धापूर्वक स्वामी जी की सेवा करते रहे। स्वामी जी व्यवसायी जातियों के बीच काफी सम्मानित थे। देश भर से भक्तगण सपरिवार आकर स्वामी जी के आश्रम में ठहरा करते थे। चित्तू अपनी वाकचातुरी के बल पर शीघ्र ही स्वामी जी के करीबी हो गए और प्रवचनों में उनके निकट मंच पर रहने लगे। इस बात ने अन्य संन्यासियों में ईर्ष्यावृत्ति को जन्म दिया मगर चित्तू आश्वस्त थे। आश्रम में संन्यासिनियों के लिए अलग परकोटा बना हुआ था। संन्यासिनियों के चरणस्पर्श तक की इजाजत नहीं थी। उस परकोटे में गिने चुने संन्यासियों को जाने की आज्ञा थी। चित्तू शीघ्र ही उनमें शामिल हो गए। काफी निकटता के क्षणों में स्वामी जी ने बताया कि लोग साल में सिर्फ एक बार होली खेलते हैं, मैं कृष्ण की कृपा से साल में चार बार होली खेलता हूं।

स्वामी जी साल में चार बार कृष्णलीला का आयोजन किया करते हैं। यह देश के चार प्रमुख नगरों में होता है। मौसम के अनुकूल नगर का चुनाव किया जाता है। आयोजन में सुंदरी कन्याएं अपने भी भाग लिया करती हैं। प्रतिदिन संध्या समय सामूहिक नृत्य होता है जिसमें स्वामी आनंद चैतन्य उर्फ चित्तू मस्त मगन भाग लिया करते थे। स्वामी जी प्रवचन देते हुए बताया करते थे कि धन का मोह नहीं करना चाहिए। रुपया पैसा तो हाथ का मैल है। जीवन का असली उद्देश्य परमात्मा को प्राप्त करना है।

कुछ वर्ष बाद स्वामी जी चित्तू के गांव के निकट के किसी शहर में प्रवचन देने आए थे। चित्तू ने अपने गांव में भी प्रवचन कर देने का आग्रह किया। स्वामी जी तैयार हो गए। चित्तू ने सोचा कि लगे हाथों प्रतिष्ठा भी कायम हो जाएगी। चित्तू पंडित तरमाल खाकर लाल हो गए थे। एकबारगी गांव वालों ने उनको पहचाना ही नहीं। घन गंभीर स्वर में श्लोकों का पाठ करते हुए जब उन्होंने स्वामी जी के प्रवचन की भूमिका बांधी तो गांव वाले रोमांचित हो गए। अल्ताफ ने कहा कि अब आए हैं पंडित जी सही राह पर।

स्वामी जी के प्रवचन के दौरान चित्तू पंडित उनके बगल में मौजूद रहा करते थे। बीच बीच में श्लोकों का सस्वर पाठ किया करते थे। स्वामी जी ने भागवत की कथाओं से जनता को मंत्रमुग्ध कर लिया था। एक पेट्रोमैक्स भक्भकाने लगा जिसकी वजह से प्रवचन का प्रवाह बाधित होने लगा। मिस्त्री कहीं दिख नहीं रहा था। चित्तू पेट्रोमैक्स उतारकर उसमें हवा भरने लगे। पंडाल में आगे की पंक्ति में महिलाएं बैठी हुई थीं। हवा भरते चित्तू की नजरें पहली पंक्ति में बैठी कबूतरी से टकराई और उनकी हवा निकल गई। पेट्रोमैक्स को उन्होंने यथास्थान लटका दिया। स्वामी जी अंधेरे में बैठी जनता जनार्दन को वापस स्पष्ट दिखने लगे। मगर चित्तू पंडित तुरंत ही अदृश्य हो गए।

स्वामी जी एक लंबे कथा प्रसंग में उलझे हुए थे। उन्हें पानी की जरूरत महसूस हुई। पलटकर देखा तो चित्तू नदारद थे। न जाने क्या सोचकर स्वामी जी ने कथा प्रसंग को क्षणिक विश्राम दिया और स्वयं उठकर मंच में पीछे रेवटी में पानी लेने चले गए। वहां लालटेन की क्षीण रोशनी में चित्तू पंडित कबूतरी के साथ प्रेममग्न थे। इस दुर्घटना के बाद चित्तू को स्वामी जी का कोपभाजन बनना पड़ा। उन्हें एक दिन के भोजन का परित्याग करके प्रायश्चित करने की सजा मिली। उन्होंने गंगा स्नान कर शुद्धिकरण करके स्वामी जी से क्षमा मांग ली। चित्तू इस प्रसंग से तनिक भी लज्जित नहीं हुए थे। उनका कहना था कि स्वामी जी राधाकृष्ण प्रसंग पर थियरी दे रहे थे और मैं प्रैक्टिकल कर रहा था। आखिर इतनी नाराजगी ठीक नहीं।

प्रवचन के समय काफी चढ़ावा चढ़ता था। चित्तू की जिम्मेदारी चढ़ावे की रक्षा करने की थी। रुपया पैसा, चांदी सोना काफी मात्रा में चढ़ता था। किंतु ऐसे भक्त भी थे जो दस रुपया डालकर सौ का नोट खींच लेते थे। चित्तू को ऐसे ही भक्तों से सामना करना पड़ता था। चित्तू चढ़ावे में से कुछ न कुछ अपनी जेब में ठूंस लिया करते थे। स्वामी जी के साथ उनका साल बीतने जा रहा था। अब उनका आत्मविश्वास काफी बढ़ गया था। एक दिन चांदी के काफी सारे बर्तन चढ़े। चित्तू ने चार कटोरियां बंडी की भीतरी जेब में डाल लीं।

रात में सोने से पहले स्वामी जी ने कहा, "आनंद चैतन्य जी! लग रहा है आपने प्रसाद कुछ ज्यादा ही ले लिया है।"

चित्तू ने कहा, "स्वामी जी! सोचता हूं कि घर परिवार की आजीविका का इंतजाम कर दूं फिर आपके ही चरण चिह्नों पर चलते हुए जीवन काट दूंगा। भक्तों को भागवत् की कथा सुनाकर धन और मोह से मुक्त होने का मार्ग बताऊंगा।"

स्वामी जी उनके प्रत्युत्पन्नमतित्व पर मुस्कराने लगे। चित्तू ने कलाई घड़ी में समय देखा। रात के बारह बज रहे थे। स्वामी जी सोने की तैयारी करने लगे!

चित्तू एफ.एम. पर संगीत सुनने के लिए अपनी कोठरी में चले आए।

स्मृतियों में इलाहाबाद

बसंत त्रिपाठी

स्मृतियों का संबंध मनुष्य के होने से है। स्मृतियां न केवल व्यक्तित्व का मुख्य कारक तत्व होती हैं बल्कि इसमें समाज, राजनीति, इतिहास और मनोविज्ञान के पहलू घुलेमिले होते हैं। इसलिए साहित्य यदि स्मृतियों पर अगाध विश्वास करता है तो यह अकारण नहीं है। हालांकि कला का मुख्य आधार स्मृतियां और स्वप्न ही हैं। लेकिन स्वप्न भी अंततः स्मृतियों का नया रूपांतरण या फिर उसका प्रतिपक्ष हैं। लेकिन स्मृतियों के साथ एक दिक्कत यह भी होती है कि उनमें संशय के लिए अवकाश नहीं होता। मनुष्य की स्मृतियां उसका निजी सत्य हैं। उसका आधार लेकर रची गई कृतियों में तथ्यपरकता और प्रामाणिकता की मुहर हमेशा नहीं लगी होती इसलिए प्रामाणिकता की खोज कई बार गैरजरूरी भी लग सकती है। हालांकि वह हो तो बहुत अच्छा। ऐसी विधाएं, जिनका आधार ही रचनाकार की निजी स्मृतियां हों जैसे संस्मरण, आत्मकथा, डायरी; यदि रचनाकार निर्मम होकर इनसे जुड़े तो इतिहास, राजनीति और समाज के जो चित्र इनमें सीधे तौर पर उपलब्ध होते हैं वह अन्य विधाओं में दुर्लभ हैं।

ममता कालिया की किताब **जीते जी इलाहाबाद** को पढ़ते हुए स्मृति, रचना और तथ्य के अंतर्संबधों पर नए सिरे से सोचने के कई सूत्र मिलते हैं। हो सकता है इसमें उल्लिखित घटनाओं की तथ्यपरकता को कोई मानने से इंकार भी करे। वस्तुतः इसे लेखिका की ऐसी यादों के रूप में लेना होगा जो उनकी स्मृतियों में दर्ज हैं। यह उनके संस्मरणों की किताब है और नाम से ही जाहिर है कि 'इलाहाबाद' पर केंद्रित है। सबसे पहले यह तद्भव में 'गुजरे जमाने का शहर' नाम से छः किश्तों में प्रकाशित हुआ। अब पुस्तकाकार रूप में पाठकों के हाथों में है और शिद्दत से पढ़ी भी जा रही है। तद्भव में छपी छः किश्त की पहली और

छठी के अलावा सब कुछ लगभग पूर्ववत है। यद्यपि अंत में उन्होंने स्वीकार किया है कि शहर से व्यक्ति का संबंध केवल शहर की महानता पर नहीं बल्कि उससे जुड़ाव की प्रगाढ़ता पर निर्भर करता है। उक्त समयावधि में वे तमाम लोग, जो इलाहाबाद में मौजूद थे और अपने क्षेत्रों में काम कर रहे थे, जो अपनी पहचान बनाने या बनाए रखने के लिए संघर्षरत थे, उनमें से शायद ही कोई ऐसा हो, जिसकी चर्चा इसमें न हो। इसमें इलाहाबाद की संस्कृति, जीवन सूत्र, संभ्रांत और सीमांत जिंदगियों की गाथा, स्वप्न और हताशाएं विस्तार या संक्षेप में दर्ज हैं। जैसा कि संस्मरण विधा में होता ही है, इनमें कोई सीधी रेखा नहीं है। यदि होती तो इसे उपन्यास या कहानी कहना पड़ता। ममता कालिया जी ने उपन्यास या कहानी नहीं लिखी है। उन्होंने इलाहाबाद की याद और समय विशेष के इलाहाबाद के प्रसंगों को बेहद आत्मीयता के साथ लिखा है। बीच में एक जगह पर उन्होंने कहा भी है—"यह जो कुछ लिखा जा रहा है, इलाहाबाद की याद में घटित हो रहा है। इसमें क्रमबद्धता न ढूंढ़ें।"

इलाहाबाद बीसवीं सदी की राजनीति और साहित्य का केंद्र रहा है। ममता कालिया ने बीसवीं शताब्दी के चतुर्थांश में इलाहाबाद की साहित्यिक गतिविधियों, लेखकों के आपसी रिश्तों, लेखक पाठक संबंध और उसके इर्दगिर्द के समाज का जायजा लिया है। इसकी तह में लेकिन वह दर्द है जो इलाहाबाद छोड़ने के कारण पैदा हुआ। 'आमुख' में उन्होंने लिखा भी—"निरुपायता के चलते, सन् 2003 के नवंबर में हमने इलाहाबाद छोड़ दिया। क्या महज रेलगाड़ी में बैठना ही शहर छोड़ देना होता है? ...शहर पुड़िया में बांधकर हम नहीं ला सकते साथ, किंतु स्मृति बनकर वह हमारे स्नायुतंत्र में, हूक बनकर हमारे हृदयतंत्र में और दृश्य बनकर हमारी आंखों के छविगृह में चलता फिरता नजर आता है।" हर पलायन की अपनी वजहें होती हैं। पलायन के बाद छूट गई जगहों की अपनी सुखद या दुखद स्मृतियां होती हैं। क्योंकि पलायन का कारण ही तत्कालीन दिक्कतें या आकांक्षाएं हैं। दुखद स्मृतियों को दूसरे लोग याद करके जलते रहते हैं या दुःस्वप्न मानकर भुला दिया करते हैं और नए संसार में रम जाते हैं। लेकिन रचनाकार दोनों तरह की स्मृतियों को सहेजता है, अपने अनुभव की आग में पकाता है और जब अवसर आए तो उसे एक रूप देकर सामने रख देता है। *जीते जी इलाहाबाद* को मैं इसी रूप में लेता हूं। यह केवल संजोग नहीं है कि ममता कालिया ने जिस रुचि भल्ला की कविता से किताब का शीर्षक लिया है उनसे भी इलाहाबाद छूट गया। उनकी इलाहाबाद की स्मृतियां भी कविताओं की शक्ल में टीस की तरह व्यक्त होती रहती हैं। जब ममता कालिया ने इलाहाबाद पर लिखना शुरू किया तब रवींद्र कालिया भी जीवित नहीं थे। इस तरह यह किताब रवींद्र कालिया के साथ देखे और जिए गए इलाहाबाद की याद है, जिसमें कमोबेश कई अवांतर प्रसंग भी जुड़ते चले जाते हैं।

इस किताब में दर्ज जिस तरह की घटनाएं आती हैं उन्हें मोटे रूप में तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। एक, उनका खुद का परिवार, इसमें रवींद्र कालिया, दोनों बच्चे अन्नू, मन्नू और उनकी सास से जुड़े प्रसंग हैं; दूसरा, इलाहाबाद का जन जीवन, इसमें अल्हड़ता, मस्ती, समन्वय और संशय सब कुछ दर्ज हुआ है; और तीसरा, इलाहाबाद का साहित्यिक समाज, जो इस किताब में सबसे ज्यादा जगह घेरता है।

ममता कालिया और रवींद्र कालिया के निजी जीवन की अनेक छवियां इसमें विद्यमान हैं। चूंकि दोनों रचनाकार भी हैं इसलिए उनकी निजता में कई बार साहित्य का अंदरूनी संसार परोक्ष रूप में उपस्थित हो जाता है। जिसे सफल जिंदगी कहा जाता है, दोनों भिन्न कारणों से उसे छोड़कर इलाहाबाद की शरण में आए थे। लेकिन इलाहाबाद आकर वे प्रवासियों की तरह

नहीं रहे बल्कि बहुत जल्दी इसकी अतिरंग में घुलमिल गए। रवींद्र कालिया ने जहां प्रिंटिंग प्रेस लगाकार अपना जीवन शुरू किया वहीं ममता कालिया ने कॉलेज में अध्यापन करके अपनी जीविका के नए स्रोत तलाशे। दोनों ही स्वतंत्र व्यक्तित्व के स्वामी थे और एक दूसरे से गहरा लगाव भी रखते थे इसलिए टकराहटों, समझौतों और तन्मयता के कई रूप इसमें देखने को मिलते हैं। अमूमन जैसा भारतीय परिवारों में होता है पुरुष मस्त मलंग और सारी पारिवारिक जिम्मेदारियां स्त्री के कंधे पर, वह इसमें भी दिखाई पड़ता है। आज के नए और युवा शहराती परिवारों में साहचर्य की जैसी अपेक्षाएं, द्वंद्व और स्वायत्तता के चिह्न दिखाई पड़ते हैं, कालिया दंपत्ति का इस किताब में वर्णित दांपत्य और पारिवारिक जीवन उससे अलग है। लेकिन किसी पारंपरिक परिवार में स्त्री पुरुष संबंध में वर्चस्व की रणनीतियों और टकराहटों से बिल्कुल अलग, बल्कि कई मामले में ज्यादा लोकतांत्रिक और संवादधर्मी भी। किताब में एक के अलावा मनमुटाव का कोई प्रसंग लंबा नहीं खिंचता। जो वस्तुत: नैतिक अनैतिक के घोषित मानदंडों से इतर पुरुष अहं के कारण है। जिसका एहसास अंतत: रवींद्र कालिया को होता है और वे माफी मांगते हैं। यह अप्रिय प्रसंग प्रसून जी का है। उनकी अनाधिकार मांग के प्रति ममता कालिया सख्त अरुचि दर्शाती हैं। बहुत बाद में रवींद्र कालिया को इसका पता चलता है और वे रुष्ट होते हैं कि आखिर ममता कालिया ने उन्हें क्यों नहीं बताया।

किताब में चाईजी (ममता जी की सास) का प्रसंग दिलचस्प है। पंजाब में रहने वाली चाईजी पति की मृत्यु के बाद इलाहाबाद आईं। लेकिन शहर को वे स्वीकार कर नहीं पाईं। ममता जी के ही शब्दों में—"वे मन मारकर हमारे पास इलाहाबाद आ गईं पर उनकी स्मृतियों का शहर जालंधर उनके अंदर से कभी उखड़ा ही नहीं। हमारे शहर का रिक्शा उन्हें सुस्त लगता, सब्जियां बेस्वाद लगतीं, दूध पतला लगता। उनकी तराजू में हमारा शहर हार जाता। ताज्जुब यह भी है कि हमने अपने पुराने शहरों को पलटकर नहीं देखा और इसी इलाहाबाद की रेती में धंसते गए।" ये किताब की अंतिम पंक्तियां हैं इसके बाद फैज का एक शेर और क्षेपक की तरह एक समझाइश के साथ बिहारी का एक दोहा। ममता कालिया और चाईजी का एक ही शहर को एक साथ मुग्ध और विरक्ति के भाव से देखना बताता है कि किसी भी शहर की हजार खूबियों के बावजूद उसका अपने रहवासियों से एक अजीब संबंध होता है। तटस्थ पाठकों को मुग्धता किसी हद तक नॉस्टेल्जिक भी लग सकती है। इसमें कुछ कुछ वाकिए तो ऐसे हैं जो हंसने को विवश कर देते हैं। ममता कालिया के रानीमंडी वाले घर में चूहों ने उत्पात मचा रखा था। वे सुगंधित साबुन तक चट कर जाते थे। गुसलखाने में साबुन रखने के अगले ही दिन साफ। एक मोटाताजा चूहा, जिसका नाम भी ममता कालिया के बेटे ने जामवंत रख छोड़ा था, फिर पियर्स साबुन का काम तमाम कर देता है। बेटे अन्नू की प्रतिक्रिया—"मां, हम पांच लोग एक ही साबुन से नहा रहे हैं, पापा, आप, मन्नू, मैं और जामवंत। खर्च तो बढ़ेगा ही।" ममता कालिया ने ठीक ही कहा कि 'अन्नू मन्नू ठेठ इलाहाबादी निकले हैं।"

इलाहाबाद की संस्कृति और जन समाज के मुग्धकारी और आह्लादित करने वाले कई वाकिए इस किताब को विशिष्ट बनाते हैं। इलाहाबाद की मस्ती, जिस पर हर इलाहाबादी को गर्व होता है, के कई किस्से इसमें हैं। ममता कालिया का घर चौक इलाके की रानीमंडी में था, जो कि एक मुस्लिमबहुल इलाका है। हिंदू और मुसलमान की साझी संस्कृति और विरासत जो दोनों ही कौमों का आधार हैं, उसके चित्र तो हैं ही इसमें। इसके अलावा खानपान, रहनसहन, बोली बात, इलाहाबादी दिनचर्या, सिविल लाइंस की मस्ती और उमंगें, इलाहाबाद विश्वविद्यालय की सक्रियता, विद्यार्थियों के सपने और उसे पूरा करने की जद्दोजहद, कुंभ

और संगम की आस्थाएं जैसे कई प्रसंगों को ममता कालिया ने घटी घटनाओं के जरिए रखा है। ऐसे प्रसंगों में मुख्य बात यह देखने की है कि इलाहाबादी जीवन से विशिष्ट और सामान्य लोग एक जैसी इलाहाबादी चेतना से जुड़े थे। उनमें श्रेष्ठता निम्नता का भेद नहीं था। विद्यार्थियों की नाकामियां और टूटन, पत्र पत्रिकाओं के लगातार बंद होने के कारण पत्रकारों का पलायन, एक पहाड़ी घरेलू नौकर द्वारा की गई चोरी जैसी कुछ घटनाएं यद्यपि शहर के अंतर्तल में अवस्थित कसमसाती जिंदगियों का खाका भी खींचती हैं। ये घटनाएं बेचैन तो करती हैं साथ ही यह भी बताती हैं कि हमने शहरों का जैसा रूप रचा है, सपनों को जैसी अबाध उड़ानें दी हैं, ये घटनाएं उसी का नतीजा हैं। इन घटनाओं में शहरों के बदलते और आक्रामक हो रहे रूपों की जानकारी भी मिलती है। इन तमाम घटनाओं में कालिया दंपति का रानीमंडी वाले मुहल्ले को छोड़कर मेहदौरी कॉलोनी में बसना सबसे अधिक त्रासद है। उनकी व्यक्तिगत जिंदगी के लिहाज से ही नहीं बल्कि ऐतिहासिक रूप से भी। यह बाबरी मस्जिद के ढहाए जाने के बाद घटित हुआ। हिंदू मुस्लिम साझेपन में दरारें पड़ती रही थीं। लेकिन वे तत्काल पाट भी दी जाती थीं। लेकिन बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों की बदलती राजनीति के कारण जिस तरह की दरारें पड़ीं और सत्ताओं ने उसे जिस ढंग से आक्रामक रूप दिया, उसकी निशानदेही आज भी दिखाई पड़ती है। रानीमंडी में ही रवींद्र कालिया का प्रेस था। कॉलोनी बदलने के बाद उसे भी अंततः बंद होना था, और हुआ भी। इलाहाबाद छूटने का एक कारण यह भी है। इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि सांप्रदायिकता के विस्तार ने कितनी तरह के पलायनों को अंजाम दिया है। इसमें सभी धर्म के लोग एक जैसी पीड़ा और त्रासदी से गुजरे हैं, गुजर रहे हैं।

इलाहाबाद का साहित्यिक परिवेश *जीते जी इलाहाबाद* में सबसे अधिक जीवंत रूप में दर्ज हुआ है। निराला की याद से लेकर तब के बिल्कुल नए लेखकों अंशु मालवीय, विवेक निराला, कृष्णमोहन, कबीर संजय, मनोज पांडेय, अंशुल त्रिपाठी, रविकांत जैसे रचनाकारों के शुरुआती रचनात्मक संघर्ष का जिक्र तो है ही, ऐसे लोगों का जिक्र भी है जो अपनी रचनात्मक प्रतिभा के बावजूद आत्ममुग्धता या अतिमहत्वाकांक्षा के कारण उसे विस्तार नहीं दे सके। इलाहाबाद के उर्दू अदब को भी उन्होंने शम्सुर्रहमान फारूकी, जियाउल हक, अकील रिजवी के हवाले से याद किया है। लेकिन सबसे दिलचस्प वे घटनाएं हैं जो तत्कालीन नयों और स्थापित पुरानों के बीच प्रतिद्वंद्व, बहस मुबाहिसे और द्वेष से जुड़ी हुई हैं। ये तमाम घटनाएं बेशक इलाहाबाद की हैं लेकिन इसमें हम हिंदी के साहित्यिक समाज की मनःस्थिति परख सकते हैं। विजयदेव नारायण साही, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती जैसे परिमल के सदस्य तथा प्रगतिशील तबके के भैरव प्रसाद, मार्कंडेय, उपेंद्रनाथ अश्क, अमृतराय, शेखर जोशी, शैलेश मटियानी, अमरकांत, ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, रवींद्र कालिया, सत्यप्रकाश मिश्र, कमलेश्वर, दुष्यंत कुमार, लालबहादुर वर्मा आदि के जीवन से जुड़ी कई घटनाएं हैं जो तत्कालीन साहित्यिक बहसों, साहित्यिक सांस्कृतिक जिम्मेदारियों और निजी महत्वाकांक्षाओं के दस्तावेज हैं। नियमित रूप से या विशेष कारणों से इलाहाबाद आने वाले मसलन बाबा नागार्जुन, भीष्म साहनी, नामवर सिंह, कृष्णा सोबती जैसे लोगों के व्यक्तित्व से जुड़ी घटनाएं भी उनके काम को समझने में हमारी मदद करती हैं।

कुछ घटनाओं का विशेष तौर पर जिक्र करना जरूरी है। एक तो ममता कालिया के उपन्यास *बेघर* के छपने के बाद उपेंद्रनाथ अश्क की प्रतिक्रिया। इसमें स्वीकार्यता के बावजूद नकार के तत्व थे। ममता कालिया इस प्रतिक्रिया से निराश थीं जबकि रवींद्र कालिया ने उन्हें

ऐसी प्रतिक्रिया को सहजता से लेने को कहा। इस तरह का आचरण केवल वरिष्ठों की ओर से ही नहीं होता था। मौका मिलने पर नए रचनाकार भी हिसाब चुकता कर देते थे। दूसरी घटना तब की है जब उपेंद्रनाथ अश्क के वृहत उपन्यास *गिरती दीवारें* का एक खंड *एक नन्ही कंदील* छपा था। दूधनाथ सिंह ने ज्ञानरंजन से उसकी प्रतिक्रिया जाननी चाही। ज्ञानरंजन ने पास में पड़ी माचिस उठाई। एक तीली निकालकर जलाई और मुंह से फूंक मारकर बुझा दी। कॉफी हाउस ठहाकों से गूंज उठा। बात यहां तक ही रहती तो फिर भी गनीमत थी। शाम तक यह घटना अश्क जी तक पहुंच गई या फिर पहुंचा दी गई। इसी तरह विजयदेव नारायण साही ने स्पष्टतः कह दिया कि 'पंत जी के *लोकायतन* को न तो मैने पढ़ा है और न पढ़ूंगा।' इतना ही नहीं लोकभारती की मेज पर रवींद्र कालिया का नया उपन्यास देखकर उसे दूसरी मेज पर पटकते हुए प्रकाशक दिनेशजी से कहा, "दिनेश, तुम भी क्या क्या छापने लगे हो आजकल।" यह रवींद्र कालिया के सामने ही कहा गया। हिसाब बाद में कभी विभूति नारायण राय ने यह कहते हुए पूरा किया कि साही जी ने पढ़ाया कम कनफ्यूज ज्यादा किया। नीलाभ जी द्वारा भरी गोष्ठी में नामवर जी को चुनौती देना भी इसी तरह की घटना है।

स्वीकार और नकार की ऐसी रणनीतियां और षड्यंत्र हिंदी साहित्यिक समाज का घोषित सत्य है। इलाहाबाद, बनारस, और अब दिल्ली इसके बाकायदा प्रशिक्षण केंद्र हैं। इसलिए साहित्यिक राजनीति—गॉसिप, चुहल, नकार, व्यंग्यबाण—सब कुछ चलाए जाते हैं। गुटबाजियां चलती हैं। गिरोह बनाए जाते हैं और बाकायदा उठाया या गिराया जाता है। हिंदी साहित्यिक समाज के मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय अध्ययन के प्रति रुचि रखने वालों को इसके कारणों की तलाश करनी चाहिए। क्योंकि ऐसे अतिरंजित आक्रामक व्यवहार अकारण फैशन की तरह समय समय पर दुहराए भी जाते रहे। इस किताब में ही एक प्रसंग आता है जब एक नवोदित और गर्वोन्नत लेखिका ने ममता कालिया से कहा—"मैंने न तो अमरकांत को पढ़ा और न ही पढ़ूंगी।"

ऐसी साहित्यिक उठापटकों के बीच प्रकाशन जगत की संलग्नता भी ध्यान देने योग्य है। यह वह दौर था जब साहित्यिक केंद्रों में रहने वाले रचनारत हिंदी लेखकों की समाज में पूछ थी। प्रकाशक उनके नखरे उठाकर बिरादाराना व्यवहार भी करते थे और समय आने पर पटखनी भी देते थे। इलाहाबाद के उस दौर को ममता कालिया ने बहुत संजीदगी से रखा है जब प्रकाशन, संपादन, लेखन की दृष्टि से इलाहाबाद समृद्ध था। किताब में स्मृतियों का पिटारा ही लोकभारती के प्रमुख दिनेशचंद्र ग्रोवर की मृत्यु से शुरू होता है। कह सकते हैं कि *जीते जी इलाहाबाद* समृद्धि के बिखरने की करुण दास्तान भी है। यह पुरानी और नई संस्कृति के संक्रमण की तकलीफदेह गाथा है। किंतु ममता कालिया ने इसे विलाप की तरह नहीं, समृद्धि के लौटने की उम्मीद की तरह रचा है। ममता कालिया की किताब *जीते जी इलाहाबाद* को पढ़ते हुए पुराने साहित्यिक केंद्र की खूबियों खामियों, जिंदादिली खिलंदड़ापन, इश्क और रंजिशों की जानकारी तो मिलती ही है, एक सवाल भी मन में उठता है—हिंदी के पुराने साहित्यिक अड्डे और केंद्रों के ढहने का कारण क्या शहरों का नया विस्तार और नई आकांक्षाएं थीं या इसके कुछ अंदरूनी कारण भी थे?

जीते जी इलाहाबाद : ममता कालिया, **प्रकाशक :** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

कविता उल्लंघन की सतत प्रक्रिया है

शशिभूषण मिश्र

इतना अंधेरा तो पहले कभी नहीं था
कि मुंह खोलकर अंधेरे को कोई अंधेरा न कह सके
कि हाथ को हाथ भी न सूझे
कि आंख के सामने घटे अपराध की कोई
गवाही न दे सके...

(राजेश जोशी के अद्यतन कविता संग्रह—'उल्लंघन' से)

राजेश जोशी की ये पंक्तियां केवल मनुष्यता के क्षय की गवाही नहीं देती हैं बल्कि हमारी नागरिकता के क्षय की भी गवाह बनती हैं। अंधकार और अन्याय के खिलाफ चुप्पी साधकर हम 'मानुष नागरिकता' से ही वंचित नहीं हुए हैं, 'जनतांत्रिक नागरिकता' से भी वंचित हुए हैं। ऐसे समय में जब चमक दमक और रोशनी के अतिरेक से हमारी आंखें चौंधिया रही हैं, हिंदी का यह कवि हमारे भीतर बाहर पसरे अंधकार की निशानदेही कर रहा है। ऐसे समय में जब सोची समझी रणनीति के तहत 'असहमति और प्रतिरोध को राष्ट्रविरोध' का पर्याय बना दिया गया है, हिंदी का यह कवि मुंह खोलकर 'अंधेरे को अंधेरा' कह रहा है। सनद रहे कि 'अंधकार की इस व्याप्ति' में सिर्फ राजनीतिक व्यवस्था ही भागीदार नहीं है बल्कि हमारा नागरिक समाज भी इसमें बराबर का भागीदार है।

उल्लंघन और 'हुक्म उदूली' राजेश जोशी की कविता का नमक है, जिसके बिना न उनकी कविता बनती है और न ही उसका आस्वाद। उनके लिए कविता उल्लंघन की सतत प्रक्रिया है; एक ऐसी प्रक्रिया जो हमेशा से हुकूमत के फरमानों को ठेंगा दिखाती आई है। ध्यान रहे यह 'उल्लंघन' केवल राजनीतिक आशयों तक सीमित नहीं है बल्कि इसका विस्तार

परंपरा और समाज के रूढ़िवादी आग्रहों तक है।

उल्लंघन काव्य संग्रह भारतीय जनतंत्र की बिगड़ती दशा का चिंताकुल पाठ है; एक ऐसा पाठ जिसमें हम देख पाते हैं कि झूठे प्रचारतंत्र, धनबल और संख्याबल के आगे लोकतंत्र अपनी शक्ति खोता जा रहा है। फासीवादी शक्तियों के 'प्रचारतंत्र' ने भारतीय लोकतंत्र के उद्देश्यों को डायवर्ट कर दिया है। हम लोकतंत्र के डायवर्टेड रूट पर हैं। भीड़ के सामने हमारी जनतांत्रिकता संकट में है—*'सिकुड़ते हुए इस जनतंत्र में सिर्फ संदेह बचा है / भरोसा नहीं बचा'* है। राजेश जोशी इस पूरे संकट की निशानदेही करते हुए लिखते हैं—

लोकतंत्र एक प्रहसन में बदल रहा है
एक विदूषक किसी तानाशाह की मिमिक्री कर रहा है
हमारी भाषा के पहले अक्षर को हिंसा के आगे रखकर
तुमने रच दिया था जिसका विलोम
प्रायोजित भीड़ ने लतियाकर फेंक दिया है उसे
घूरे के ढेर पर!

(गांधी की घड़ी)

हम ऐसे समय के नागरिक हैं जहां सरकारें 'कारपोरेट पूंजी के एजेंट' की तरह काम कर रही हैं। लोकतंत्र की नुमाइंदगी करने वाली सरकारें दलालों (एजेंट्स) की तरह राष्ट्रीय धरोहरों, सार्वजनिक संस्थानों, लाभ में चलने वाले उपक्रमों, जनोपयोगी इकाइयों और सार्वजनिक संस्थाओं को क्रमबद्ध तरीके से पूंजीवादी शक्तियों के हाथ में सौंपने की मुहिम में लगी हैं। कवि दर्ज करता है कि *अर्थव्यवस्था की रीढ़ टूट चुकी है.../ बैंक बिक गए/रेल बिक गई/ हवाई जहाज की बोली लग रही है।*

राजेश जोशी की कविताओं में 'स्मृतियों' और 'भटकनों' का उजास है और इसी उजास के सहारे वह विगत और आगत के बीच संवाद स्थापित करते हैं; जीवन के नए रास्ते तलाशते हैं। स्मृतियों के सहारे वह 'गतिमान समय' की पदचापों को सुनते हैं तो भटकनों के सहारे पूरे समय का जायजा लेते हैं। राजेश जोशी की 'स्मृतियात्रा' को बद्धमूल संरचनाओं में तोड़ फोड़ के रूप में और 'भटकनयात्रा' को कुछ नया जोड़ने की बेचैनी के रूप में पढ़ा जाना चाहिए—*'भटक भटक कर हर कवि को खुद ही / खोजने पड़ते हैं अपने सच / दुनिया भर की सारी अच्छाइयां / किसी न किसी भटकन का ही परिणाम हैं।'* उनका कवि बनाए हुए रास्तों पर चलने के बजाए अपने रास्ते खुद बनाने पर जोर देता है क्योंकि, *'तयशुदा रास्ते तयशुदा मंजिलों तक ही पहुंचाते हैं।'*

राजेश जोशी की कविताएं भूमंडलीकरण की आड़ में वर्चस्वशाली शक्तियों द्वारा चलाई जा रही नीतियों को समझने की जरूरत से रूबरू कराती हैं। गौरतलब है कि वित्तीय संस्थाओं, निगमों, कारपोरेट्स, सेवाक्षेत्रों, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के रूप में वह 'सांस्कृतिक साम्राज्यवाद' को ही फलता फूलता नहीं देखते बल्कि 'आंतरिक उपनिवेशन' को भी फलता फूलता देखते हैं। वह सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को भारतीय समाज के लिए जितना अहितकर मानते हैं उससे कहीं अधिक खतरनाक आंतरिक उपनिवेशन की प्रक्रिया को मानते हैं। इन सबके बीच वह पूंजीवादी संस्कृति के वर्चस्ववादी तरीकों और उपभोक्ता संस्कृति के सर्वग्रासी प्रसार के बीच 'अर्थवान वैकल्पिकता' की तलाश करते हैं। यह अर्थवान वैकल्पिकता दरअसल 'सांस्कृतिक स्वाधीनता' है जिसके बिना न तो हम अपनी उपलब्धियों और सीमाओं का वस्तुनिष्ठ आकलन कर सकते हैं और न ही सांकृतिक साम्राज्यवाद और आंतरिक उपनिवेशन की नियंत्रणकारी

रणनीतियों का मुकाबला कर सकते हैं।

राजेश जोशी पौराणिक कथाओं और मिथकों को प्रस्तुत करते हुए उनमें नई अर्थ रश्मियां भर देते हैं। इस संदर्भ में 'इसीलिए तो तुम पहाड़ हो' संग्रह की उल्लेखनीय रचना है। इस कविता में विंध्याचल पहाड़ से आत्मीय बतकही करता कवि अनकहे की बुनियाद रचता है। कवि का मन विंध्याचल पहाड़ से अपरंपार हिलगा हुआ है। ऐसी किवदंती है कि ऋषि अगस्त्य को दक्षिण का रास्ता देने के लिए विंध्याचल पर्वत ने खुद को झुका लिया था और उनके लौटने की प्रतीक्षा में सदियों से वह इसी तरह झुका हुआ है। किवदंती बस इतनी ही है। लेकिन इसी के बाद 'कविता की असल भूमिका' शुरू होती है जहां वह ऋषि परंपरा के बारे में हमारी स्थापित मान्यता को ध्वस्त कर देती है—

ऋषि अपने स्वयं के झूठ से नहीं डरते
वो सिर्फ दूसरों को झूठ से डरना सिखाते हैं

'स्वयं के झूठ से नहीं डरने' और 'सिर्फ दूसरों को झूठ से डराने' में निहित व्यंग्य में हमारा पूरा समकाल नथा हुआ है और इसी के साथ नथी हुई हैं धर्म के नाम पर चलने वाली कारगुजारियां। ध्यान रहे यहां भारतीय ज्ञान परंपरा और ऋषि परंपरा का नकार नहीं, उसके भीतर पलने वाले छद्म का नकार है। यह उस झूठ का नकार है जिसके कारण हमारी ज्ञान परंपरा को दूसरी दिशा में मोड़ दिया गया और आज भी हम उसी दिशा में बढ़े जा रहे हैं। कविता किवदंती से बाहर निकलकर हमारे वर्तमान परिवेश में बाबाओं, साधु संतों(?), महंतों और धर्म अध्यात्म की दुकानदारी करने वाले कथावाचकों प्रवचनकर्ताओं के झूठ को धर दबोचती है। अपने अंतिम पड़ाव में यह कविता न केवल किवदंती के 'स्थापित अर्थबोध' को पलट देती है बल्कि विंध्याचल के झुके होने की कथा को एक नई और सार्थक दिशा की ओर मोड़ देती है—

तुम्हीं ने सिखाया है मुझे कि
झुक जाना छोटा हो जाना नहीं है
जानता हूं किसी जरूरतमंद को रास्ता देने को
तुम झुक गए
इसीलिए तो तुम पहाड़ हो!

आधुनिक सभ्यता के विकास ने बसाने से कहीं ज्यादा उजाड़ने का काम किया है, इसीलिए हमारे किस्सों में बसने से अधिक उजड़ने की कथाएं हैं; फिर वो चाहे प्रकृति की हों या जनजीवन की। सभ्यता के प्रायोजित विकास ने धरती, जल, वनस्पति, पेड़, पहाड़, जीव जंतुओं और जानवरों को ही नहीं मनुष्यता को भी विस्थापित किया है। राजेश जोशी विकासजनित विस्थापन के बीच 'बेघरों' और 'बेवतनों' की विभीषिका और विवशता को दर्ज करते हैं। इस संदर्भ में 'बेघरों का गाना' और 'एक अलग पृथ्वी' कविताएं 'अन्योन्याश्रित विडंबना बोध' और 'विवशता की सहभागी अनुभूति' के चलते एक साथ पढ़े जाने की मांग करती सवाल उठाती हैं कि—क्या पूरी पृथ्वी में 'बेघरों' और 'बेवतनों' के लिए कहीं भी जगह नहीं बची है? क्या बेघरों और बेवतनों के लिए किसी और धरती की जरूरत है?

इन कविताओं के माध्यम से राजेश जोशी एक तरफ भारतीय जनतंत्र में 'बेघरों' की व्यथा कथा में बिंधे 'विस्थापन के प्रायोजित सारांश' को दर्ज करते हैं तो दूसरी ओर मुल्कों की सीमाओं में महदूद कर दी गई 'व्यवस्थाओं की निर्ममता' का उपसंहार प्रस्तुत करते हैं। यहां 'बेघर' और 'बेवतन' स्थिति परिभाषित समूह हैं, इसी कारण इनके जीवन की त्रासदी में

आधुनिक राष्ट्र राज्य की त्रासदी अंतर्निहित है। आधुनिक राष्ट्र और राज्य 'व्यवस्था के ऐसे विकट पहाड़' हैं जिनकी निरंकुश ऊंचाइयों को उलांघना आम आदमी के बूते की बात नहीं, फिर ये तो बेघर हैं। कविताओं में पसरे 'मौन की प्रश्नवाचकता' हमें अपने भीतर झांकने के लिए विवश करती है—

किसी भी मुल्क के नागरिकों के राष्ट्रीय रजिस्टर में
मेरा नाम दर्ज नहीं
इतनी बड़ी धरती पर
मैं कहीं का नागरिक नहीं...
ओ सूर्य!
कुछ करो, कुछ ऐसा करो
कि एक और पृथ्वी बनाओ
जिसे मुल्कों में तक्सीम न किया जा सके!

राजेश जोशी की कविताएं अतीत और परंपरा के कहे अकहे किस्सों को अपना उपजीव्य बनाती 'सभ्यता समीक्षा' की ओर बढ़ती हैं। इस प्रसंग में 'स्वर्ग का विभाजन', 'वह बूढ़ी स्त्री और उसकी भेंड़ें', 'पृथ्वी का चक्कर', 'पक्की दोस्तियों का आईना', 'अभिशप्त सपने और समुद्र के फूल', 'गिलहरी की मिथक कथा' उल्लेख्य रचनाएं हैं। 'मुश्किल आसानियों का सफरनामा' एक ऐसी कविता है जो अपने रूपगठन की कुछ एक खामियों के बावजूद सभ्यता के 'तकनीकी और डिजिटल विकास' के बहाने एक बड़ा सवाल खड़ा करती है।

बैंक के किस्सों की इस 'तवील दास्तान' में बैंकिंग प्रणाली की शुरुआत से लेकर डिजिटल युग में प्रवेश करने तक की यात्रा दर्ज है। इस यात्रा में कवि के अपने अनुभव तो हैं ही, किस्सागो के बेतरतीब किस्से भी हैं। तेरह पृष्ठों में फैली यह कविता 'बैंकिंग' और 'मुद्रा विनिमय' के इतिहास में दाखिल होकर' शोषणकारी, महाजनी व्यवस्था में कभी न चुकने वाले कर्ज की याद दिलाती है। कविता जैसे जैसे 'मानव सभ्यता की आर्थिकी' में प्रवेश करती है वैसे वैसे हम 'मनुष्य के भीतर उपजते लालच के खूंखार जानवर' को मजबूत होता हुआ देखते हैं। किस्सों से भरी इस कविता में गुलामी के समय का इंपीरियल बैंक और उसके कर्मचारियों के असहनीय किस्से हैं; आजादी के बाद बैंकों का राष्ट्रीयकरण और उसकी सहूलियतें हैं; बैंकों से लोन लेकर विदेश भाग गए लुटेरे हैं; बैंकिंग की नई प्रणालियों में धोखाधड़ी की वारदातें हैं; मुक्त बाजार की भयावह अर्थनीतियां हैं। कविता पढ़ते हुए इस प्रश्न को कवि के सामने रखना चाहूंगा कि, इतने जरूरी गैरजरूरी किस्सों के बीच बैंकिंग अधिकारियों के भितरघात का कोई भी किस्सा दर्ज होने से कैसे छूट गया! इतने किस्सों के बावजूद कवि से आजाद भारत की सबसे बड़ी बैंकिंग घटना 'नोटबंदी' का किस्सा कैसे छूट गया! बहरहाल, कविता के कथ्य और शिल्प से गुजरते हुए योगेंद्र आहूजा की कहानी 'लफ्फाज' का याद आना स्वाभाविक है।

संग्रह की कुछेक कविताएं कोरोना त्रासदी की छाया में लिखी गई हैं। इन कविताओं को तात्कालिकता से उपजी कविताएं कहा जा सकता है पर मुझे लगता है कि तात्कालिकता—अनुभव का अपरिहार्य ढांचा है और अनुभव मात्र तात्कालिक होता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न बेहद अहम हो जाता है कि जिन तात्कालिक अनुभवों से लेखक रचना का निर्माण करता है क्या उसके पीछे कोई जीवनदृष्टि है या नहीं! अगर उसके पीछे रचनाकार की कोई जीवनदृष्टि है, तो क्या है और इससे रचना में क्या क़ुछ नया जुड़ता है जो उसे 'तात्कालिकता' से आगे ले

जाता है! रेखांकित किया जाना चाहिए कि इस दौरान लिखी अधिसंख्य कविताओं में भय, संशय और उदासी के बीच कवि अपने प्रतिरोध को दर्ज करना नहीं भूलता। व्यवस्था से असहमति का स्वर यहां अधिक मजबूती और तीक्ष्णता के साथ ध्वनित होता है। इस संदर्भ में, 'जीवन का एक अमूर्त चित्र', 'यह दुनिया रहने के काबिल जगह नहीं रही', 'बाहर जाने का कोई दरवाजा नहीं', 'खबर में मोरों को दाना चुगाते शहंशाह की तस्वीर होगी', 'अबू हसन चांद के माथे का खून पोंछ रहा है'—कविताएं रेखांकनीय हैं। इन कविताओं में एक ओर कांपती धरती में गिरते पड़ते बेतहाशा भागते पांवों के निशान से बना जीवन का अमूर्त चित्र है तो दूसरी ओर 'धरती पर दरारें ही दरारें हैं जिनके दोनों तरफ अपना घर ढूंढ़ते लोग हैं (जीवन का एक अमूर्त चित्र); एक ओर जीवन की बाजी हारते दम तोड़ते लोग हैं तो दूसरी ओर मदद के लिए बंद दरवाजे हैं (यह दुनिया रहने के काबिल जगह नहीं रही)।

राजेश जोशी की कविता सत्ता की सांप्रदायिक सोच से अनिवार्यतः टकराती है। वह सत्ता की सांप्रदायिक निर्मितियों से मुखामुखम रहने वाले कवि हैं। राष्ट्रवाद के नाम पर भारतीय जनमानस को गुमराह करने की ओछी और संकीर्ण राजनीति को केंद्र में रखकर लिखी गई कविताओं—'अबू हसन चांद के माथे का खून पोंछ रहा है' और 'शहंशाह के कंधों पर दो अजदहे रहते हैं' का उल्लेख जरूरी हो जाता है।

राजेश जोशी की कविताओं की बात हो और वहां चांद का जिक्र न आए, ऐसा मुमकिन नहीं! हिंदी कविता के अहाते में चांद की इतनी बड़ी हैसियत शायद ही किसी कवि के यहां हो! उम्र के इस पड़ाव पर भी उनका कवि चांद की वर्तनी को नए रूपाकारों में ढालने में मुब्तला है। चांद भले ही धरती का निवासी न हो, फिर भी वह कवि का लंगोटिया यार है, इसीलिए तो कवि मृत्यु को पार कर 'मन के चंद्रमा बन जाने की प्रतीक्षा' कर रहा है। (प्रतीक्षा) करे भी क्यों न! जो इतना यारबाश हो कि कवि के सो जाने पर पूरी रात घूम घूमकर उसकी नींद की रखवाली करता है। यह चांद जब धरती के सबसे करीब होता है तो कवि का मन करता है कि वह 'कविता में अपना दिल निकालकर' रख दे।

राजेश जोशी अपनी भाषायष्टि में तद्भवता और देशजता के चटख रंगों के बीच उर्दू की कशीदाकारी को किसी रंगरेज की तरह निबाहते हैं। उनकी भाषा की फितरत ही कुछ ऐसी है कि वह व्याकरणगत नियमों को धता बताती सरपट आगे बढ़ जाती है—संज्ञा, विशेषण और क्रिया की अभ्यास प्रणाली को चकमा देती। उनका कवि बोलने बतियाने गपियाने वाली भाषा के मिटते जाने को लेकर बहुत चिंतित है—*'हर दिन हमारी आंखों के सामने/ आपस में बोलने बतियाने की भाषाएं / मर रही हैं।'* (उस भाषा को बोलने वाली अंतिम बूढ़ी स्त्री)।

राजेश जोशी के इस संग्रह की कुल जमा सैंतालिस कविताओं के साथ चहलकदमी करते हुए यह बराबर महसूस होता है कि वर्तमान भारतीय लोकतंत्र की दशा और सत्तातंत्र की कार्यप्रणाली से वह गहरे तक क्षुब्ध हैं। इस विक्षुब्धता और नाइत्तेफाकी के चलते इन कविताओं में असहमति और प्रतिरोध का स्वर अधिक मुखर रूप से सामने आया है और इसी के चलते कुछ कविताएं अनावश्यक विस्तार और सपाट नारेबाजी का शिकार हुई हैं। इसके साथ ही कोरोना त्रासदी से उपजी हताशा के कारण भी कुछ एक कविताओं में विचारों की सुसंबद्धता भी प्रभावित हुई है। उत्तम पुरुष शैली में लिखी अधिसंख्य कविताएं कवि की भीतरी बेचैनियों का संचित प्रतिबिंब हैं जिनमें हमारे समय का क्षत विक्षत चेहरा दिखाई देता है।

उल्लंघन : राजेश जोशी, **प्रकाशक :** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

समय की धुन पर थिरकती कविता

नामदेव

समकालीन रचनाशीलता की पंक्ति में **हरे प्रकाश उपाध्याय** अपनी पूरी सृजनात्मक क्षमता के साथ मौजूद हैं जिन्होंने *बखेड़ापुर* (उपन्यास) और *खिलाड़ी दोस्त तथा अन्य कविताएं* (कविता संग्रह) लिखने के बाद अब **नया रास्ता** (कविता संग्रह) प्रकाशित करके कविता की दुनिया में रचनात्मक हस्तक्षेप किया है। रचनात्मकता कभी भी आसमान में नहीं उपजती है, उसका जन्म समाज में होता है और व्यक्ति, बौद्धिकता, कला, चेतना के द्वंद्वों के युग्म से उसका विकास और अस्तित्व निर्मित होते हैं। *नया रास्ता* भी इन्हीं द्वंद्वों की ऊर्जावान उपज है जिसकी राह पथरीली और ऊबड़खाबड़ है। *नया रास्ता* की भूमिका में हरे प्रकाश उपाध्याय ने रचना की दुनिया में आर्थिक उपलब्धि को एक जीवनमूल्य के रूप में स्थापित होने के प्रति उभरते मोह को लेकर गहरी चिंता जताते हुए कहा है कि सत्ता और मीडिया भी बाजार के मायाजाल में फंसे हुए हैं। यहां कवि हरे प्रकाश उपाध्याय सवाल करते हैं कि 'क्या अभावग्रस्त होता मनुष्य स्वयं अकेला नहीं पड़ता जा रहा?' यहां कवि के इस सरलीकरण से असहमति बनती है। दरअसल मौजूदा सामाजिक आर्थिक सांस्कृतिक परिदृश्य के लिए हम सभी जिम्मेदार हैं। क्योंकि जिस समय हम किसी रूढ़ विचार का विरोध कर रहे होते हैं उसी समय अपनी वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए कुछ समझौते भी कर रहे होते हैं। इन्हीं वैयक्तिक सामाजिक द्वंद्वों का फायदा बाजार उठाता है और अपनी चमकदमक से व्यक्ति के मन मस्तिष्क पर हावी होता जाता है और सत्ता को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए बाजार से समझौता करना पड़ता है। अब ये अलग बात है कि सत्ता को अस्तित्व में ले आने वाला समाज ही है। फिर भी कवि का आग्रह है कि 'साहित्य को सच व सोच से काम

एक ठोकर इधर से खाये/कभी एक ठोकर उधर से खाये/धरती का बेटा हाड़तोड़ खतों में कमाये/जरूरतों की चिथड़ी कमीज पहनकर/आंखों में उम्मीदों का पानी लिए अक्सर भूखा सो जाए... । 1947 की आजादी के बाद देश की सामूहिक दिशाहीनता निरंतर गतिशील रही है। कविता 'खंडहर-7' इसी त्रासदी का आख्यान है जहां हर कोई असंगठित होकर अपनी अपनी तलवार भांज रहा है। संगठित होकर चलने का जज्बा स्वाधीनता संग्राम के दौरान ही दिखा था जबकि आजाद भारत में इसे और तीव्र होना चाहिए था क्योंकि देश में इस भाव की सख्त जरूरत है। सच्चाई यह है कि विखंडन का दौर है जिसके साये में सामूहिकता की प्रवृत्ति सिरे से गायब है। हालांकि बाबा साहेब डॉ. भीमराव आंबेडकर ने शिक्षित, संगठित होकर संघर्ष करने की जो शिक्षा दी थी उसको सिर्फ दलित आवाम तक संकुचित कर दिया गया जबकि बाबा साहेब डॉ.भीमराव भीम आंबेडकर की यह शिक्षा संपूर्ण विखंडित भारतीय आवाम के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकती थी। खैर! सामूहिकता की आवश्यकता महसूस करते हुए कवि निरंतर आत्ममंथन की प्रक्रिया से गुजरता दिखता है। हालांकि बौद्धिकता का जब तक जमीनी आधार और फैलाव न हो अर्थात जब तक उसका प्रतिफलन न हो तब तक वह मात्र जी बहलाने का साधन बनी रहती है। अत: इस कोरी बौद्धिकता से मुक्त होना भी श्रमशील प्रजाति का अभीष्ट होना चाहिए; तभी एक बड़ा सपना साकार हो सकेगा। इस कमी को जानते हुए भी हरे प्रकाश उपाध्याय की यह चेतना उल्लेखनीय है कि *बौद्धिकता की चादर भर/रही हमारी दुनिया.../उसी में छुपकर देखे हमने बड़े बड़े सपने/ सिर्फ सपने सपने सपने/ और सपने सपने सपने/सपने में सोये सपने में जागे/हम सपनों से बढ़े नहीं आगे... ।* ऐसा नहीं है कि *नया रास्ता* का कवि सिर्फ दर्शन और समाज की बातें करते वक्त ही चिंतनशील रहता है बल्कि वह घर, बाजार, दफ्तर और आसपास के परिवेश से भी प्रभावित होता है; वे सब भी उसकी रचनात्मकता के आधार बनते हैं। हरे प्रकाश उपाध्याय अपनी कविताओं में जिस व्यक्ति का प्रतिस्थापन करते हैं वह इसी दुनिया का संघर्षरत व्यक्ति है जो आदर्शों के आडंबर से दूर है। उसकी जिंदगी में घर और दफ्तर ऐसे पड़ाव हैं जिनमें वह झूलता रहता है। कवि दफ्तर की जिंदगी को अपने जीवन के स्वाभाविक अंग के रूप में देखता है। जहां वह अखबार पढ़ते हुए हालातों से हलकान हुआ जाता है—*अखबार पढ़ता हूं देश में तरह तरह के फैसले हो रहे हैं/प्रधानमंत्री, फला मंत्री इस देश जा रहे हैं उस देश जा रहे हैं/देश में यहां वहां बम फूट रहे हैं/इनमें मुसलमानों के नाम आते हैं/और एक दिन कहीं किसी साध्वी के हाथ होने के भी सुराग मिलते हैं/वो तमाम राष्ट्रवादी उसकी संतई और विद्वता के किस्से बताने लगते हैं/उसे चुनाव लड़ाने लगते हैं/किसी प्रांत में कुछ लोग ईसाइयों की सफाई में लग जाते हैं/हमारे दफ्तर में इससे उत्तेजना फैलती है/इस आधार पर फाइलों को लेकर भी साजिशें होने लगती हैं।* देश के अप्रिय समसामयिक प्रसंगों का इन पंक्तियों में साक्षात्कार कराने के बाद कवि अपनी आदमीयत को बचाए रखता है जो उसकी शानदार खूबसूरती भी है। साध्वी प्रज्ञा सिंह ठाकुर के हिंदुत्व प्रेम और हिंसा की घटनाएं जगजाहिर है। अगर ऐसे हिंसावादियों के चरित्र पर खुलकर कविता लिखी जाती तो साधु साध्वी के भेष में ऐसे ढोंगी का पर्याप्त पर्दाफाश होता और साहित्य को यथार्थ की ज्यादा ताकत मिलती। लेकिन हरे प्रकाश उपाध्याय न जाने किस दबाव और डर से ऐसे हिंसकों के नामोल्लेख मात्र से काम चला लेते हैं जो उनके व्यक्तिगत रचनाधर्मिता के लिए ठीक हो सकता है लेकिन कविता की रचनात्मक ईमानदारी के लिए संदिग्ध है। कविता तो साहस की अभिव्यक्ति है जहां निर्भीकता और बेबाकी चाहिए। इस स्तर पर कहीं कहीं *नया रास्ता* की कविताएं बचती हुई सुरक्षित

मार्ग को अपनाती दिखाई देती है।

नया रास्ता शीर्षक कविता जो किताब का शीर्षक भी है, मौजूदा नकारात्मक परिस्थितियों और अंधकारमय समय में भी मनुष्य को सदैव गतिशील रहने के लिए प्रेरित करती है—*जब सारे जाने हुए रास्ते बंद हो जाते हैं/तो आदमी एक नए रास्ते के बारे में सोचता है...एक नई ताकत वाला आदमी बिलकुल एक नया आदमी होता है/एक नया आदमी एक नया रास्ता खोज लेता है।* 'आंसू', 'हालचाल', 'कुत्ते' कविताएं भी बदले व्यक्ति के मनोविज्ञान और मनोभावों का यथार्थ दृश्यांकन करती हैं। लेकिन 'अमित्रता', 'फेसबुक', 'आत्मीयता' जैसी कविताएं सोशल मीडिया के दौर के आभासी संबंधों की हकीकत बयान करती नजर आती हैं। सोशल मीडिया में फेसबुक ने लोकप्रियता झंडे गाड़ रखे हैं। फेसबुक पर रहनेवाले अब हजारों हजार मित्र बना लेते हैं जिनमें वास्तविक जीवन में कुछ ही मित्र शामिल रहते हैं। फेसबुक पर जिस सहजता और सुगमता से मित्र बनते हैं उसी बहाव से अमित्र भी होते हैं। लेकिन कवि अमित्र मित्रों में भी संभावनाओं को तलाश लेता है—*अमित्र उन संभावनाओं की तरह हैं/जिन्हें अभी पकना है/जिनका मित्र मुझे फिर से बनना है।* वास्तव में जीवन के प्रति यह सहज सकारात्मक स्वीकार आजकल की कविताओं में कम ही नजर आता है जो हरे कवि हरे प्रकाश उपाध्याय के यहां है। कदाचित इसलिए हरे प्रकाश उपाध्याय अपनी कविताई में जितने सहज हैं, कविता के अर्थ में विरल भी हैं। 'फेसबुक' कविता भी आभासी मित्रता की रंगीनियत में अकेले खोये व्यक्ति की पीड़ा को खूबसूरती से अभिव्यक्त करती है—*दोस्त चार हजार नौ सौ सतासी थे/पर अकेलापन भी कम न था।* वास्तव में कहने के लिए सोशल मीडिया पर मित्रता है लेकिन व्यक्ति अकेला है। आभासी दुनिया का यही सच है। इस परिप्रेक्ष्य की कविताएं आज के सोशल साइट्स की आलोचना करती नजर आती हैं।

हमारा समाज स्त्रियों को लेकर तंगख्याल रहा है। तमाम संवैधानिक अधिकारों के बावजूद स्त्री को कैद में रखना चाहता है—*कविता के चौखट के बाहर/ज्योंही समाज के आंगन में वह रखती है पैर/हम उसे बंधक बना लेते हैं/हम उसे घूंघट उढ़ा देते हैं* (कविता में स्त्री)। एक तरह से समाज और रचना के बीच मौजूद पाखंड और शोषण को पल्लवित करनेवाली पितृसत्ता भी यहां सवालिया निशाने पर है। हालांकि आधी दुनिया की इस आबादी पर ज्यादा संवेदनशीलता के साथ कविताएं लिखी जा सकती थीं।

हरे प्रकाश उपाध्याय का कवि वैयक्तिक प्रेम प्रसंगों से अधिक अपने युगीन प्रश्नों से टकराने में अपने को ज्यादा सहज पाता है। इसलिए अपनी समकालीनता को समेटने में कवि का मन अधिक लगा है। बावजूद इसके कुछ कविताओं में वैयक्तिक प्रेम की ऊंचाइयां परिलक्षित हुई हैं जिनसे सबक मिलता है कि प्रेम किसी परिभाषा का मोहताज नहीं होता। वह सिर्फ जीने और अनुभव के अनुशासन से संचारित होता है। वस्तुत: *नया रास्ता* में शामिल पचास कविताएं जीवन के अनेक रंगों का सुंदर कोलाज पेश करती हैं। कुछ कविताएं सामान्य मिजाज की हैं। कुछ गंभीर हैं। कुछ संवेदनशील हैं। कुछ बतकही से अभिप्रेरित हैं। कुछ विचारों का रूपांतरण हैं; बावजूद इसके अभिव्यक्ति के अधिकार से लबरेज हैं जो आजकल मिथ बनता जा रहा है। इस मिथ और आतंक को तोड़ना भी *नया रास्ता* की विशिष्टता है।

नया रास्ता : हरे प्रकाश उपाध्याय, **प्रकाशक** : रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, उत्तर प्रदेश

महामारी और कविता

कमलेश वर्मा

श्रीप्रकाश शुक्ल की पुस्तक **महामारी और कविता** 2021 में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में कुल 8 अध्याय हैं। दो अध्यायों में सैद्धांतिक विवेचन हैं और 6 अध्यायों में 6 कवियों की कविताओं के आधार पर व्यावहारिक आलोचना है। यह पहला अवसर है जब कविता से महामारी के रिश्ते को आधार बनाकर कोई पुस्तक लिखी गई है। कविता के विश्लेषण और मूल्यांकन के लिए अब तक जितने आधार मौजूद थे उनमें यह आधार कुछ नया जोड़ता है।

महामारी की अनगिनत बेबसियों को इस दौर में हम लोगों ने देखा सुना और महसूस किया। ऐसी महामारियां पहले भी आई हैं। जीवन जगत को बुरी तरह से झकझोर देने वाली इन महामारियों का कविता से रिश्ते की तलाश करती यह पुस्तक अपने आप में नयापन लिए हुए है। कोरोना के प्रभाव पर हो रही अनेक प्रकार की चर्चाओं के बीच यह किताब 'कविता' के पक्ष को हमारे सामने रखती है। श्रीप्रकाश शुक्ल ने रविदास से लेकर मदन कश्यप तक की कविताओं के संदर्भ देते हुए महामारी और कविता के रिश्तों की पड़ताल की है। 15वीं शताब्दी के रविदास, 16वीं शताब्दी के तुलसीदास, 20वीं शताब्दी के निराला और 21वीं शताब्दी में कर्मरत राजेश जोशी, अरुण कमल और मदन कश्यप पर अलग अलग अध्याय लिखकर श्रीप्रकाश शुक्ल ने 'महामारी और कविता' के रिश्ते को सोदाहरण विश्लेषित किया है। लगभग 6 शताब्दियों के परिवृत्त के भीतर लिखी गई हिंदी कविताओं से उदाहरण देकर अपनी बात कहने का जो प्रयास इस पुस्तक में लेखक ने किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महामारी और कविता का रिश्ता बहुत पुराना और निरंतरता लिए हुए है। महामारी ने कवियों को विशेष प्रकार की कविता लिखने की तरफ मोड़ा है और कविता ने कवियों को

जीवन की नई राह तलाशने की ताकत दी है।

श्रीप्रकाश शुक्ल महामारी के आगे कविता की बेबस आवाज को केवल प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि इस विकट दौर में कविता की जिजीविषा को भी रेखांकित करते हैं। वे इस पुस्तक में दो तरह से काम करते हैं। एक पक्ष है कि महामारी ने कविता को किस तरह से प्रभावित किया है? दूसरा पक्ष है कि हिंदी कविता ने महामारी से लड़ने में अपनी भूमिका किस तरह से निभायी है? पहले पक्ष के उदाहरण के रूप में अरुण कमल के इस कवितांश को देखा जा सकता है,

समाचार कुछ भी नहीं प्रभु क्योंकि कुछ भी नया नहीं
एक ही कर्ता, एक ही नियंता,
एक ही किंतु, एक ही परंतु
एक ही समाचार 'मृत्यु'

लोग बैठे रहते हैं हाथ पर हाथ धरे चौखट पर
कहां जाएं क्या करें
लगता है हम भुखले ही मर जाएंगे।
कहीं कोई देखनहार नहीं
कुछ करो प्रभु!
कुछ करो
ऐसा क्यों हो रहा है प्रभु
तुम भी तो बहुत घूमते हो। (पृष्ठ 112)

अरुण कमल के इस कवितांश में 'प्रभु' शब्द पर ध्यान देने की जरूरत है। महामारी के दौर की उनकी अन्य कविताओं को भी ध्यान में रखा जाए तो उनमें 'प्रभु' की उपस्थिति विशेष प्रकार की है। श्रीप्रकाश शुक्ल इस पक्ष के बारे में टिप्पणी करते हैं, "अरुण कमल का कवि महामारी के बीच ईश्वरता की ओर झुकता है लेकिन अरुण कमल की यह ईश्वरता सामान्य दिनों के मनोभावों की ईश्वरता से एकदम भिन्न है। एक पक्ष यह है कि ईश्वर का अस्तित्व है। लेकिन प्रश्न उठता है कि कौन सा ईश्वर? और किसके लिए ईश्वर? ईश्वरता भी अपने दायरे में स्वयं को बदलने की कोशिश करती है। अरुण कमल की कविताओं में जो प्रभु का संबोधन है वह आरंभिक तौर पर ऊपर ऊपर ईश्वरत्व की, अलौकिकता की बात करता दिखायी देगा लेकिन उसके भीतर असल में मानवीय संबंधों के रचनात्मक सरोकार बहुत गहरे विन्यस्त हैं।" (महामारी और कविता, पृष्ठ 118)

अब दूसरा पक्ष यह है कि कविता ने महामारी से लड़ने जूझने की कोशिश किस तरह से की? अरुण कमल ने अपनी एक कविता में लिखा है कि बीमारी के दरमियान उनकी पत्नी ने किस तरह से उनकी देखभाल की। इस देखभाल की प्रक्रिया में कविता और मनुष्य की संजीवनी शक्ति को देखा जा सकता है—

मेरी तपती देह संभालती एक अतिरिक्त सांस सी साथ साथ
हर करवट हर कराह पर अपनी देह से मुझे
छाए हुए रातभर मेरा माथा
अपने अंक में लिए ताकती एकटक कि वह जब तक जगी है
तब तक यम पास नहीं आएगा

ऐसे कई त्रिरात्र व्रत करती यह स्त्री वरारोहा
मेरे लिए लड़ती रही मृत्यु से
सारे व्रत तोड़कर
प्रेम से बड़ा कौन सा व्रत है? प्रभु!
और पाने से कठिन है प्राप्त को बचाना?
क्षमा, देवाधिदेव! क्षमा
जीवन हेतु सब यम नियम व्यर्थ। (पृष्ठ 133)

महामारी से कविता के रिश्ते का यह दूसरा पक्ष है। यहां कविता में जीवन के तर्क मौजूद हैं और यह आग्रह है कि धर्म, ईश्वर, व्रत आदि से बढ़कर जीवन के प्रश्न हैं। इसलिए यह बात कही जा रही है कि कविता ने महामारी से लड़ने के अपने तरीके अपनाए। श्रीप्रकाश शुक्ल इस पुस्तक में सैद्धांतिकी की तरह इस बात की पुष्टि बार बार करते हैं कि "इस कोरोनाकाल में जितनी जिम्मेदारी का निर्वाह कविता ने किया है उतना किसी ने नहीं किया है। इसी नाते आने वाले दौर में जब यह समय मूल्यांकित किया जाएगा तो कविता ही होगी जो यह बताएगी कि आंकड़ों के बीच उम्मीद की किरण अगर कहीं थी तो वहीं पर थी। यह हमारे 'ऑटो इम्यून सिस्टम' को समृद्ध करने के लिए एक विकल्प को रचती ही है।" (पृष्ठ 127)

महामारी और कविता पुस्तक के दो अध्यायों में सैद्धांतिक पक्षों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। जाहिर सी बात है कि इस तरह के सिद्धांत पहले से मौजूद नहीं हैं। आज श्रीप्रकाश शुक्ल प्रयास कर रहे हैं कि महामारी और कविता के रिश्तों के बारे में कुछ सिद्धांत बनाए जा सकें।

अंतिम अध्याय 'महामारी में कविता और कविता की महामारी' में लेखक ने अनेक कवियों का जिक्र किया है। इनकी कविताओं के माध्यम से कोरोजीवी कविता की व्यापक पहचान को रखने का प्रयास किया है। इन कवियों में अरुण कमल का उल्लेख तो है ही, इस उल्लेख की व्यापकता को आप इससे समझ सकते हैं कि इन कवियों में अमरजीत राम और गोलेंद्र पटेल जैसे बिल्कुल नवोदित कवियों को भी शामिल किया गया है। श्रीप्रकाश शुक्ल ने इन सबमें इस दौर की यंत्रणा को रेखांकित किया है और कविता के नए रूपों के सामने आने पहचान की है, "तनाव व दबाव की यंत्रणादायक स्थितियों से गुजरने के पश्चात् ही हिंदी कविता अपने मुकाम को हासिल करेगी। यह दबाव विषय की नवीनता में भी दिख सकता है और रूप के नवाचार में भी।" (पृष्ठ 206)

ऊपर जिन आधारों या विशेषताओं की चर्चा की गई है, इन्हीं के आलोक में रविदास, तुलसीदास, निराला, राजेश जोशी, अरुण कमल और मदन कश्यप की कविताओं पर अलग अलग अध्याय में बात की गई है। हिंदी आलोचना में सगुण निर्गुण विवाद पर जिस तरह से सोचा गया है उसमें महामारी का पक्ष शामिल नहीं है। तुलसीदास के सगुण पक्ष को सामाजिक कारणों से जोड़कर पढ़ा जाता रहा है। श्रीप्रकाश शुक्ल *कवितावली* और *विनयपत्रिका* की कविताओं में से उन अंशों को फिर से व्याख्यायित करते हैं जिन पर महामारी का प्रभाव है। यह बात पहले से पता थी कि तुलसीदास की मृत्यु प्लेग की महामारी के दौरान हुई थी। मगर उस महामारी के प्रभाव को उनकी कविता में उतने व्यापक रूप में अभी तक नहीं पहचाना गया था, जितना इस पुस्तक में पहचाना गया है। ईश्वर पर संदेह की प्रवृत्ति का संबंध महामारी की कविता से है।

ईश्वर की सत्ता के अलावा दो और सत्ताएं इस दौर में असहाय हुईं—सरकार और विज्ञान

की सत्ता। ईश्वर की सर्वशक्तिशाली सत्ता महामारी के प्रसंग में अप्रासंगिक हो गई। मंदिरों के कपाट बंद कर दिये गए। कई देवमूर्तियों को मास्क पहना दिया गया। भगवान कवारंटीन हो गए। भक्त न तो मंदिर तक जा सकते थे और न ही देवमूर्तियों के दर्शन कर सकते थे। सरकार आपदा में अवसर तलाशती रही। इस बीमारी के कारण या इसके नाम पर कई तरह की राजनीति से घिरी और घेरती हुई देश विदेश की सरकारें प्रभावशाली भूमिका में उतर नहीं पाईं। विज्ञान ने अब तक की पाई हुई अकूत ताकत के बावजूद लगभग वही व्यवहार किया जो व्यवहार महामारियों के दौर में आज तक होता आया था। तैमूरलंग ने अपनी आत्मकथा में महामारी का जिक्र किया है। तैमूर और उसके सैनिकों को युद्ध के दरमियान प्लेग ने धर दबोचा था। उसके हकीमों ने हाथ खड़े कर दिये और कहा कि इस बीमारी से या तो मृत्यु होगी या जिन्हें अपने आप ठीक होना होगा वे ठीक हो जाएंगे। यह बात 14वीं शताब्दी के अंतिम समय की है। आज 21वीं शताब्दी में भी चिकित्सा विज्ञान ने लगभग यही व्यवहार किया। इसमें चिकित्सा के नाम पर पूंजीवादी लूट की आशंका को अतिरित दुर्गुण के रूप में जोड़ देना चाहिए। कोरोनाकाल में भी चिकित्सा की कोई दावेदारी काम नहीं आई। जो मरे सो मरे, जो जिए सो जिए। मरने और जीने में ईश्वर, सरकार और विज्ञान की भूमिका लगभग समाप्त हो गई थी।

ढेर सारे उदाहरण देते हुए श्रीप्रकाश शुक्ल इस बात पर बार बार जोर देते हैं कि कवियों की शब्दसत्ता जीवन के पक्ष में डटकर खड़ी रही। ऊपर की तीन सत्ताओं के सामने एक नई सत्ता का उद्घोष श्रीप्रकाश करते हैं—शब्दसत्ता; इस अ काल या कु काल बेला में मनुष्य को आत्मबल देती हुई कवियों की शब्दसत्ता। हालांकि 'सत्ता' के पास भी 'शब्द' हैं, मगर उनमें नारे और छल ज्यादा हैं। श्रीप्रकाश से ही शब्द लें तो कह सकते हैं तो सत्ता के शब्दों में 'छालित्य' है। कोरोनाकाल में जिस सहानुभूति और संवेदना की जरूरत थी उसकी पूर्ति न तो ईश्वर की तरफ से हुई और न ही सरकार या विज्ञान की तरफ से। इस पूरे दौर के भावजगत को किसी ने संभाला तो कवियों की शब्द सत्ता ने!

महामारी और कविता पुस्तक के इन आठ अध्यायों में आलोचना की नई शब्दावली भी मिलती है। मानो कवि आलोचक श्रीप्रकाश शुक्ल 'शब्दसत्ता' की समृद्धि के लिए नए भावों के अनुकूल भाषा को रचना चाहते हैं। नई शब्दावली की तलाश एक मुश्किल काम है, उन्हें स्वीकृति मिल जाए यह और भी मुश्किल काम है। नितांत नई शब्दावली से ज्यादा उपयोगी वह शब्दावली होती है जिसमें परंपरा का बोध नएपन के साथ मौजूद हो। उदाहरण के रूप में इस पुस्तक की कुछ पंक्तियों को रखा जा रहा है—

- आराध्य और काव्य दोनों मिलकर एकमेक—"जाहिर सी बात है तुलसीदास 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' में जब नाम सत्ता की बात कहते हैं तो वहां पर आप देखेंगे कि शब्दरूप संत कवियों की वाणी की आहट ही दिखायी देती है जहां पर नामरूप और शब्दरूप दोनों एक हो जाते हैं। अर्थात् आराध्य और काव्य दोनों मिलकर एकमेक हो जाते हैं।" (पृष्ठ 29)
- जाति पीड़ा और जगत् पीड़ा—"जाति पीड़ा का गहरा बोध जैसे रविदास की रचनाओं में दिखायी देता है वैसे ही जगत् पीड़ा का गहरा बोध तुलसीदास की रचनाओं में दिखाई देता है।" (पृष्ठ 30)

इस पुस्तक में आलोचना की नई शब्दावली की अनेक भंगिमाएं मौजूद हैं। यह भी कहा जा सकता है कि ये शब्द तो पुराने हैं मगर नई अर्थवत्ता के साथ होने के कारण इनसे

आलोचना की भाषा में नएपन का बोध हो रहा है। कुछ पदबंध भी नए हैं। श्रीप्रकाश शुक्ल अपने इन प्रयोगों से प्रभावित करते हैं—

- "बगैर संशय की उपस्थिति के आधुनिक मानस संभव नहीं।" (पृष्ठ 37)
- "तुलसीदास अंतरगृही तो थे ही लेकिन मैं कहना चाहता हूं कि तुलसीदास अंतरदृष्टि संपन्न अंतरगृही थे।" (पृष्ठ 38)
- "वास्तव में कवि होना विपरीत स्थितियों में मूल्यवान की तलाश ही है।" (पृष्ठ 42)
- "तुलसी में भय, भक्ति और भाग्य यह तीन तत्त्व बहुत दिखायी देते हैं।" (पृष्ठ 44)

महामारी से कविता के रिश्ते को जोड़कर देखनेवाली यह पुस्तक निश्चय ही हिंदी आलोचना को विश्लेषण का नया आधार देती है। कविता पहले भी थी और महामारी का आना जाना पहले से लगा रहा है। पिछली शताब्दियों के कवियों ने महामारी को झेला भोगा भी था। उनकी कविताओं पर इसकी पीड़ा अपना असर रखती है। मगर हिंदी आलोचना ने आज तक इस पक्ष की पहचान नहीं की थी। हम सब भले ही इस बात को जानते थे कि निराला ने, पहले विश्वयुद्ध के बाद भारत में फैली महामारी में, अपनी पत्नी समेत कई प्रियजनों को खोया था। उनके लेखन में इसके प्रमाण पूरी स्पष्टता से कई जगह मौजूद हैं। इस पीड़ा को उनके व्यक्तिगत जीवन के दु:ख के रूप में प्राय: देखा गया था। मगर यह किताब महामारी के हिसाब से कवि की लिखावट को उस दौर के दर्द के रूप में देखने का प्रयास करती है। 'गहन है यह अंध कारा' को हम अभी तक निराला की व्यक्तिगत निराशा के रूप में देखते आए थे। मगर उस महाकवि ने इस कविता में आगे लिखा है कि *'इस गगन में नहीं दिनकर नहीं शशधर/नहीं तारा'*। इसका अर्थ यह है कि न तो सूरज है और न ही चंद्रमा और न ही तारे हैं। निराशा चारों तरफ फैली है, केवल कवि के जीवन में नहीं। पूरा आकाश ही अंधेरा है। इस अंधेरे को रचने में उस महामारी की भूमिका को भी पहचानने की जरूरत है।

श्रीप्रकाश शुक्ल एक कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनकी यह किताब उन्हें आलोचक के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान करती है। हिंदी में कवि आलोचक की चली आती हुई परंपरा में वे आगे भी जरूर कुछ नया जोड़ेंगे जो मूल्यवान होगा। आठ अध्यायों में लिखी गई सूत्रात्मक पुस्तक है। इसमें कई बातें संकेत (सूत्र) में कह दी गई हैं जिनकी व्याख्या की आवश्यकता है, जैसे—'कविता स्वगृही होती है।' यह महत्वपूर्ण और जोरदार बात है, मगर इसकी व्याख्या की आवश्यकता बनी हुई है। आगे चलकर महामारी और कविता के रिश्ते पर जब भी बात होगी या शोध होगा तब यह पुस्तक सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना के संतुलन के साथ 'प्रस्थान ग्रंथ' के रूप में याद की जाएगी। 'प्रस्थान ग्रंथ' से आशय यह है कि इस विषय पर यह पहली पुस्तक होने का गौरव हासिल करती है। यहीं से इस तरह के चिंतन की व्यवस्थित शुरुआत हुई है। पहली पुस्तक होने की अपनी सीमाएं भी होती हैं। उन सीमाओं के बावजूद यह तो मानना पड़ेगा कि देशी विदेशी, कला विज्ञान, साहित्य और सामाजिक विज्ञान की जितनी पुस्तकों का सहारा लेकर यह पुस्तक तैयार की गई वह आश्चर्यजनक है।

महामारी और कविता : श्रीप्रकाश शुक्ल, **प्रकाशक :** सेतु प्रकाशन, दिल्ली

मन का अलाव जलाए रखेंगी लोककथाएं

अमिता मिश्र

किसी भी देश की लोकसंस्कृति उस देश की धरोहर होती है जिसमें वह देश रचता सजता है; कितना ही वैज्ञानिकीकरण क्यों न हो जाय। प्रगतिशीलता के झूले भले कितने झुलाए जायं पर अपनी संस्कृति से इतर दुनिया की कल्पना मनुष्य आज भी नहीं कर पाता। यदि व्यक्ति और राष्ट्र दोनों ही लोकसंस्कृति को छोड़ देंगे तो उनकी आत्मा जीवित नहीं बचेगी।

यही कारण है जब अप्रवासी लोगों को दोहरी नागरिकता दी गई तो उन्हें ऐसा लगा जैसे कोई उन्हें खोई मिल्कियत मिल गई हो। यूं तो रोजी रोटी की उलझनों में उनका एक पैर इधर एक पैर उधर रहा पर जब अपना देश, समाज छूटा तो इनका मन दु:ख के बोझ तले धीमी गति से नमूदार रहा। जिसकी उपस्थिति साहित्य में अन्यान्य जगहों पर मिल जाती है। असगर वजाहत का प्रसिद्ध नाटक *'जिन लाहौर नहीं देख्या वो जन्मा ही नई'* इसी लोक संस्कृति की बीहड़ झांकी प्रस्तुत करता है।

वरिष्ठ रचनाकार **मृणाल पांडे** का लोककथा संग्रह **माया ने घुमायो** इसी भावभूमि पर आधारित है। विभिन्न पृष्ठभूमियों को आसरा बनाकर साधी गई ये लोककथाएं अपने समय और संस्कृति के महावर को अपने पैरों में रचाए हुए हैं। वे सब कुछ कहती हैं जो आप जानते हैं और जो नहीं जानते हैं वह भी। लोककथाएं भी इसी लोकसंस्कृति का एक अटूट हिस्सा हैं जिन्हें अलगाया नहीं जा सकता है। लोककथाएं बार बार कही गईं, बार बार बांची गईं, रह रह कर सुनाई गईं, लुप्त होते होते सहेजी गईं। वे सदियों से बिना लिपि का सहारा लिए लंबे प्रकाशवर्ष की दूरी तय करती गईं। ये सुने सुनाए किस्से मौखिक थे। कहने वाला कौन पता नहीं...! शायद शब्दों के जादूगर कहानियां बुनने वालों को यह बताना नहीं आया था कि

उन्होंने वह सब क्यों कहा...! बस उन्होंने जो अनुभव किया उसे जनसमाज में बांट लिया। किसी दूसरे को पसंद आया तो तीसरे को। फिर यह चेन चलती ही गई।

माया ने घुमायो लोककथा संग्रह की लेखिका मृणाल पांडे जिन्होंने *वामा, दैनिक हिंदुस्तान* जैसे शीर्ष पत्र पत्रिकाओं का संपादन किया; *सहेला रे, ओ उब्बीरी* जैसी महत्वपूर्ण कृतियां लिखीं साथ ही नाटक, कहानी, लेख जैसी विधाओं में खुलकर अपने विचार साझा किए, शायद उनको इस बात की आवश्यकता महसूस हुई कि इन इधर उधर बिखरी लोककथाओं का संग्रह किया जाय। पुस्तक के शीर्षक के साथ एक वाक्य जोड़ा गया है—'बच्चों को न सुनाने लायक बालकथाएं'। यह वाक्य थोड़ा भ्रमित करता है।

पुस्तक को उठाते वक्त ही यह ख्याल आता है कि पुस्तक में क्या वाकई ऐसी कोई बात है जो बच्चों को न बताने जैसी है। कहीं यह पुस्तक मानव जीवन के अतरंगी पक्षों की कहानी तो नहीं बया कर रही। लेकिन पढ़कर पता चलता है ऐसा कुछ भी नहीं है। शायद यह कोड वाक्य हमारे विवेक पर एक प्रश्न उपजा देने के लिए लिखा गया है। इस बात की जवाबदेही के लिए वे पुस्तक की प्रस्तावना में लिखती हैं—*"कई सरकारें आजकल हमारे जीवन पर तरह तरह की सेंसरशिप लागू करने पर तुली दिखती हैं। उनकी राय में बच्चों को हम वयस्कों की दुनिया के स्याह सेक्स, हत्या, युद्ध और अन्याय के ब्यौरों से कतई अलग थलग रखना जरूरी है।"*[1]

जाहिर है कि लेखिका ऐसी सेंसरशिप के खिलाफ है; वे इसे बिना काम का हस्तक्षेप बताती हैं और उसको खारिज करती हैं।

वे आगे लिखती हैं—*"सामान्य बुद्धि का कोई बच्चा जब इन तमाम ब्योरों से ठसाठस भरी लोककथाओं को सुनता है, तो वे उसे बड़ों की जटिल दुनिया में प्रवेश के लिए बहुत सहज सरल तरीके से तैयार करती हैं।....अपनी तरह से बड़ों और बच्चों की दुनिया के बीच हमेशा लापरवाही से उढ़काकर रखा गया दरवाजा तनिक चौड़ा कर दिया है।"*[2]

अभिप्राय यही कि पाठकगण यह जानें कि हर तरह की सेंसरशिप न तो अभिभावक की ओर से ठीक है और न ही सरकार की ओर से। वयस्कों के मिलेजुले वातावरण में अगर बच्चों की परवरिश होगी तो वह उनके लिए अधिक हितकर होगा। इसी शीर्षक पर आधारित जो लोककथा है, वह संग्रह की पहली लोककथा भी है।

'बच्चों को न सुनाने लायक बालकथा' यह एक साधारण लोककथा ही है। कहानी कुछ इस प्रकार से कही गई है—एक गांव में एक गरीब विधवा बुढ़िया और उसका बेटा रहता है। गांव में महामारी फैल चुकी है। बुढ़िया अपने बेटे को समझाती है कि वह किसी दूसरे गांव जाकर महामारी से किसी तरह अपने प्राण बचाए। उसका क्या कितने दिन जिये न जिये इसलिए उसकी चिंता न करे। मां के अनुनय विनय के पश्चात बेटा जी कड़ा करके किसी दूसरे गांव की ओर निकल जाता है। पर उस गांव के लोग लड़के को अपने गांव में प्रवेश नहीं करने देते क्योंकि छुआछूत से वहां भी बीमारी फैल सकती है सो निराश लड़का गांव के बाहर एक पुराने कुएं की मुंडेर पर जा बैठा। फिर उस कुएं से सतरंगी परियां निकलती हैं। वे लड़के को दो शंख देती हैं मुसीबत के समय जो लड़के की सहायता करेंगे। फिर क्या था इन जुड़वां शंखों से लड़का राजा तक बन जाता है पर राजा की एक गलती उसकी दुनिया बिगाड़ देती है क्योंकि उसने ढपोरशंख पर विश्वास कर लिया था।

सतरंगी परियां लड़के से कहती हैं—हम परियां आजाद हैं। हवा हमारा घर है, अंबर

हमारा बिछौना। मनभायी अच्छा पहिरती ओढ़ती हैं। मन न हो तो किसी के हाथ नहीं आतीं। इसलिए हम किसी को फूटी आंखों नहीं भातीं।"[3]

इस लोककथा को पढ़ने से पुस्तक की पहली कुंजी खुलती है कि जो ऊपर लिखा गया है 'बच्चों को न सुनाने लायक बाल कथाएं' वैसा कुछ भी नहीं है। यह एक व्यंगात्मक लहजे में दिया गया मशविरा है—हमारी जीवनशैली पर क्वैश्चन मार्क। कथा में कुछ भी ऐसा नहीं जो बच्चों को न बताया जा सके। इसीलिए लेखिका कहती है कि 'उड़काये दरवाजे को मैंने चौड़ा कर दिया है'। वे यह भी जोड़ती हैं—इन लोककथाओं को सुनकर या फिर यूं कहें कि जिन जगबीती से हम अपनी संतति को दूर रखना चाहते हैं क्या वह वाकई उन्हें कुछ नहीं देती।

कहानी बताती है कि इन सबको पढ़ सुनकर बच्चे अधिक सयाने ही बनते हैं।

दरअसल इन लोककथाओं की स्वीकार्यता हमारे समाज में अरसे से थी जो धीरे धीरे हाशिये पर चली गई। उत्तरभारत में गायी जाने वाली 'आल्हा ऊदल कथा' ऐसी ही लोकप्रिय परंपरा का उदाहरण हैं। मुल्लादाउद के *चंदायन* में नायक लोरिक और नायिका चंदा के प्रेम का बड़ा विशद और मार्मिक चित्रण हुआ है। आज भी बिहार और उत्तरप्रदेश में 'लोरिक' आभीरों का जातीय गान है। इसी का प्रभाव जायसी के 'पद्मावत' में भी मिलता है। जिसका नायक राजा रत्नसेन पदमिनी की खोज में अलग अलग द्वीपों की यात्रा करता हुआ सिंघलदीप तक पहुंचता है। ये सब लोककथाएं ही हैं जिन्हें गीतों के माध्यम से गाकर सुनाया जाता रहा है।

इसी पुस्तक की एक अन्य लोककथा है—'पिशाचों की पोथी और पंडित की कथा' जिसमें कथा का प्रवाह इस तरह चलता है कि आश्चर्य होता है यह महसूस कर कि लोककथा कहां कहां विचरण नहीं कर सकती। वह सैलानी बन जाती है। कथा कुछ इस प्रकार कही गई है—किसी गांव में एक दुखियारी स्त्री रहती है। दुखयारन की कोई संतान जीवित नहीं बचती दरअसल जैसे ही संतान का जन्म होता है उसकी अनायास ही मृत्यु हो जाती है।

वह स्त्री दुखी मन से सिद्धिमाता के पास जाती है जहां सिद्धिमाता उससे कहती हैं कि 'तेरे कपार पर तो निपूती रहना ही लिखा हैगा' सो इस बार बच्चा होवे तो घूरे पर फिंकवा दीजे और जब वह घरी टल जाए तो बाद में बच्चे को उठा लेना। पर घुरपतरी की अम्मा के भाग में तो निपूती रहना लिखा तो भाग्य कैसे बदले। वहीं देश का राजा चैतन्यपाल तीन तीन रानियों के होते हुए भी निपूता था। उसने इस फेंकू निडर साहसी बच्चे को देखा जो शेर के दांत गिन लिया करता था। राजा चैतन्यपाल ने फेंकू को गोद ले लिया। उसी दिन से फेंकू के मां बाप गठरी बांधकर किसी दूसरे देस चले गए और फिर किसी को दुबारा न दिखे। जब फेंकू अठारह बरस का हुआ तो उसे एक नया नाम मिला—जुबराज अनंगपाल। सिच्छकों का कहना था कि जुबराज अनंगपाल एक बड़ा तेजस्वी लड़का साबित होगा। अनंगपाल का विवाह एक पढ़ी लिखी कन्या राधिका सुंदरी से कर दिया गया। इस तरह सारी जिम्मेवारियां पूरी करके महाराज चैतन्यपाल ने शुभ घड़ी अपनी देह त्याग दी। महाराज अनंगपाल को संस्कृत न आती थी एक दिन 'उष्ट्र' को 'उट्र' कहने पर महारानी हंस पड़ीं। तब राजा अनंगपाल ने संस्कृत पढ़ने की ठानी। एक सिच्छक ने अनंगपाल को छः महीने में इतनी साफसुथरी संसकिरत सिखाई कि महारानी राधिका सुंदरी भी अब उनकी बोली में कोई खोंट न ढूंढ़ सके थी। दरबार के गुणाढ्य पंडित जिनको इस बात पर विश्वास न था कि कोई शिक्षक राजा को इतने कम समय में इतनी सुंदर संस्कृत सिखा सकता है, पर ये अजूबा हो जाने पर गुणाढ्य पंडित स्वेच्छा से राजदरबार छोड़कर चले गए। क्योंकि गुणाढ्य पंडित ने बात की बात यह

कह दिया था कि इतने कम समय में कोई ज्ञानी, विज्ञानी अगर राजा को संस्कृत सिखा दे तो वे राजदरबार छोड़कर कहीं और जा रहेंगे।

फिर तो गुणाढ्य पंडित को राजदरबार छोड़ना पड़ा।

गुणाढ्य पंडित चलते चलते गहरे जंगल के बीच बनी एक मलिन पिशाच बस्ती में जा पहुंचे। वे कुछ दिन इन पिशाचों से अलग थलग रहे फिर झरने के पानी जैसी मीठी पैशाची सुन सुनकर उनकी तरफ मुड़ गए। सान्निध्य में धीरे धीरे पिशाचों की सदियों की जमा कथाओं, किंवदंतियों का पिटारा खुलने लगा...! उनकी तरह तरह की प्रेम, प्रीति की कथाओं—कि कैसे उपजे जंगल, नदी, नाले, ताल, सरोवर सब सुनी सुनाई कहानियों—को लिखकर गुणाढ्य पंडित ने एक मोटी सी पोथी बना डाली। ये कहानियां संस्कृत भाषा में नहीं पिशाची भाषा में ही लिखी गई थीं। जब पोथी बन गई तो गुणाढ्य पंडित पिशाच मंडली को लेकर पोथी सुनाने के लिए राजा अनंगपाल के पास गए पर राजा अनंगपाल तो संस्कृत भाषा के भक्त बन चुके थे सो उन्होंने पिशाची भाषा में कहानियां सुनने से मना कर दिया।

राजा के ऐसे व्यवहार से गुणाढ्य पंडित ने अपने आप को अपमानित महसूस किया। गुणाढ्य पंडित ने फिर तो पिशाचों से कहा कि मैं इस अपमान का दोषी हूं...! अत: तुम लोग मेरे लिए एक चिता चुनो मैं इस अभागी पोथी का पन्ना पन्ना अग्नि देवता को चढ़ाकर स्वयं को भी अग्नि को दे दूंगा। रोते रोते पिशाचों ने चिता चुनी। आग लगाई तो लपटें तेज हुईं। गुणाढ्य पंडित रोते रोते पोथी का एक एक पन्ना आग में डालने लगे। जब आधा ग्रंथ जल चुका, तो मुखियाइन आई और उसने पति को कुछ कहा। मुखिया ने उठकर पंडत की बांह थामकर कहा—"पिशाची बाबा, बस। हम सबकी इच्छा हैगी कि बस एक बार हमारे चमड़े, हमारे लिखे खून से लिक्खी बची हुई कहानियां हमको भी सुना दो। फिर आप जैसा चाहो।"[4]

फिर तो गुणाढ्य पंडित ने ऐसी रसीली और ऐसी मोहक कहानियां सुनाईं कि पिशाच तो पिशाच, जंगल के सारे पशु पक्षी, बिलाव, खरगोश, शेर, हिरन, मोर, हाथी, भालू सब सुनने आ गए। खबर राजा अनंगपाल तक पहुंच गई क्योंकि उनके दरबारी जंगल गए तो कहानियां सुनते उधर ही रह गए। फिर क्या था शाही सवारी जंगल के भीतर पहुंची। अनंगपाल कथावाचक गुणाढ्य को देखकर चौंक पड़े और उन दिव्यकथाओं को जलाने से रोक लिया। बाद में पोथी का संस्कृत अनुवाद हुआ और यही पोथी *वृहत्कथा सरित्सागर* कहलाई। 'तो ये रही कहानियन की कहानी। अब तुम जानो सुच्ची है कि नई। हमने तो जैसी सुनी तैसी बखानी।'[5]

इस तरह से इन कथाओं का भाव संसार रचता चला जाता है। कथा बिंब प्रतिबिंब को निहारती हुई दूर तक चली जाती है। कहानी का अंत क्या होगा कोई नहीं जानता...! ये मूल कथाएं ऐसी ही थीं या फिर इनमें कुछ प्रक्षिप्त जुड़ते घटते ऐसी बन गईं...नहीं कह सकते। ये लोककथाएं एक मायावी दुनिया पाठक, स्रोता के सामने इस प्रकार रचती हैं कि पाठक जानता है यह सम्मोहन ही है पर फिर भी उस कल्पना की लगाम अपने हाथ से गिरने नहीं देना चाहता। वह जी भरकर दौड़ लेना चाहता है इस कल्पना की रहस्य, रोमांच और तिलस्मी दुनिया में।

लोककथाओं के इन झरोखों को लिपि में ढालते हुए मृणाल जी इस बात को बार बार रेखांकित करती हैं कि जो उपेक्षित वर्ग है जिनमें स्त्रियां और बच्चे हैं, जिनको पितृसत्ता बार बार बरज देती है उन वंचितों की सोहबत में लोककथाओं ने अपने वजूद को बचाए रखा। पुस्तक *स्त्री विमर्श का लोकपक्ष* में अनामिका भी लिखती हैं—*"लोककथाओं में दो बहनें, दो पत्नियां, ननद भाभी, सास बहू, दो सहेलियां बनकर अक्सर प्रकट होती हैं। एक का पति उसे टूटकर प्यार करता है तो दूसरी को बिलकुल ही प्यार नहीं करता, एक के पास भरपूर सुख*

सुविधाएं हैं तो दूसरा के पास बिलकुल नहीं है। दो मनःस्थितियां / परिस्थितियों में पलती हुई भी वे किसी प्रकार आपसी संवाद कायम रखती हैं।[6]

इस बात को मृणाल जी भी रेखांकित करती हैं—*"कुदरत ने महिलाओं को एकाधिक मायनों में सर्जक बनाया है। औरत होने ने उनको कई तरह के बंधनों में बांधा जरूर होगा, लेकिन मुझे यकीन हो चला है कि दुनिया की सबसे पुरानी कहानियां औरतों ने ही अपने अपने कबीले की अगली पीढ़ी तक अपना इतिहास पहुंचाने के लिए गढ़ी होंगी।"*[7] वे प्रश्न उठाती हैं कि नवविवाहिता की अनिवार्य खानाबदोशी, विस्थापन का दर्द झेलती औरतों की विलक्षण जिजीविषा पर कथा पुराण लेखकों की कम ही नजर पड़ी; वे उनके सुख दुःख को पकड़ने में असमर्थ रहे। स्त्री का यह औचक मनव्रत, तीज त्योहार की इन लोककथाओं के बीच खूब रचा बसा है। क्योंकि उसके इन सुखों दुःखों का संगी साथी प्रकृति का संग साथ और गांव, कोठार रहा।

पुस्तक में सहेजी गई लोककथाओं में समाज के कई रंग बिखरे हुए हैं। कथाओं के कहन की भाषा में तद्भव, तत्सम, देशज और बोलचाल के शब्दों की खूब आवाजाही है। जैसे इन्हें सुना गया वैसे ही लिखा गया। इनका शुद्धिकरण करने पर इनकी मिठास जाने का खतरा है। माटी की खुशबू ही इन्हें खुशरंग किये हुए है। सच है कि 'भारतीय भाषाओं का हाथ थामे बगैर भारतीय समाजशास्त्र अपने अभिजात्य से मुक्त नहीं हो सकता।'[8]

अंत में बस इतनी सी बात कि यह पुस्तक बच्चों, स्त्रियों और बूढ़ों सबके बीच में पढ़ी जानी चाहिए। कब किसके मन को कहां इनका उजाला, कहां छांव मिल जाए...! किसी के अकेलेपन को इनका साथ मिल जाये। ये बेहद रोचक और मजेदार हैं। ऐसे साहित्य की समाज को जरूरत है इन्हें संरक्षित किया जाना चाहिए।

माया ने घुमायो : मृणाल पांडे, **प्रकाशक :** राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

संदर्भ

1. माया ने घुमायो, मृणाल पांड, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रस्तावना भाग, पृ. 11
2. वही, पृ. 11
3. माया ने घुमायो, मृणाल पांडे, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 18
4. वही, पृ. 60
5. वही, पृ. 63
6. स्त्री विमर्श का लोकपक्ष, अनामिका, पृ. 219
7. माया ने घुमायो, मृणाल पांडे, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रस्तावना भाग, पृ. 10
8. प्रतिमान, अंक-10, संपादक-अभय दुबे, लेख : समाजशास्त्र के साथ जमीनी जिरह, पृ. 103

इस अंक के लेखकों के मोबाइल नंबर

विश्वनाथ त्रिपाठी	:	9871479790
राजेंद्र कुमार	:	9336493924
हिलाल अहमद	:	9953014659
राहुल सिंह	:	9308990184
सारा राय	:	8004797093
मधु कांकरिया	:	9840789506
एकांत श्रीवास्तव	:	9433135365
गीतांजलि श्री	:	9811092604
अर्पण कुमार	:	9413396755
अशोक कुमार महेश्वरी	:	9810289836
कृष्ण मोहन झा	:	9101225015
विहाग वैभव	:	8858356891
अनुराधा सिंह	:	9930096966
हरि मृदुल	:	8999027424
कुमार मंगलम	:	8840649310
प्रदीप्त प्रीत	:	8573954259
सुमित त्रिपाठी	:	9958659582
नीलाक्षी सिंह	:	9835745525
अनुपम ओझा	:	9936078029
बसंत त्रिपाठी	:	9850313062
शशिभूषण मिश्र	:	9457815024
नामदेव	:	9810526252
कमलेश वर्मा	:	9140867822
अमिता मिश्र	:	9891648030

UPHIN49032

TADBHAV